

प्रधान सम्पादक—डा० तगेन्द्र

पाश्चात्य काव्य-शास्त्र की परम्परा

सम्पादिका—डा० (श्रीमती) सावित्री सिन्हा



दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

पान्चाल्य कान्य-शास्त्र की परम्परा

दिल्ली
विश्वविद्यालय

प्रधान सम्पादक—डा० मोहन

पाश्चात्य काव्य-शास्त्र की परम्परा

सम्पादिका—डा० (श्रीमती) तारिणी सिन्हा

दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

विष्णुसहस्रनाम
संस्कृत
विष्णुसहस्रनाम
विष्णुसहस्रनाम
विष्णुसहस्रनाम

द्वितीय
विष्णुसहस्रनाम

पाश्चात्य काव्य-शास्त्र की परम्परा

संरक्षक

डॉ० वी० के० आर० वी० राव

सम्पादक-मण्डल

प्रो० सैमुएल मथाई

प्रिंसिपल बंगालीभूषण गुप्त, डॉ० (श्रीमती) एच० पी० दस्तूर

डॉ० (श्रीमती) सावित्री सिन्हा, श्री महेन्द्र चतुर्वेदी

डॉ० नगेन्द्र (संयोजक)

प्रधान सम्पादक

डॉ० नगेन्द्र

सम्पादिका

डॉ० (श्रीमती) सावित्री सिन्हा

हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

प्रकाशक :

हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय,
दिल्ली ।

मूल्य : दस रुपये

मुद्रक :

श्री गोपीनाथ सेठ,
नवीन प्रेस, दिल्ली ।

अनुक्रमणिका

सम्पादकीय वक्तव्य

भूमिका

....

....

....

१-१३

प्लतोन (प्लेटो)

कला का प्रयोजन, काव्य-हेतु, काव्य-विधाएँ, शैली के भेद, रूप-विधान का सौन्दर्य कवि-स्वभाव के सौन्दर्य का अनुवर्तन करता है, कला सत्य से दूर है, त्रासदीकार भी अन्ततः अनुकर्ता ही है, काव्य से हानि ।

अनुवादक : श्री महेन्द्र चतुर्वेदी

१-२४

अरिस्तोतेलेस (अरस्तू)

काव्य का उद्भव, परिभाषाएँ, तत्त्व, कथानक का आयाम, अन्विति, सम्भाव्यता, सरल और जटिल कथानक, स्थिति-विपर्यय, अभिज्ञान, यातना का दृश्य, कारुणिक व्यापार, कारुणिक व्यापार और रंग-विधान, चरित्र, महाकाव्य, त्रासदी से तुलना, त्रासदी की श्रेष्ठता, विरेचन-सिद्धान्त ।

अनुवादक { डा० नगेन्द्र
श्री महेन्द्र चतुर्वेदी

२५-४२

भाषण-कला, भाव, शैली

अनुवादक : श्री महेन्द्र चतुर्वेदी

४२-४६

लॉगिनुस (लांजाइनस)

काव्य में उदात्त तत्त्व—क्या उसका अर्जन सम्भव है ? : उदात्त तत्त्व का स्वरूप, उसका आधार-तत्त्व, उदात्त शैली का

	तत्त्व : विस्तारणा, अलंकार का उचित प्रयोग, पद-योजना, उदात्त-विरोधी तत्त्व	
होरेस	अनुवादक : श्री महेन्द्र चतुर्वेदी श्रीचित्य, शैली, नाटक, प्रतिभा, आलोचक, विवेक, प्रयोजन, सत्काव्य : असत्काव्य, हेतु	४७-५६
जॉन ड्राइडन	अनुवादक : श्री प्र० ना० त्रिपाठी तुक्रान्त कविता, आक्षेपों का समाधान, कथानक की गौरवता, वागाडम्बर को नमस्कार, निकृष्ट आलोचना, नाट्य-काव्य	६०-७१
बुअलो	अनुवादक : श्री जगदीश गोयल काव्य-कला	७२-८६
पोप	अनुवादक : श्री प्र० ना० त्रिपाठी समालोचना : सिद्धांत-विवेचन, प्रतिभा, सफल आलोचक	८७-९४
डॉ० जानसन	अनुवादक : श्री महेन्द्र चतुर्वेदी आलोचना का अमुन्दर पक्ष, आलोचक के दायित्व, त्रासिक कामदी और कार्य का महत्त्व	९५-१०८
गोइटे (गोटे)	अनुवादक : श्री महेन्द्र चतुर्वेदी महाकाव्य और नाट्य-कविता, उपदेशात्मक काव्य, सहज आस्था और कविता, कला में व्यक्तित्व, कविता की विषय-वस्तु, अभिजात एवं स्वच्छन्द (रचनाएँ), कवि की परिभाषा, सौन्दर्य की परिभाषा, अरस्तू-कृत काव्य-शास्त्र का परिशिष्ट, विश्व-साहित्य का सिद्धान्त	१०९-११८
शिलर	अनुवादक : श्री महेन्द्र चतुर्वेदी सरल तथा भाव-प्रवण कविता	११९-१३२
वर्ड्सवर्थ	अनुवादक : श्री प्र० ना० त्रिपाठी कविता और काव्य-भाषा	१३३-१४१
	अनुवादक : श्री महेन्द्र चतुर्वेदी	१४२-१५५

कॉलरिज	छन्दोबद्ध रचना, कविता की परिभाषा, कल्पना
शंले	अनुवादक : श्री महेन्द्र चतुर्वेदी १५६-१६६ काव्य का महत्त्व
संन्त थ्यव	अनुवादक : श्री महेन्द्र चतुर्वेदी १६७-१८२ अभिजात साहित्य और उसका स्रष्टा
मैथ्यू आर्नल्ड	अनुवादक : श्री प्र० ना० त्रिपाठी १८३-१९० काव्य में विषय-चयन
ताँल्सतॉय	अनुवादक : श्री महेन्द्र चतुर्वेदी १९१-२०३ कलात्मक सृजन की प्रक्रिया, कला का मूल्यांकन, कला क्या है ?
वाल्टर पेटर	अनुवादक : श्री ता० ना० बाली २०४-२१८ शैली
ब्रैंडले	अनुवादक : डॉ० मोहनलाल २१९-२३१ काव्य-काव्य के लिए
वेनेदेतो क्रोचे	अनुवादक : डॉ० मोहनलाल २३२-२४६ सहजानुभूति और अभिव्यंजना : सह-जानुभूत ज्ञान, बौद्धिक ज्ञान से इसकी स्वतंत्रता, सहजानुभूति और प्रत्यक्षीकरण, सहजानुभूतियाँ एवं स्थान व काल की धारणा, सहजानुभूति और संवेदन, सहजानुभूति और साहचर्य, सहजानुभूति और प्रतिनिधान, सहजानुभूति और अभिव्यक्ति, सहजानुभूति और अभिव्यंजना का तादात्म्य; सहजानुभूति और कला : कला और सहजानुभूत ज्ञान का तादात्म्य, तीव्रता में कोई अन्तर नहीं, अन्तर विस्तार और अनुभव में है, कलात्मक प्रतिभा, सौन्दर्य-शास्त्र में आधेय और रूप, प्रकृति की अनुकृति एवं कलात्मक भ्रान्ति की आलोचना, सौन्दर्यात्मक प्रतीति और भाव,

सौन्दर्यात्मक संवेदनों के सिद्धान्त की
आलोचना, कलाकृति की एकता और
अखंडता, कला मुक्तिदात्री के रूप में

अनुवादक : डॉ० मोहनलाल २४७-२६७

इतिथट

अभिजात काव्य की परिभाषा, परम्परा
और वैयक्तिक प्रज्ञा, स्वच्छन्द और
अभिजात

अनुवादक : श्री महेन्द्र चतुर्वेदी २६८-२८६

आई० ए० रिचर्ड्स

मूल्य का विवेचन : कला और नीति;
कविता कविता के लिए, सुख

अनुवादक : श्री महेन्द्र चतुर्वेदी २९०-३०६

परिशिष्ट

माक्स

कला का उद्गम और विकास, चेतना
सामाजिक अस्तित्व से निरूपित होती है,
सौन्दर्य-नियमों के अनुकूल सचेतन रचना
एवं सर्जना, कला के उद्भव में श्रम का
योग, सौन्दर्य-भावना का विकास, कला
और साहित्य, मध्यवित्त-शासन का अभ्यु-
दय और विश्व-साहित्य का सूत्रपात,
समाजवादी मानववाद

अनुवादक : श्री महेन्द्र चतुर्वेदी ३०६-३२६

फ्रायड

कवि का दिवा-स्वप्न के साथ सम्बन्ध,
स्नायु-रोगी एवं कलाकार

अनुवादक : डॉ० मोहनलाल ३२७-३३८

युंग

विश्लेषणात्मक मनोविज्ञान और काव्य-
कला

अनुवादक : डॉ० मोहनलाल ३३९-३५४

सन्दर्भ-टिप्पणियाँ

३५५-३८७

पारिभाषिक शब्दावली

३८८-३९०

सम्पादकीय वक्तव्य

पाश्चात्य काव्य-शास्त्र की समृद्ध और विस्तीर्ण परम्परा के शृङ्खलाबद्ध अध्ययन तथा उसकी मौलिक एवं महत्त्वपूर्ण सैद्धान्तिक मान्यताओं के समवेत उपस्थापन की दिशा में हिन्दी में यह प्रथम प्रयास है। अपने समस्त साधनों और शक्तियों को एकान्वित कर देने पर भी हम यह कहने का साहस नहीं कर सकते कि प्रस्तुत ग्रन्थ सर्वथा दोषरहित है—इस प्रकार प्रथम प्रयास में त्रुटियाँ रह जाना आश्चर्य की बात नहीं, उनका न रहना ही आश्चर्य की बात होती। पाश्चात्य काव्य-शास्त्रकारों की गौरवमयी नामावली में से अनेक ऐसे हैं जिन्हें हम इस ग्रन्थ में स्थान नहीं दे पाये। इस दिशा में हमारा दृष्टिकोण यह रहा है कि हमने सैद्धान्तिक वक्तव्यों के समावेश पर ही बल दिया है—जिनकी उपलब्धियाँ व्यावहारिक काव्य-विवेचन के क्षेत्र में हैं, उनका समावेश हमने जानकर नहीं किया क्योंकि हम समझते हैं कि हमारा यह संकलन जिन पाठकों के प्रति निवेदित है वे आधारभूत काव्य-तत्त्वों के सामान्य विवेचन-विश्लेषण के द्वारा ही पाश्चात्य दृष्टिकोण को भली भाँति हृदयंगम कर सकते हैं, कवि-विशेष के आलोचनात्मक अध्ययन से उन्हें उतना लाभ नहीं हो सकता। जिन लेखकों का समावेश हमने किया है उनके काव्य-विषयक दृष्टिकोण को स्पष्ट करने वाले महत्त्वपूर्ण वक्तव्यों का चयन करने का ही हमारा प्रयत्न रहा है, तथापि सम्भव है हमारे चयन में कुछ त्रुटियाँ रह गई हों—हम अपनी सीमाओं को स्वीकार करते हुए विज्ञ-जन से क्षमा-याचना करते हैं। 'उच्चारण' की समस्या भी हमारे इस संकलन में एक गम्भीर समस्या रही है : फिर भी हमने राजधानी-स्थित विविध राजदूतावासों की सहायता से यथाशक्ति शुद्ध मूल उच्चारण देने का प्रयत्न किया है। विदेशी ध्वनियों को नागराक्षरों में व्यक्त करने में भी कम कठिनाई नहीं हुई—ऐसे अवसरों पर हमने निकटतम ध्वनि-प्रतीकों का प्रयोग किया है। इस सब सतर्कता के बावजूद कुछ उच्चारण-त्रुटियाँ भी रह ही गई होंगी, सम्भव है कहीं एकरूपता का पालन भी न हो पाया हो—इसके लिए हम पुनः आपकी उदार सहानुभूति की अपेक्षा करते हैं क्योंकि यह समस्त कार्य अत्यन्त दुष्कर रहा है।

इस ग्रन्थ के रूप में जो उपलब्ध आपके सम्मुख है उसका श्रेय हमसे अधिक उन सहयोगियों और सहकारियों को प्राप्त है जिनके योगदान के बिना हमारी योजना की क्रियान्विति सर्वथा असम्भव थी। इस अवसर पर हम सबसे पहले अपने श्रेष्ठ उपकुलपति महोदय के प्रति हार्दिक आभार प्रकट करते हैं जिनका तेजस्वी व्यक्तित्व हमारे प्रत्येक शुभ संकल्प की सफलता के लिए मानो प्रेरणा का अजस्र स्रोत बन जाता है। विश्वविद्यालय-अनुदान-आयोग ने हमारी योजना के आर्थिक आधार को पुष्ट किया है। उसके उदार अनुदान के लिए—विशेषकर उसके सचिव प्रो० सैमुएल मथाई के सौजन्य एवं सहानुभूति के लिए—हम अत्यन्त अनुगृहीत हैं। सम्पादक-मण्डल के विद्वान सदस्यों ने समय-समय पर सत्परामर्श देकर हमारा दिशा-निर्देश किया है तथा हमारी आयोजना के स्वरूप-निर्माण में अमूल्य योग दिया है—उनके प्रति कृतज्ञता-ज्ञापन की यह पहली किस्त है क्योंकि अभी आयोजना के अन्तर्गत जो दो और ग्रन्थ प्रकाशित होने हैं उनमें भी हमें उनके बहुमूल्य परामर्श की अपेक्षा रहेगी। किरोड़ीमल कॉलिज के विद्वान प्राचार्य डा० सरूपसिंह ने भी, जब भी आवश्यकता पड़ी है, अपना बहुमूल्य समय देकर हमारी सहायता की है। उसी कॉलिज के श्री राजकुमार कोहली ने भूमिका-लेखन में स्तुत्य योग दिया है—उनके प्रति भी हम आभार प्रदर्शित करते हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ में समाविष्ट वक्तव्यों का अनुवाद अत्यन्त कठिन एवं श्रमसाध्य कार्य था किन्तु हमारे अनेक नये-पुराने सहयोगियों ने बड़ी तत्परतापूर्वक एवं उत्साह के साथ इसे सम्पन्न किया है—वे हमारी हार्दिक प्रशस्ति के अधिकारी हैं। सबसे अन्त में, हम ब्रिटिश कौंसिल—विशेष रूप से उसके सहायक शिक्षाधिकारी श्री आर० ई० कैवेलियरो—के प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हैं जिन्होंने विभिन्न प्रकाशन-संस्थाओं से अनुमति प्राप्त करने में अत्यन्त तत्परतापूर्वक हमारी सहायता की है। इस ग्रन्थ के अवतरणों के अनुवाद के लिए हमें निम्नलिखित विदेशीय प्रकाशन-संस्थाओं ने कृपापूर्वक अनुमति प्रदान की है :

१. मेसर्स स्टूलेज एण्ड केगन पॉल लि०,

ब्रांडवे हाउस, कार्टर लेन,

लन्दन

२. मेसर्स मेकमिलन एण्ड कं०,

सेंट माटिन्स स्ट्रीट,

लन्दन

युंग की 'कन्ट्रीव्यूशंस टु एने-
लिटिकल साइकॉलोजी' से

ब्रैडले की 'आक्सफोर्ड लेक्चर्स
ऑन पोयट्री' से

३. मेसर्स स्टलेज एण्ड केगन पॉल लि०,
ब्रॉडवे हाउस, कार्टर लेन,
लन्दन

४. द विज़न प्रेस लि०,
७४-ए, रीजेंट स्ट्रीट,
लंदन

५. द हॉगर्थ प्रेस लि०,
४०-४२, विलियम स्ट्रीट,
लन्दन

६. मेसर्स फ़ेबर एण्ड फ़ेबर लि०,
२४, रसेल स्क्वायर,
लन्दन

आई० ए० रिचर्ड्स की 'प्रिंसी-
पल्ज़ ऑफ़ लिटरेरी क्रिटिसिज़्म'
से

क्रोचे की 'एस्थेटिक' से

फ्रायड के 'क्लैक्टेड पेपर्स' से

टी० एस० इलियट के 'वाट इज़
ए क्लासिक' से तथा 'ट्रेडीशन
एण्ड इंडिविजुएल टेलेट' एवं
'रोमेंटिक एण्ड क्लासिक' शीर्षक
निबन्धों से

उक्त विदेशी संस्थाओं के प्रकाशनों के अतिरिक्त अरस्तू-कृत 'काव्य-
शास्त्र' के अंश भारती भवन द्वारा प्रकाशित 'अरस्तू का काव्य-शास्त्र' से
उद्धृत किये गये हैं।

उक्त प्रकाशन-संस्थाओं के सौजन्य के बिना प्रस्तुत ग्रन्थ कदाचित् खंडित
रूप में ही आपके सामने आता। हम उन सबका आभार स्वीकार करते हैं।

भूमिका

उद्भव : ग्रीक काव्य-शास्त्र

कला और विज्ञान के अन्य रूपों की भाँति पाश्चात्य काव्य-शास्त्र का आरम्भ भी यूनान में ही हुआ। पश्चिम को यूनान की देन अमित है, परन्तु उसमें कदाचित् सबसे महत्वपूर्ण है जिज्ञासा-वृत्ति का उद्बोध। पाँचवीं शती ई० पू० तक यूनानी जाति विविध प्रकार के मानवीय अनुभवों से गुजरती हुई प्रौढ़ता प्राप्त कर चुकी थी। उसके यश की धवलिमा अब मलिन हो चली थी। ह्रासोन्मुख ग्रीक-समाज आत्म-विश्लेषण और अन्तरीक्षण के लिए बाध्य हो गया था। यूनानी सभ्यता के इतिहास के इसी अवस्थान में साहित्य के स्वरूप और प्रयोजन के प्रश्न भी उठाये गए : युगीन परिस्थितियों के वश इस समय साहित्य पर सामाजिक एवं नैतिक सन्दर्भ में ही विचार किया गया और उसके विशुद्ध रचनात्मक पक्ष पर बिल्कुल ध्यान नहीं दिया गया। प्लेटोन (प्लेटो) ने नैतिक और दार्शनिक विचारों के प्रभाव से कला मात्र की निन्दा की। काव्य-शास्त्र की दृष्टि से प्लेटो-पूर्व युग का सर्वप्रमुख ग्रन्थ है अरिस्तोफ-नेस का हास्य-नाटक 'फ्राग्स'। इसमें एउरपिदेस (यूरिपाइडीज़) तथा ऐस्ख्युलस (एस्काइलस) के आलोचनात्मक दिवाद का बड़ा सजीव हास्यपूर्ण वर्णन किया गया है। इसमें ऐस्ख्युलस ने एक मौलिक प्रश्न उठाया है कि कवि किस आधार पर यश का अधिकारी होता है और उत्तर में एउरिपिदेस से कहलाया गया है : 'यदि उसकी कला सच्ची है और उसका परामर्श सत् है, और यदि वह किसी भी दृष्टि से मानव को उत्कृष्टतर बनाकर राष्ट्र का सहायक होता है।' इस युग के प्रायः सभी काव्य-शास्त्रियों का यही दृष्टिकोण है—यहाँ तक कि लोंगिनुस ने भी, जिसने रसानुभूति से निष्पन्न 'आनन्द' के प्रति बड़ा उत्साह प्रदर्शित किया है, कवि-व्यक्तित्व में नैतिकता के तत्त्व पर स्पष्ट रूप से बड़ा बल दिया है। केवल अरिस्तोतेलेस (अरस्तू) कुछ हद तक इसके अपवाद हैं। अरिस्तोतेलेस ने मानो अपने गुरु एवं पूर्ववर्ती आचार्य प्लेटोन के रोष से

काव्य की रक्षा करते हुए विद्रोहात्मक स्वर में कहा : 'काव्य तथा किसी भी अन्य कला में और राजनीति में शुद्धता की कसौटी एक नहीं है' (काव्य-शास्त्र, अध्याय २५) । अरस्तू के इन शब्दों में राजनीति, नैतिकता, आचार-शास्त्र और काव्य से इतर ललित अथवा उपयोगी कलाओं की दासता से उसकी मुक्ति की घोषणा निहित है । ग्रीक आचार्यों की चेतना पर सामान्यतः नैतिकता का, आचार-शास्त्र का जो अंकुश था, उससे मुक्त कोई मनीषी यदि दृष्टिगोचर होता है तो अरिस्तोतेलेस । इस दृष्टि से उनका महत्व अधुण है—वे लोक से हटकर चले हैं, उनमें विद्रोह का स्वर स्पष्ट प्रतिध्वनित हुआ है ।

ग्रीक आलोचना के मार्ग में एक और बाधा थी और वह यह कि यद्यपि उनका साहित्य महान् था तथापि उसका क्षेत्र बड़ा संकीर्ण था—उस समय तक कई साहित्य-रूपों का उद्भव भी न हुआ था । ग्रीक आलोचना मुख्यतः त्रासदी तक सीमित है—अन्य रूपों का उल्लेख तो अनुषंगतः हुआ है । एक बात और भी है । वे अध्ययन की तुलनात्मक रीति से भी अवगत नहीं थे क्योंकि किसी अन्य साहित्य का ज्ञान उन्हें न था । इन सब सीमाओं के होते हुए भी ग्रीक आचार्यों की उपलब्धियाँ तीव्र अन्तर्दृष्टि, व्यापक तर्क तथा 'गम्भीर विश्लेषण एवं दीप्त विचारणा' के कारण अप्रतिम हैं । सर्वप्रथम ग्रीक चिन्तकों ने कुछ ऐसे प्रश्न उठाये थे जिनके सन्तोषजनक उत्तर हम आज भी नहीं खोज पाये हैं । उनकी सच्ची महत्ता उनकी जिज्ञासाओं में है, समाधान में नहीं । इन मनीषियों ने काव्य के स्वरूप, उसके प्रकार और रूप, उसके कार्य और प्रयोजन की परिभाषाएँ देने के प्रयत्न किये और उस कौशल के आन्तरिक तत्त्वों के उद्घाटन का प्रयत्न किया जिसके द्वारा कविता या नाटक की सर्जना होती है । साहित्यिक कृति के विशद विश्लेषण एवं सूक्ष्म निरीक्षण पर आधारित अनुगम-पद्धति* का उपयोग भी सर्वप्रथम प्राचीन यूनान में ही किया गया । पुरातन काल में यूनानियों में यह धारणा बहुत प्रचलित थी कि कवि दैवान्ना से प्रेरित होता है और उसी के कारण उसमें एक 'कवित्वपूर्ण विक्षेप' की भावना जन्म लेती है परन्तु इस धारणा को सर्वप्रथम निश्चित शब्दावली में व्यक्त करने का श्रेय प्लेटोन (प्लेटो) को है ।

'सभी अच्छे कवि—महाकाव्यकार हों या प्रगीतकार—अपने श्रेष्ठ काव्य की रचना कला के द्वारा नहीं करते बल्कि इसलिए करते हैं कि वे प्रेरित और आविष्ट होते हैं ।... वह (कवि) तब तक नई उद्भावनाएँ नहीं कर सकता जब तक वह आवेग-प्रेरित और चेतनाविहीन न हो ।... जब तक वह इस अवस्था

* Inductive method

को प्राप्त नहीं कर लेता तब तक वह सर्वथा अशक्त होता है और उसकी वाणी प्रस्फुटित नहीं होती ।’

यद्यपि प्लतोन ने कविता पर प्रहार करने के लिए ही इस प्ररणा-सिद्धान्त को अपना अस्त्र बनाया था तथापि उन्होंने अनजाने ही एक ऐसे गम्भीर एवं चिरन्तन सत्य की व्यंजना कर दी जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती । कविता में एक ऐसा तत्त्व होता है जो आत्मा को अभिभूत कर लेता है—उसका न विश्लेषण हो सकता है, न परिभाषा दी जा सकती है । यूनानी मस्तिष्क के गहन चिन्तन-मनन के फलस्वरूप हमें तीन सशक्त एवं महत्त्वपूर्ण कृतियाँ प्राप्त हुई : प्लतोन का ‘गणराज्य’, अरिस्तोतेलेस का ‘काव्य-शास्त्र’ तथा लॉगिनुस का ‘काव्य में उदात्त तत्त्व’ । निश्चय ही यह ऐसी सिद्धि है जिस पर कोई भी राष्ट्र गर्व कर सकता है ।

रोमी काव्य-शास्त्र

रोमी मानस व्यावहारिकता के सूत्रों में बँधा हुआ था । उसमें चिन्तन-परक जिज्ञासा के लिए वैसा स्थान न था जैसा यूनानियों में । दूसरी बात यह थी कि रोमी मस्तिष्क यूनानियों की उपलब्धियों से इतना अभिभूत था कि उसने अनुकरण का ही मार्ग ग्रहण किया । रोमी आचार्यों में सबसे महान् एवं प्रतिनिधि काव्य-शास्त्री होरेस हैं । उनमें हमें अरस्तू की वाणी तथा विचारों की अनेकविध प्रतिध्वनियाँ एवं प्रतिफलन ही मिलती हैं । रोमी ऐसे राष्ट्रीय साहित्य की सर्जना करना चाहते थे जो ग्रीक साहित्य के समक्ष हो; अतः उन्होंने ‘गद्य-पद्य दोनों में लेखन की अचूक पद्धतियों के प्रतिपादन’ पर बड़ा ध्यान दिया । इसका फल यह हुआ कि समालोचक का ध्यान मौलिक सिद्धान्तों से हटकर नियमों-परम्पराओं में बँध गया । साहित्य की आत्मा के बजाय ये रोमी उसके क्रियाकल्प या अंग-विन्यास पर चिन्तन करने में रम गये । रोमी और ग्रीक साहित्य के समानान्तर अध्ययन पर अपने निष्कर्षों को आश्रित करने की स्थिति में वे थे—ग्रीक आचार्यों की अपेक्षा इन्हें यह लाभ था परन्तु उन्होंने इसे वृथा ही जाने दिया । इन रोमी आचार्यों में होरेस मूर्धन्य हैं और सैंट्सबरी के अनुसार उनकी ‘आर्स पोएतिका’ (काव्य-कला) ‘साधारण मेधा (के व्यक्ति) की कृति’ है । होरेस में अभिव्यंजना-सौष्ठव भले ही हो परन्तु वह अन्तर्दृष्टि तथा जिज्ञासा नहीं । साहित्य के इतिहास की यह एक बहुत बड़ी विडम्बना है कि असाधारण मेधा के अरस्तू की अपेक्षा साधारण मेधा के होरेस ने परवर्ती पीढ़ियों को अधिक प्रभावित किया । ग्रीक आचार्यों की

नीति-प्रवणता रोमियों ने ग्रहण कर ली बल्कि उनमें वह और भी गहरी हो गई। काव्य-प्रेरणा का ग्रीक सिद्धान्त भी रोमियों ने मौन भाव से स्वीकार कर लिया।

अन्धकार-युग

प्लटोन से लॉगिनस तक साहित्य की अविच्छिन्न धारा तथा सचेतन मूल्यांकन की अविकल प्रक्रिया दृष्टिगोचर होती है। परन्तु रोमी साम्राज्य के पतन तथा मसीही धर्म के उत्थान के साथ-साथ यूरोप के काव्य-शास्त्र के इतिहास में अन्धकार-युग का सूत्रपात हुआ। किर्तव्यविमूढ़ता ने लोगों को आक्रान्त कर लिया। इसका अन्त हुआ इटली में ज्ञान के पुनरुत्थान [पुनर्जागरण] के साथ। जो पुरातन अभिजात ग्रन्थ विस्मृत हो गये थे, उन्हें खोज निकाला गया और उनमें गहरी रुचि ली जाने लगी। अन्धकार-युग में यूरोप में कैथोलिक धर्म का अभंग साम्राज्य था, वह धर्म-निरपेक्ष साहित्य को शंकित दृष्टि से देखता था। जो परिष्कृत मन और संस्कृत बुद्धि के धनी थे मध्य-युग में प्रायः उन सभी को धर्म-सूत्रों ने बाँध लिया। वे प्रचार करते, धर्मोपदेश देते, शिक्षा-दान करते तथा धर्म-शास्त्रीय व्याख्याएँ लिखते। प्लटोन ने साहित्य पर जो आक्रमण किया था उसी की पुनरावृत्ति अब कुछ भिन्न रूप में हुई। कहा गया कि कविता इस जगत के प्रति मोह जमा कर मसीही आत्मा के विकास में बाधा डालती है, पारलौकिक जीवन के चिन्तन से मन को दूर खींच ले जाती है। 'रंगमंच' से सम्बद्ध नृत्य, स्वाँग, गायन आदि सभी कलाओं का बहिष्कार किया गया। विदूषकों, अभिनेताओं आदि को शैतान का प्रतिनिधि घोषित किया गया। पादरी के लिए उनका अभिनयादि देखना या गीत सुनना पाप-कर्म समझा गया। धर्म-शास्त्र से इतर साहित्य के लिए जीना कठिनतर होता गया। स्वाभाविक था कि ऐसी स्थिति में साहित्यिक आलोचना का भी ह्रास हो। जिस साहित्य को पाप का पोषक माना जाता था, शंका की दृष्टि से देखा जाता था उसके विवेचन-विश्लेषण पर कौन गम्भीर व्यक्ति अपना समय लगाता! स्काट जेम्स ने लिखा है : 'पंडितों की भाषा लेटिन का प्रयोग साहित्यिक अभिव्यंजना के मार्ग में बहुत बड़ी बाधा थी तथा धार्मिक एवं मतवादी कट्टरता का दायित्व साहित्य-सृजन में ईमानदारी तथा समालोचना में स्वतन्त्र विचाराभिव्यक्ति दोनों के लिए घातक तत्त्व था।' फिर भी, आश्चर्य की बात यह है कि इस अन्धकार-युग में साहित्यिक आलोचना का जो सबसे मूल्यवान् अभिलेख प्रस्तुत किया गया वह एक मसीही धर्मावलम्बी कवि द्वारा ही। प्रो०

सेंट्सबरी का कथन है : 'आधुनिक युग को प्राचीनकाल की सबसे मूल्यवान देन है दाँते का 'द वर्गारि एलोकियो' तथा लॉगिनुस का 'काव्य में उदात्त तत्त्व'। दाँते ने काव्य-हास के कारणों का अन्वेषण करते हुए प्रश्न उठाया है कि उस युग के कवि वर्जिल की भाँति क्यों नहीं लिख पाते ? उन्हें लगा कि लेटिन के प्रयोग के कारण—जो जीवित भाषा न रह गई थी—कविता-देवी की स्वतन्त्रता बाधित हो रही थी। दाँते ने जीवित भाषा—इतालवी—के प्रयोग का समर्थन किया। उन्होंने इस द्वन्द्व पर सदा के लिए अपना निर्णय दे दिया कि प्राचीनता के गौरव से मण्डित—किन्तु मृत—भाषा में काव्य-सृजन किया जाये या जीवित जातीय भाषा में। छन्द के विषय में भी दाँते के विचार बड़े गम्भीर और रोचक हैं।

पुनर्जागरण-युग

पुनर्जागरण-काल के अभ्युदय के साथ, आलोचना का बड़ी द्रुत गति से उत्थान हुआ। अरस्तू के काव्य-शास्त्र तथा अतीत की अन्य आलोचनात्मक कृतियों का पुनरन्वेषण और पुनराख्यान हुआ। इतालवी व्याख्याकारों को अपने कार्य के लिए मानो बड़ा समृद्ध क्षेत्र मिल गया। मुद्रण-यन्त्र के आविष्कार से ज्ञान-प्रसार के प्रयत्नों को अपूर्व बल मिला। अरस्तू के व्याख्याकारों को अपने-अपने भाष्यों—या कहें अपभाष्यों—के प्रचार में इससे बड़ी सहायता मिली। कास्तेलवेतरो, रोबोर्तेलो, मितुरनो और स्केलिजर का आलोचना-जगत् पर आधिपत्य रहा—परन्तु उन्होंने अरस्तू पर अपने विचारों और धारणाओं को लादने का प्रयत्न किया है, इन प्रयत्नों में ग्रीक पाठ को प्रायः विकृत कर दिया गया है। प्राचीन भाषा के नाम पर पुनर्जागरण-काल के इन आलोचकों का ज्ञान लेटिन ज्ञान तक सीमित था, ग्रीक भाषा का उनका ज्ञान अत्यन्त स्वल्प था। इससे भी बुरी बात यह थी कि अरस्तू के लेटिन अनुवाद मूल ग्रीक पाठ से न होकर अरबी अनुवादों तथा भाषान्तरों से किये गये थे। प्लेटो और अरस्तू दोनों के उद्धरण बराबर दिये जाते थे पर उन्हें प्रायः गलत समझा जाता था। इस युग में पाण्डित्य एवं अध्ययन के वस्तुपरक मानदण्डों का अभाव था—भूलें की जाती थीं और बड़े विश्वास के साथ की जाती थीं।

अरस्तू के विरेचन*-सिद्धान्त की सर्वप्रथम व्याख्या भी इसी युग में हुई। इसे चिकित्सा-शास्त्र का शब्द बताया गया जिसका अर्थ है शुद्धि की क्रिया। बाद में इस व्याख्या को सामान्यतः स्वीकृति प्राप्त हो गई। प्लेटो का भी प्रत्यक्ष

* Catharsis

एवं परोक्षतः बड़ा प्रबल प्रभाव था। सर फिलिप सिडनी सरीखे कुछ आलोचक एक नयी दिशा में अग्रसर हुए : उन्होंने यह स्थापना की कि प्लेटो ने साहित्य मात्र का विरोध नहीं किया, अनैतिक साहित्य का विरोध किया है। इस युग में इस समस्या को लेकर घोर मतभेद रहा कि कविता में तुक का प्रयोग किया जाये या नहीं। यद्यपि इस युग में आलोचना-साहित्य का बड़ी तीव्र गति से सृजन हुआ परन्तु अधिकांश आलोचना पिष्टपेषित ही है। अरिस्तोतेलेस (अरस्तू) या लोंगिनुस के व्यक्तित्व की तो समता ही क्या, होरेस जैसा भी कोई आलोचक इस युग में नहीं दिखाई देता। इस युग के दो ही महत्वपूर्ण आलोचक हैं—सिडनी और बेन जानसन। बेन जानसन ने होरेस का अनुवाद किया था, इसलिए होरेस का प्रचार अधिक रहा। बेकन भी इस युग की एक उल्लेखनीय विभूति हैं।

नव्यशास्त्रवादी युग

१७वीं-१८वीं शती में आलोचनात्मक साहित्य के सृजन का केन्द्र इटली के बजाय फ्रांस हो गया। फ्रेंच कवि रोन्सार 'कवि-विक्षेप' में विश्वास करता था और कल्पना-प्रवण प्रतिभा को हर प्रकार की छूट देने का पक्षपाती था। उसके काव्य-सिद्धान्तों और उन सिद्धान्तों के व्यवहार के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया आरम्भ हो गई थी। निकृष्ट कवियों ने उसके सिद्धान्तों का दुरुपयोग किया—फलतः एक अव्यवस्था फैल गई। इस बात की आवश्यकता हो गई कि स्पष्टता और व्यवस्था की नई खोज आरम्भ की जाय। मालेर्व ने साहित्यिक आलोचना के मंच पर पदार्पण किया और रोन्सार के गढ़ को हिला डाला। अन्त में बुअलो ने उसका स्थान ग्रहण कर लिया। फ्रांस में इस समय विविध सूत्रों से गृहीत काव्य एवं नाट्य-सिद्धान्तों को लेकर बड़ा तीव्र मतभेद हो गया था। इस स्थिति में कुछ-न-कुछ स्पष्टीकरण की आवश्यकता थी। मालेर्व ने इस दिशा में प्रयत्न किया। उन्होंने कविता को 'प्रेरणा' की अपेक्षा 'कला' बताया, उसकी 'जाति' एवं क्रियाकल्प के सिद्धान्त निर्धारित कर दिये। आलोचकों ने अनुशासन-भावना का गुणगान तथा स्वच्छन्दता एवं स्वातन्त्र्य की अभिशंसा आरम्भ कर दी। बुअलो, रापें तथा ला बोस्यू ने नव्यशास्त्रीय सिद्धान्त की मुहृद नींव स्थापित कर दी। बुअलो इस बात को मानकर चले कि साहित्य में उत्कर्ष के कुछ शाश्वत तथा अपरिवर्तनीय मानदण्ड होते हैं, उन्होंने कहा कि प्राचीनों से नियम ग्रहण करके प्रत्येक 'जाति' की कविता में इस प्रकार के मानदण्डों की सिद्धि हो सकती है। परन्तु प्राचीनों को उन्होंने इसीलिए

पथ-प्रदर्शक के रूप में स्वीकार नहीं किया कि वे प्राचीन हैं वरन् इसलिए किया कि वे प्रकृति या विवेक के आदेशों का पालन करते थे। इस प्रकार प्राचीनों का अनुसरण करने के बजाय “अपनी पद्धति को विवेकपूर्ण भूमिका पर प्रतिष्ठित करके उन्होंने स्वीकृत सिद्धान्त का महत्वपूर्ण रूपान्तरण कर दिया।” फ्रांसीसी आलोचकों ने इतालवी पुनर्जागरण के आलोचकों के कृतित्व का निःसंकोच उपयोग किया परन्तु प्रखर मेधा तथा गम्भीर तर्क-शक्ति से सम्पन्न फ्रांसीसी मस्तिष्क ने वह सब-कुछ छोड़ दिया जिस पर तीव्र मतभेद की छाप लगी दिखाई दी। इतालवी काव्य-सिद्धान्त में भ्रान्तियों, असंगतियों एवं अन्तर्विरोधों की भरमार थी। फ्रांसीसी मनीषियों ने अव्यवस्था में से व्यवस्था की उद्भावना की तथा ‘प्राचीन’ के अनुकरण के सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की। परन्तु यह ‘अनुकरण’ प्रत्येक प्रकार (के काव्य) का यांत्रिक पुनरुत्पादन मात्र था; (होरेस की भाँति) प्रत्येक तत्त्व को पचाकर पुनः सृजन करने की प्रक्रिया न था, और न (लॉगिनुस की भाँति) प्राचीनों की भावना अथवा आन्तरिकता को पकड़ पाने की क्रिया। इस प्रकार नव्यशास्त्रवादियों ने कविता की देवी को बन्धनों में ऐसा जकड़ दिया कि वह रंचमात्र भी हिल-डुल न सके। उन्होंने लॉगिनुस के ‘काव्य में उदात्त तत्त्व’ का पुनरन्वेषण अवश्य किया, परन्तु उसकी मूल भावना का निःशंक भाव से तिरस्कार किया।

फ्रांसीसी नव्यशास्त्रवादियों ने इंग्लैंड पर भी पूर्ण आधिपत्य कर लिया। ड्राइडन, एडीसन, डॉ० जॉनसन आदि कुछ साभान्य अपवाद अवश्य हैं परन्तु अधिकांश अँग्रेजी आलोचकों ने बुअलो के प्रति श्रद्धांजलि अर्पित की है। अधिवक्ताओं का विधायकों से जो नाता होता है, कुछ-कुछ वही नाता अँग्रेजी और फ्रांसीसी आलोचकों का था। राइमर अँग्रेज नव्यशास्त्रवादी मस्तिष्क का पक्का प्रतिनिधि है, पोप भी उसी प्रवृत्ति की उपज है। ड्राइडन, एडीसन, डॉ० जॉनसन जैसे अपेक्षाकृत अधिक स्वतन्त्र आलोचकों ने नव्यशास्त्रवादी संहिता को स्वीकार अवश्य किया है परन्तु वे फ्रांसीसी परम्परा के विरुद्ध देशीय परम्परा की प्रतिष्ठा में भी सतत प्रयत्नशील रहे। एडीसन ने राइमर पर कटाक्ष करने का अवसर कभी हाथ से जाने नहीं दिया; ड्राइडन ने अरस्तू के ग्रन्थानुकरण की प्रवृत्ति की निन्दा की है। (“अरस्तू ने ऐसा कहा है” यह कह देना भर पर्याप्त नहीं है क्योंकि अरस्तू ने त्रासदी के प्रतिमान एउरिपिदेस एवं सोफोक्लेस से ग्रहण किये थे। यदि उन्होंने हमारी कृतियाँ देखी होतीं तो शायद वे अपना विचार बदल देते।”) डॉ० जॉनसन ने अन्वि-त्रय के नव्य-शास्त्रवादी सिद्धान्त का मूलोच्छेद ही कर डाला। जर्मन कवि, नाटककार

तथा आलोचक लेसिंग ने अठारहवीं शती के सातवें दशक में अपनी कृति 'लाऊ-कून' प्रकाशित की जो साहित्यालोचन के इतिहास का एक सीमा-चिह्न है। 'हैम्बर्ग ड्रामैटर्जी' में लेसिंग ने अरस्तू के काव्य-शास्त्र की व्याख्या करते हुए अपनी प्रखर-स्वतन्त्र चेतना तथा तीव्र अन्तर्दृष्टि का परिचय दिया था परन्तु उनकी 'लाऊकून' अधिक मौलिक कृति है; उसके कारण महान् आलोचकों में उनका स्थान सुनिश्चित हो गया। प्लेटो के उपरान्त कविता, चित्रकारी, मूर्तिकला, संगीत तथा नृत्य सभी को अनुकरण की विधियाँ समझा जाता था, जो विभिन्न माध्यमों से मानव-अनुभूति को व्यक्त करती हैं। इन्हें एक वर्ग के अन्तर्गत रखा जाता था, अनुकरण की किन्हीं दो विधियों में समानता दिखाने की प्रथा-सी चल पड़ी थी। अरस्तू, होरेस, प्लुटार्ख, बेन जानसन आदि में कविता और चित्रकला की समानता पर बड़ा बल दिया गया था और इस समानता को बिना विश्लेषण के स्वीकार कर लेने की परम्परा-सी बनती जा रही थी। लेसिंग की विश्लेषात्मक प्रतिभा ने इस समस्या का पुनः परीक्षण किया और इस तथ्य को रेखांकित किया कि कला के ये विविध रूप अपने अभीष्ट साध्य की सिद्धि भिन्न-भिन्न पद्धतियों से करते हैं; प्रत्येक माध्यम की अपनी अलग-अलग आवश्यकताएँ और सीमाएँ होती हैं और कलाकार को अपनी लक्ष्य-पूर्ति के लिए उन्हें स्वीकार करना ही पड़ेगा। उसने निम्नलिखित शब्दों में यह स्थापना की कि कला की सार्थकता सामाजिक पर प्रभाव डालने में है—कि सम्प्रेषण सृजनात्मक अनुभव का अनिवार्य अंग है।

स्वच्छन्दतावादी युग

उन्नीसवीं शताब्दी में आलोचना की धारा अतीत की आलोचना-धारा से सर्वथा विच्छिन्न होकर प्रवाहित हुई। युग की स्वच्छन्द भावना ने नव्य-शास्त्रवादी सम्प्रदाय के सब नियमों और नीतियों के विरुद्ध विद्रोह किया; आलोचकों ने अरस्तू, होरेस अथवा लॉगिनुस के सम्मुख उपासना-भाव से प्रणत होना बन्द कर दिया। वे नये मार्गों की ओर उन्मुख हुए, वे ऐसी गहराइयों में पैठे जिनका अन्वेषण अतीत में न हुआ था। इनमें से अधिकांश आलोचक एका-न्ततः व्यक्तिवादी थे; उन्हें किन्हीं सरलीकृत सूत्रों के परिवेश में रखकर देखना सही परिपाई को विकृत करना होगा। यदि हम पूरे युग पर दृष्टि डालें और नव्यशास्त्रवादी मान्यताओं के सामान्य परित्याग को सामान्य प्रवृत्ति के रूप में स्वीकार करें तभी हम यूरोपीय स्वच्छन्दतावादी आन्दोलन की बात कह सकते हैं। एक बात और ध्यान में रखने की है कि स्वच्छन्दतावाद के बीज अठारहवीं

शती में अंकुरित हो उठे थे यद्यपि वे पल्लवित-पुष्पित १९वीं शती में ही हुए । प्रो० रेने वेलेक के शब्दों में 'आलोचना के इतिहास में काव्य की भावात्मक अवधारणा का अभ्युत्थान, ऐतिहासिक दृष्टिकोण की प्रतिष्ठा, अनुकरण-सिद्धान्त का, नियमों और शैली का विवक्षित निरसन—ये सब परिवर्तन के निश्चित लक्षण हैं और ये १९वीं शती के आरम्भ की अपेक्षा १८वीं शती में ही प्रस्फुटित हो उठे थे ।' १८ वीं शती तक फ्रांस के नव्यशास्त्रवादी सम्प्रदाय से जो कुछ मिला उसे जर्मनी मौन भाव से स्वीकार करता रहा, परन्तु अब वह आलोचना की नई प्रवृत्तियों का नेतृत्व करने लगा और स्वयं फ्रांस जर्मन-प्रभाव से अभिभूत हो गया । आलोचनात्मक चिन्ता की तरंगें अब गोडटे के देश से उठ रही थीं । अंग्रेजी स्वच्छन्दतावादियों में सबसे गम्भीर आलोचक कॉलरिज ने जर्मन-दर्शन और आलोचना के स्रोतों का गम्भीर अवगाहन किया था । जर्मनी में इलेजल नव्यशास्त्रवादी सिद्धान्त से मुक्ति पाने के आन्दोलन का सबसे समर्थ और सबसे प्रमुख उन्नायक था और इधर इंग्लैंड में वर्ड्सवर्थ ने अपने 'लिरिकल बैलड्स' के द्वितीय संस्करण की भूमिका (१८०० ई०) में स्वतन्त्र रूप से काव्य की मुक्ति की घोषणा की ।

साहित्य के क्षेत्र में इस प्रकार के दार्शनिक चिन्तन के फलस्वरूप १९वीं शती में एक नये शास्त्र—सौन्दर्य-शास्त्र—का जन्म हुआ । सौन्दर्य-शास्त्र के अध्ययन के क्षेत्र में भी महत्वपूर्ण प्रगति करने का श्रेय जर्मनी को है । वैसे अधिकांश आधुनिक विद्वानों का मत यह है कि सौन्दर्य-शास्त्र का सूत्रपात करने का श्रेय फ्रांसीसी दार्शनिक देकार्त को है और उसने जर्मन सौन्दर्य-शास्त्र के आदि आचार्य लीबनिज पर गहरा प्रभाव डाला था । उसके उपरान्त जर्मन-दार्शनिकों ने 'सुन्दर' के स्वरूप एवं सौन्दर्य-सिद्धान्तों का उसी गहराई और बारीकी से अन्वेषण किया जो जर्मन मस्तिष्क की विशेषता है । यह तो सन्देह का विषय है कि सौन्दर्य-शास्त्र को साहित्यालोचन की शाखा स्वीकार किया जा सकता है या नहीं क्योंकि वह कला की मूर्त कृति की उपेक्षा करता है—अमूर्त सिद्धान्तीकरण एवं दार्शनिक चिन्तन की प्रवृत्ति से ही उसका जन्म होता है । वह वस्तु पर अपनी दृष्टि न रखकर शून्य की स्थिति में अपने सिद्धान्तों का भावन करता है । परन्तु यह भी सत्य है कि साहित्य-सिद्धान्त का अध्येता सौन्दर्य-शास्त्र से उपलब्ध सामग्री का अच्छा उपयोग कर सकता है । एक उदाहरण लें—हीगेल, ह्यूम, शापनहोर, नीत्शे इन सबने त्रासदी पर लिखा है । ये सभी प्रायः कल्पना के जगत् में पहुँच जाते हैं और आलोच्य विषय को स्पष्ट करने के बजाय उस पर रहस्य का आवरण डाल देते हैं परन्तु फिर

भी उनकी कुछ उक्तियाँ गम्भीर अन्तर्दृष्टि तथा दीप्तिमयी उद्भावनाओं की साक्षी हैं।

इस शती (१९ वीं शती) के पूर्वार्द्ध में तो रुढ़िनिष्ठ नव्यशास्त्रवादी सिद्धान्त के विरुद्ध विद्रोह की मनःस्थिति अभिव्यंजित हुई है और व्यष्टि रूप में कलाकार के अधिकारों की स्थापना परन्तु उत्तरार्द्ध में स्पष्टतः चिन्ताधारा में एक मोड़ आया है : आर्नल्ड, कार्लाइल, न्यूमैन तथा रस्किन आदि इस युग की सबसे प्रमुख और विशिष्ट विभूतियों की चिन्तना पर फिर से सामाजिक, नैतिक एवं आचारपरक मूल्यों की समस्या ने आधिपत्य जमा लिया है। महान् आलोचक आर्नल्ड ने साहित्य और संस्कृति के गठबन्धन का प्रयत्न किया—उन्होंने उस भविष्य की कल्पना की है जब कविता धर्म और दर्शन की स्थानापन्न बन जायेगी। परन्तु इस प्रवृत्ति का विरोध भी बड़े उग्र रूप में हुआ। लगभग इसी समय एक सम्प्रदाय ऐसा उठ खड़ा हुआ जो नैतिकता और आचार के बन्धनों से कला की मुक्ति के लिए आतुर था। ऑस्कर वाइल्ड ने निर्भीक शब्दों में घोषणा की : 'सब कला निष्फल है' अर्थात् उसका कार्य केवल आनन्द प्रदान करता है, सफल मानव का निर्माण करना नहीं। अमरीकी चित्रकार विसलर तथा आइरिश लेखक वाइल्ड ने अनेक अमर्यादित वस्तुएँ दिये जिससे 'कला कला के लिए' सम्प्रदाय बदनाम ही हुआ। अंग्रेज आलोचक पेन्टर भी कला के मूल्यांकन के लिए सौन्दर्य-भावना से इतर किसी भी कसौटी को स्वीकार नहीं करते परन्तु ध्यान देने की बात है कि शैली पर अपने प्रसिद्ध निबन्ध के अन्त में उन्होंने माना है कि सत्कला महान् तभी बनती है जब उसका सम्बन्ध मानवीय साध्यों से हो। उधर फ्रांस में इन्हीं दिनों प्लाबेयर और जोला के यथार्थवादी-प्रकृतवादी सम्प्रदायों का अभ्युदय हुआ—इन्होंने अपने आलोचनात्मक निबन्धों या आमुखों में अपनी साहित्यिक प्रवृत्तियों के प्रति आक्षेपों का समाधान किया है। बर्ड्सवर्थ, कॉलरिज, शैले, ह्यूगो, सेंट व्यव, रेनाँ, टेन, गोइटे, आर्नल्ड, तालस्ताय, पेटर—आलोचकों की यह अत्यन्त गौरवमयी नामावली है और इनका योगदान अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

आधुनिक आलोचना-धारा

बीसवीं शताब्दी में पदार्पण करते ही जो स्थिति-चित्र हमारे सामने आता है उसकी रूपरेखा बड़ी धुंधली तथा अस्तव्यस्त है। प्रत्येक कलाकार और आलोचक अतीत से पलायन करने के लिए आतुर दिखाई पड़ता है—विलक्षण धारणाओं तथा नूतनता के मोह का बोलबाला है। 'प्रभाववाद,'

‘अतियथार्थवाद’, ‘बिम्बवाद’ साहित्य-सिद्धान्त की कुछ अस्पष्ट एवं शिथिल परिभाषाबद्ध प्रवृत्तियों के उदाहरण हैं। फिर भी विश्लेषण की प्रक्रिया से सम्पूर्ण चित्र का पुनर्निर्माण सम्भव है। इस शती के प्रथम दशक में ही अमरीका में एक गम्भीर आलोचनात्मक विवाद का सूत्रपात हुआ। इसका आरम्भ हुआ इरविंग बैबिट द्वारा स्वच्छन्दतावाद की गहंणा से (‘रूसो और स्वच्छन्दतावाद’)। बैबिट इंग्लैण्ड के नये कट्टर नीतिवादी विचारक थे—वे चाहते थे कला नैतिक एवं आचारपरक साध्यों के आश्रित हो। उनकी गहंणा नैतिक एवं आचारपरक कारणों पर ही आश्रित है। अंग्रेजी दार्शनिक आलोचक टी० ई० ह्यूम ने भी वही दिशा ग्रहण की : उनकी आलोचना भी नैतिकता की भावना से प्रेरित है। उन्होंने विगत युग के स्वच्छन्दतावादी काव्य के प्रति बिम्बवादी विद्रोह का नेतृत्व किया किन्तु इनके समसामयिक क्रोचे जैसे विचारक भी थे जो यह मानते थे कि कलाकार तो सर्वोच्च प्राणी है, वह किसी बहिरंग अनुशासन या नियम के अधीन नहीं। क्रोचे के अनुसार कलात्मक सृजन का अनुभव सहजानुभूति की क्रिया है जो मन में ही पूर्णता प्राप्त कर लेती है : कलाकार उसकी ओर विशुद्धतः आत्म-सुख के कारण प्रवृत्त होता है। कलाकार उसे शब्द, प्रस्तर, रंग अथवा स्वर-साम्य में परिवर्तित करके मूर्त रूप प्रदान कर सकता है परन्तु जिस बहिरंग रूपाकार का वह निर्माण करता है वह उसकी सृजनात्मक अनुभूति का अनिवार्य अंग नहीं। वह बहिरंग रूपाकार कलाकृति नहीं, वह तो केवल ‘स्मृति का सहायक तत्त्व’ है, एक मूर्त उद्दीपन है जिसके द्वारा कलाकार अपनी सहजानुभूति का पुनर्निर्माण करता है। उसमें आवश्यकता होती है एक ‘सतर्क संकल्प-शक्ति की जो विशिष्ट कल्पनाओं, सहजानुभूतियों अथवा चित्रों को खो जाने नहीं देती।’ इस प्रकार क्रोचे के काव्य-सिद्धान्त सौन्दर्य-शास्त्र के क्षेत्र तक ही सीमित हैं, उन्होंने कलाकार और कलाकृतियों के प्रत्यक्ष साध्य की उपेक्षा की है।

आधुनिक मस्तिष्क पर विज्ञान का प्रभाव अवश्यंभावी था—जिसके फलस्वरूप एक नये आलोचना-सम्प्रदाय ने साहित्यालोचन को शुद्ध विज्ञानों के धरातल पर प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया। इन आलोचकों में प्रमुख हैं डॉ० रिचर्ड्स जिनके साहित्यालोचन-सिद्धान्तों में एक सर्वथा नूतन एवं वैज्ञानिक आधार प्रस्तुत किया गया है। उन्होंने सृजन-अनुभव का मूलतः एक मनो-वैज्ञानिक अनुभव के रूप में अध्ययन करना चाहा है। मनोविज्ञान शुद्ध विज्ञान है—अतः उनका विश्वास है कि उनकी पद्धति से साहित्यालोचन वैज्ञानिक आधार पर प्रतिष्ठित हो सकता है और तब सृजानुभूति को भी निश्चित

शब्दावली में आँका जा सकता है। उनके प्रयत्न से यह अवश्य हुआ है कि कविता के विश्लेषण तथा गम्भीर एवं विशद अध्ययन की नयी पद्धतियाँ प्रचलित हो गई हैं। इस युग के अन्य प्रभावशाली आलोचक हैं टी० एस० इलियट। अपने 'परम्परा और वैयक्तिक प्रज्ञा' में उन्होंने रुढ़िनिष्ठ स्वच्छन्दतावाद के विरुद्ध विद्रोह किया है। उन्होंने इस बात पर बल दिया है कि कवि का मूल्यांकन व्यक्ति-रूप में नहीं होना चाहिए वरन् परम्परा-शृंखला की एक कड़ी के रूप में होना चाहिए। उनका यह दृढ़ विश्वास है कि कला निर्व्यक्तिक होनी चाहिए। उन्होंने 'अनुभूति के निर्व्यक्तीकरण' को अरस्तू के 'सामान्यीकरण' के समतुल्य रखा है। 'काव्य का सामाजिक दायित्व' शीर्षक निबन्ध में इलियट ने इस मत का प्रतिपादन किया है कि कवि का मूल कर्तव्य न अपने प्रति है, न श्रोता के वरन् जातीय भाषा के प्रति है। उसे वह भाषा जीवित रखनी होती है—उसे ऐसे ढालना पड़ता है कि वह स्थैतिक न हो वरन् एक जीवित प्राणी की भाँति परिवर्तनशील और विकासमान हो।

जैसे १९वीं शती पर सबसे प्रबल प्रभाव डार्विन का था वैसे ही बीसवीं शती को दो अन्य अत्यन्त सबल शक्तियों—फ्रायड और मार्क्स—ने अभिभूत कर लिया। मानवीय क्रियाकलाप के अन्य क्षेत्रों की भाँति साहित्यालोचन पर भी उन्होंने गम्भीर प्रभाव डाला है। फ्रायड ने स्थापना की कि प्रत्येक कलाकार किसी हद तक स्नायुरोगी होता है, वह रूग्ण एवं सामंजस्य-विहीन होता है, वह कलात्मक सृजन के रूप में कल्पना-चित्रों का निर्माण करके दूसरे ढंग से परितोष प्राप्त करता है। फ्रायड की चिन्तना कुण्ठाओं की समस्या से आक्रान्त रही है, अतः उनके अनुसार कलाकार की जो इच्छाएँ वास्तविक जगत में पूर्ण नहीं हो पातीं, उन्हीं के परितोष का माध्यम है कला। साहित्य का स्फुरण 'अचेतन' में से होता है, अतः मनोविश्लेषणात्मक पद्धति द्वारा कलाकार के व्यक्तित्व में गहरे पैठकर अन्वेषण करना आवश्यक होता है। उन्होंने काम-कुण्ठाओं पर बड़ा बल दिया है और कहीं-कहीं इस तत्त्व को दूर तक ले गये हैं। फ्रायड ने स्वयं लियोनार्डो ड विंसी के मनोविश्लेषण द्वारा मनोचरित-लेखन का सूत्रपात कर वर्तमान आलोचना की एक नयी विधा का आविष्कार किया। जर्मन आलोचक डॉ० हैस साहस ने शेक्सपियर के, अमरीकी आलोचक एडमण्ड विलसन ने सोफोक्लेस, डिकिन्स आदि के और बेटसन ने बर्ड्सवर्थ के अन्तर्मन के मनोरंजक अध्ययन प्रस्तुत कर इस पद्धति का विकास किया। युग ने कामवृत्ति की अपेक्षा समग्र जीवनेच्छा को आधार मानकर मानव-चेतना के विश्लेषण का उपक्रम किया और इस प्रकार मनोविश्लेषण-

शास्त्र को अधिक व्यापक और स्वस्थ धरातल पर प्रतिष्ठित किया ।

मार्क्स और एंगेल्स ने कभी स्वतःपूर्ण व्यवस्थित साहित्य-सिद्धान्त प्रस्तुत करने का प्रयत्न नहीं किया । उनके लेखों एवं पत्रादि में साहित्य-विषयक विच्छिन्न विचारों की अभिव्यंजना हुई जिन्हें परस्पर सम्बद्ध करके उनके आधार पर एक व्यवस्थित साहित्य-सिद्धान्त का निर्माण किया जा सकता है ।

क्रिस्टाफ़र कॉडवेल के 'इल्यूजन एण्ड रिएलिटी' में—जिसमें कला के उद्गम-सूत्रों का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है—अंग्रेजी साहित्य पर इस सिद्धांत को घटाया गया है ।

आधुनिक युग की नवीनतम आलोचना-पद्धति का विकास अमरीका में हो रहा है । वहाँ के 'नये आलोचकों'—विलियम्स ब्रक्स, राबर्ट पेनवारन, जान क्राओ रैसम और एलन टेट—ने दृढ़तापूर्वक इस मत का प्रतिपादन किया है कि कलाकृति का मूल्यांकन एक सर्वथा निरपेक्ष और स्वतन्त्र वस्तु के रूप में होना चाहिए : इसमें समाज-शास्त्र, नैतिकता, आचार अथवा ऐतिहासिक परम्परा आदि साहित्येतर आधारों को बीच में नहीं लाना चाहिए । इस नये आन्दोलन का आधुनिक साहित्य-जगत पर प्रबल प्रभाव पड़ा है । इसका सूत्रपात नैतिकताबद्ध विशुद्धतावादी आलोचना तथा मार्क्सवादी-प्रकृतवादी आलोचना के विरुद्ध विद्रोह के रूप में हुआ है । इसकी पद्धति बहुत-कुछ रिचर्ड्स के गम्भीर विशद पाठाध्ययन एवं शब्दगत विश्लेषण की पद्धति से मिलती-जुलती है यद्यपि वे उस पद्धति तक सर्वथा भिन्न सैद्धान्तिक प्रक्रिया के माध्यम से पहुँचे हैं ।

वर्तमान तो गतिशील है—उसका सम्यक् मूल्यांकन अभी सम्भव नहीं । अभी निश्चिन्त भाव से यह कहना कठिन है कि वर्तमान भविष्य के लिए काव्य-सिद्धान्तों की कोई स्थायी निधि छोड़ेगा या नहीं ।

प्लतोन (प्लेटो)

(४२७ ई० पू०—३४७ ई० पू०)

[सुकरात के शिष्य यवन आचार्य प्लेटो पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान के आदि स्रोत हैं। वे मूलतः एक दार्शनिक एवं स्मृतिकार थे और यूनान के दार्शनिकों में उन्हें मूर्धन्य स्थान प्राप्त है। साहित्य की विभिन्न समस्याओं पर उन्होंने आनुषंगिक रूप से ही विचार किया है, परन्तु साहित्य-विषयक उनकी मान्यताएँ इतनी मौलिक तथा गम्भीर हैं कि पाश्चात्य काव्य-शास्त्र और सौन्दर्य-शास्त्र के इतिहास का आरम्भ उन्हीं से माना जाता है।

प्लेटो का जन्म एथेन्स के एक प्रतिष्ठित कुल में हुआ था। उनके जन्म तथा रचना-काल के विषय में निश्चित रूप से कुछ निर्धारित नहीं हो पाया है। अनुमान से उनका जन्म ४२७ ई० पू० तथा मृत्यु ३४७ ई० पू० में मानी जाती है। एक किम्बदन्ती के अनुसार प्लेटो ने सुकरात के प्रभाव में आकर अपनी सब रचनात्मक कृतियाँ नष्ट कर डाली थीं तथा दर्शन-शास्त्र और गणित को अपने अध्ययन का क्षेत्र बना लिया था। राजनीति के क्षेत्र में प्रवेश करने की भी उनकी इच्छा थी, परन्तु सुकरात के मृत्यु-दण्ड के उपरान्त उनका मन राजनीति से हट गया।

लगभग ३८७ ई० पू० में उन्होंने एक विद्यापीठ की स्थापना की, जहाँ उनके निर्देशन में दर्शन-शास्त्र, गणित, प्राकृतिक विज्ञान, न्याय और विधिसम्बन्धी शिक्षा दी जाती थी तथा इन विषयों से सम्बद्ध अन्य महत्त्वपूर्ण शोध की जाती थी। इसी विद्यापीठ के तत्त्वावधान में उन्होंने 'विचार-गोष्ठी', 'फ्रीडो' (फ़ेडो), 'फ्रीड्रस' (फ़ेद्रस) तथा 'गणतन्त्र' जैसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना की और आगे चलकर अपनी वृद्धावस्था में न्यायशास्त्र-सम्बन्धी सिद्धान्तों का भी प्रणयन किया। यह विद्यापीठ सन् ५२६ ई० तक ज्ञान के विविध क्षेत्रों का नेतृत्व करता रहा।

काव्य-शास्त्र के क्षेत्र में प्लेटो ने प्रायः अप्रत्यक्ष रूप से योगदान किया है। उन्होंने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'गणतन्त्र' में निम्नलिखित कारणों से आदर्श

नगर में कवि के प्रवेश का निषेध किया है :

१—काव्य प्रकृति का अनुकरण है और प्रकृति सत्य का अनुकरण, अतः अनुकरण का अनुकरण होने से वह सत्य से दुगुना दूर हो जाता है ।

२—कविता मनोवेगों को उत्तेजित करती हुई आत्मा को उद्वेलित कर देती है; अतः पाशव वृत्तियों का उद्बोध और दिव्य गुणों का शमन करने के कारण कवि की रचना त्याज्य है ।

स्पष्टतः ये दोनों तर्क अमान्य हैं और प्लेटो के शिष्य अरस्तू ने ही सबसे पहले उनका प्रबल खण्डन किया है । किन्तु प्रकारान्तर से प्लेटो काव्य की भर्त्सना करते हुए भी दो मूलभूत तत्त्वों की अमर प्रतिष्ठा कर गए हैं । ये तत्त्व हैं काव्य में सत्य का आधार और लोक-मंगल की स्थापना । इनके अतिरिक्त प्लेटो की तीसरी प्रसिद्ध उद्धावना यह है कि काव्य का जन्म कवि के मनःविक्षेप से होता है—यह विक्षेप एक प्रकार की दैवी प्रेरणा का परिणाम होता है । इन तीनों तत्त्वों की व्याख्या चाहे कोई किसी रूप में करे, पर इनके महत्त्व में प्लेटो के समय से आज तक अणु मात्र भी अन्तर नहीं पड़ा ।]

×

×

×

कला का प्रयोजन

उत्तम कला और अधम कला

सोक्रेतेस (सुकरात) : अस्तु, अब मैं आगे चलूंगा और तुमसे यह प्रश्न करूंगा कि क्या तुम भी मुझसे सहमत हो और जब मैंने गोरगिअस^१ और पोलस^२ से यह कहा कि मेरे मतानुसार पाक-क्रिया एक अनुभव मात्र है, कला कदापि नहीं, तब, तुम्हारे विचार से, मैंने सत्य कहा था अथवा नहीं ?—और यह भी कि चिकित्सा तो एक कला है; वह रोगी की शरीरावस्था और प्रकृति की ओर ध्यान देती है और प्रत्येक अवस्था में उसके निदान एवं उपचार के सिद्धान्त होते हैं जबकि पाक-विद्या जिस आनन्द का विधान करने में निरत होती है उसके स्वरूप और कारण की ओर से निरपेक्ष रहती है, प्रत्युत सीधे अपने साध्य की ओर अग्रसर होती है—न किसी बात पर विचार करती है, न तर्क-वितर्क । उसका कार्य नितचर्या और अनुभवों के बूते पर चलता है, वह बस इसका स्मरण रखती है कि आनन्द की निष्पत्ति करने में प्रायः उसने क्या उपक्रम किया है । और पहले तो मैं चाहता हूँ कि तुम यह सोचो कि मैं जो कुछ कह रहा था वह मैंने सिद्ध कर दिया है या नहीं; और फिर यह सोचो कि क्या और ऐसी प्रक्रियाएँ नहीं जिनका आत्मा से सम्बन्ध होता है ? इनमें से कुछ कला-प्रक्रि-

याँ ऐसी होती हैं जो आत्मा के परम कल्याण का विधान करती हैं; अन्य—पूर्वोक्त उदाहरण की भाँति—कल्याण की अवज्ञा करके केवल आत्म-सुख और उसकी सिद्धि के उपाय की ओर ध्यान देती हैं, यह विचार नहीं करती कि कौन-सा आनन्द सत् है, कौन-सा असत् । परितोष के अतिरिक्त उनका और कोई साध्य नहीं होता—चाहे वह सत् हो अथवा असत् । कल्लिक्लेस ! मेरी सम्मति में तो ऐसी प्रक्रियाएँ हैं और इसी तरह की चीज़ को मैं चाटुक्रिया (मिथ्या परितोष) शब्द से अभिहित करता हूँ—चाहे उनका सम्बन्ध काया से हो या आत्मा से, या जब सत्-असत् का विचार किये बिना सुखोपलब्धि के निमित्त उनका उपयोग किया जाय । अब मैं चाहता हूँ कि तुम मुझे बताओ कि इस सम्बन्ध में तुम्हारी भी यही धारणा है या हमारा तुम्हारा मतभेद है ?

कल्लिक्लेस—मैं विमत नहीं, बल्कि सहमत हूँ क्योंकि इस प्रकार मैं सबसे शीघ्र इस तर्क-वितर्क की इति कर दूँगा और अपने मित्र गोरगिअस को उपकृत करूँगा ।

सोक्रतेस—और यह धारणा एक आत्मा के विषय में सत्य है अथवा दो या उससे अधिक के विषय में ?

कल्लिक्लेस—दो या उससे अधिक के विषय में भी यह उतनी ही सत्य है ।

सो०—तब क्या यह सम्भव है कि कोई व्यक्ति किसी सम्पूर्ण सभा को हर्षित कर दे पर फिर भी उनके सच्चे कल्याण की उसे एकदम कोई चिन्ता न हो ?

क०—है ।

सो०—अच्छा, बता सकते हो ऐसी कौन-सी कलाएँ हैं जो मानव मात्र को हर्षित करें और चाहो तो यही बताओ कि कौन-सी ऐसी कला नहीं है ? पहले वंशी-वादन के विषय में ही बताओ तुम्हारा क्या मत है ? क्या वह ऐसी कला प्रतीत नहीं होती, कल्लिक्लेस, जो केवल सुख-कामना करती है—और किसी बात का विचार नहीं करती ?

क०—मैं मानता हूँ ।

सो०—और क्या ऐसी ही अन्य कलाओं के विषय में यह बात सत्य नहीं ? उदाहरण के लिए, उत्सवों में वेणु-वादन की कला को ही ले लो ।

क०—है ।

सो०—वृन्दगायन-कला और रौद्रस्तोत्र के सम्बन्ध में क्या कहते हो ? इनका स्वरूप भी क्या वैसा ही नहीं ? क्या तुम सोचते हो कि मेलेस का पुत्र

किनेसिअस³ इस बात की चिन्ता करता है कि उसके श्रोताओं का नैतिक सुधार किससे होगा या इसकी कि जन-समुदाय को आनन्द किससे मिलेगा ?

क०—सोक्रतेस ! किनेसिअस के विषय में कोई भ्रान्ति नहीं हो सकती ।

सो०—अच्छा, उसके पिता विपंचीवादक मेलेस के विषय में क्या कहते हो ? क्या वह अपने श्रोताओं के कल्याण के विचार से कला-प्रयोग करता था ? क्या कह सकते हैं कि उनके आनन्द का उसे कोई ध्यान था क्योंकि उसका गायन तो श्रोताओं के लिए एक तरह का दण्ड ही था । और सामान्यतः विपंचीवादन तथा रौद्रस्तोत्र के सम्बन्ध में क्या कहोगे ? क्या उनका आविष्कार एकान्ततः आनन्द के लिए नहीं किया गया ?

क०—इनके सम्बन्ध में मेरी यही धारणा है ।

सो०—और त्रासदी की अधिष्ठात्री देवी—उस उदात्त और प्रतापशाली व्यक्तित्व—के विषय में क्या विचार है ? उसकी क्या एषणाएँ हैं ? क्या उसका एकमात्र प्रयोजन और इच्छा प्रेक्षकों को सुख प्रदान करना ही होता है या वह उनके विरुद्ध संघर्ष करती है और उनके मधुर पापों का कथन न करके शब्दों और गीतों द्वारा स्वेच्छापूर्वक प्रिय एवं अप्रिय सत्यों का आख्यान करती है ? तुम्हारे विचार में उसकी प्रकृति क्या है ?

क०—सोक्रतेस ! इसमें कोई सन्देह नहीं हो सकता कि त्रासदी सामाजिक के आनन्द और परितोष की ओर ही उन्मुख होती है ।

सो०—और कल्लिक्लेस ! क्या यह वैसी ही वस्तु नहीं जिसे हमने अभी-अभी चाटुक्रिया (मिथ्या परितोष) शब्द से अभिहित किया है ?

क०—सत्य है ।

सो०—अब, मान लो हम काव्य को गीत, लय और छन्द से वियुक्त कर दें, तो फिर केवल भाषा ही रह जायेगी न ?

क०—निश्चय ही ।

सो०—और यह एक जन-समुदाय के प्रति उद्दिष्ट होगी ?

क०—हाँ ।

सो०—तब, काव्य एक प्रकार का भाषण ही हुआ ?

क०—सच है ।

सो०—और क्या प्रेक्षागृहों में कवि तुम्हें मात्र भाषण-कला-विशारद से प्रतीत नहीं होते ?

क०—होते हैं ।

सो०—तो, अब हमने एक ऐसे भाषण का पता लगाया जो नर-नारी एवं बाल-वृद्ध के प्रति—स्वतन्त्र जन और दासों सभी के प्रति—उद्दिष्ट होता है। और यह हमारी रुचि के विशेष अनुकूल नहीं क्योंकि हम कह चुके हैं कि इसकी प्रकृति चाटुक्रिया की है।

क०—सत्य है।

सो०—बहुत अच्छा। और अथेनी सभा तथा अन्य राज्यों में स्वतन्त्र जनों की सभाओं के प्रति निवेदित भाषणों के विषय में तुम क्या कहते हो? क्या तुम्हें लगता है कि जो कुछ श्रेष्ठ है सदैव उसी की ओर उनका लक्ष्य रहता है और वे अपने भाषणों से नागरिकों का सुधार करना चाहते हैं या वे भी अन्य मानवों की ही भाँति केवल उन्हें आनन्द प्रदान करने पर ही तुले होते हैं, आत्महित के लिए लोक-कल्याण को भूले रहते हैं, लोगों के साथ वैसे ही क्रीड़ा करते हैं जैसे बालकों के साथ की जाती है और उनका मनोविनोद करने के लिए ही सदैव प्रयत्नशील रहते हैं—यह कभी नहीं विचारते कि इससे उनका अधःपात हो रहा है अथवा उन्नयन।

क०—मैं इनमें विभेद करूँगा। कुछ तो ऐसे होते हैं जिनके वचन लोक-हित की सच्ची भावना से अनुप्राणित रहते हैं, शेष वैसे ही होते हैं जिनका उल्लेख आपने अभी-अभी किया है।

सो०—मैं इतना ही स्वीकार किये जाने से सन्तुष्ट हूँ कि भाषण-कला दो प्रकार की होती है—एक में तो कोरी चाटुक्रिया और अशोभन वाक्प्रपंच रहता है, दूसरी उदात्त होती है जिसमें नागरिक की आत्मा के विकास और संस्कार का लक्ष्य सम्मुख रहता है और जो श्रेष्ठ है उसी का इसमें कथन रहता है चाहे वह श्रोताओं को प्रिय हो अथवा अप्रिय; परन्तु क्या तुम ऐसे किसी भाषण के विषय में जानते हो? और यदि जानते हो और किसी ऐसे वक्ता का निर्देश कर सकते हो तो बताओ वह कौन है?

क०—परन्तु आज जो वक्ता जीवित हैं उनमें से तो मैं किसी भी ऐसे व्यक्ति का निर्देश नहीं कर सकता।

सो०—अच्छा, पूर्ववर्ती पीढ़ी के किसी व्यक्ति का नाम ले सकते हो जिसने अथेनियों को सुधारा हो? जिसने अपने भाषण-काल में उन्हें निकृष्टतर से उत्कृष्टतर बना दिया हो?—मैं तो ऐसे किसी भी आदमी का नाम जानता नहीं।

क०—क्या कहा? आपने सुना नहीं कि थेमिस्तोकलेस^४ अच्छा व्यक्ति था? और किमोन^५, मित्तिअदेस^६ और पेरिक्लेस^७—जिसका अभी हाल में

ही देहान्त हुआ है और जिसका भाषण आप स्वयं सुन चुके हैं ।

सो०—हाँ, कल्लिक्लेस ! जैसा तुमने पहले कहा अगर सच्चा मुकुत अपनी और दूसरों की इच्छाओं के परितोष में ही है तो वे अच्छे लोग थे । परन्तु अगर ऐसा नहीं और यदि—जैसा हमें बाद में विवश स्वीकार करना पड़ा—कुछ इच्छाओं का परितोष हमारा उत्कर्ष करता है और कुछ का परितोष अपकर्ष; एक की तुष्टि हमें करनी चाहिए, दूसरी की नहीं और उनमें विभेद करना भी एक कला है तो क्या तुम कह सकते हो कि इनमें एक भी राजनीतिज्ञ ऐसा था जिसने इस प्रकार का विभेद किया हो ?

क०—नहीं, निश्चय ही नहीं ।

सो०—तथापि कल्लिक्लेस, यदि तुम सोचो-विचारो, तो निश्चय ही ऐसा कोई-न-कोई व्यक्ति मिल जायेगा । मान लो हम शान्तिपूर्वक यह विचार करें कि इनमें कोई ऐसा था जैसा कि मैंने वर्णित किया है तो क्या वह साधु व्यक्ति यों ही अनर्गल बोलता, किसी-न-किसी मानदण्ड को अपने सम्मुख रख कर नहीं ? जैसा कि अन्य कलाकारों का—चाहे वह चित्रकार हो, भवन-निर्माता हो, पोट-निर्माता हो अथवा कोई और—अपने कार्य के प्रति एक दृष्टि-कोण होता है; वे जिस (सिद्धान्त) का वरण और उपयोग करते हैं उसका उपयोग मनमाना नहीं होता, उसे वे एक निश्चित रूप देने का प्रयत्न करते हैं । कलाकार प्रत्येक वस्तु का क्रमिक विन्यास करता है, जिससे कि एक अंग का वरवस दूसरे से सामंजस्य बैठे और समन्वय हो जाय—और इस प्रकार वह एक नियमित और व्यवस्थित इकाई की रचना करता है । यह बात सभी कलाकारों के बारे में सत्य है । इसी प्रकार से व्यायाम-शिक्षक और चिकित्सक—जिनका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं—शरीर को नियमितता और व्यवस्था प्रदान करते हैं । क्या तुम इसे अस्वीकार करते हो ?

क०—नहीं, मैं तो इसे स्वीकार करता हूँ ।

सो०—तब जिस भवन में नियमितता और व्यवस्था की व्याप्ति हो वह अच्छा और जिसमें अव्यवस्था हो, वह बुरा ?

क०—ठीक है ।

सो०—किसी पोट के विषय में भी यह बात सत्य है ?

क०—हाँ ।

सो०—मानव-काया के विषय में भी यही कहा जा सकता है ?

क०—अवश्य ।

सो०—और आत्मा के विषय में क्या कहोगे ? सदात्मा वह होगी

जिसमें अव्यवस्था व्याप्त हो या वह जिसमें सामंजस्य और व्यवस्था हो ?

क०—पहले हम जो स्वीकार कर चुके हैं उससे दूसरा विकल्प स्वतः सिद्ध है ।

सो०—शरीर में व्यवस्था और सामंजस्य के प्रभाव को हम किस नाम से अभिहित करते हैं ?

क०—मैं समझता हूँ आपका तात्पर्य स्वास्थ्य और बल से है ।

सो०—हाँ, ठीक है । और आत्मा में सामंजस्य एवं व्यवस्था के प्रभाव को तुम क्या नाम दोगे ? प्रयत्न करके इसके लिए भी कोई वैसा ही अन्वर्थक नाम खोज डालो ।

क०—इसे आप ही कोई नाम क्यों नहीं दे डालते, सोक्रेतेस ।

सो०—यदि तुम यह चाहते हो तो ठीक है, मैं ही कोई शब्द बताता हूँ । तुम यह बताना कि तुम सहमत हो या नहीं, और यदि न हो तो उसका खण्डन करना और मेरा समाधान करना । मेरे विचार में शरीर की नियमित व्यवस्था को 'स्वस्थ' शब्द से अभिहित करते हैं—उसी से स्वास्थ्य और प्रत्येक अन्य शरीर-सौष्ठव उद्भूत होता है : यह सत्य है या नहीं ?

क०—सत्य है ।

सो०—और आत्मा की नियमित व्यवस्था और क्रिया को जिन नामों से अभिहित करते हैं वे हैं 'नीतिसम्मत' एवं 'नीति'—ये ही लोगों को धर्माचारी और व्यवस्थापालक बनाते हैं : तभी न्याय और निग्रह की उपलब्धि होती है ? ठीक है न ?

क०—माना ।

सो०—और क्या सच्चा भाषणकर्ता—जो ईमानदार हो और जिसे अपनी कला का परिज्ञान हो—अपने समस्त आदान-प्रदान में, मानवात्मा के प्रति निवेदित अपने वचनों में और अपने सम्पूर्ण क्रियाकलाप में इन पर अपनी दृष्टि केन्द्रित नहीं रखेगा ? क्या उसका लक्ष्य अपने नागरिकों की आत्मा में न्याय एवं निग्रह की प्रतिष्ठा और उनमें से अन्याय तथा असंयम का उच्छेद करना नहीं ? क्या उसका लक्ष्य उनकी आत्मा में प्रत्येक प्रकार के सद्गुणों का आधान करना और उसमें से समस्त दुर्गुणों का उन्मूलन करना नहीं ? क्या तुम ऐसा नहीं मानते ?

क०—मानता हूँ ।

सो०—बात यह है कल्लिकलेस ! कि किसी रूग्ण व्यक्ति को—जिसका शरीर अस्वस्थ हो—किसी भी मात्रा में कोई सुस्वादु खाद्य अथवा पेय या कोई

भी अन्य प्रीतिकर वस्तु देने का क्या लाभ है जो उसके लिए कुछ भी न देने के बराबर हो सकती है, वरंच ठीक तरह समझा जाये तो और भी बुरी हो सकती है। सत्य कहता हूँ या नहीं ?

क०—मैं 'नहीं' न कहूँगा।

सो०—क्योंकि मेरी सम्मति में यदि किसी व्यक्ति का शरीर दुरवस्था में है तो उसके जीवन का कोई उपयोग नहीं—उस दशा में उसका जीवन भी अधम है। ठीक कह रहा हूँ न ?

क०—हाँ।

सो०—जब कोई व्यक्ति स्वस्थ हो तो चिकित्सक प्रायः उसे भूखा होने पर खाने की, प्यासा होने पर पीने की और यथामति अपनी इच्छाओं की पूर्ति करने की अनुमति दे देंगे परन्तु जब वह रुग्ण हो तो उसकी इच्छाओं की पूर्ति की अनुज्ञा वे विलकुल नहीं दे सकते। यह तो तुम भी मानोगे ?

क०—हाँ।

सो०—और महानुभाव ! क्या यही युक्ति आत्मा के विषय में लागू नहीं होती ? जब वह दुरवस्था में हो—अज्ञानमय, असंयत, अन्यायपूर्ण एवं अप्रसूत हो—तो उसकी इच्छाएँ नियन्त्रित होनी चाहिए और उसे किसी ऐसी क्रिया में प्रवृत्त न होने देना चाहिए जिससे स्वयं उसके उन्मेष की आशा न हो।

क०—ठीक बात है।

सो०—यह उपचार स्वयं आत्मा के लिए अच्छा होगा ?

क०—निश्चय ही।

सो०—और आत्मा को विषय-भोग से विरत रखना उसे पवित्र बनाना है ?

क०—ठीक।

सो०—तब आत्मा के लिए अनिग्रह और अयति की अपेक्षा—जिन्हें तुम अभी अधिमान्य बता रहे थे—निग्रह और शुचिता उत्कृष्ट हुए न ?

(गोरगिअस ५०१-५)

काव्य-हेतु

(क) अन्तःप्रेरणा का महत्त्व

एक और प्रकार की विक्षिप्तता उन लोगों की है जो काव्य-देवी से आविष्ट होते हैं—वह किसी सुकोमल एवं अक्षत आत्मा को अभिभूत कर लेती है और उसमें उन्माद का संचार करती हुई प्रगीति एवं अन्य काव्यों के स्वर

जगाती है। इनके द्वारा वह परवर्ती पीढ़ियों के ज्ञान के लिए प्राचीन वीरों के बहुविध कृत्यों की प्रशंसा एवं श्लाघा करती है। किन्तु जो अपनी आत्मा में काव्य-देवी के अनुग्रह से जनित इस विक्षिप्तता का स्पर्श पाये बिना द्वार पर उपस्थित होता है और समझता है कि अपनी कला के बल पर वह मन्दिर में प्रवेश पा जायगा, मैं कहता हूँ, उसे और उसकी कविता को प्रविष्ट नहीं किया जाता, वह व्यक्ति विलुप्त हो जाता है और उस विक्षिप्त व्यक्ति की प्रति-द्वन्द्विता में खड़े होने पर उसका कोई भी स्थान नहीं होता। (फएड्रस २४४)

(ख) रीति की गौणता

प्रत्येक वक्तव्य एक जीवित प्राणी की भाँति होना चाहिए—उसकी अपनी एक देह हो, हाथ-पैर हों, मध्य, ओर और छोर हों जिनकी परस्पर एक-दूसरे से एवं सर्वांग से संगति हो।

×

×

×

सो०—मान लो कोई व्यक्ति सोफोक्लेस^२ अथवा एउरपिदेस^३ के निकट आता और कहता कि मैं किसी तुच्छ विषय पर अत्यन्त लम्बा भाषण, महान् विषय पर अत्यन्त संक्षिप्त भाषण और शोकपूर्ण, भीषण तर्जनामय तथा किसी भी अन्य प्रकार का भाषण देना जानता हूँ और इसी की शिक्षा देने में मानता कि मैं त्रासदी-कला की शिक्षा दे रहा हूँ ?

फएड्रस^१०—अगर वह समझता है कि त्रासदी इन तत्त्वों का, इस प्रकार से कि वे परस्पर एक-दूसरे के तथा सर्वांग के अनुकूल हों, विन्यास कर देने के अतिरिक्त और कुछ है तो निश्चय ही वे भी उसका उपहास करेंगे।

सो०—परन्तु मैं नहीं समझता कि वे उसके प्रति अशिष्टता एवं अभद्रता का व्यवहार करेंगे : क्या वे उसके साथ वैसा ही व्यवहार न करेंगे जैसा एक संगीतज्ञ किसी ऐसे व्यक्ति के साथ करेगा जो सोचता हो कि क्योंकि वह तीव्रतम एवं मन्दतम स्वरों का विधान करना जानता है इसीलिए वह स्वरकार है। यदि उसे ऐसा व्यक्ति मिल जाय तो वह उससे असम्भ्यतापूर्वक यह न कहेगा : 'मूर्ख कहीं के ! तुम निरे पागल हो !' इसके विपरीत कोमल एवं मधुर स्वर में वह यही उत्तर देगा : 'मित्र, माना कि जो भी स्वरकार बनना चाहे उसके लिए यह (तीव्रतम एवं मन्दतम स्वरों का विधान) जानना नितान्त आवश्यक है परन्तु ज्ञान के जिस स्तर पर तुम हो वहाँ तक पहुँचने के बाद भी सम्भव है वह स्वर-समन्वय के विषय में कुछ भी न समझता हो क्योंकि तुम स्वर-समन्वय से अभिज्ञ नहीं, उसकी प्रस्तावना मात्र से अवगत हो।' (फएड्रस २६४-६८)

(ग) शक्ति और अभ्यास

सो०—निष्णात वक्ता में जिस पूर्णता की अपेक्षा है या होनी चाहिए वह किसी भी अन्य क्षेत्र में पूर्णता की भाँति अंशतः प्रकृति-प्रदत्त होती है परन्तु कला से भी उसे पोषण प्राप्त हो सकता है। यदि तुममें निसर्गजात शक्ति है और उसे ज्ञान एवं अभ्यास से पुष्ट कर लेते हो तो तुम एक उत्कृष्ट वक्ता बन जाओगे; इनमें से एक का भी जिस मात्रा में अभाव होगा, उसी मात्रा में तुम्हारी कला दोषपूर्ण रह जायगी। परन्तु भाषण-कला की—जहाँ तक उस कला का अस्तित्व है—स्थिति उस दिशा में नहीं जिस दिशा की ओर ल्युसि-अस^{११} एवं ग्रस्युमकस^{१२} की प्रवृत्ति थी।

फ०—तब किस दिशा में है ?

सो०—जितने भी भाषण-कला-विशेषज्ञ हुए हैं उनमें मैं सर्वाधिक पारंगत एवं सिद्ध पेरिक्लेस को मानता हूँ।

फ०—उसकी क्या विशेषता है ?

सो०—समस्त महान् कलाओं के अन्तर्गत प्रकृति-सत्त्वों के विषय में चिन्तन और ऊर्ध्व कल्पना अपेक्षित होते हैं—उन्हीं के फलस्वरूप विचारों में उदारता और प्रतिपादन में पूर्णता आती है। मैं समझता हूँ यही वह गुण है जो नैसर्गिक प्रतिभा के धनी पेरिक्लेस ने अनक्सगोरस^{१३} के संसर्ग से—जिसे भाग्यवश वह जानता था—प्राप्त किया। इस प्रकार वह उच्चतर दर्शन से अनुप्राणित हुआ तथा उसने मनस्तत्त्व और भौतिक तत्त्वों का ज्ञान प्राप्त कर लिया, जो अनक्सगोरस के प्रिय विषय थे और वक्तृत्व-कला में उसी का प्रयोग कर लेता था जो उसकी प्रयोजन-सिद्धि के लिए अनुकूल हों। (फएड्रस-२७०)

काव्य-विधाएँ

मैंने कहा : 'तुम्हारी कल्पना बिल्कुल ठीक है और सम्भवतः अब मैं तुम्हें वह बात समझा सकता हूँ जो पहले नहीं समझा पाया था—और वह यह कि समस्त काव्य एवं कथाख्यान तीन रूपों में से किसी एक के अन्तर्गत ही रखे जा सकते हैं : पहला रूप जिसमें आद्यन्त अनुकरण का उपयोग होता है त्रासदी और कामदी है—जैसा कि तुमने स्वयं कहा ; दूसरे में कवि अपनी ही कथा कहता है जिसका कदाचित् सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है रौद्रस्तोत्र ; तीसरे में अनुकरण और सरल समाख्यान दोनों का उपयोग होता है। यह रूप महा-काव्य और अन्य काव्य-विधाओं में दृष्टिगोचर होता है। मेरी बात समझ रहे हो न ?

“हाँ, अब मैं समझा कि आपका क्या तात्पर्य था ।”

“तो अब मैं तुम्हें यह स्मरण करा दूँ कि हम पहले कह चुके हैं समुचित काव्य-विषयों के सम्बन्ध में हम एकमत हैं परन्तु उसकी समुचित विधि क्या है—इस पर विचार करना शेष है ।”

“मुझे याद है ।”

“ठीक, तो मैं यह कहने का प्रयत्न कर रहा था कि हमें इस बात का निर्णय कर लेना चाहिए कि हम अपने कवियों को अनुकरण द्वारा समाख्यान की अनुज्ञा दें अथवा अंशतः अनुकरण द्वारा एवं अंशतः अन्य रीति से—और इस अवस्था में हमें यह निर्धारित करना होगा कि कहाँ किस रीति का प्रयोग होना चाहिए, अथवा (तीसरा विकल्प यह है कि) अनुकरण का सर्वथा निषेध कर दें ।”

×

×

×

शैली के भेद

मैंने कहा, “अस्तु, काव्य-भाषा के ये ही दो भेद हैं ।”

उसने कहा, “ठीक है ।”

“क्या हम यह नहीं कह सकते कि पहले में कोई आकस्मिक परिवर्तन निहित नहीं और यदि उसे शैली के अनुरूप कोई संगीत-रीति एवं लय प्राप्त हो जाय तो उसका आद्यन्त उसी रीति में शुद्ध निष्पादन हो सकता है क्योंकि एक ही संगीत-रीति में और तद्वत् अपरिवर्तित लय में उसका स्वरूप एकान्ततः एकविध है ।”

“हाँ, निश्चय ही यह ठीक है ।”

“और दूसरे भेद के विषय में ? क्या उसकी समुचित अभिव्यक्ति के लिए सर्वथा विपरीत तत्त्वों की आवश्यकता नहीं ?—समस्त संगीत-रीतियों एवं भिन्न-भिन्न प्रकार की लयों की ? इसके रूपान्तर इतने अधिक और बहु-विध हैं ।”

“हाँ, यह सर्वथा सत्य है ।”

“क्या सभी लेखक शैली के इन भेदों में से एक या दूसरे को अथवा दोनों के मिश्रण को ग्रहण नहीं करते ।”

“वह तो अनिवार्य है ।”

मैंने कहा, “तब हम क्या करें ? क्या हम अपने नगर में उन सभी शैलियों का प्रवेश होने दें या उन मौलिक शैलियों में से किसी एक का अथवा

मिश्रित का ?”

“यदि मेरा मत माना जाये तो हम साधु पुरुष के सरल अनुकर्ता का ही प्रवेश होने देंगे ।”

“परन्तु अदेइमन्तस, मिश्रित शैली निश्चय ही आकर्षक होती है और तुमने जिस शैली का वर्णन किया है उससे विपरीत शैली बालवृन्द, उनके परिचरों और ग्राम्य-जन में सर्वाधिक प्रिय है ।”

×

×

×

रूप-विधान का सौन्दर्य कवि-स्वभाव के सौन्दर्य का अनुवर्तन करता है

“परन्तु यह तो निश्चय तुम कर ही सकते हो कि सौष्ठव एवं वैरूप्य सुन्दर और असुन्दर का अनुवर्तन करते हैं । कर सकते हो न ?”

“निश्चय ।”

“सुन्दर लय का परिपाक सुन्दर शैली में होता है और असुन्दर लय का विपरीत शैली में—संगीत की सुन्दरता और असुन्दरता के विषय में भी यही सत्य है क्योंकि, जैसा हमने पहले कहा है, लय और संगीत-रीति शब्दों के अनुरूप ढलते हैं, शब्द उनके अनुरूप नहीं ।”

“हाँ, वे शब्दों का ही अनुवर्तन करेंगे ।”

“और फिर शैली तथा विषय के सम्बन्ध में क्या कहते हो ? क्या वे आत्मा के स्वरूप के अनुकूल नहीं होते ?”

“निश्चय ही ।”

“और अन्य तत्त्व शैली के अनुरूप होते हैं ।”

“हाँ ।”

“तो (निष्कर्ष यह कि) साधु भाषा और संगीत, लालित्य एवं सुन्दर लय सत्प्रकृति का अनुवर्तन करते हैं—उस ऋजुता का नहीं जिसे हम सम्मान-वश सत्प्रकृति कहते हैं किन्तु उस मानस का जो वास्तव में निसर्गतः उदार और भद्र हो ।”

(गणतन्त्र ३६२-४०२)

कला सत्य से दूर है

“अब जब हमने आत्मा के विभिन्न तत्त्वों में भेद कर लिया है तो मैं समझता हूँ यह पहले की अपेक्षा कहीं अधिक स्पष्ट प्रतीत होने लगा है कि यह (कला का) बहिष्कार सर्वथा पूर्ण होना चाहिए ।”

“क्या तात्पर्य है आपका ?”

“यह मेरे तुम्हारे बीच की बात है—और इसके लिए त्रासदी-कवियों तथा अन्य अनुकर्ताओं के सम्मुख मेरी बुराई न करना। इस प्रकार की वस्तुएँ उन सबकी मति को दूषित कर देती हैं जो उनका श्रवण करते हैं : उनकी वास्तविक प्रकृति का उन्हें ज्ञान हो तो बात और है; यही उसका प्रतिकार है।”

“यह आप किसलिए कहते हैं ?”

“यह तो कहना ही पड़ता है—यद्यपि बाल्यावस्था से ही होमेरस (होमर) के प्रति मेरे मन में प्रेम और श्रद्धा की जो भावना रही है वह इस कथन में वर्जना की भाँति मेरे सम्मुख आती है। इतना तो निश्चय है कि जितने उत्कृष्ट त्रासदी-कवि हुए हैं उन सब में वही अग्रणी और सबसे अधिक सिद्धहस्त है। फिर भी मैं सत्य का जितना सम्मान करता हूँ उतना सम्मान मुझे किसी एक व्यक्ति का नहीं करना चाहिए—जो कुछ मुझे कहना है वह कहना ही चाहिए।”

“हाँ, अवश्य।”

“तो सुनो, बल्कि उत्तर दो।”

“अपना प्रश्न करो।”

“क्या तुम बता सकते हो अनुकरण का सामान्य स्वरूप क्या है क्योंकि मैं स्वयं भी पूर्णतः नहीं समझता कि वह है क्या ?”

“तब सम्भव है मैं समझ लूँ। नहीं ?”

“अगर समझ लो तो कोई अनहोनी बात नहीं। निस्तेज नेत्रों ने प्रायः तीक्ष्ण नेत्रों को पराभूत किया है।”

“यह तो है ही। परन्तु यदि मेरी कुछ सम्मति हो भी तो आपकी उपस्थिति में तो उसे अभिव्यक्त करने की उत्सुकता मुझे नहीं होनी चाहिए—अतः आप स्वयं ही विवेचना कीजिए।”

“क्या हम यह विवेचन अपनी साधारण पद्धति से ही आरम्भ करें। तुम्हें स्मरण होगा जहाँ कई स्थलों पर एक ही नाम का प्रयोग आता है वहाँ हम उसकी जगह एक आकृति का न्यास करते रहे हैं। एक वर्ग के अनेक पदार्थों को व्यक्त करने के लिए एक आकृति। समझे ?”

“हाँ।”

“और जो भी ‘अनेक पदार्थ’ तुम चाहो, हम ले लें। उदाहरणार्थ, यदि काम चल जाये तो, अनेक पलँग और मेजें ही ले लें।”

“अवश्य।”

“परन्तु इन वस्तुओं की दो आकृतियाँ हैं—एक पलँग की और एक

मेज की ।”

“ठीक ।”

“और क्या हम यह भी नहीं कहते हैं कि प्रत्येक वस्तु का निर्माता आकृति को देखकर ही पलंग और मेजें बनाता है जिनका हम उपयोग करते हैं—और अन्य वस्तुओं के बारे में भी यही बात है : क्योंकि कोई भी निर्माता वास्तविक आकृति का निर्माण नहीं करता ।—या करता है ?”

“निश्चय ही नहीं ।”

“अब इस निर्माता के विषय में सोचो । इसे क्या कहोगे ?”

“किसे ?”

“जो स्वयं अपने आप उन सब वस्तुओं का निर्माण करता है जिसे विभिन्न शिल्पी (अनुकरण द्वारा) बनाते हैं ।

“अद्वितीय कुशल व्यक्ति ।”

“तनिक ठहरो ।—और तुम्हारे पास यही बात कहने का और भी पुष्ट कारण होगा । यह शिल्पी इस प्रकार की समस्त वस्तुएँ ही नहीं बनाता, वह पृथ्वी से उत्पन्न होने वाली समस्त वस्तुओं का निर्माता होता है : सम्पूर्ण प्राणि-जगत् का सृजन करता है—उनके साथ स्वयं अपना भी ; और उतने से ही सन्तुष्ट न होकर स्वर्ग और मृत्युलोक की सृष्टि करता है, देवताओं की सृष्टि करता है और स्वर्ग एवं पृथ्वी के नीचे नरक की अन्य सभी वस्तुओं की ।”

“कैसी पूर्ण और विलक्षण प्रतिभा है !”

“मेरा विश्वास नहीं करते ? बताओ । क्या तुम समझते हो ऐसा कोई स्रष्टा है ही नहीं या यह सोचते हो कि मानव एक प्रकार से तो इन सब वस्तुओं का निर्माता हो सकता है और दूसरे प्रकार से नहीं ? क्या तुम्हें यह नहीं लगता कि प्रकार-विशेष से तुम स्वयं भी ये सब वस्तुएँ बना सकते हो ?”

“और वह प्रकार-विशेष क्या है ?”

“वह कठिन नहीं, सृजन की सहज एवं नित्य विधि है । उसका कदाचित् सबसे सरल ढंग यह है कि एक दर्पण लेकर उसे चतुर्दिक् घुमाते जाओ । इस प्रकार तुरन्त ही तुम सूर्य, तारागण एवं पृथ्वी का, स्वयं अपना, अन्य प्राणियों का, लता-द्रुमों का तथा उन सभी वस्तुओं का निर्माण कर सकते हो जिनका अभी-अभी हम वर्णन कर रहे थे ।”

“हाँ, परन्तु वह समूची सृष्टि प्रतीयमान होगी, निश्चय ही वास्तविक नहीं ।”

तुमने बहुत ही अच्छी बात कही है—प्रस्तुत युक्ति-शृंखला में ठीक इसी

की आवश्यकता थी। मैं समझता हूँ चित्रकार भी इसी प्रकार का स्रष्टा है। है या नहीं ?”

“अवश्य।”

“परन्तु मैं सोचता हूँ तुम यह कहोगे कि वह जो-कुछ बनाता है वह सत्य नहीं होता। यद्यपि एक प्रकारसे चित्रकार भी पलँग की सृष्टि करता है—करता है या नहीं ?”

“हाँ, वह अन्यो की भाँति प्रतीयमान पलँग की ही सृष्टि करता है।”

“बढ़ई का क्या होता है ? क्या तुमने यह नहीं कहा कि वह एक पलँग-विशेष का निर्माण करता है केवल उस आकृति का नहीं जिसे हमने पलँग के नाम से अभिहित किया है।”

“हाँ, मैंने कहा था।”

“अस्तु, यदि जो है उसका वह निर्माण नहीं करता तो वह वास्तविक का निर्माण नहीं करता, वह जो बनाता है वह वास्तविक नहीं परन्तु उसी जैसी वस्तु होती है। परन्तु यदि कोई कहे कि बढ़ई अथवा किसी अन्य शिल्पी का कार्य सर्वथा वास्तविक है तो कदाचित् वह सत्य का आख्यान नहीं करेगा। है कि नहीं ?”

“हाँ, कम-से-कम उन लोगों के मत से तो नहीं जो इस प्रकार की तर्क-प्रणाली से अवगत हैं।”

“तब यदि निर्मित वस्तु भी सत्य की अपेक्षा कुछ अस्पष्ट हो तो हमें आश्चर्य नहीं होना चाहिए ?”

“नहीं।”

“तो हम अनुकर्ता के स्वरूप का अन्वेषण करने में क्या इन्हें दृष्टान्त-रूप में ग्रहण कर सकते हैं ?”

“यदि आप चाहें।”

“अच्छा, तो अब ये तीन पलँग हैं—एक, जिसका प्रकृति में अस्तित्व है और जिसे, मैं समझता हूँ, हमें ईश्वर द्वारा निर्मित कहना चाहिए। ठीक है न ?”

“हाँ।”

“और दूसरा बढ़ई द्वारा निर्मित।”

“ठीक।”

“और तीसरा चित्रकार द्वारा।”

“हाँ, यही मान लें।”

“चित्रकार, बड़ई और ईश्वर—पलंगों के तीन वर्गों पर इन तीनों निर्माताओं के नाम हैं।”

“हाँ।”

“और ईश्वर ने—अपनी इच्छावश अथवा इस कारण कि उसके लिए यह आवश्यक था कि प्रकृति में एक से अधिक पलंग न बनाये—केवल एक ही पलंग बनाया जो उसका आदि सत्य-रूप है। परन्तु इस प्रकार के दो या अधिक पलंग ईश्वर ने न कभी बनाये, न बनायेगा।”

‘सो कैसे?’

“क्योंकि यदि ईश्वर दो से अधिक न भी बनाये तो भी तीसरा एक और रूप प्रकट होगा जिसकी आकृति को पहले दो रूप व्यक्त करेंगे और वही वास्तविक पलंग होगा, ये दोनों नहीं।”

“आप ठीक कहते हैं।”

“और मैं समझता हूँ ईश्वर यह जानता था और वस्तुतः ऐसे पलंग का स्रष्टा होना चाहता था जिसका वास्तविक अस्तित्व हो—किसी पलंग-विशेष का निर्माता-विशेष नहीं : अतः उसने इस एक प्रकृत पलंग का निर्माण किया।”

“सम्भवतः।”

“तब हम उसे इसका ‘प्रकृति-निर्माता’ कहें या वैसा ही कोई और नाम दें?”

“हाँ, वही उचित है जबकि उसके द्वारा इस एवं अन्य वस्तुओं का निर्माण प्रकृति के द्वारा निर्माण ही है।”

“बड़ई के विषय में क्या कहते हो? उसे तुम एक पलंग का निर्माता कहोगे?”

“हाँ।”

“और चित्रकार को भी तुम इसी प्रकार की एक वस्तु का निर्माता और स्रष्टा कहोगे।”

“.....”

“तब वह पलंग का क्या है?”

“मेरे विचार में अन्य दो जो कुछ बनाते हैं उसे उसका अनुकर्ता कहना सर्वाधिक उचित और संगत होगा।”

“अच्छा—तो तुम उसे अनुकर्ता कहोगे जिसका सम्बन्ध ऐसी चीज से होता है जो प्रकृति से तिगुनी दूर हो?”

×

×

×

त्रासदीकार भी अन्ततः अनुकर्ता ही है

“और इसके पश्चात् हमें त्रासदी और त्रासदी के क्षेत्र में अग्रणी होमेरस (होमर)^{१४} की परीक्षा करनी चाहिए—क्योंकि लोग कहते हैं कि त्रासदीकार समस्त कलाओं से अवगत होते हैं तथा साधुता एवं असाधुता से सम्बद्ध सभी वस्तुओं से और जो कुछ दिव्य है उससे भी । वे कहते हैं कि सुकवि यदि अपने विषय पर सुन्दर कविता रचना चाहे तो उसे विषय का ज्ञान होना चाहिए अन्यथा वह सर्वथा असफल रहेगा । तो, हमें यह विवेचना करनी चाहिए कि क्या इन लोगों का अनुकर्ताओं से वास्ता पड़ा है और ये छले गये हैं और उनकी कृतियों का अवलोकन करने पर वे यह नहीं समझ पाये कि वे सत्य से तिगुनी दूर हैं और उनकी रचना सत्य-ज्ञान के बिना भी सहज ही हो सकती है क्योंकि उनकी कृतियाँ वास्तविक नहीं, छाया मात्र हैं अथवा वे जो कुछ कहते हैं उसमें सचमुच कुछ तथ्य है और सुकवियों को वास्तव में उन विषयों का ज्ञान होता है जिन पर उनके वर्णन जनसाधारण की अभिरुचि के आलम्बन बन चुके हैं ?”

“हाँ, इसका निश्चय ही विवेचन होना चाहिए ।”

“अच्छा, बताओ तुम क्या यह सोचते हो कि यदि कोई व्यक्ति अनुकरण के आधार और उसकी छायाकृति दोनों का निर्माण कर सकता हो तो वह केवल छायाकृतियों के निर्माण को ही अपना लक्ष्य बना बैठेगा और अपनी इस क्षमता को अपने जीवन की सर्वोत्कृष्ट निधि के रूप में प्रस्तुत करेगा ?”

“मैं तो वैसा नहीं समझता ।”

“परन्तु मैं सोचता हूँ कि यदि उसको उन वस्तुओं का सच्चा ज्ञान भी होता जिनका वह अनुकरण करता है तो ‘अनुकरण’ के बजाय उनके ‘करण’ (रचना) में उसका कहीं अधिक उत्साह होता और वह अपने पश्चात् अनेक सुकृत्य स्मृति-रूप में छोड़ जाता । प्रशंसा-गीत गाने वाले कवि की अपेक्षा वह वीर नायक होता जिसके प्रशंसा-गीत गाये जाते हैं ।”

“मैं भी ऐसा ही सोचता हूँ । उसमें कहीं अधिक श्रेय और सम्मान है ।”

“अच्छा, अन्य प्रश्नों पर हम होमेरस अथवा अन्य कवियों का लेखा-जोखा नहीं चाहेंगे—केवल यही प्रश्न करेंगे कि उनमें से किसी को चिकित्सा-ज्ञान था या नहीं और वह कहीं चिकित्सा-प्रवचनों का अनुकर्ता मात्र तो नहीं था ! क्या कहीं ऐसे लोग हैं जिनको किसी प्राचीन या अर्वाचीन कवि ने स्वास्थ्य प्रदान किया हो जैसे अस्क्लेपिअस^{१५} ने किया था और वे अपने पीछे

कौन-से ऐसे चिकित्साविदों को छोड़ गये हैं जो अस्क्लेपिअस के वंशधरों के समक्ष हों। अन्य कलाओं के विषय में हम ऐसे प्रश्नों से विरत ही रहें, वस यही ठीक है। किन्तु जब होमेरस (होमर) प्रबलतम एवं उदात्ततम तथ्यों का उल्लेख करता है, जब वह युद्ध, सेनापतित्व, नगरों के शासन और मानव-शिक्षा की चर्चा करता है तब यह उचित ही है कि हम उससे प्रश्न करें और पूछें : 'श्रीमान्, यदि—जैसा आप कहते हैं—आप साधुता से सम्बन्धित सत्य से तिगुने दूर नहीं हैं—यदि आप छाया के निर्माता तथा जिसे हमने अनुकर्ता कहा है वह नहीं हैं और यदि आप सत्य से केवल दुगुने दूर हैं और आप यह जान सकते हैं कि किन कृत्यों से मनुष्य श्रेष्ठतर व्यक्ति एवं श्रेष्ठतर नागरिक बनता है तो क्या आप किसी ऐसे नगर का नाम बता सकते हैं जिसे आपने श्रेष्ठतर शासन प्रदान किया हो—जैसे ल्युकरागस^{१६} ने लकेदामोन को और कई अन्य व्यक्तियों ने अन्य छोटे-बड़े नगरों को प्रदान किया ? क्या कोई नगर आप को सुविधायक और कल्याणकर्ता के रूप में स्मरण करता है—जैसे इटली और सिसली खरोनदस^{१७} का नामोल्लेख करते हैं और हम सोलोन^{१८} का ? तुम्हारे नाम का उल्लेख इस प्रकार से कौन करता है ? क्या वह किसी एक व्यक्ति का भी नाम ले सकेगा ?

ग्लाउकोन ने कहा : "मैं समझता हूँ, नहीं। वैसा तो होमर के भक्त भी नहीं कहते।"

"परन्तु क्या किसी ऐसे तत्कालीन युद्ध का विवरण उपलब्ध है जो होमेरस (होमर) के सेनापतित्व में अथवा उसके परामर्श से सफलतापूर्वक लड़ा गया हो ?"

"नहीं।"

"अच्छा, हस्तशिल्प अथवा किसी अन्य कार्य-क्षेत्र में किसी ऐसे आविष्कार अथवा युक्ति-उपकरण का उल्लेख है जिससे आज यह सिद्ध हो कि वह एक कुशल व्यावहारिक व्यक्ति था—मिलेतुस के थलेस^{१९} अथवा शीथियाई अनखारसिस^{२०} की भाँति।"

"नहीं, ऐसा तो कोई उल्लेख नहीं।"

"अच्छा, यदि लोक-सेवा का कोई उल्लेख नहीं तो क्या किसी को यह कहते सुना है कि होमर अपने जीवन में कुछ विशेष व्यक्तियों का पथप्रदर्शक और शिक्षक था जो उससे समाज-प्रेरक होने के नाते प्रेम करते हों और जो परवर्ती पीढ़ियों के समक्ष कोई होमरीय जीवन-पद्धति प्रस्तुत कर गये हों। इस विषय में प्युथगोरस का उदाहरण हमारे सम्मुख है। वह इन्हीं कारणों से

प्रगाढ़ अनुराग का पात्र था और उसके उत्तराधिकारी आज तक भी प्युथगोरई जीवन-पद्धति की चर्चा करते हैं और उनमें निश्चय ही कुछ-न-कुछ अनन्य-सामान्यता है ।”

“नहीं सोक्रेतेस, ऐसी तो कोई बात सुनी नहीं गई क्योंकि यदि होमर-विषयक कथाएँ सत्य हों तो शिक्षण के दृष्टान्त के रूप में तो उसका संगी क्रेओप्युलस अपने हास्यास्पद नाम से भी अधिक हास्यास्पद है । लोग तो कहते हैं अपने जीवन-काल में होमर अत्यन्त उपेक्षित व्यक्ति था, बाद में जो हुआ उसका तो कहना ही क्या ।”

“हाँ, ऐसा ही कहते हैं लोग; परन्तु सोचो, ग्लाउकोन, यदि होमर अचमुच लोगों को शिक्षित करके उन्हें उत्कृष्टतर बना सका होता, यदि केवल अनुकरण के क्षेत्र में ही उसकी सिद्धि न होती तो क्या उसने कई शिष्य न बनाये होते और वह उनके सम्मान और प्रेम का पात्र न बना होता ? अब्देरा का प्रोतगोरस^{२१} और केओस का प्रोदिकस^{२२} और कई अन्य जन अपने व्यक्तिगत सम्भाषणों से अपने अनुयायियों में यह विश्वास कैसे जगा देते हैं कि अगर उनकी शिक्षा-दीक्षा इनकी देख-रेख में सम्पन्न न हुई तो वे न अपने घर-बार सँभाल सकेंगे और न अपने नगर का शासन चला सकेंगे और अपनी इसी बुद्धिमत्ता के कारण वे इतने प्रगाढ़ स्नेह के भाजन हैं—यहाँ तक कि उनके अनुयायी हठात् उन्हें कन्धों पर उठाये फिरते हैं । यदि होमर लोगों को सद्बृत्त बनाने में कुछ सहायता कर सका होता तो क्या तत्कालीन जनता उसे और हेसिओद^{२३} को गीत गाते हुए यत्र-तत्र भटकने के लिए छोड़ देती ? क्या लोग सुवर्ण से भी अधिक मूल्यवान् निधि समझ कर उन्हें न सँजोते और उन्हें अपने साथ घर रहने के लिए विवश न करते ? और यदि उसमें सफल न होते तब क्या वे अपने शिक्षा-निर्देशन का भार अपने ही ऊपर लेकर उनके पीछे न लग लिए होते और जब तक समुचित शिक्षा न पा लेते वे बराबर उनके पीछे-पीछे न फिरते ?”

“मैं समझता हूँ आप जो कुछ कह रहे हैं वह निश्चय ही सत्य है ।”

“तब क्या हम यह कह सकते हैं कि होमर से लेकर अब तक के सारे कवि साधुता और अपने अन्य लेखन-विषयों की छाया के अनुकर्ता मात्र हैं और वे सत्य को ग्रहण नहीं करते वरन्—जैसा हमने अभी कहा—चित्रकार ऐसा चित्र प्रस्तुत करेगा जिसमें जूते बनाने की क्रिया की प्रतीति हो और उसके दर्शकों के निकट रंग और रूप के आधार पर निर्णय कर लेने के अतिरिक्त और कोई चारा नहीं होता ।”

“अवश्य ।”

“और तब शायद हम यह भी कह सकते हैं कि कवि केवल अनुकरण में समर्थ अपनी बुद्धि से मानो कई कलाओं के रंगों का ही पदों और वाक्यों द्वारा पुनः सृजन करता है, उसके भी प्रेक्षक (श्रोता) होते हैं जिनकी कसीटी होती है शब्द; यदि कोई छन्द, लय और संगीत-रीति के अनुसार पदत्राण-निर्माण, सेनापतित्व या किसी अन्य विषय का वर्णन करे तो वे सोच लेते हैं कि जो कुछ कहा गया है अच्छा है । इनमें ऐसी मोहिनी शक्ति होती है । कवि के शब्दों को संगीत जो रंग दे देता है उससे यदि उन्हें विहीन कर दिया जाये तथा उनका सहज एवं स्वतन्त्र पाठ किया जाये तब वे कैसे प्रतीत होते हैं—यह तुम जानते ही होगे । मैं कह सकता हूँ तुमने अवश्य ही इस बात पर ध्यान दिया होगा !”

अस्तु, लगता है इस विषय पर हम सर्वथा सहमत हो गये हैं कि अनुकर्ता व्यक्ति को अपने अनुकरण-विषयों के मूल्य का ज्ञान नहीं होता, अनुकरण मनोरंजन का एक रूप मात्र है, कोई गम्भीर कार्य नहीं और यह कि लघु-गुरु-द्विमात्रिक और षट्पदी में त्रासदी की रचना करने वाले भी उन्नत स्तर पर होते अनुकर्ता ही हैं ।

काव्य (त्रासदी) से हानि [संवेगों की उत्तेजना]

अतः अब हम कवि को चित्रकार के समक्ष रख सकते हैं क्योंकि वह ऐसी वस्तु का सृजन करने में चित्रकार के ही समान है जिसका सत्य की दृष्टि से कोई मूल्य नहीं और इस दृष्टि से भी कि उसका आत्मा के तद्वत् अंश से ही सम्बन्ध है—जो सर्वोत्कृष्ट नहीं । अतः अब हमारे लिए यह न्याय्य होगा कि हमें जिस देश को सुशासित रखना है उसमें कवि के प्रवेश का निषेध कर दें क्योंकि वह आत्मा के इस अंश को जागृत, पोषित और परिपुष्ट करता है तथा विवेक-अंश का क्षय करता है । जैसे कोई किसी नगर को दुष्टों के हाथों में सौंप दे और श्रेष्ठतर नागरिकों का संहार कर दे उसी प्रकार से, हम यह कहेंगे कि अनुकर्ता कवि प्रत्येक व्यक्ति की आत्मा में असाधु प्रकृति की प्रतिष्ठा करता है, वह आत्मा के अज्ञान-तत्त्व का परितोष करता है जो महान् और क्षुद्र का भेद नहीं कर सकता वरन् यह समझता है कि एक ही वस्तु कभी महान् होती है, कभी क्षुद्र और वह ऐसी छायाओं का सृजन करता है जो सत्य से बहुत दूर होती हैं ।

“ठीक है ।”

“परन्तु अभी तक हमने अनुकरण के विरुद्ध अपना प्रबलतम अभियोग तो लगाया ही नहीं क्योंकि साधु को भी—कुछेक के अतिरिक्त—पथभ्रष्ट करने की उसकी शक्ति निश्चय ही सबसे भयंकर होती है।”

“यदि सचमुच वैसा होता है तब तो निश्चय ही यह सत्य है।”

“सुनो और सोचो। मान लो हम में जो सर्वश्रेष्ठ हैं वे होमेरस (होमर) अथवा किसी अन्य त्रासदी-कवि का काव्य-श्रवण कर रहे हैं। उस समय जब वह किसी शोकार्त नायक का अनुकरण कर रहा हो और उसके लम्बे विषादमय विलाप का ताना-बाना बुन रहा हो अथवा शोक-गीत गाते हुए शोक-विकल व्यक्ति का अनुकरण कर रहा हो। तुम जानते हो वह हमें आनन्द प्रदान करता है—और हम मुक्त भाव से उसका अनुगमन करने लगते हैं, हमारी सहानुभूति जाग्रत होती है और हम पर गम्भीर प्रभाव पड़ता है : इस प्रकार जिसका हमारे ऊपर सर्वाधिक प्रभाव पड़ता है उसी की सुकवि के रूप में हम प्रशंसा करते हैं।”

“मैं जानता हूँ हम ऐसा ही करते हैं।”

“परन्तु अनुकर्ता का वही दुःख जब हमारे किसी के ऊपर पड़ता है तब तुमने देखा होगा हम इसके सर्वथा प्रतिकूल आचरण में ही गर्व का अनुभव करते हैं—अर्थात् अचल-अडिग रह कर उसे सहन कर लेने में—मानो इस प्रकार हम पुरुष की भूमिका सम्पन्न कर रहे हों और दूसरे प्रकार का आचरण, जिसकी पहले हमने प्रशंसा की, नारी की भूमिका रही हो।”

“सत्य है।”

“तब क्या वह प्रशंसा उचित थी ? हम लज्जा का अनुभव किये बिना स्वयं जो कुछ नहीं बन सकते उसी भूमिका में किसी अन्य को देखकर वितृष्णा का अनुभव करने के स्थान पर यदि हम उसकी प्रशंसा करें और उसमें रस लें तो क्या वह उचित होगा ?”

“जो उस* की सौगन्ध ! यह तो न्याय नहीं प्रतीत होता।”

“यदि उस तरह देखें तो ठीक है।”

“किस तरह ?”

“वह तत्त्व जो हमारी व्यक्तिगत आपदाओं में बलात् दबा हुआ रहता है और जिसकी क्रन्दन और विलाप की प्रवृत्ति को निर्बाध अभिव्यक्ति नहीं दी जाती, कवियों द्वारा इन्हीं सहज प्रवृत्तियों का परितोष और प्रसादन किया जाता है। और उधर विलाप की प्रवृत्ति पर हमारे ऐसे गुणों का प्रभाव, जो कि

* एक यूनानी देवता (सं—देवस्)

प्रकृत्या सर्वश्रेष्ठ होते हैं, विवेक अथवा स्वभाव द्वारा सम्यक् रूप से अनुशासित न रहने के कारण शिथिल हो जाता है। वह जो दुःख देखता है उसके अपने नहीं होते और यदि सद्वृत्ति का दावा करने वाला कोई व्यक्ति उसकी अपेक्षा अधिक शोकाकुल हो तो उसकी प्रशंसा करना और उसके प्रति करुणा का अनुभव करना कोई लज्जा की बात नहीं बल्कि वह सोचता है कि समूची कविता की अवज्ञा करके आनन्द का वास्तविक लाभ हो सकता है। बात यह है कि मेरे विचार में तो कम ही लोग सोच पाते हैं कि दूसरों के दुःख हमारे लिए भी दुःख का कारण हो जाते हैं क्योंकि दूसरों के दुर्भाग्य पर यदि हम करुणा-भाव का पोषण करते रहें तो अपनी बारी आने पर भी उसका नियंत्रण कर पाना सहज नहीं होता।”

“सर्वथा सत्य है।”

“और क्या हास्य के विषय में यही युक्ति सत्य नहीं। कामदी के अभिनय का श्रवण कर तुम्हें असाधारण आनन्द की उपलब्धि हो सकती है; और मित्र-मण्डली में ऐसे परिहास में, जिसे स्वयं करने में तुम लज्जा का अनुभव करो। उनकी अपकृष्टता से भी तुम्हें विरुचि नहीं होगी, परन्तु ऐसा करके क्या तुम उस परिहास-वृत्ति को प्रतिफलन का अवसर नहीं देते जिसका तुमने दमन किया हुआ था क्योंकि तुम्हें डर था कि तुम्हें विदूषक न समझ लिया जाये और अब तुम उसे खुल खेलने का अवसर देते हो और इन अभिनयों में उसका परिपोष करते हो—फलतः बहुधा ऐसा होता है कि तुम अनजाने अपने व्यवहार में प्रहसन-कवि होने की सीमा तक पहुँच जाते हो।”

“निश्चय ही।”

“और मैथुनेच्छा, क्रोध एवं हमारे कर्म का अनुगमन करने वाली आत्मा की समस्त दुःख-सुखमयी भावनाओं-अभिलाषाओं के विषय में तुम देखते हो कि काव्यात्मक अनुकरण से हम में ये सभी प्रभाव उत्पन्न होते हैं। उन्हें म्लान-निष्प्राण हो जाना चाहिए परन्तु यह (अनुकरण) उन्हें सींच कर पनपने-बढ़ने का अवसर देता है। वह उन्हें हमारे ऊपर शासन करने का अवसर देता है जबकि—यदि हमें अधिक दुःखी और अपकृष्टतर होने की बजाय अधिक सुखी और श्रेष्ठतर बनना है तो—वे हमारे अधीन होनी चाहिए।

“मैं आपसे असहमत नहीं हो सकता।”

“अस्तु, जब तुम होमेरस (होमर) के प्रशंसकों को यह कहते हुए पाते हो कि इस कवि ने हेल्लस को शिक्षित किया और यह कि मानव-आचरण एवं संस्कृति की समस्याओं के समाधान के लिए होमेरस का अध्ययन करना चाहिए

और उसकी सीख के अनुसार अपना सम्पूर्ण जीवन व्यवस्थित करना चाहिए तो ऐसे लोगों के प्रति तुम्हें उदार और दयावान होना चाहिए—वे उतने साधु होते हैं जितना होना उन्हें आता है और इस बात से भी तुम्हें सहमत होना चाहिए कि होमर में काव्य-गुण सर्वाधिक हैं और त्रासदी-कवियों में उसका स्थान मूर्धा पर है परन्तु अपने मन में तुम्हें यह दृढ़तापूर्वक समझ लेना चाहिए कि किसी भी नगर में केवल उसी कविता का प्रवेश होने दिया जायेगा जिसमें ईश्वर की स्तुति हो अथवा जिसमें साधुजनों का गुणगान हो। यदि तुम गीति एवं महाकाव्य की आनन्दसिद्धा देवी की प्रतिष्ठा करोगे तो विधि एवं सिद्धान्त के स्थान पर तुम्हारे नगर में सुख-दुःख शासन करेंगे और समाज ने विधि एवं सिद्धान्त को ही सर्वदा श्रेष्ठतम स्वीकार किया है।

“सर्वथा सत्य है।”

“अस्तु, तब हमारी यह प्रतियुक्ति रहे कि हम काव्य के विषय में विचार कर चुके और उसकी प्रकृति ही ऐसी होती है कि उसे नगर से बहिष्कृत किया जाना ही चाहिए। युक्तियों ने हठात् हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचा दिया है। यदि वह हम पर निर्ममता और अशिष्टता का अभियोग लगाये तो हम उसे यह भी स्पष्टतः बता दें कि दर्शन और कविता का प्राचीन काल से वैमनस्य चला आ रहा है। ‘अपने स्वामी पर भौंकने वाली कुतिया,’ ‘भौंकता हुआ कुत्ता जो मूर्खों की सभा में शीश समुन्नत करता है,’ ‘अतिचतुरों का विजयोन्मत्त तुमुल नाद,’ आदि वाक्यांश और यह वक्तव्य की सूक्ष्म विचारवात् मनुष्य सभी भिक्षुक होते हैं आदि इस चिरकाल से चले आते हुए वैर के प्रमाण हैं। तथापि, हम यह कह दें कि यदि आनन्द-जनक काव्य और अनुकरण की ओर से युक्ति द्वारा यह प्रमाणित हो जाये कि किसी सुशासित नगर में काव्य का उचित स्थान है तो हम सहर्ष पुनः उसका स्वागत करने को प्रस्तुत हैं। हमारे ऊपर उसका जो मोहक प्रभाव है उसके प्रति हम सचेत हैं। हमें तो लगता है कि वह केवल सत्य की प्रवचना करती है और यह पाप है। मित्र ! तुम क्या उसके रहस्या-कर्षण का अनुभव नहीं करते ?—विशेषतः जब वह होमर के कंठ में बैठ कर प्रकट होती है ?”

“बिल्कुल ठीक है।”

“तब क्या यह उचित नहीं कि उसे इन्हीं उपबन्धों के अधीन लौटने दिया जाये—जब वह प्रगीत या किसी अन्य छन्द में अपनी सफ़ाई दे चुके।”

“सत्य है।”

“और हम कविता के समर्थकों को—जो कवि न हों, काव्य-प्रेमी हों—उसकी ओर से गद्य में भी सफ़ाई प्रस्तुत करने की अनुज्ञा दे सकते हैं जिसमें यह दिग्दर्शित किया जाये कि वह न केवल आनन्ददायिनी है वरन् राजनीतिक विधानों और मानव-जीवन के लिए भी उपयोगी है। और हम मैत्रीपूर्ण भावना से उनकी बात सुनेंगे। यदि वह न केवल सुखकर वरन् उपयोगी भी सिद्ध हो जाये तो इसमें हमारा लाभ ही होगा।”

“निश्चय ही हमारा लाभ होगा।”

“किन्तु यदि ऐसा नहीं तो स्थिति दूसरी हो जाती है। जिस प्रकार कुछ ऐसे लोग जिन्होंने प्रेम किया हो परन्तु इस निष्कर्ष पर पहुँच गये हों कि उनका प्रेम निरर्थक है, संघर्ष करके भी उससे मुक्ति पा लेते हैं, उसी प्रकार यद्यपि सुन्दर संविधानों में लालित-पालित होने के कारण हमारे मन में ऐसे काव्य के प्रति प्रेम का पोषण हुआ है और हम उसकी साधुता एवं सत्यता के किसी प्रत्यक्ष प्रमाण से प्रसन्न ही होंगे तथापि जब तक वह अपने पक्ष का प्रतिपादन नहीं कर पाती तब तक हम मंत्र की भाँति अपनी युक्ति का पुनरुच्चार किये बिना उसका श्रवण नहीं करेंगे क्योंकि कहीं ऐसा न हो कि हम फिर उस बालोचित प्रेम के जाल में फँस जायें जिसके अनेक लोग अभी तक शिकार हैं। अतः हम यह उच्चार करते रहेंगे कि इस कविता को कोई गहन-गम्भीर वस्तु नहीं समझना है मानो वह सत्य से सम्बन्धित कोई गम्भीर कृतित्व हो वरन् जो उसे सुने उसे सदैव सतर्क रहना चाहिए, नगर को उससे जो भय है उसके प्रति अपने मन को जागरूक रखना चाहिए और कविता के सम्बन्ध में हमने जो नियम वर्णित किये उनका हमें प्रख्यापन कर देना चाहिए।”

“मैं आपसे सर्वथा सहमत हूँ।”

“बात यह है, प्रिय ग्लाउकोन ! मनुष्य के साधु और असाधु होने के अन्तर में बहुत बड़ी जोखिम है—जितना लोग सोचते हैं उससे कहीं अधिक; अतः उसे गौरव, धन अथवा पद से मार्गच्युत नहीं किया जाना चाहिए—और कविता से भी नहीं—कि कहीं वह न्याय तथा अन्य सद्बृत्तियों की उपेक्षा का साहस कर सके।”

“जो कुछ हमने कहा उसके फलस्वरूप मैं आपसे सर्वथा सहमत हो गया हूँ और मैं समझता हूँ और सब भी सहमत होंगे।”

(गणतन्त्र ५६५-६०८)

अनुवादक : श्री महेन्द्र चतुर्वेदी

अरिस्तोतेलेस (अरस्तू)

(३८४ ई० पू०—३२२ ई० पू०)

[पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति का मूल स्रोत है यूनानी ज्ञान-विज्ञान और यूनानी ज्ञान-विज्ञान की मूल प्रेरणा-केन्द्र थी अरस्तू की प्रतिभा । यूनानी भाषा में अरस्तू का वास्तविक नाम है अरिस्तोतेलेस । उनका जन्म ई० पू० ३८४ में स्तगिरा नगर में हुआ था । उनके पिता उन्हें वैद्यक के व्यवसाय में दीक्षित करना चाहते थे किन्तु शीघ्र ही उनकी मृत्यु हो जाने के कारण अरस्तू का जीवन-मार्ग बदल गया और वे ई० पू० ३६८ के लगभग अथेन्स में आकर प्लेटो (प्लतोन) के प्रसिद्ध विद्यापीठ (अकादमी) में प्रविष्ट हो गये । प्लेटो का सत्संग-लाभ उन्होंने लगभग बीस वर्ष तक किया और उनके चरणों में बैठकर अनेक विद्याओं का विधिवत् अध्ययन एवं मनन और बाद में चलकर कुछ वर्षों तक अध्यापन भी किया । प्लेटो अरस्तू की प्रतिभा से बड़े प्रभावित थे और उन्हें 'विद्यापीठ का मस्तिष्क' कहा करते थे । यद्यपि अरस्तू ने प्लेटो के अनेक सिद्धान्तों का दृढ़तापूर्वक खण्डन किया, फिर भी गुरु-शिष्य के सम्बन्ध प्रायः अन्त तक मधुर ही बने रहे । ई० पू० ३४८ के लगभग प्लेटो की मृत्यु के पश्चात् अरस्तू हरमेइअस के निमंत्रण पर अथेन्स छोड़ कर चले आये और अक्सौस नगर में उन्होंने अकादमी की एक शाखा स्थापित की ।

ई० पू० ३४३ में अरस्तू के भाग्य का सितारा चमका और मकेदोनिया के राजा फिलिप ने उन्हें अपने राजकुमार विश्वविख्यात सिकन्दर महान् का शिक्षक नियुक्त किया । सिंहासन पर आरूढ़ हो जाने के उपरान्त भी अरस्तू सिकन्दर के साथ ही रहे । ई० पू० ३३५ में उन्होंने अथेन्स के निकट अपोलो में अपना एक स्वतन्त्र विद्यापीठ 'ल्युकेउम' नाम से स्थापित किया जहाँ विद्या के प्रायः सभी अंग-उपांगों का अध्ययन-अध्यापन होता था । अरस्तू की अध्यापन-शैली बड़ी विचित्र थी—वे प्रायः दहलते हुए प्रवचन किया करते थे और इसी आधार पर उनकी शिक्षा-पद्धति का नामकरण भी हुआ है । ई० पू० ३२३ में बेबिलोन में सिकन्दर की मृत्यु हो गई । तभी से अरस्तू के लिए संकट-काल

का आरम्भ हुआ। सिकन्दर और मकदून राजवंश के साथ उनका सम्बन्ध और उनका निर्भीक स्वतन्त्र जीवन-दर्शन दोनों ही बाधक सिद्ध हुए और यह आशंका होने लगी कि कहीं उनका भाग्य भी मुकरात जैसा ही न हो। अतः अथेन्स से उन्हें प्राण-रक्षा के लिए पलायन करना पड़ा। अथेन्स छोड़ते समय उनका यह वाक्य था : “मैं अथेन्स इसलिए छोड़ रहा हूँ कि कहीं अथेनी जनता दर्शन के विरुद्ध फिर दूसरी बार अपराध न कर बैठे।” लौटने के एक वर्ष बाद ई० पू० ३२२ में अपनी जन्मभूमि स्तगिरा के निकट खलकिस नामक नगरी में आन्त्र-रोग के कारण उनकी मृत्यु हो गई।

अरस्तू की प्रतिभा बहुमुखी थी। यद्यपि भौतिक विज्ञान, और उसके अन्तर्गत भी प्राणि-विज्ञान, ही उनका मुख्य विषय था तथापि वे अनेक विद्याओं के आचार्य थे। ज्ञान-विज्ञान का कोई भी ऐसा क्षेत्र न था जिसे उनकी प्रतिभा का आलोक प्राप्त न हुआ हो। कहते हैं अपने ६२ वर्ष के जीवन में उन्होंने प्रायः ४०० ग्रन्थों की रचना की जिनके विवेच्य विषय हैं : तर्कशास्त्र, अधिमानस-शास्त्र, मनोविज्ञान, भौतिक-विज्ञान, ज्योतिर्विज्ञान, राजनीति-शास्त्र, आचार-शास्त्र, साहित्य-शास्त्र आदि। साहित्य-शास्त्र से सम्बद्ध उनके दो ग्रन्थ हैं—१. भाषण-शास्त्र (तेखनेस रिटोरिकेस) और २. काव्य-शास्त्र (पेरि पोइतिकेस) : भाषण-शास्त्र में भाषण-कला के निमित्त से अन्य विषयों के अतिरिक्त भाषा और भावों का विवेचन किया गया है और काव्य-शास्त्र में काव्य के मौलिक सिद्धान्तों का।

ऐतिहासिक दृष्टि से पाश्चात्य काव्य-शास्त्र में अरस्तू का स्थान वही है, जो भारतीय काव्य-शास्त्र में भरत का। किन्तु उनके ‘काव्य-शास्त्र’ का शास्त्रीय महत्व भी कम नहीं है। अरस्तू की मेधा अत्यन्त प्रखर थी—उनकी वस्तुपरक दृष्टि तथा पर आश्रित रहने के कारण निर्भ्रान्त थी। उन्होंने यूरोप में आज से लगभग २४०० वर्ष पूर्व अनुगम-शैली का अवलम्बन कर ऐतिहासिक और मनोवैज्ञानिक आलोचना का सूत्रपात किया। उनकी विवेचन-पद्धति स्पष्ट और तर्कसंगत है, जो सामान्य विवेक के मार्ग से कभी विचलित नहीं होती। इस प्रकार अरस्तू को काव्य-दर्शन के प्रवर्तन और उसके आधार पर सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक आलोचना के लिए मार्ग प्रशस्त करने का श्रेय प्राप्त है।

✓ पाश्चात्य सभ्यता के उस प्रभात-काल में कला एवं साहित्य पर धर्म-शास्त्र, आचार-शास्त्र और राजनीति आदि का गहरा आतंक था। अरस्तू ने नैतिक और राजनीतिक मूल्यों से स्वतन्त्र कलागत मूल्यों की प्रतिष्ठा कर, काव्य और कला को धर्म और राजनीति की दासता से मुक्त किया। अरस्तू

ने निभ्रान्त शब्दों में यह घोषणा की कि जीवन की कल्याण-साधना में बाधक न होकर भी कला मूलतः सौन्दर्य की साधना में ही अत्रुत रहती है—उसकी सिद्धि आनन्द ही है। काव्य-शास्त्र के इतिहास में उनकी यह स्थापना काव्य और कला की स्वतन्त्रता का घोषणा-पत्र था।]

×

×

×

काव्य का उद्भव

अनुकरण

सामान्यतः कविता दो कारणों से प्रस्फुटित हुई प्रतीत होती है और इन दोनों की ही जड़ें हमारे स्वभाव में गहरी हैं। पहला—अनुकरण की सहजवृत्ति मनुष्य में शैशव से ही सन्निहित रहती है। उसमें और अन्य प्राणियों में एक अन्तर यह है कि जीवधारियों में वह सबसे अधिक अनुकरणशील होता है और आरम्भ में वह सब कुछ अनुकरण के द्वारा ही सीखता है। अनुकूल वस्तु से प्राप्त आनन्द भी कम सार्वभौम नहीं। अनुभव इसका प्रमाण है। जिन वस्तुओं के प्रत्यक्ष दर्शन से हमें क्लेश होता है* उन्हीं की यथावत् प्रतिकृति का भावन आह्लादकारी बन जाता है, जैसे किसी अत्यन्त जघन्य पशु अथवा शव की रूप-आकृति का उदाहरण लिया जा सकता है। इसका कारण यह है कि ज्ञान के अर्जन से अत्यन्त प्रबल आनन्द प्राप्त होता है : केवल दार्शनिक को ही नहीं, सामान्य व्यक्ति को भी—जिसकी ज्ञानार्जन-क्षमता अपेक्षाकृत कहीं सीमित होती है। अतः किसी प्रतिकृति को देखकर मनुष्य के आह्लादित होने का कारण यह है कि उसका भावन करने में वह कुछ ज्ञान प्राप्त करता है या निष्कर्ष ग्रहण करता है—शायद वह अपने मन में कहता, 'अरे ! यह तो अमुक है।'—क्योंकि यदि आपने मूल वस्तु को नहीं देखा तो आपका आनन्द अनुकरणजन्य न होगा : वह अंकन, रंग-योजना या किसी अन्य कारण पर आधृत होगा।

सामंजस्य और लय

अतः अनुकरण हमारे स्वभाव की एक सहजवृत्ति है। दूसरी वृत्ति है सामंजस्य और लय की—छन्द भी स्पष्टतः ही लय के अनुभाग होते हैं। इसलिए जो इस सहज शक्ति से सम्पन्न थे उन्होंने धीरे-धीरे अपनी विशिष्ट प्रवृत्तियों का विकास कर लिया, और अन्त में उनकी भोंडी आशु रचनाओं से ही कविता का जन्म हुआ।

विकास

✓ इसके पश्चात् लेखक के व्यक्तिगत स्वभाव के अनुसार काव्य-धारा दो दिशाओं में विभक्त हो गई। गंभीरचेता लेखकों ने उदात्त व्यापारों और सज्जनों के क्रिया-कलाप का अनुकरण किया। जो क्षुद्र वृत्ति के थे उन्होंने अधम जनों के कार्यों का अनुकरण किया और जिस प्रकार प्रथम वर्ग के लेखकों ने देव-सूक्त और यशस्वी पुरुषों की प्रशस्तियाँ लिखीं, उसी प्रकार इन लोगों ने पहले-पहल व्यंग्य-काव्य की रचना की।

परिभाषाएँ

कामदी

✓ कामदी (या प्रहसन) में, निम्नतर कोटि के पात्रों का अनुकरण रहता है—यहाँ 'निम्न' शब्द का अर्थ बिल्कुल वही नहीं है जो 'दुष्ट' का होता है क्योंकि अभिहस्य तो 'कुरूप' का एक उपभाग मात्र है उसमें कुछ ऐसा दोष या भद्दापन रहता है जो क्लेश या अमंगलकारी नहीं होता। एक प्रत्यक्ष उदाहरण लीजिए—प्रहसन में प्रयुक्त छद्ममुख विरूप और भद्दा तो होता है पर क्लेश का कारण नहीं।

महाकाव्य

महाकाव्य और त्रासदी में यह समानता है कि उसमें भी उच्चतर कोटि के पात्रों की पद्यबद्ध अनुकृति रहती है। भेद यह है कि महाकाव्य में केवल एक प्रकार का छन्द ग्राह्य होता है और उसका रूप समाख्यानात्मक होता है। दोनों के विस्तार में भी भेद होता है—त्रासदी को यथासम्भव सूर्य की एक परिक्रमा (एक दिन) या इससे कुछ अधिक समय तक सीमित रखने का प्रयत्न किया जाता है, परन्तु महाकाव्य के कार्य-व्यापार में काल की सीमा का कोई बन्धन नहीं है। यह दूसरा भेद हुआ—यद्यपि पहले त्रासदी में भी (काल-विषयक) वैसी ही स्वतन्त्रता थी जैसी महाकाव्य में।

महाकाव्य और त्रासदी के घटक अंगों में से कुछ तो दोनों में ही समान रूप से होते हैं—कुछ केवल त्रासदी में ही, अतः जो त्रासदी के गुण-दोष का विवेचन कर सकता है उसे महाकाव्य के विषय में भी ज्ञान होता ही है। महाकाव्य के सभी तत्त्व त्रासदी में वर्तमान रहते हैं पर त्रासदी के सम्पूर्ण तत्त्व महाकाव्य में उपलब्ध नहीं होते।

त्रासदी

त्रासदी किसी गंभीर, स्वतःपूर्ण तथा निश्चित आयाम से युक्त कार्य की अनुकृति का नाम है, जिसका माध्यम नाटक के भिन्न-भिन्न भागों में भिन्न-भिन्न रूप से प्रयुक्त सभी प्रकार के आभरणों से अलंकृत भाषा होती है, जो समाख्यान के रूप में न होकर कार्य-व्यापार रूप में होती है और जिसमें कर्ण तथा त्रास के उद्रेक द्वारा इन मनोविकारों का उचित विरेचन किया जाता है। 'अलंकृत-भाषा' से मेरा अभिप्राय ऐसी भाषा से है जिसमें लय, सामंजस्य और गीत का समावेश हो जाता है। विभिन्न 'आभरण नाटक के अलग-अलग भागों में' (पाये जाते हैं)—इस उक्ति से मेरा तात्पर्य यह है कि कुछ भागों में केवल पद्य के माध्यम का प्रयोग किया जाता है और कुछ में गीत का भी समावेश रहता है।

तत्त्व

'त्रासदीय अनुकृति' शब्द में यह निहित है कि लोग अभिनय करते हैं—इसलिए सबसे पहला निष्कर्ष यह निकलता है कि रंग-विधान त्रासदी का अंग होगा। इसके उपरान्त गीत और पदावली का स्थान होगा क्योंकि ये अनुकरण के माध्यम हैं। 'पदावली' से अभिप्राय शब्दों के छन्दोबद्ध विन्यास मात्र का है, 'गीत' शब्द का अर्थ सभी के लिए सुबोध है।

तो, त्रासदी किसी कार्य-विशेष की अनुकृति होती है और कार्य के लिए अभिकर्ता व्यक्तियों का होना आवश्यक है जिनमें निश्चय ही चारित्र्य और विचार की कुछ विशेषताएँ होती हैं क्योंकि इन्हीं से तो हम कार्य-व्यापार का विशेषण करते हैं। ये ही दोनों—चारित्र्य तथा विचार—वे स्वाभाविक कारण हैं जिनसे कार्य उद्भूत होते हैं और इन्हीं पर सम्पूर्ण सफलता-विफलता निर्भर होती है। अतः कथानक कार्य-व्यापार की अनुकृति है क्योंकि कथानक से यहाँ मेरा तात्पर्य घटनाओं के विन्यास से है। चारित्र्य वह है जिसके बल पर हम अभिकर्ताओं में कुछ गुणों का अध्यारोप करते हैं। विचार की आवश्यकता तब पड़ती है जब किसी वक्तव्य को सिद्ध किया जाता है या किसी सामान्य सत्य का आख्यान किया जाता है। इस प्रकार प्रत्येक त्रासदी के अनिवार्यतः छह अंग होते हैं जो उसके सौष्ठव का निर्धारण करते हैं—कथानक, चरित्र-चित्रण, पद-रचना, विचार-तत्त्व, दृश्य-विधान, गीत। इनमें से दो अनुकरण के माध्यम होते हैं, एक अनुकरण की विधि और तीन अनुकरण के विषय। बस ये ही उसके अवयव हैं। हम कह सकते हैं कि इन तत्त्वों का उपयोग प्रत्येक कवि ने किया है। वस्तुतः प्रत्येक

नाटक में दृश्य-विधान रहता है और साथ ही चरित्र-चित्रण, कथानक, पदावली, गीत तथा विचार-तत्त्व भी ।

किन्तु सबसे अधिक महत्वपूर्ण है घटनाओं का संगठन । त्रासदी अनुकृति है—व्यक्ति की नहीं, कार्य की तथा जीवन की क्योंकि जीवन कार्य-व्यापार का ही नाम है और उसका प्रयोजन भी एक प्रकार का व्यापार ही है, गुण नहीं । व्यक्ति के गुणों का निर्धारण तो उसके चरित्र से होता है, पर उसका सुख या दुःख उसके कार्यों पर निर्भर रहता है । अतः नाट्य-व्यापार का उद्देश्य चरित्र का अभिव्यंजन नहीं होता, चरित्र तो कार्य-व्यापार के साथ गौण रूप में आ जाता है । अतएव घटनाएँ और कथानक ही त्रासदी के साध्य हैं और साध्य का स्थान ही सबसे प्रमुख होता है । बिना कार्य-व्यापार के त्रासदी नहीं हो सकती, बिना चरित्र-चित्रण के हो सकती है ।

हमारे अधिकांश आधुनिक कवियों की त्रासद कृतियाँ चरित्र के अभिव्यंजन में असफल हैं—और यह बात सभी कवियों के विषय में ही प्रायः सत्य है । चित्रकला के विषय में भी यही बात है । जेउक्सिस^{२४} और पोल्युग्नोतस^{२५} में यही अन्तर है—पोल्युग्नोतस चरित्र का निरूपण भली भाँति करता है, जेउक्सिस की शैली (नैतिक) चरित्र-गुणों से विहीन है । इसी प्रकार चरित्र-व्यंजक कई भाषणों को सूत्रबद्ध प्रस्तुत करने से—चाहे उनके विचार एवं पदावली कितनी ही परिष्कृत क्यों न हो—वह सारभूत कारुणिक प्रभाव उत्पन्न नहीं किया जा सकता जो किसी ऐसे नाटक द्वारा सहज सम्भव है जिसमें, ये पहलू कमजोर होने पर भी, कथानक तथा घटनाओं का कलात्मक गुम्फन रहता है । इसके अतिरिक्त त्रासदी के अन्तर्गत सबसे प्रबल रागात्मक तत्त्व—विपर्यास अथवा स्थिति-विपर्यय और अभिज्ञान-प्रसंग भी कथानक के ही अंग हैं । इसका एक और प्रमाण यह है कि नवोदित कलाकार भाषा के परिष्कार तथा चरित्र-चित्रण की अन्वर्थता में तो पहले सिद्धि प्राप्त कर लेते हैं, पर कथानक का सफल निर्माण करने में उन्हें समय लगता है । आदिकाल के लगभग सभी कवियों की यही स्थिति रहती है ।

अतः कथानक त्रासदी का प्रमुख अंग है—वह मानो त्रासदी की आत्मा है । चरित्र का स्थान दूसरा है । चित्र-कला के विषय में भी यही बात है । अस्तव्यस्त अवस्था में, सुन्दर-से-सुन्दर रंग भी हमें उतना आनन्द नहीं दे सकते जितना खड़िया से अंकित किसी चित्र की (व्यवस्थित) रूप-रेखा । अतः त्रासदी कार्य-व्यापार की अनुकृति है, और अभिकर्ताओं की भी—किन्तु मुख्यतः कार्य की दृष्टि से ही ।

इस क्रम में तीसरा स्थान विचार का है—विचार का अर्थ है प्रस्तुत परिस्थिति में जो सम्भव और संगत हो उसके प्रतिपादन की क्षमता। जहाँ तक वक्तृत्व का सम्बन्ध है—यह कार्य राजनीति-कला और भाषण-कला का है और इसीलिए प्राचीन कवियों ने अपने पात्रों से नागरिक जीवन की भाषा का प्रयोग कराया है, हमारे युग के कवियों ने आलंकारिकों की भाषा का। चारित्र्य उसे कहते हैं जो किसी व्यक्ति की रुचि-विरुचि का प्रदर्शन करता हुआ नैतिक प्रयोजन को व्यक्त करे। अतः ऐसे वक्तव्य, जिनमें यह स्पष्ट नहीं होता, अर्थात् जिनमें वक्ता न तो किसी वस्तु में रुचि दिखाता है न विरुचि, चरित्र के व्यञ्जक नहीं होते। विचार वहाँ विद्यमान रहता है जहाँ किसी वस्तु का भाव या अभाव सिद्ध किया जाता है या किसी सामान्य सत्य की व्यञ्जक सूक्ति का आख्यान होता है।

उपर्युक्त तत्त्वों में चौथा तत्त्व है पदावली, जिससे मेरा अभिप्राय है—शब्दों द्वारा अर्थ की अभिव्यक्ति। इसका प्राण-तत्त्व गद्य और पद्य दोनों में एक-सा ही रहता है।

शेष तत्त्वों में से अलंकरण के प्रसाधनों में गीत का मुख्य स्थान है। दृश्य-विधान का भी अपना एक भावोत्तेजक आकर्षण होता है, पर (त्रासदी के) विविध अंगों में सबसे कम कलात्मक यही है और काव्य-कला के साथ इसका सबसे कम सम्बन्ध है। क्योंकि दृश्य-विधान और अभिनेताओं (अभिनय) से स्वतंत्र भी त्रासदी के प्रबल प्रभाव की अनुभूति होती है—यह निश्चित है। इसके अतिरिक्त रंग-प्रभाव उत्पन्न करना कवि की अपेक्षा मंच-शिल्पी की कला पर अधिक निर्भर है।

कथानक का आयाम

इन सिद्धान्तों के प्रतिपादन के उपरान्त अब हम कथानक के संगठन का विवेचन करेंगे, क्योंकि त्रासदी में वही पहला और महत्वपूर्ण तत्त्व है :

अस्तु, हमारी परिभाषा के अनुसार त्रासदी ऐसे कार्य की अनुकृति है जो समग्र, एवं सम्पूर्ण हो और जिसमें एक निश्चित विस्तार हो क्योंकि, ऐसी पूर्णता भी हो सकती है जिसमें विस्तार का अभाव हो। पूर्ण वह है जिसमें आदि, मध्य और अवसान हो। आदि वह है जो किसी हेतु का परिणाम नहीं होता, पर जिसके पश्चात् स्वभावतः कुछ विद्यमान या घटित होता है। इसके विपरीत अवसान उसे कहते हैं जो स्वयं तो अनिवार्यतः या नियमतः किसी अन्य घटना का सहज अनुवर्ती होता है पर जिसका अनुवर्ती कुछ नहीं होता। मध्य वह है जो स्वयं किसी घटना (या घटनावली) का अनुगमन करता है और अन्य घटना

या (घटनावली) उसका अनुगमन करती है। अतः सुगठित कथानक का आदि या अवसान अचानक ही मनमाने ढंग से न होकर इन सिद्धान्तों के अनुसार होना चाहिए।

इस प्रकार किसी भी सुन्दर वस्तु में—चाहे वह जीवधारी हो अथवा अवयवों से संघटित कोई अन्य पूर्ण पदार्थ—अंगों का व्यवस्थित अनुक्रम मात्र पर्याप्त नहीं है, वरन् उसका निश्चित आयाम भी होना चाहिए क्योंकि सौन्दर्य आयाम और व्यवस्था पर ही निर्भर होता है। इसलिए कोई अत्यंत सूक्ष्म प्राणी सुन्दर नहीं हो सकता क्योंकि उसे देखने में इतना कम—प्रायः नहीं के बराबर—समय लगता है कि उसका विम्ब सर्वथा अस्पष्ट रह जाता है। इसी तरह अत्यन्त विराट् आकार का पदार्थ भी सुन्दर नहीं हो सकता, क्योंकि हमारी दृष्टि उसके समग्र रूप को एक साथ ग्रहण नहीं कर सकती जिसके फलस्वरूप द्रष्टा के मन में उसकी पूर्णता और एकत्व की भावना खण्डित हो जाती है मानो किसी एक हजार मील लम्बे पदार्थ को देखने का प्रयास हो। अतः जैसे जीवधारियों में एक निश्चित आकार आवश्यक होता है—ऐसा आकार जिसे दृष्टि एक साथ समग्र रूप में ग्रहण कर सके—उसी तरह कथानक में भी एक निश्चित विस्तार आवश्यक होता है जो सरलता से स्मृति में धारण किया जा सके। किन्तु नाट्य-अभिनय और प्रत्यक्ष उपस्थापन की विस्तार-सीमा कला-सिद्धान्त का अंग नहीं है। मान लीजिए यह नियम होता कि सौ त्रासद नाटक एक साथ उपस्थित किये जायें तो उनके अभिनय का नियंत्रण जल-घड़ी से किया जाता—और सुनते हैं पहले वास्तव में ऐसा होता भी था। किन्तु नाटक की प्रकृति के अनुसार उसकी जो विस्तार-सीमा निर्धारित की जा सकती है वह यह है—जितना विस्तार अधिक होगा उतना ही वह नाटक अपने आकार के कारण सुन्दर होगा : लेकिन यह आवश्यक है कि उसका सर्वांग स्पष्ट रूप से परिव्यक्त रहे। और, स्थूल रूप से समुचित कथा-विस्तार की सीमा यह मानी जा सकती है कि घटना-चक्र के अन्तर्गत, सम्भाव्यता या आवश्यकता के नियम के अनुसार, दुर्भाग्य की सौभाग्य में अथवा सौभाग्य की दुर्भाग्य में परिणति दिखाई जा सके।

अन्विति

जैसी कुछ लोगों की धारणा है, कथानक की एकान्विति का आधार यह नहीं है कि नायक एक हो। एक व्यक्ति के जीवन में नाना प्रकार की असंख्य घटनाएँ घटती हैं जिन्हें एकान्वित नहीं किया जा सकता। इसी तरह एक व्यक्ति

के अनेक कार्य-व्यापार होते हैं जिन्हें एक ही कार्य में अन्वित नहीं किया जा सकता ।

जैसे अन्य अनुकरणात्मक कलाओं में अनुकार्य वस्तु के एक होने पर अनुकृति भी एक होती है इसी प्रकार कथानक को, जो कार्य-व्यापार की अनुकृति होती है, एक तथा सर्वांगपूर्ण कार्य का अनुकरण करना चाहिए और उसमें अंगों का संगठन ऐसा होना चाहिए कि यदि एक अंग को भी अपनी जगह से इधर-उधर करें तो सर्वांग ही छिन्न-भिन्न और अस्तव्यस्त हो जाये; क्योंकि ऐसी वस्तु, जिसके होने न होने से कोई प्रत्यक्ष अन्तर नहीं पड़ता, किसी पूर्ण इकाई का सहज अंग नहीं हो सकती ।

सम्भाव्यता

कवि का कर्त्तव्य-कर्म जो कुछ हो चुका है उसका वर्णन करना नहीं है वरन् जो हो सकता है, जो सम्भाव्यता या आवश्यकता के नियम के अधीन सम्भव है, उसका वर्णन करना है । कवि और इतिहासकार में भेद यह नहीं है कि एक पद्य में लिखता है, दूसरा गद्य में । वास्तविक भेद यह है कि एक तो उसका वर्णन करता है जो घटित हो चुका है और दूसरा उसका जो घटित हो सकता है । परिणामतः काव्य में दर्शन-तत्त्व अधिक होता है, उसका स्वरूप इतिहास से भव्यतर है क्योंकि काव्य सामान्य (सार्वभौम) की अभिव्यक्ति है और इतिहास विशेष की । सामान्य (सार्वभौम) से मेरा तात्पर्य यह है कि विशेष प्रकार का कोई व्यक्ति सम्भाव्यता अथवा आवश्यकता के नियम के अनुसार किसी अवसर पर कैसे बातचीत या व्यवहार करेगा । नाम-रूप से विशिष्ट व्यक्तियों के माध्यम से इसी सार्वभौमता की सिद्धि काव्य का लक्ष्य होती है ।

समस्त कथानकों और व्यापारों में 'उपाख्यानात्मक' सबसे निष्कृष्ट होते हैं । मैं उस कथानक को उपाख्यानात्मक कहता हूँ जिसमें एक के बाद एक उपाख्यान या अंक, बिना सम्भाव्य या आवश्यक पूर्वापर-क्रम के, आते चले जाते हैं ।

सरल और जटिल कथानक

कथानक या तो सरल होते हैं या जटिल, क्योंकि उनके अनुकार्य—वास्तविक जीवन के व्यापारों—में भी स्पष्टतः यही भेद होता है । जो कार्य-व्यापार उपयुक्त अर्थ में 'एक' और अविच्छिन्न हो उसे मैं सरल कहता हूँ,

जिसमें स्थिति-विपर्यय और अभिज्ञान के बिना ही भाग्य-परिवर्तन हो जाता है।

जटिल व्यापार वह है जहाँ यह परिवर्तन स्थिति-विपर्यय या अभिज्ञान अथवा दोनों के द्वारा घटित होता हो। इनका उद्भव कथानक के आन्तरिक वस्तु-विधान से ही होना चाहिए जिससे कि अनुवर्ती घटनाएँ पूर्ववर्ती व्यापार का आवश्यक या सम्भाव्य परिणाम हों—इसमें बड़ा अन्तर पड़ जाता है कि कोई घटना किसी अन्य घटना के फलस्वरूप घटित हुई है या केवल उसकी अनुवर्तिनी है।

स्थिति-विपर्यय

स्थिति-विपर्यय ऐसा परिवर्तन है जिसमें व्यापार का व्यत्यय हो जाता है—किन्तु यह व्यत्यय सदा आवश्यकता एवं सम्भाव्यता के नियम के अधीन ही होता है। उदाहरण के लिए, ओइदिपूस^{२६} में दूत वैसे तो ओइदिपूस का उत्साह-वर्धन करने तथा उसे माता-सम्बन्धी शंकाओं से मुक्त करने के लिए आता है, किन्तु साथ ही वह ओइदिपूस के जीवन-रहस्य का उद्घाटन भी कर देता है जिससे सर्वथा प्रतिकूल प्रभाव उत्पन्न हो जाता है।

अभिज्ञान

‘अभिज्ञान’ शब्द से ही स्पष्ट है कि उसमें अज्ञान की ज्ञान में परिणति का भाव निहित है। इसके कारण उन लोगों के मन में, जिनके सौभाग्य का वर्णन कवि को अभीष्ट रहता है, परस्पर प्रेम-भाव उत्पन्न हो जाता है—और ऐसे लोगों के मन में, जिनके दुर्भाग्य का वर्णन अपेक्षित हो, पारस्परिक घृणा उत्पन्न हो जाती है। अभिज्ञान का सबसे उत्कृष्ट रूप वह है जहाँ वह स्थिति-विपर्यय के साथ ही घटित होता है—जैसे ओइदिपूस में। इसके अतिरिक्त अभिज्ञान के और भी रूप हैं। अत्यन्त नगण्य अचेतन पदार्थ भी एक प्रकार से अभिज्ञान के आधार हो सकते हैं। हम यह भी पहचान सकते या पता लगा सकते हैं कि किसी व्यक्ति ने कोई काम किया है या नहीं। परन्तु जैसा हम पहले कह चुके हैं, कथानक और कार्य-व्यापार के साथ सबसे घनिष्ठ सम्बन्ध ‘व्यक्ति के अभिज्ञान’ का ही होता है। ऐसा अभिज्ञान विपर्यय के साथ मिल कर या तो करुणा जगायेगा या त्रास, और हमारी परिभाषा के अनुसार ऐसे ही प्रभावों के उत्पादक कार्य-व्यापारों का त्रासदी में चित्रण किया जाता है। इसके अतिरिक्त सौभाग्य और दुर्भाग्य के प्रश्न भी ऐसी स्थितियों पर ही निर्भर

होंगे। अस्तु, यदि अभिज्ञान व्यक्तियों में होता है, तो हो सकता है कि एक व्यक्ति का ही दूसरे के द्वारा अभिज्ञान हो और अभिज्ञाता पहले से ही अभिज्ञात हो, या यह भी हो सकता है कि दोनों का ही परस्पर अभिज्ञान आवश्यक हो।

यातना का दृश्य

इस प्रकार कथानक के दो अंगों—स्थिति-विपर्यय और अभिज्ञान—में आकस्मिकता का आधार रहता है। तीसरा अंग है यातना का दृश्य। यातना के दृश्य में घातक या कष्टप्रद व्यापार आते हैं, जैसे रंगमंच पर मृत्यु, शारीरिक पीड़ा, घाव आदि।

त्रासदी के उन अंगों का वर्णन पहले ही हो चुका है जिन्हें उसके सहज तत्त्व मानना चाहिए। अब हम संगठन-सम्बन्धी भागों का विवेचन करेंगे—उन पृथक् भागों का जिनमें त्रासदी का विभाजन किया जाता है : प्रस्तावना, उपाख्यान, उपसंहार और वृन्दगान, जिसके दो भाग हैं—पूर्वगान और उत्तरगान। ये तो सभी नाटकों में पाये जाते हैं किन्तु रंगमंच से अभिनेताओं का गायन तथा समविलाप ऐच्छिक हैं—वे सब नाटकों में नहीं होते।

कारुणिक व्यापार : मूल तत्त्व

इसके आगे अब क्रमानुसार यह विचार करना आवश्यक है कि कथानक के निर्माण में कवि का लक्ष्य क्या होना चाहिए, क्या-क्या नहीं ग्रहण करना चाहिए और त्रासदी का विशिष्ट प्रभाव किस प्रकार उत्पन्न करना चाहिए।

जैसा कि हम देख चुके हैं, पूर्णतया सफल त्रासदी का संगठन सरल नहीं वरन् जटिल होना चाहिए। और उसे करुणा एवं त्रास जगाने वाले व्यापारों का अनुकरण करना चाहिये क्योंकि यही त्रासदीय अनुकरण का व्यावर्तक धर्म है। एक तो इससे यह स्पष्ट है कि भाग्य-परिवर्तन के प्रत्यंकन में किसी सत्पात्र का सम्पत्ति से विपत्ति में पतन न दिखाया जाये—इससे न तो करुणा की उद्बुद्धि होगी, न त्रास की; इससे तो हमें आघात पहुँचेगा। साथ ही उसमें किसी दुष्ट पात्र के विपत्ति से सम्पत्ति में उत्कर्ष का चित्रण भी नहीं रहना चाहिए, क्योंकि त्रासदी की आत्मा के इससे अधिक प्रतिकूल और कोई स्थिति नहीं हो सकती। इसमें त्रासदी का एक भी गुण विद्यमान नहीं है। इससे न तो नैतिक भावना का परितोष होता है, न करुणा और त्रास की उद्बुद्धि ही। किसी अत्यन्त खल पात्र का पतन दिखाना भी संगत नहीं है—इस प्रकार के कथानक

से नैतिक भावना का परितोष तो अवश्य होगा, परन्तु करुणा या त्रास का उद्बोध नहीं हो सकेगा क्योंकि करुणा तो किसी निर्दोष व्यक्ति की विपत्ति से ही जाग्रत होती है और त्रास समान पात्र की विपत्ति से। अतः ऐसी घटना से न करुणा उत्पन्न होगी, न त्रास। अब इन दो सीमान्तों के बीच का चरित्र रह जाता है—ऐसा व्यक्ति जो अत्यन्त सच्चरित्र और न्यायपरायण तो नहीं है फिर भी जो अपने दुर्गुण या पाप के कारण नहीं बरन् किसी कमजोरी या भूल के कारण दुर्भाग्य का शिकार हो जाता है। यह व्यक्ति अत्यन्त विख्यात एवं समृद्ध होना चाहिए।

सुगठित कथानक इकहरा होना चाहिए, दोहरा नहीं—जैसी कि कुछ लोगों ने स्थापना की है। भाग्य-परिवर्तन अपकर्ष से उत्कर्ष में नहीं होना चाहिए वरन् इसके विपरीत उत्कर्ष से अपकर्ष में होना चाहिए। यह किसी दुर्गुण का नहीं बरन् किसी भयंकर भूल या कमजोरी का परिणाम होना चाहिए, और पात्र या तो जैसा हम पहले कह चुके हैं वैसा होना चाहिए, या उससे अच्छा हो, बुरा नहीं।

कारुणिक व्यापार और रंग-विधान

त्रास और करुणा की उद्बुद्धि रंगमंच के प्रसाधनों से भी की जा सकती है, किन्तु वे कृति के आन्तरिक संगठन से भी उत्पन्न हो सकते हैं—यही पद्धति अधिक सुन्दर है और कवि की उत्कृष्टता की द्योतक है। कथानक का संगठन ऐसा होना चाहिए कि प्रेक्षक के बिना भी कथा के श्रवण मात्र से ही सहृदय भय से काँप जाये और करुणाद्रो हो उठे। ओइदिपस की कहानी सुनने से हमारे मन पर यही प्रभाव पड़ता है। रंग-विधान द्वारा यह प्रभाव उत्पन्न करना उतना कलात्मक नहीं है और वह बाह्य साधनों पर भी निर्भर है। जो रंगमंच के साधनों का उपयोग भयानक की नहीं बरन् विद्रूप की चेतना (भय के स्थान पर स्तम्भ) उत्पन्न करने के लिए करते हैं वे त्रासदी के प्रयोजन से नितान्त अनभिज्ञ हैं। त्रासदी से हम सभी प्रकार के नहीं बरन् उसके अपने विशिष्ट प्रकार के आनन्द की ही अपेक्षा कर सकते हैं और चूँकि यह आनन्द अनुकरण के माध्यम से करुणा और त्रास जगाकर निष्पन्न होता है, अतः स्पष्ट है कि इस गुण की स्थिति घटनाओं में ही होनी चाहिए।

चरित्र

चरित्र के विषय में चार बातों पर ध्यान रखना चाहिए। पहली और

सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि वह भद्र हो। नैतिक उद्देश्य का द्योतन करने वाला कोई भी वक्तव्य या कार्य-व्यापार चरित्र का व्यञ्जक होगा : यदि उद्देश्य भद्र है तो चरित्र भी भद्र होगा। यह गुण प्रत्येक वर्ग में सम्भव है। स्त्री भी भद्र हो सकती है, दास भी—यद्यपि स्त्री को कुछ निम्न स्तर का प्राणी कह सकते हैं और दास तो बिल्कुल ही निकृष्ट जीव होता है। दूसरी बात ध्यान रखने की है औचित्य। पुरुष में एक विशेष प्रकार का शौर्य होता है परन्तु नारी-चरित्र में शौर्य या (नैतिक विवेक-शून्य) चातुर्य का समावेश अनुचित होगा। तीसरे, चरित्र जीवन के अनुकूल होना चाहिए—यह गुण पूर्वोक्त 'भद्रता' और 'औचित्य' से भिन्न है। चौथी बात यह है कि चरित्र में एकरूपता होनी चाहिए। हो सकता है कि मूल अनुकार्य के चरित्र में अनेकरूपता हो, किन्तु फिर भी यह अनेकरूपता ही एकरूप होनी चाहिए।

कथानक के संगठन की भाँति चरित्र-निरूपण में भी कवि को सदैव अवश्यम्भावी या सम्भाव्य को ही अपना लक्ष्य बनाना चाहिए। जैसे आवश्यक या सम्भाव्य पूर्वापरता-क्रम से एक के बाद दूसरी घटना आती है, वैसे ही आवश्यकता या सम्भाव्यता-नियम के अधीन किसी विशिष्ट चरित्र के व्यक्ति को अपने विशिष्ट ढंग से ही बोलना या काम करना चाहिए। अतः स्पष्ट है कि संवृत्ति की भाँति कथानक की विवृति भी कथानक में से ही उद्भूत होनी चाहिए—यान्त्रिक अवतारणा द्वारा उसे सम्पन्न कराना उचित नहीं—जैसा मेदेआ^{२७} में या ईलियड^{२८} के अन्तर्गत यूनानियों के प्रत्यागमन में हुआ है। यान्त्रिक अवतारणा का उपयोग तो केवल नाटक के बाहर की घटनाओं के लिए करना चाहिए—या तो उन पूर्वभूत घटनाओं के लिए जो मानव-ज्ञान की परिधि के बाहर हों, या फिर ऐसी भावी घटनाओं के लिए जिनकी सूचना पहले से देना आवश्यक हो, क्योंकि देवताओं को तो हम सर्वज्ञ मानते हैं। नाटक के कार्य में कोई ऐसी बात नहीं होनी चाहिए जो विवेक-सम्मत न हो। यदि उससे किसी तरह निस्तार न हो सके तो त्रासदी की परिधि से उसे बाहर ही रखना चाहिए, जैसा कि सोफोक्लेस के ओइदिपस में है।

चूँकि त्रासदी में ऐसे व्यक्तियों की अनुकृति रहती है जो सामान्य स्तर से ऊँचे होते हैं, अतः उसमें श्रेष्ठ चित्रकारों का आदर्श सामने रखना चाहिए। ये चित्रकार मूल का स्पष्ट प्रत्यंकन करने के अतिरिक्त एक ऐसी प्रतिकृति प्रस्तुत कर देते हैं जो जीवन के अनुरूप होने के साथ ही उससे कहीं अधिक सुन्दर भी होती है। इसी प्रकार कवि को भी चाहिये कि चिड़चिड़े, आलसी या अन्य दोष-

युक्त व्यक्ति का चित्रण करते समय जातिगत प्ररूप की रक्षा तो करे किन्तु साथ ही उसके चरित्र को और भी उदात्त बना दे ।

महाकाव्य

जहाँ तक ऐसी काव्यानुकृति का प्रश्न है जिसका रूप समाख्यानात्मक हो और जिसमें एक छन्द का प्रयोग किया गया हो, यह स्पष्ट है कि उसके कथानक का निर्माण त्रासदी की तरह नाट्य-सिद्धान्तों के अनुसार ही होना चाहिए । उसका आधार आदि-मध्य-अवसानयुक्त एक समग्र एवं पूर्ण कार्य होना चाहिए । इस तरह अपनी अन्विति में यह काव्य-रूप एक जीवन्त प्राणी-सा प्रतीत होगा और अपना विशिष्ट आनन्द प्रदान करेगा । संगठन में वह ऐतिहासिक रचनाओं से भिन्न होगा क्योंकि वे एक कार्य को नहीं बरन् एक काल-खण्ड को और उस काल-खण्ड में एक या अनेक व्यक्तियों से सम्बन्धित सभी घटनाओं को, हमारे सम्मुख उपस्थित करती हैं—चाहे ये घटनाएँ परस्पर असम्बद्ध ही क्यों न हों । सलमिस के जल-युद्ध और सिसली में कार्थेजीनिया-वासियों के साथ युद्ध का समय एक ही है पर उनका कोई एक परिणाम नहीं हुआ । इसी प्रकार घटनाक्रम में कभी-कभी एक के बाद दूसरी घटना होती है किन्तु उनका कोई एक परिणाम नहीं निकलता । हम कह सकते हैं कि अधिकतर कवि यही करते हैं । यहाँ भी, जैसा कि हम पहले भी कह चुके हैं, होमेरस (होमर) का अप्रतिम कौशल स्पष्ट है । वह त्रौड्रा^{२६} के सम्पूर्ण युद्ध को अपने काव्य का विषय बनाने का कोई प्रयत्न नहीं करता यद्यपि उस युद्ध का आदि भी था और अवसान भी । यह विषय बहुत व्यापक हो जाता—एक दृष्टि में उसे सहज ही ग्रहण नहीं किया जा सकता था । यदि कवि उसके विस्तार को सीमित कर लेता तब भी घटनाओं की विविधता के कारण वह अति जटिल तो हो ही जाता । प्रस्तुत रूप में उसने कथा का एक अंश ले लिया है और फिर युद्ध की सामान्य कथा से कई घटनाओं का—जैसे जहाजों की सूची या अन्य घटनाओं का—उपाख्यानों के रूप में समावेश कर दिया है । इस प्रकार कविता में वैविध्य उत्पन्न हो गया है ।

त्रासदी से तुलना

महाकाव्य के भी उतने ही प्रकार होने चाहिए और हैं जितने त्रासदी के—अर्थात् सरल, जटिल, नैतिक और करुण । गीत एवं दृश्य-विधान के अतिरिक्त दोनों के अंग भी समान ही हैं क्योंकि इसमें भी स्थिति-विपर्यय, अभि-

ज्ञान, एवं यातना के दृश्य आवश्यक होते हैं। साथ ही विचार-तत्त्व एवं पदावली भी कलात्मक होनी चाहिए। इन सभी तत्त्वों की दृष्टि से होमेरस (होमर) हमारा सर्वप्रथम और अपने में पर्याप्त आदर्श है। वास्तव में उसके दोनों काव्यों का द्विविध रूप है—ईलियड सरल भी है और करुण भी, ओड्युस्सेइया ^{३०} जटिल है (क्योंकि अभिज्ञान-दृश्य उसमें बराबर आते रहते हैं) और साथ ही नैतिक भी। इसके अतिरिक्त भाषा और विचार-गरिमा की दृष्टि से तो ये दोनों काव्य परम श्रेष्ठ हैं।

किन्तु महाकाव्य और त्रासदी में कथा के आकार और छन्द का भेद होता है। जहाँ तक आकार या विस्तार का प्रश्न है हम पहले ही एक उचित सीमा निर्धारित कर चुके हैं—वह इतना होना चाहिए कि आदि और अवसान दोनों एक ही दृष्टि की परिधि में आ सकें। यह शर्त तब पूरी हो सकती है जब काव्यों का आकार प्राचीन महाकाव्यों से कम हो और उन त्रासदियों के बराबर हो जिनको एक ही बैठक में प्रस्तुत किया जा सकता है।

महाकाव्य में एक बड़ी—एक विशिष्ट—क्षमता होती है अपनी सीमाओं का विस्तार करने की और इसका कारण भी समझ में आता है। त्रासदी में हम एक ही समय में प्रवाहित कार्य की अनेक धाराओं का अनुकरण नहीं कर सकते, हमें मंच पर निष्पादित कार्य और अभिनेताओं के क्रिया-कलाप तक ही अपने आपको सीमित रखना पड़ता है; किन्तु महाकाव्य में, उसके समाख्यानात्मक रूप के कारण, एक ही समय घटित होने वाली अनेक घटनाएँ प्रस्तुत की जा सकती हैं और यदि ये विषय-संगत हों तो इनसे काव्य को घनत्व और गरिमा प्राप्त होती है। महाकाव्य को यह बड़ा लाभ है—जिससे उसकी प्रभाव-गरिमा की वृद्धि होती है, श्रोता का मनोरंजन होता है और विविध उपाख्यानों के द्वारा कथा की एकरसता दूर होती है। घटनाएँ यदि एकरस हों तो सामाजिक बड़ी जल्दी ऊब जाता है और रंगमंच पर त्रासदी विफल हो जाती है।

जहाँ तक छन्द का प्रश्न है वीर छन्द अनुभव की कसौटी पर अपनी उपयुक्तता सिद्ध कर चुका है। यदि अब कोई, किसी अन्य छन्द में या अनेक छन्दों में समाख्यानात्मक काव्य लिखे तो वह असंगत होगा। वृत्तों में वीरवृत्त सबसे अधिक भव्य एवं गरिमामय होता है, अप्रचलित एवं लाक्षणिक शब्द उसमें बड़ी सरलता से रम जाते हैं। अनुकरण का समाख्यानात्मक रूप इस दृष्टि से अपनी अलग विशिष्टता रखता है।

त्रासदी के लिए (भी) 'अद्भुत' तत्त्व अपेक्षित है। किन्तु असंगत (असम्भाव्य) के लिए, जो 'अद्भुत' के प्रभाव का मूल आधार होता है, महाकाव्य

में अधिक अवकाश रहता है क्योंकि वहाँ अभिनेता प्रत्यक्ष उपस्थित नहीं होता । जो 'अद्भुत' है वह आह्लादित भी करता है और उसका प्रमाण यह है कि प्रत्येक व्यक्ति किसी कथा को अपनी ओर से बढ़ा-चढ़ाकर दूसरे से कहता है क्योंकि वह जानता है कि श्रोता इसे पसन्द करते हैं । कौशलपूर्वक असत्य-भाषण की कला दूसरे कवियों को सिखाने का श्रेय बहुत-कुछ होमेरस (होमर) को ही है । इस कला का रहस्य एक हेत्वाभास में निहित है । मान लीजिए, किसी एक बात या घटना के साथ कोई दूसरी बात या घटना होती या रहती है तो लोग सोचते हैं कि दूसरी के साथ पहली भी सदैव होती या रहती है । पर यह निष्कर्ष अशुद्ध है । अतः जहाँ पहली बात मिथ्या हो वहाँ, यदि दूसरी सत्य है तो, यह कहना बिलकुल अनावश्यक हो जाता है कि वह है या हुई है । हमारी बुद्धि दूसरी बात की सत्यता का ज्ञान होने के कारण, भ्रमवश पहली की सत्यता का अनुमान कर लेती है । ओद्युस्से-इथा के स्नान-दृश्य में इसका एक उदाहरण है ।

अतः कवि को असम्भाव्य सम्भावनाओं की अपेक्षा सम्भाव्य असम्भावनाओं को प्राथमिकता देनी चाहिए । त्रासदी का कथानक असंगत अंगों से निर्मित नहीं होना चाहिए । जो कुछ विवेक-संगत न हो उसे यथाशक्ति वचाना चाहिए : या कम-से-कम उसे नाटक के 'कार्य' से तो बाहर रखना ही चाहिए ।

त्रासदी की श्रेष्ठता

एक प्रश्न यह हो सकता है कि महाकाव्य और त्रासदी—अनुकरण के इन दोनों रूपों में से कौन-सा उत्कृष्ट है ? यदि अधिक परिष्कृत कला ही उत्कृष्ट है—और अधिक परिष्कृत प्रत्येक दशा में वही है जो सुरुचि-सम्पन्न सामाजिक को आह्लादित करे—तो स्पष्ट है कि हर किसी वस्तु का अनुकरण करने वाली कला अत्यन्त अपरिष्कृत होगी । सामाजिकों को इतना मूढ़ समझ लिया जाता है मानो वे तब तक कुछ समझ ही नहीं सकते जब तक अभिनेता कुछ अपने चमत्कार न दिखायें, अतः वे निरन्तर भाँति-भाँति की चेष्टाएँ करते रहते हैं । चक्र-क्षेपण का प्रदर्शन करते समय निकृष्ट वंशीवादक अपने समूचे शरीर को दोहरा कर लेते हैं और तरह-तरह से झुमाते हैं, 'स्वयुल्ला' का अभिनय करते हुए वे वृन्द-नायक के साथ धक्कमधक्का करने लगते हैं । कहा जाता है कि त्रासदी में यही दोष है । ज्येष्ठ अभिनेताओं की अपने परवर्ती अभिनेताओं के विषय में यही धारणा थी । म्युन्निस्कस^{३१} कल्लिप्पिदेस^{३२} को अतिरंजित (अस्वाभाविक) अभिनय के कारण 'लंगूर' कहा करता था, पिन्दरस^{३३} के विषय में भी यही धारणा थी । अतएव समग्र रूप में त्रासदी का महाकाव्य के साथ वही

सम्बन्ध हुआ जो नये अभिनेताओं का ज्येष्ठ अभिनेताओं के साथ है। इसीलिए यह कहा जाता है कि महाकाव्य का 'अधिकारी' संस्कृत सामाजिक-वर्ग होता है जिसके लिए भंगिमाओं का प्रदर्शन आवश्यक नहीं। त्रासदी निम्न स्तर की जनता के लिए होती है। इस प्रकार अपरिष्कृत होने के कारण, स्पष्टतः दोनों में उसी का स्थान नीचा है।

अब, पहले तो इस अभिशंसा का लक्ष्य काव्य-कला नहीं, अभिनय-कला है। क्योंकि इस प्रकार आंगिक चेष्टाओं का अतिचार तो महाकाव्य के पाठ में भी हो सकता है। दूसरे, हर प्रकार के आंगिक अभिनय की निन्दा नहीं की जा सकती—जैसे कि सभी प्रकार के नृत्य की गर्हणा उचित नहीं, केवल निकृष्ट श्रेणी के नटों की चेष्टाएँ ही निन्दनीय हो सकती हैं। इसके अतिरिक्त त्रासदी भी—महाकाव्य के समान—बिना आंगिक अभिनय के ही प्रभाव डालती है, पढ़ने मात्र से उसका प्रभाव व्यक्त हो जाता है। ऐसी स्थिति में यदि अन्य सभी दृष्टियों से त्रासदी श्रेष्ठतर है तो हम कहेंगे कि यह दोष त्रासदी में अनिवार्य एवं सहजात नहीं है।

और वास्तव में उत्कृष्ट तो वह है ही, उसमें महाकाव्य के सब तत्त्व विद्यमान हैं—उसके छन्द तक का प्रयोग त्रासदी में हो सकता है : उधर संगीत और रंग-प्रभाव उसके अपने अतिरिक्त महत्वपूर्ण सहायक तत्त्व हैं—जिनसे सर्वाधिक प्रत्यक्ष आनन्द की सृष्टि होती है। पाठ और अभिनय दोनों में ही उसका प्रभाव बड़ा विशद होता है, इसके अतिरिक्त अपेक्षाकृत सीमित परिधि में ही कला यहाँ अपनी सिद्धि कर लेती है। विस्तृत काल-पट पर बिखरे हुए तरल प्रभाव की अपेक्षा सुसंहित सघन प्रभाव अधिक आह्लादकारी होता है। एक बात और—महाकाव्य में उतनी अन्विति भी नहीं होती, इसका प्रमाण यह है कि किसी भी एक महाकाव्य से अनेक त्रासदियों की सामग्री उपलब्ध हो सकती है। कवि द्वारा गृहीत कथावस्तु में यदि हृद अन्विति है तो उसे संक्षेप में कहना पड़ेगा और वह कुछ कटी-कटी अधूरी-सी लगेगी, यदि उसे महाकाव्य के शास्त्र-सम्मत विस्तार के अनुकूल रखना है तो वह निश्चय ही क्षीण-तरल-सी, बिखरी-बिखरी-सी प्रतीत होगी।

अतः यदि त्रासदी इन सभी दृष्टियों से महाकाव्य से उत्कृष्ट है और साथ ही कला के रूप में अपने विशेष कर्तव्य की अधिक सफलता के साथ पूर्ति करती है—क्योंकि जैसा पहले कहा जा चुका है प्रत्येक कला को किसी सांयोगिक नहीं, अपितु एक विशिष्ट आनन्द की सृष्टि करनी चाहिए—तो यह स्पष्ट है कि त्रासदी

उत्कृष्टतर कला है क्योंकि वह अपना लक्ष्य अधिक पूर्णता के साथ सिद्ध करती है । (पेरि पोइतिकेस)

विरेचन-सिद्धान्त

किन्तु इससे आगे हमारा यह मत है कि संगीत का अध्ययन एक नहीं, बरस अनेक उद्देश्यों की सिद्धि के लिए होना चाहिए—अर्थात् (१) शिक्षा के लिए, (२) विरेचन (शुद्धि) के लिए (यहाँ हम 'विरेचन' शब्द का प्रयोग बिना व्याख्या के कर रहे हैं, किन्तु काव्य का विवेचन करते समय हमने इस विषय का यथार्थ प्रतिपादन किया है ।), (३) संगीत से बौद्धिक आनन्द की भी उपलब्धि होती है, इससे परिश्रम के उपरान्त मनोविनोद होता है अतः यह स्पष्ट है कि हमें सभी रागों का प्रयोग करना चाहिए, किन्तु सभी की विधि एक नहीं होनी चाहिए । शिक्षा के लिए सर्वाधिक नैतिक रागों को प्राथमिकता देनी चाहिए, किन्तु दूसरों का संगीत सुनने के समय (अर्थात् संगीत-सभाओं में या रंगमंच पर) हम कार्य (उत्साह) और आवेग को अभिव्यक्त करने वाले रागों का भी आनन्द ले सकते हैं, क्योंकि करुणा और त्रास अथवा आवेश कुछ व्यक्तियों में बड़े प्रबल होते हैं, और उनका न्यूनाधिक प्रभाव तो प्रायः सभी पर रहता है । कुछ व्यक्ति 'हाल' की दशा में आ जाते हैं, किन्तु हम देखते हैं कि धार्मिक रागों के प्रभाव से—ऐसे रागों के प्रभाव से, जो रहस्यात्मक आवेश को उद्बुद्ध करते हैं—वे शान्त हो जाते हैं, मानो उनके आवेश का शमन और विरेचन हो गया हो । करुणा और त्रास से आविष्ट व्यक्ति—प्रत्येक भावुक व्यक्ति—इस प्रकार का अनुभव करता है, और दूसरे भी, अपनी-अपनी संवेदन-शक्ति के अनुसार प्रायः सभी, इस विधि से एक प्रकार की शुद्धि का अनुभव करते हैं; उनकी आत्मा विशद और प्रसन्न हो जाती है । इस प्रकार विरेचक राग मानव-समाज को निर्दोष आनन्द प्रदान करते हैं । (राजनीति, भाग ८, अध्याय ७)

अनुवादक : { डॉ० नगेन्द्र
श्री महेन्द्र चतुर्वेदी

भाषण-कला

भाषण-कला तर्क-कला की अनुपूरक है । दोनों का सम्बन्ध ऐसी चीजों से है जिनका न्यूनाधिक अन्तर्भाव सभी मनुष्यों के सामान्य ज्ञान-क्षेत्र में होता है और जो किसी विशेष विज्ञान में आवद्ध नहीं होतीं । अतः सभी लोग इन दोनों

का न्यूनाधिक प्रयोग करते हैं क्योंकि एक विशेष सीमा तक सभी लोग वस्तुओं पर विमर्श करते हैं, उनकी सत्यता सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं, अपने पक्ष की रक्षा और दूसरे पक्ष पर आक्रमण करते हैं। साधारण जन या तो अनायास ऐसा करते हैं अथवा अभ्यास और अर्जित स्वभाववश, चूँकि ये दोनों ही मार्ग सम्भव हैं। अतः स्पष्ट है कि इस विषय का व्यवस्थित विवेचन हो सकता है क्योंकि यह प्रश्न पूछा जा सकता है : इसका क्या कारण है कि कुछ वक्ताओं को तो अभ्यास के द्वारा सफलता मिलती है और कुछ को अनायास; और इस बात को प्रत्येक व्यक्ति स्वीकार करेगा कि इस प्रकार का अन्वेषण कला का कार्य है।

अस्तु, भाषण-कला के वर्तमान निबन्धों के लेखकों ने उस कला के केवल एक स्वल्पांश का निर्माण किया है। प्रत्यय की पद्धतियाँ ही उस कला के एकमात्र सच्चे अवयव हैं, और सब केवल गौण तत्त्व होते हैं।

भाषण-कला की परिभाषा हम इस प्रकार कर सकते हैं कि वह अवस्था-विशेष में प्रत्यय के उपलब्ध साधनों के पर्यवेक्षण की शक्ति है। यह कार्य किसी अन्य कला का नहीं। कोई भी अन्य कला केवल अपनी विशिष्ट विषय-वस्तु के सम्बन्ध में शिक्षा दे सकती है या प्रत्यय उत्पन्न कर सकती है—उदाहरणार्थ : चिकित्सा-शास्त्र इस सम्बन्ध में कि स्वस्थ और अस्वस्थ क्या है, ज्यामिति आयातों के गुणों के सम्बन्ध में, गणित अंकों के सम्बन्ध में। यही बात अन्य कलाओं और विज्ञानों के सम्बन्ध में सत्य है परन्तु भाषण-कला हम अपने सामने प्रस्तुत किसी भी विषय में प्रत्यय के साधनों के पर्यवेक्षण की शक्ति को मानते हैं। इसीलिए हम यह कहते हैं कि अपने प्राविधिक स्वरूप में, वह विषयों के किसी विशेष या निश्चित वर्ग से सम्बद्ध नहीं।

हम कह सकते हैं कि सुख एक गति है—एक ऐसी गति जिसके द्वारा सम्पूर्ण आत्मा को सचेष्ट रूप से अपने अस्तित्व की प्रकृत अवस्था में लाया जाता है, और दुःख इसके विपरीत है। अगर यही सुख है तो स्पष्ट है कि जो तत्त्व यह परिस्थिति उत्पन्न करने की ओर प्रवृत्त हो वह सुखकर होगा और जो इसे नष्ट करने की दिशा में प्रवृत्त हो अथवा आत्मा को प्रतिकूल अवस्था में लाने का कारण बने वह दुःखद होगा। अतः अस्तित्व की प्रकृत अवस्था की ओर अग्रसर होना सर्वदा सुखकर होगा—विशेष रूप से तब जब किसी प्रकृत प्रक्रिया द्वारा उस प्रकृत अवस्था की पूर्ण पुनःप्रतिष्ठा हो गई हो।

सुख इन्द्रियों के द्वारा एक विशेष प्रकार के भाव की चेतना है, परन्तु कल्पना एक क्षीण-सी संवेदना होती है और जो व्यक्ति किसी वस्तु का स्मरण अथवा आकांक्षा करता है उसके मन में उसका कोई न कोई बिम्ब या चित्र

अवश्य रहता है। अगर ऐसा है तो स्पष्ट है कि संवेदना से संयुक्त होने के कारण स्मृति और आकांक्षा सुख से भी संयुक्त हो सकते हैं। अतः निष्कर्ष यह निकलता है कि कोई भी सुखकर वस्तु या तो वर्तमान एवं गोचर होगी, अथवा अतीत तथा अनुस्मृत या भविष्यर्गभित और आकांक्षित क्योंकि वर्तमान सुखों को हम देखते हैं, विगत सुखों का स्मरण करते हैं एवं भावी सुखों की आकांक्षा। जिन चीजों का स्मरण सुखकर होता है वे केवल वही नहीं होतीं जो वर्तमान के रूप में अनुभव करते समय सुखकर रही होंगी वरन् कुछ ऐसी चीजें भी होती हैं जो उस समय सुखकर न रही हों परन्तु बाद में जिनके परिणाम श्रेयस्कर और शुभ रहे हों। इसका कारण यह है कि बुराई से मुक्त होना भी सुखकर होता है। और आकांक्षा उन्हीं चीजों की सुखकर होती है जो विद्यमान होने पर हमें या तो महान् आल्लाद से भर दें या महान् कल्याण की साधना करें जिसमें दुःख का लेश भी न हो। और सामान्यतः वे सब चीजें जो विद्यमान होने पर आल्लादित करती हैं, हमारे द्वारा अनुस्मृत या आकांक्षित होने पर भी नियमतः आल्लाद प्रदान करती हैं। कुपित होना भी सुखकर है। होमेरस (होमर) ने रोष को लक्ष्य करके कहा है :

‘वह माधुर्य से ओतप्रोत मधुकोश से भी कहीं अधिक मधुर है।’—
 क्योंकि ऐसे व्यक्ति पर कोई क्रोध नहीं करता जिससे बदला लेना सम्भव ही न हो और जो शक्ति में हमसे वरीयस हैं उनके प्रति तो हमारे मन में बहुत कम रोष जागता है अथवा बिलकुल नहीं जागता। हमारी अधिकतर बुभुक्षाओं के साथ कोई न कोई सुखकर भावना सम्बद्ध रहती है। उस समय हम या तो किसी विगत सुख की स्मृति का अथवा किसी भावी सुख की आकांक्षा का आनन्द लेते होते हैं जैसे कोई ज्वरग्रस्त व्यक्ति प्यास से व्याकुल हो जाने पर उन पेयों की स्मृति से आनन्दित हो जाता है जिनका उसने अतीत में कभी पान किया हो और भविष्य में फिर उनका पान करने की आशा करता हो। इसी प्रकार प्रेमी अपने प्रेम-पात्र के विषय में बातचीत करने और लिखने का आनन्द लाभ करता है, उससे सम्बद्ध किसी छोटे-मोटे काम में भी रस लेता है : इन सबके द्वारा प्रेम-पात्र उसकी स्मृति में मूर्तिमन्त हो उठता है और कल्पना-चक्षुओं के सम्मुख वास्तव में प्रकट हो जाता है। यह तो प्रेम का प्रथम लक्षण है कि किसी की उपस्थिति से आल्लादित होने के साथ ही, जब वह नहीं होता तब हम उसकी याद करते हैं, उसके न होने से सुख-दुःख का अनुभव करते हैं। इसी प्रकार किसी मृतात्मा के लिए विलाप और क्रन्दन करने में भी सुख का तत्त्व सन्निहित रहता है। उसे खो देने का तो हमें शोक होता है परन्तु उसकी याद करने में,

उसके जीवन एवं कृत्यों में उसे मूर्तिमन्त देखने में, एक प्रकार का सुख मिलता है। प्रतिशोध भी सुखकर होता है। जिस चीज के न पा सकने से दुःख होता है, उसे पा लेने पर सुख मिलता है। क्रुद्ध मनुष्य जब प्रतिशोध नहीं कर पाता तो उसे असीम यातना होती है और प्रतिशोध की प्रत्याशा से ही वह आह्लादिस हो उठता है।

भाव

‘भाव’ संज्ञा हम उन सभी भावनाओं को देते हैं जो मनुष्य को इतना बदल दें कि उसकी विवेक-बुद्धि में अन्तर पड़ जाये और जिनके साथ सुख-दुःख भी संश्लिष्ट हों। क्रोध, भय, दया आदि और इनकी विपरीत भावनाएँ इसी कोटि में आयेंगी। इनमें से प्रत्येक के विषय में हमें जो कुछ कहना है उसे तीन शीर्षकों के अन्तर्गत व्यवस्थित कर सकते हैं। उदाहरण के लिए क्रोध-भाव को लें। यहाँ हमें देखना होगा कि १) क्रुद्ध मनुष्यों के मन की अवस्था क्या होती है ?; २) कौन लोग ऐसे हैं जिनसे वे प्रायः क्रुद्ध होते हैं ?; और ३) किन कारणों से वे उनसे क्रुद्ध होते हैं ? इनमें से एक या दो बातें जान लेना भी पर्याप्त नहीं। जब तक हमें तीनों बातें मालूम न हों हम किसी के अंदर क्रोध-भाव जागृत नहीं कर सकते। अन्य भावों के विषय में भी यही बात सत्य है।

शैली

हमारा अगला विषय है अभिव्यंजना-शैली। यह जान लेना भर पर्याप्त नहीं कि हमें क्या कहना चाहिए; हमें अपनी बात कहने का उपयुक्त ढंग भी आना चाहिए। इस प्रकार भाषण का यथोचित प्रभाव उत्पन्न करने में बड़ी सहायता मिल जाती है।

प्रतिपाद्य विषय चाहे कुछ भी हो, भाषा-साधनों का भी यथार्थ महत्व होता है—चाहे थोड़ा ही हो। बात कहने के ढंग का विषय की बोधगम्यता पर अवश्य प्रभाव पड़ता है परन्तु इसका उतना महत्व नहीं होता जितना लोग समझते हैं। ये सब उपकरण कल्पनाप्रसूत होते हैं, उनका उद्देश्य होता है श्रोता को मुग्ध करना। ज्यामिति पढ़ाते समय कोई भी सुकोमल भाषा का प्रयोग नहीं करता।

सुष्ठु पदावली के सिद्धान्तों का व्यवस्थित अध्यापन सम्भव है। अतः इस क्षेत्र में ऐसे योग्य व्यक्ति हमारे यहाँ हैं जो पुरस्कृत हुए हैं और ऐसे वक्ता भी हैं जो व्याहार की दृष्टि से अद्वितीय हैं। लिखित अथवा साहित्यिक प्रकार के भाषणों का प्रभाव विचार की अपेक्षा पदावली पर अधिक आश्रित होता है।

अब भी अधिकतर अशिक्षित व्यक्ति यह समझते हैं कि उत्कृष्ट भाषणों में काव्यमय भाषा का प्रयोग होना चाहिए। यह सत्य नहीं—गद्य की भाषा कविता की भाषा से भिन्न होती है। आज की वस्तु-स्थिति से यह बात स्पष्ट है जबकि त्रासदी की भाषा ने भी अपना स्वरूप बदल लिया है। जैसे चतुष्पदी के वजाय लघु-गुरु द्विमात्रिक (छन्दों) का प्रयोग होने लगा क्योंकि वे छन्दों में सबसे अधिक गद्य-प्रकृति होते हैं। इसी प्रकार त्रासदी ने साधारण बोलचाल में अप्रयुक्त उन सभी शब्दों का परित्याग कर दिया जिनसे आरम्भिक नाटक अलंकृत रहा करते थे और जिनका प्रयोग षट्पदी कविताओं के रचयिता आज भी करते हैं। अतः ऐसी काव्य-पद्धति का अनुकरण हास्यास्पद है जिसे स्वयं कवियों ने त्याग दिया है।

आजकल यह कहा जाता है—और यह बड़ी वेढंगी बात है—कि समाख्यान त्वरित होना चाहिए। एक बार जब एक नानवाई ने किसी आदमी से यह प्रश्न किया कि “आपकी रोटी सख्त बनाई जाये या मुलायम?”—तो उसने कहा था कि “क्या तुम उसे ‘ठीक’ नहीं बना सकते हो?” कुछ ऐसी ही बात यहाँ है। समाख्यान लम्बे नहीं होने चाहिए—जैसे भूमिकाएँ लम्बी नहीं होनी चाहिए, जैसे युक्तियाँ लम्बी नहीं होनी चाहिए। यहाँ उनका ठीक या उपयुक्त होना इस बात पर निर्भर नहीं कि उनमें त्वरा अथवा संहति है या नहीं, वह इन दोनों के उचित सामंजस्य पर निर्भर है अर्थात् अच्छा समाख्यान वह है जिसमें उतनी ही बात कही जाय जितनी से तथ्य स्पष्ट हो जाये या श्रोता को यह प्रत्यय हो जाये कि अमुक घटना घटित हुई या यह कि किसी व्यक्ति ने किसी अन्य व्यक्ति को क्षति पहुँचाई है या उसके साथ अन्याय किया है, या यह विश्वास हो जाये कि प्रस्तुत तथ्य उतने ही महत्वपूर्ण हैं जितना तुम चाहते हो कि उन्हें माना जाये : या फिर इनके विपरीत युक्तियों की स्थापना के लिए प्रतिकूल तथ्य भी ऐसे ही प्रत्ययकारी हों।

(तेखनेस रितीरिकेस)

अनुवादक : श्री महेन्द्र चतुर्वेदी

लॉगिनुस (लांजाइनस)

(समय अनिश्चित : ईसा की प्रथम अथवा तृतीय शती)

[महत्व की दृष्टि से यूनानी काव्य-शास्त्र में अरस्तू के बाद लॉगिनुस का ही नाम आता है। उनकी कृति 'काव्य में उदात्त-तत्त्व' (पेरि इप्सुस) है। परन्तु लॉगिनुस के व्यक्तित्व और समय के विषय में विद्वानों में बहुत मतभेद है। संक्षेप में इस सम्बन्ध में पाश्चात्य आलोचकों के दो मत हैं : (१) पेरि इप्सुस के लेखक रानी जेनोबिया के वीर और कुशल मंत्री लॉगिनुस थे और उसकी रचना ईसा की तीसरी शताब्दी में हुई थी; (२) इसके लेखक का नाम अज्ञात है और इसकी रचना ईसा की पहली शताब्दी में हुई थी। दोनों ही पक्षों के तर्कों में कुछ-न-कुछ बल है परन्तु तर्कों के सम्पक् विश्लेषण के उपरान्त परम्परा को स्वीकार करना ही समीचीन जान पड़ता है।

इस निबन्ध के प्रतिपाद्य को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है : (१) विशेष सिद्धान्त अर्थात् 'उदात्त' शैली का विवेचन; (२) सामान्य सिद्धान्त अर्थात् कला के आधारभूत सिद्धान्तों का विवेचन, जैसे कला और प्रकृति, शैल्पिक परिशुद्धि तथा प्रतिभा, कला और नैतिकता इत्यादि। इसमें प्रथम भाग ही मुख्य है। दूसरे भाग का निबन्ध की योजना में अधिक महत्व नहीं है परन्तु इसके अन्तर्गत लेखक ने कला के आधारभूत सिद्धान्तों पर अत्यन्त गम्भीर और मौलिक विचार व्यक्त किये हैं जिनका महत्व सार्वभौम एवं चिरन्तन है।

लॉगिनुस के आलोचकों में उनके मूल दृष्टिकोण को लेकर तीव्र मतभेद है : स्कॉट जेम्स ने जहाँ उन्हें पहला रोमानी या स्वच्छन्दतावादी आलोचक कहा है, वहाँ एटकिन्स उन्हें अंतिम आभिजात्यवादी आलोचकों की परम्परा में स्थान देते हैं।

प्रस्तुत निबन्ध के अध्ययन से यह निर्विवाद है कि लॉगिनुस के विवेचन में वस्तु-तत्त्व की अपेक्षा आत्म-तत्त्व की प्रधानता है। यद्यपि उन्होंने बड़े परिश्रम के साथ उदात्त की कला का विश्लेषण किया है और इसकी साधना का उचित विधान किया है, फिर भी उनके सम्पूर्ण सिद्धान्त-प्रतिपादन में आत्म-

तत्त्व का स्थान ही प्रमुख रहा है : प्रतिभा का प्राथमिक महत्व, काव्य की सर्जना में अन्तःप्रेरणा का प्राधान्य, काव्य का आध्यात्मिक आधार, काव्य-प्रयोजन के रूप में आत्मा के उत्कर्ष पर बल, शैली के विभिन्न तत्त्वों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण आदि तथ्य इस मत की पुष्टि के लिए पर्याप्त प्रमाण हैं। प्राचीन अभिजात काव्य के प्रति उनके मन में अगाध श्रद्धा थी। उदीयमान कवि के लिए उन्होंने अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में उनके काव्यादर्श को ग्रहण करने की व्यवस्था दी है। उनका बल प्रेरणा-ग्रहण पर ही अधिक रहा है : जिस आवेश के साथ उन्होंने अमर कवियों की आत्मा के साथ जीवन्त सम्पर्क स्थापित करने का आग्रह किया है, वह परम्परावाद के अन्तर्गत नहीं आ सकता। यह तो प्राचीन के प्रति रोमानी दृष्टिकोण का ही द्योतक है जिसे प्रत्येक युग के स्वच्छंदतावादी कवि बड़े उच्छ्वास के साथ व्यक्त करते रहे हैं। अतः यह स्वीकार करते हुए भी कि प्रस्तुत निबंध का मुख्य प्रतिपाद्य उदात्त शैली का विवेचन है, लॉगिनस के मूलभूत दृष्टिकोण के विषय में तो स्कॉट जेम्स का ही मत मान्य रहेगा। प्लेटो के आत्मवाद से प्रेरित लॉगिनस रोमानी आलोचना-परम्परा के पहले आचार्य हैं, इसमें सन्देह के लिए विशेष अवकाश नहीं है।]

×

×

×

काव्य में उदात्त तत्त्व : क्या उसका अर्जन सम्भव है ?

उदात्त तत्त्व का स्वरूप

प्रिय मित्र ! तुम्हें लिख रहा हूँ और तुम साहित्य-मर्मज्ञ हो, सु-अधीत हो, अतः मैं समझता हूँ कि इस विषय में कोई लम्बी-चौड़ी भूमिका बाँधने की आवश्यकता नहीं कि औदात्त्य अभिव्यंजना के वैशिष्ट्य और उत्कर्ष का नाम है और यही एकमात्र ऐसा आधार है, जिसके अवलम्ब से महान्तम कवियों एवं लेखकों ने गौरव-लाभ किया है और यशःकाय से अमर हो गये हैं। उदात्त भाषा का प्रभाव श्रोता के मन पर प्रत्यय के रूप में नहीं पड़ता वरन् भावों के रूप में पड़ता है। गरिमामयी वाणी सर्वदा और सब प्रकार से हमें मानो मन्त्रमुग्ध करके उस तत्त्व पर विजयिनी होती है, जिसका लक्ष्य होता है अनुनय एवं परि-तोष। अपने प्रत्यय का हम प्रायः नियन्त्रण कर सकते हैं, परन्तु औदात्त्य के सूत्रों का प्रभाव अमित और दुर्निवार होता है और वे प्रत्येक श्रोता के मन पर एकछत्र साम्राज्य जमा लेते हैं। इसी प्रकार, नवोद्भावना और सामग्री के समुचित क्रम एवं सु-विन्यास में भी कौशल अपेक्षित होता है : वह एक या दो तत्त्वों की सिद्धि नहीं वरन् रचना के समूचे ताने-बाने पर आघृत दुःसाध्य उप-

लब्धि है, जबकि औदात्त्य उपयुक्त क्षण पर उन्मेष पाकर वज्र की भाँति अपने सम्मुख समस्त तत्त्वों को खण्ड-खण्ड कर देता है—और सर्वांगीण पूर्णता के साथ वक्ता की शक्ति को प्रकट कर देता है। परन्तु, इतना ही पर्याप्त है, क्योंकि प्रिय तेरेन्तिअनुस !^{३४} मैं भली भाँति जानता हूँ कि ये और इस प्रकार के अन्य विचार तो तुम अपने स्वयं के अनुभव से भी प्रस्तुत कर सकते हो।

सर्वप्रथम तो हम यह प्रश्न उठाये कि औदात्त्य की कोई कला है भी या नहीं ! कुछ विद्वान् तो कहते हैं कि इस प्रकार के विषयों को कला-नियमों के अन्तर्गत लाने वाले सर्वथा भूल करते हैं। एक मनीषी की उक्ति है : उदात्त प्रवृत्ति निसर्गजात होती है, शिक्षा से उसका अर्जन नहीं होता—प्रकृति ही एकमात्र कला है जो उसे परिधि में बाँध सकती है। उनका विचार है कि कला-नियमों के आकुंचन में प्राकृतिक कृतियाँ निकृष्टतर और प्रायः प्राणहीन हो जाती हैं। परन्तु मैं सोचता हूँ कि यदि इस बात पर विचार किया जाये कि प्रकृति की प्रक्रिया नियमतः आवेग और औदार्य के विषय में मुक्त और स्वायत्त होते हुए भी सर्वथा अनियत एवं व्यवस्थाहीन नहीं है तो वस्तु-स्थिति कुछ और ही जान पड़ेगी।

इसके अतिरिक्त प्रकृति तो सर्वत्र मौलिक और प्राणप्रद आधार-तत्त्व होती है, परन्तु व्यवस्था द्वारा सीमाएँ और उपयुक्त अवसर निर्धारित किये जा सकते हैं और वह उपयोग एवं व्यवहार के लिए सर्वाधिक निरापद नियम दे सकती है। और, आपदा के लिए तब अधिक अवकाश रहता है जब उदात्त की अभिव्यंजना ज्ञान के निर्देश के बिना स्वयं अपने मनमाने मार्ग पर अग्रसर होती है—जब उसे अस्थिर एवं चंचल रहने दिया जाता है, जब उसे निरे वेग और अज्ञानमूलक औद्धत्य के सहारे छोड़ दिया जाता है। यह ठीक है कि उसे प्रायः प्रोत्साहन की आवश्यकता होती है, परन्तु यह भी सत्य है कि बहुधा अवरोध भी उसके लिए आवश्यक हो जाता है। सामान्यतः मानव-जीवन के सम्बन्ध में देमोस्थेनेस^{३५} का विचार है कि सौभाग्य सबसे बड़ा वरदान है जबकि सन्मति भी, जिसका दूसरा स्थान है, महत्व में किसी प्रकार कम नहीं, क्योंकि उसके अभाव में अनिवार्यतः सौभाग्य का नाश निहित रहता है। यही सिद्धान्त काव्य-भाषा के क्षेत्र में लागू होता है : प्रकृति को सौभाग्य के स्थान पर समझिए और कला को सन्मति के। सबसे महत्वपूर्ण बात, जो हमें स्मरण रखनी चाहिए, यह है कि यह तथ्य कला के अतिरिक्त किसी अन्य सूत्र से जाना ही नहीं जा सकता कि अभिव्यक्ति के कुछ तत्त्व ऐसे भी हैं जो एकान्ततः प्रकृति के अधीन हैं।

उदात्त का स्वरूप और आधार-तत्त्व

सर्वश्रेष्ठ साधन तो यह है, मित्र ! कि हमें सर्वप्रथम 'उदात्त' के सच्चे स्वरूप का निभ्रान्त ज्ञान और स्पष्ट परिबोध हो जाये। परन्तु यह बड़ा दुष्कर कार्य है—शैली की समझ सुदीर्घ अनुभव का अन्तिम और चरम फल है। तथापि, यदि मुझे शिक्षा की भाषा में ही बोलना है तो मैं कहूँगा कि—इस प्रकार के कुछ संकेतों पर ध्यान रखने से, जिनका मैं अब उल्लेख करूँगा, विवेक-बुद्धि प्राप्त करना कदाचित् असम्भव नहीं है।

मेरे मित्र ! तुम्हें यह जानना चाहिए कि मनुष्य के सामान्य जीवन में जो कुछ सत्य है वही 'उदात्त' के विषय में भी सत्य है। जिससे घृणा करना बड़ी बात समझी जाये, वह वस्तु जीवन में कभी महान् नहीं हो सकती। उदाहरण के लिए, रंगमंच का सम्मान, प्रतिष्ठा, प्रभुता और धन-सम्पदा बुद्धिमान व्यक्ति को परम सुख प्रतीत नहीं होगा, क्योंकि उनकी अवमानना भी किसी प्रकार कम उत्कर्ष की बात नहीं समझी जाती और जो इतने महात्मा होते हैं कि इन सबको पाकर भी इनके प्रति वितृष्णा का भाव रखें वे निश्चय ही उनसे अधिक प्रशंसित होते हैं जो केवल उन्हें सँजोकर रखना ही जानते हों। इसी प्रकार काव्य और गद्य-कृतियों के औदात्त्य के विषय में हमें यह विचारना चाहिए कि कहीं हमारे कल्पित उदाहरणों में उत्कर्ष की मात्र प्रतीति ही तो नहीं और साथ में अनेक वृथा बाह्योपकरण हों, जो कि विश्लेषण करने पर सर्वथा निःसार सिद्ध हों—ऐसे तत्त्व जिनकी साधु-प्रकृति व्यक्ति द्वारा ग्रहण ही की जाये, प्रशंसा नहीं; क्योंकि सच्चे औदात्त्य के स्पर्श मात्र से हमारी आत्मा सहज ही उत्कर्ष को प्राप्त हो जाती है, वह सगौरव सामान्य धरातल से ऊपर उठकर आनन्द और उल्लास से भर जाती है, मानो जो कुछ श्रवण किया है वह स्वयं उसी की अपनी कृति है।

अतः जब कोई साहित्य-मर्मज्ञ बुद्धिमान व्यक्ति किसी कृति का बार-बार श्रवण करता है और उसके फलस्वरूप उसकी आत्मा उन्नत विचारों की ओर प्रवृत्त नहीं होती और उसमें प्रतीयमान अर्थ से अधिक विचारोत्तेजक सामग्री नहीं होती वरन् सावधानतापूर्वक परीक्षण करने से तिरस्कारास्पद सिद्ध होती है, तो उसमें सच्ची उदात्तता नहीं हो सकती क्योंकि वह तो प्रथम श्रवण में ही खो जाती है। जो पुनः-पुनः परीक्षण पर भी खरी उतरे महान् रचना वही होती है—उससे अभिभूत न होना कठिन ही नहीं सर्वथा असम्भव होता है, उसकी स्मृति गहरी होती है जो मिटाये नहीं भिटती। सामान्यतः उदात्तता के उन्हीं उदाहरणों को सच्चा और सुन्दर समझना चाहिए जो सभी

को सर्वदा आनन्दित करें क्योंकि जब विविध वृत्तियों, आकांक्षाओं, आयु और रहन-सहन वाले तथा विविध भाषा-भाषी व्यक्तियों के एक ही विषय पर एक से विचार होते हैं तब मानो विसंवादी तत्त्वों के संयोग और समन्वय से उद्भूत निर्णय के फलस्वरूप प्रशंस्य वस्तु में हमारी आस्था और भी गहरी एवं अमिट हो जाती है।

हम कह सकते हैं कि उदात्त भाषा के पाँच मुख्य स्रोत होते हैं। इन पाँचों भेदों के तल में वक्तृत्व-शक्ति की प्रतिष्ठा होती है, मानो वही सबकी नींव है। वह अनिवार्य है। सर्वप्रथम और सर्वाधिक महत्वपूर्ण है महान् विचारोद्भावना की क्षमता। दूसरा तत्त्व है प्रेरणा-प्रसूत एवं उद्दाम आवेग। उदात्त के ये दो तत्त्व अधिकांश में नैसर्गिक होते हैं। शेष तत्त्व अंशतः कला की निष्पत्ति हैं। तीसरा अवयव है समुचित अलंकार-योजना, जिसके अन्तर्गत भाव और अभिव्यंजना दोनों से सम्बन्धित अलंकार आ जाते हैं। इसके पश्चात् साधु भाषा आती है, जिसके अन्तर्गत शब्द-चयन, रूपकादि के प्रयोग और भाषा-विस्तार का समावेश है। उदात्त का पाँचवाँ कारण है गरिमामय रचना-विधान। अब हम यह विचार करें कि इनमें से प्रत्येक में क्या निहित है, परन्तु पहले भूमिका के रूप में एक बात कह दें—और वह यह कि कएकिलिउस^{३६} ने इन पाँच अवयवों में से कुछ का उत्सर्ग कर दिया है : उदाहरणार्थ, आवेग का। यदि उसने ऐसा इस आधार पर किया है कि ये दोनों—औदात्त्य एवं आवेग—अभिन्न हैं और यदि उसे ऐसा प्रतीत होता है कि वे निसर्गतः एक और अविभाज्य हैं, तो निश्चय ही यह उसकी भूल है क्योंकि कुछ आवेग ऐसे हैं जो निम्न कोटि के और उदात्तता से बहुत दूर होते हैं—जैसे दया, शोक एवं भय; दूसरी ओर उदात्त के कई ऐसे उदाहरण हैं जो आवेग से निरपेक्ष होते हैं—जैसे—असंख्य उदाहरणों में से एक का उल्लेख किया जाये—अलोअदए^{३७} के विषय में होमर के साहसपूर्ण शब्द—

और हाँ, उन्होंने रोषाविष्ट होकर ओल्युम्पस^{३८} के—

उच्च शिखर पर ओस्सा^{३९} को स्थापित कर दिया,

और फिर उसके ऊपर वनाच्छादित पेलिओन^{४०} को—

जहाँ से वे आकाश पर चढ़ सकें।

वक्ताओं में भी, प्रशस्तियों और औपचारिक एवं समारोह-अभिभाषणों में सर्वत्र गरिमा और उदात्तता के उदाहरण होते हैं, परन्तु प्रायः वे आवेग-शून्य होते हैं। यही कारण है कि आवेग-प्रवण वक्ता प्रायः निकृष्ट कोटि के प्रशस्ति-कार होते हैं और उधर जो स्तवन में निपुण होते हैं उनमें आवेग का अभाव

होता है। दूसरी ओर यदि कएकलिउस का विचार यह है कि उदात्त में आवेग का कोई योगदान नहीं होता, और यदि इसी कारण उसने इसे उल्लेख्य नहीं समझा तो वह सर्वथा भ्रम में है। मैं विश्वासपूर्वक हृदय से कह सकता हूँ कि जो सच्चा आवेग अदम्य उत्साह के भ्रंश का रूप लेकर आविर्भूत होता है और मानो वक्ता के शब्दों को उन्माद से अनुप्राणित कर देता है, उसके यथास्थान व्यक्त होने से स्वर में जैसी उदात्तता भर जाती है, वैसी अन्यत्र दुर्लभ है।

अस्तु, पूर्वोक्त अवस्थाओं में प्रथम—अर्थात् मन की ऊर्जा—सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। यद्यपि यह भी अर्जित तत्त्व की अपेक्षा नैसर्गिक गुण ही है तथापि (यथासम्भव) हमें अपनी आत्मा को उदात्त विचारों से परिपोषित करना चाहिए और उसे साधु प्रेरणा से परिपूर्ण रखना चाहिए। तुम प्रश्न कर सकते हो कि यह कैसे हो? अन्यत्र मैं यह लिख चुका हूँ : उदात्तता महान् आत्मा का ही प्रतिबिम्ब है। अतः कभी-कभी कोई विचार मात्र स्वतः ही—बिना उच्चरित शब्द की सहायता के—प्रशंसा-भाव जगा देता है, क्योंकि जिस आत्मा में उसकी उद्भावना हुई वह महान् है। पाताल में अजक्स^{४१} का मौन किसी भी मुखरित शब्द की अपेक्षा अधिक महान् और उदात्त है। तो, सर्वप्रथम इस ऊर्जा के मूलाधार का निर्देश करना नितांत आवश्यक है—अर्थात् सच्ची वाग्मिता निकृष्ट एवं कुत्सित भावों से मुक्त होनी चाहिए। यह सम्भव नहीं कि जिनके जीवन में सर्वदा निम्न एवं हीन विचारों की व्याप्ति रही हो, वे कोई ऐसी सर्जना करें जो प्रशंस्य और अमरता पाने योग्य हो। महान् शब्द उन्हीं के मुख से निःसृत होते हैं जिनके विचारों में धीरता-गम्भीरता हो। यही कारण है कि गर्वोन्नत आत्मा से सहज ही भव्य वाणी स्फुरित होती है।

अब हम यह विचार करें कि क्या और भी कोई ऐसी वस्तु है जो शैली की उदात्तता में योग देती हो? प्रत्येक वस्तु में निसर्गतः कुछ ऐसे घटक होते हैं जो तत्त्वतः उससे अभिन्न होते हैं, अतः उदात्तता का एक सूत्र तो हमें अवश्य ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्वों का व्यवस्थित रीति से चयन करने और उनको परस्पर संगठित कर समग्र रूप देने की क्षमता में मिलेगा। प्रथम प्रक्रिया श्रोता को विचार-चयन के कारण आकर्षित करती है, दूसरी चयन किये हुए तत्त्वों के विन्यास के कारण। उदाहरणार्थ, सैफो^{४२} वास्तविक जीवन के अनुभूति-चक्र में से उन्हीं भावों का चयन करती है जो उन्मत्त आवेग के सहवर्ती होते हैं। वह किस प्रकार अपने सर्वोपरि उत्कर्ष का निदर्शन करती है?—आवेग की सबसे अद्भुत और प्रबल स्थितियों के चयन एवं सूत्रबन्धन के कौशल द्वारा :

वह देवोपम
 वह भाग्यवान्
 वह मानव जो,
 अपने सम्मुख बैठे-बैठे—
 तुम पर ही केन्द्रित रखे है निज ध्यान
 वह ठीक तुम्हारे पश्चिमस्थ जो
 मौन भाव से
 मुग्ध, तुम्हारी रजत-गिरा के वैभव का—
 करता अपलक रस-पान ।

×

×

×

प्रेम का यह मृदु मंद मुहास !
 आह ! मेरे मानस को निरनुकूल
 कम्पित कर देता अनायास ।
 औ' तुम्हें एक क्षण भर को पाऊँ देख जभी—
 विजड़ित हो जाता वाणी का वैभव-विलास ।

×

×

×

मेरी रसना निःशक्त हुई,
 मेरी मांसलता के भीतर
 रग-रग में, पद से मूर्धा तक—
 बस एक अलक्षित आग सदा
 सिहरन का करती रहती है अविकल प्रसार ।
 मेरे नयनों के आगे गहरा अन्धकार
 मेरे श्रवणों पर रोरमयी
 लहरों के—अतुलित कोलाहल का विषम भार !

×

×

×

नद स्वेद-विन्दु बनकर बहते
 अस्थिर-विचलित हैं अंग-अंग
 विकराल काल की घोर यातना से प्रतिहत
 मैं शिशिर-पत्र के पीलेपन का हूँ प्रमाण,
 मैं मोह-मूर्च्छा में विजड़ित—
 हूँ काल रात्रि के क्रूर अंक में विलयमान !

×

×

×

तुम्हें विस्मय नहीं होता यहाँ वह किस प्रकार प्राण, काया, जीभ, नेत्र, रंग आदि सबका उल्लेख करती है !—मानो सब पराये हों और बिखरे हों । विरोधों का समन्वय करते हुए वह एक साथ ही अपनी चेतना में सप्राण-निष्प्राण भी है और हतबुद्धि भी—क्योंकि वह या तो भयातुर है अथवा म्रिय-माण । वह प्रभाव यह उत्पन्न करना चाहती है कि उसमें केवल एक आवेग दृष्टिगत न हो वरन् आवेगों का संघात देखा जाये । प्रेमियों में यह सब-कुछ प्रायः होता है परन्तु, जैसा मैंने पहले कहा, उनमें से सर्वाधिक आकर्षक तत्त्वों के चयन और एक इकाई में उनके संगुम्फन के कारण ही इन पंक्तियों में ऐसा अद्भुत उत्कर्ष और सौन्दर्य आ गया है ।

उदात्त शैली का तत्त्व

विस्तारणा

जिन काव्योत्कर्षों का मैंने (अन्यत्र) उल्लेख किया है उन्हीं से सम्बन्धित एक और उत्कर्ष है—विस्तारणा । जब वर्णन में अथवा व्यवहारानुबद्ध युक्ति-शृंखला में—एक भाग से दूसरे भाग तक—कई अथ-विन्दु हों और कई विराम-स्थल, और अखण्ड क्रम में तथा उत्कर्ष से अन्वित एक के पश्चात् एक उदात्त अभिव्यंजनाएँ आती जायें वहाँ यह अलंकार होता है ।

और यह या तो साधारण तथ्यों के आलंकारिक प्रतिपादन द्वारा सम्पन्न हो सकता है अथवा (घटनाओं या तथ्यों के उपस्थापन या आवेग की) क्रमबद्ध प्रस्तुति द्वारा । वस्तुतः विस्तारणा के अगणित प्रकार हैं । परन्तु वक्ता को प्रत्येक अवस्था में यह स्मरण रखना चाहिए कि उदात्त तत्त्व के बिना इनमें कोई भी पद्धति अपने-आप में सर्वांग पूर्ण नहीं—जहाँ दया-भाव जागृत करना हो अथवा विपक्षी को पराभूत करना हो वहाँ बात और है । विस्तारणा के अन्य प्रकारों में, यदि उदात्त तत्त्व निकाल दें तो, ऐसा प्रतीत होगा मानो काया से प्राण हर लिये गए हों । उदात्त के सुदृढ़ आधार पर प्रतिष्ठित न हो तो विस्तारणा सहसा मानो अपनी समस्त गरिमा और प्राण-तत्त्व खो बैठती है ।

परन्तु स्पष्टीकरण के लिए इसका संक्षेपतः दिग्दर्शन कराना आवश्यक है कि हमारी वर्तमान स्थापना में और एक क्षण पूर्व हमने जो स्थापना की है—अर्थात् अनन्यसामान्य अवधारणाओं का चयन और उनका संगुम्फन—उसमें क्या अन्तर है और सामान्यतः उदात्तता और विस्तारणा में क्या भेद है ?

अस्तु, भाषण-शास्त्र के लेखकों ने जो परिभाषा दी है उससे मुझे

सन्तोष नहीं होता । उनका कथन है कि विस्तारणा वह उक्ति-वैदग्ध्य है जो विषय को भव्यता से मंडित करे । परन्तु यह परिभाषा औदात्त्य, आवेग और अलंकारिक भाषा पर भी समान रूप से लागू होती है क्योंकि उनसे भी उक्ति में कुछ-न-कुछ भव्यता आती ही है । मेरे जाने उनमें अन्तर यह है कि उदात्त का तो सार तत्त्व है ऊर्जा, जबकि विस्तारणा में विवरण की विविधता होती है । फलतः 'उदात्त' का अन्तर्भाव प्रायः किसी एक ही विचार में रहता है जबकि विस्तारणा का सम्बन्ध सर्वदा परिमाण और प्राचुर्य से जोड़ा जाता है । (इसी बात को संक्षेप में प्रस्तुत करें तो) किसी विषय के समस्त घटक अंगों और अंगभूत प्रसंगों की समष्टि ही विस्तारणा है जिससे विषय के विस्तार द्वारा युक्ति में बल आता है ।

अलंकार का उचित प्रयोग

उचित क्रम से देखें तो अब अलंकार का स्थान आता है क्योंकि, जैसा मैं कह चुका हूँ, यदि उनका उचित प्रयोग किया जाये तो, उदात्त की प्रतिष्ठा में उनकी सहायता नगण्य नहीं होती । परन्तु चूँकि इस समय उन सबका सर्वांगीण विवेचन करना बहुत बड़ा—बल्कि अनन्त—कार्य हो जायेगा, अतः अब हम अपनी मान्यता को सिद्ध करने के लिए केवल अलंकार के उस स्वरूप पर ही दृष्टिपात करेंगे जिसके द्वारा भाषा ओजस्विनी बनती है ।

मित्र ! इस समय एक बात अपनी भी मुझे कह ही डालनी चाहिए । उसे बहुत संक्षेप में ही कहूँगा । बात यह है कि—मानो किसी प्राकृतिक नियम से—अलंकार 'उदात्त' को पुष्ट करते हैं और स्वयं भी उससे आश्चर्यजनक मात्रा में पोषण प्राप्त करते हैं । कहाँ और कैसे ?—यह मैं बताता हूँ । अलंकार का विदग्ध प्रयोग विशेष रूप से सन्देह जागृत करता है और एक प्रकार के गोपन, षड्यन्त्र, हेत्वाभास का प्रभाव उत्पन्न करता है । परम सत्ताधारी निर्णायक के प्रति—विशेषतः स्वेच्छाचारी शासकों, नरेशों और उच्चतर स्थिति वाले नेताओं के प्रति—जब कोई उक्ति निवेदित हो तो यही होता है । यदि ऐसा व्यक्ति किसी मूढ़ बालक की भाँति—वाक्-शिल्पी के तुच्छ अलंकारों द्वारा छला जाये तो तुरन्त ही उसे रोष का अनुभव होने लगता है । हेत्वाभास को अपनी निज की अवमानना मान कर कभी तो वह क्रोध से एकदम उन्मत्त हो उठता है और यदि अपने क्रोध को वश में कर भी ले तो अनुनय-विनय के शब्दों के प्रति क्रूर उपेक्षा-भाव धारण कर लेता है । अतः अलंकार अपने उत्कृष्ट रूप में तभी उपस्थित होता है जब इस तथ्य की ओर ध्यान ही न जाये कि वह अलंकार है ।

निष्कर्ष यह कि अलंकार-प्रयोग के साथ जो अविश्वास संश्लिष्ट रहता है उदात्तता एवं आवेग उसके प्रतिकार-स्वरूप हैं और उसके विरुद्ध ये बहुत आश्चर्यजनक सहायक भी हैं। जो कला कौशलपूर्वक इनका प्रयोग करती है वह प्रच्छन्न रहती है और एक बार जब सौन्दर्य और औदात्त्य के साथ उसका संसर्ग हो जाये तो वह समस्त भावी सन्देहों से मुक्त हो जाती है।

पद-योजना

मित्र ! औदात्त्य में योग देने वाला पाँचवाँ तत्त्व, जिसका हमने आरम्भ में ही उल्लेख किया था, अब तक अविवेचित ही रह गया है—वह तत्त्व है पद-योजना। हमारे विवेचन की परिधि में जो भी निष्कर्ष आ सकते हैं उनका हम अपने दो प्रबन्धों में पर्याप्त उल्लेख कर चुके हैं, अतः अपने प्रस्तुत विषय-प्रतिपादन के लिए हम इस सम्बन्ध में उतना ही और कहेंगे जितना नितान्त आवश्यक होगा, अर्थात् हम इस तथ्य का आख्यान करेंगे कि सामंजस्यपूर्ण शब्द-योजना मनुष्य के सुख-सन्तोष का ही सहज कारण नहीं वरन् उदात्त वचन और भावावेग का भी आश्चर्यजनक साधन है। क्या वंशी का मधुर निस्वन अपने श्रोताओं में कुछ भावों का अन्तर्निवेश नहीं करता ? इसके साथ ही वह उन्हें मानो मुक्तावस्था में पहुँचाकर उन्माद से भर देता है और श्रोता को एक लय-युक्त गति देकर उसे विवश कर देता है कि वह उसके अनुकूल लययुक्त गति से चलता हुआ स्वर-माधुरी के अनुरूप बना रहे—चाहे वह संगीत से नितान्त अनभिज्ञ हो। और विपंची के स्वर, यद्यपि अपने-आप में चाहे वे निरर्थक हों, तथापि प्रायः नाद के आरोहावरोह, पारस्परिक वैषम्य और संसृष्टि द्वारा संगीत में बँधकर श्रोताओं को मन्त्रमुग्ध कर लेते हैं। फिर भी ये मानव को प्रभावित करने के बाह्य उपकरण और कृत्रिम विधि मात्र हैं—(जैसा मैंने पहले कहा है) मानव-स्वभाव का सहज क्रियाकलाप नहीं। तब क्या हम यह नहीं कह सकते कि काव्य-रचना (उस भाषा की सामंजस्यपूर्ण परिणति होने के नाते जो प्रकृत्या मानव-मन में प्रतिष्ठित रहती है और जो केवल श्रवणेन्द्रिय को ही प्रभावित नहीं करती वरन् आत्मा का भी स्पर्श करती है) शब्दों, विचारों, कार्य-कलाप, सौन्दर्य, माधुर्य आदि के—जो हमारे जन्म के साथ जन्म लेते हैं और बड़े होने के साथ ही विकसित होते जाते हैं—विविध रूपों की उद्भावना करके तथा अपने स्वरों के आरोह-अवरोह एवं संसृष्टि द्वारा वक्ता के मानस को उद्बलित करने वाले भाव का प्रेषण श्रोता तक करने का प्रयत्न करती है, श्रोतागण को सदैव भावानुभूति का समभोक्ता बना लेती है तथा पदावली के

परस्पर सह-विन्यास द्वारा एक उदात्त एवं सामंजस्यपूर्ण विधान प्रस्तुत करती है। तब क्या हम यह नहीं कहेंगे कि सामंजस्य इन्हीं साधनों द्वारा हमें प्रलुब्ध करता है और प्रायः भव्यता, गरिमा एवं ऊर्जा की ओर हमें उन्मुख कर देता है और उसमें अन्तर्भूत प्रत्येक भाव हमारे मन को पूर्णतः अभिभूत कर लेता है? परन्तु जो सामान्यतः स्वीकृत हों उन विषयों पर तो विवाद करना ही मूर्खता है क्योंकि अनुभव पर्याप्त प्रमाण होता है।

मानव-शरीर की रचना की भाँति वाणी में भी 'उदात्त' का एक मुख्य कारण होता है उसके अवयवों का विन्यास—इन अवयवों का यदि परस्पर विच्छेद कर दिया जाये तो प्रत्येक में अपने-आप में कोई भी विशेषता नहीं होती, परन्तु परस्पर संयोजित होकर वे एक अविकल एवं पूर्ण शरीर का निर्माण करते हैं। इसी प्रकार गरिमा के तत्त्वों को भी परस्पर विच्छिन्न कर दिया जाये तो वे 'उदात्त' तत्त्व को खण्डित कर इधर-उधर बिखरा देते हैं, परन्तु संसर्ग द्वारा एक पूर्णता में संघटित होने पर और सामंजस्य की शृंखला में बँध जाने पर अपनी वर्तुलता में ही वे मंजुल हो उठते हैं और कभी-कभी तो 'उदात्त' मानो विविध तत्त्वों के संयोग से ही उद्भूत होता है।

उदात्त-विरोधी तत्त्व : वागाडम्बर, नीरसता, असामयिक और खोखला आवेग

वागाडम्बर का निवारण विशेष रूप से कठिन है। कारण यह है कि औदार्य-कामी लेखक अशक्तता एवं शुष्कता के लांछन से बचने के लिए इतने चिन्तित रहते हैं कि—मानो प्रकृति के किसी विचित्र नियम से—बिल्कुल दूसरे ही छोर पर पहुँच जाते हैं। वे तो इस सूत्र में विश्वास करते हैं कि किसी महान् प्रयत्न में असफलता भूल भले ही हो, परन्तु है एक भव्य भूल। किन्तु कृत्रिम एवं अवास्तविक शोभ अशुभ होता है—शरीर में हो या भाषा में, और उसका हमारे उद्देश्य के सर्वथा प्रतिकूल परिणाम हो सकता है : कहते हैं जलोदर के रोगी से अधिक शुष्क और कोई व्यक्ति नहीं होता। वागाडम्बर में तो 'उदात्त' की सीमा के अतिलंघन का प्रयत्न होता है परन्तु जिस दोष को बालिशता कहते हैं वह तो उदात्त का प्रत्यक्ष विरोधी है, वह एकदम निकृष्ट और हेय होता है और वस्तुतः शैली का सबसे जघन्य दोष है। यह बालिशता आखिर है क्या?—स्पष्ट ही यह दोष किसी पंडितमन्य के ऐसे भावों में निहित होता है जो पांडित्यपूर्ण क्षुद्रता में से जन्म लेकर नीरसता में अवसित हो जाते हैं। इन रचनाकारों के इस प्रकार की भूल करने का कारण यह है कि वे अपना लक्ष्य तो बताते हैं असाधारण, विशद

और—सबसे अधिक—‘आकर्षक’; परन्तु भटक कर अनजाने ही बाहरी तड़क-भड़क और कृत्रिमता में फँस जाते हैं। आवेग के विषय में एक तीसरा—और बहुत ही निकटतः सम्बद्ध—दोष वह है जिसे थियोदोरस^{४३} भावाडम्बर कहता था। इसका अर्थ है जहाँ आवेग की आवश्यकता न हो वहाँ असामयिक और खोखले आवेग का सन्निवेश किया जाये और जहाँ संयम की आवश्यकता हो वहाँ असंयम का भाव दिखाई दे। लोग प्रायः मानो मदमत्त होकर ऐसे भाव का प्रदर्शन करने लगते हैं जो विषय की प्रकृति से उद्भूत नहीं होते, सर्वथा वैयक्तिक और क्लान्तिजनक होते हैं। परिणामस्वरूप श्रोताओं पर प्रभाव नहीं पड़ता और उन्हें इनका व्यवहार अशोभन प्रतीत होता है। और इसमें आश्चर्य भी क्या है क्योंकि ऐसे वक्ता ही आपे से बाहर होते हैं, उनके श्रोता नहीं!

साहित्य में ये समस्त कुरूप और परोपजीवी तत्त्व एक ही कारण से उद्भूत होते हैं—विचाराभिव्यक्ति में नूतनता के पीछे भागने की प्रवृत्ति के कारण। यह प्रवृत्ति आज एक अन्धोन्माद की तरह छाई हुई है। प्रायः हमारे गुण जिस स्रोत से निःसृत होते हैं उसी से हमारे दोष भी उद्भूत होते हैं। अतः अभिव्यक्ति के अलंकार तथा उदात्त के स्पर्श और मनोहारी काव्य-प्रसाधन जहाँ एक ओर प्रभविष्णु रचना के लिए अनुकूल होते हैं, वहीं दूसरी ओर ये तत्त्व केवल सफलता की ही नहीं बरन् विफलता की भी नींव और आधारभूत कारण होते हैं। वैविध्य, अतिशयोक्ति और बहुवचन के प्रयोग के विषय में भी बहुत-कुछ यही सत्य है। ‘उदात्त’-सिद्धि के मार्ग में जो दोष अवरोध पैदा करते हैं उनके निवारण के साधन और उपाय ढूँढ़ना हमारे लिए आवश्यक है।

X

X

X

‘उदात्त’ के क्षेत्र में कोई भी तत्त्व इतना क्षतिकारी नहीं जितनी भाषा की खण्डित और क्षुब्ध गति। पाइरिक्स,^{४४} ट्रोकीस,^{४५} और डाइकोरीस^{४६} में यह विशेषता मिलती है : यहाँ भाषा प्रायः नृत्य-संगीत के धरातल तक उतर आती है। अत्यधिक लयपूर्ण रचनाएँ अपनी बाह्य चमक की एकतानता के कारण कृत्रिम, आडम्बरपूर्ण और सर्वथा आवेगहीन प्रतीत होती हैं।

और सबसे बुरी बात तो यह है कि जिस प्रकार क्षुद्र प्रगीत श्रोता का ध्यान वस्तु-तत्त्व से हटाकर अपनी ओर आकर्षित कर लेते हैं, उसी प्रकार अति लय-पूर्ण शैली शब्द की आत्मा के बजाय केवल लय का प्रेषण करती है। कभी-कभी तो श्रोता पहले से ही अन्त्य पद को जानकर वक्ता के साथ पदताल दे उठते हैं और नृत्य की भाँति पूर्वानुमान द्वारा सही ताल देते हैं। इसी प्रकार वे शब्द औदात्त्यविहीन होते हैं जिनमें अत्यन्त सान्द्रता हो, जो छोटे-छोटे अक्षरों में

खण्डित हों और जो घोर अकलात्मकता एवं विषमता के साथ मानो एक-दूसरे के साथ जड़ दिये गये हों ।

इसके अतिरिक्त, अभिव्यक्ति की अतिशय संहति से भी 'उदात्त' की हानि होती है क्योंकि किसी विचार को यदि अत्यन्त संकीर्ण वृत्त में बाँधा जाये तो उसकी भव्यता नष्ट हो जाती है । यह बात समास-शैली के विषय में नहीं कही जा रही वरन् जो उक्ति निकृष्ट हो और जहाँ विचार खण्डित हो गया हो उसके सम्बन्ध में कही जा रही है । शब्दों की अल्पता में तो अर्थ की हानि होती है परन्तु समास शैली में भाषा सीधी अपने लक्ष्य की ओर जाती है । इसके विपरीत, यह भी स्पष्ट है कि अतिविस्तार में भी भाव की तीव्रता खो जाती है, क्योंकि जहाँ भी अनुचित विस्तार होगा वहाँ यही परिणाम होता है । अभिव्यक्ति की तुच्छता से भी 'उदात्त' का अपकार होता है । (पेरि इप्सुस)

अनुवादक : श्री महेन्द्र चतुर्वेदी

होरेस

(६५ ई० पू०—८ ई० पू०)

[लातीनी रीतिकार होरेस के साहित्यिक व्यक्तित्व का आरम्भ व्यंग्य-लेखक तथा प्रगीतकार के रूप में हुआ था। सर्जनात्मक साहित्य के क्षेत्र में भी उनका महत्व प्रायः उतना ही है जितना आलोचना के क्षेत्र में। उनके व्यंग्य-लेख, प्रगीत तथा सम्बोध-गीत लातीनी साहित्य की अमर विभूतियाँ हैं। सात वर्षों की संक्षिप्त अवधि में ही (३० ई० पू०—२३ ई० पू०) वे लातीनी भाषा के श्रेष्ठ कवि और विद्वान के रूप में ख्याति प्राप्त कर चुके थे। होरेस का काव्यशास्त्र-ग्रन्थ है—काव्य-कला (आर्स पोयटिका)—जो काव्य-पत्र के रूप में लिखा गया है—यह कदाचित् उनका अन्तिम काव्य-पत्र था।

होरेस ने अपने व्यंग्य-निबन्धों तथा काव्य-पत्रों को काव्य के अन्तर्गत नहीं रखा। गद्य और पद्य के भेद के सम्बन्ध में उनकी दृढ़ और निश्चित मान्यताएँ थीं। उनके मत में कविता और गद्य की आत्मा में अन्तर था। पद्य का नाम कविता नहीं है, यह प्रतिपादित करते हुए उन्होंने लिखा है कि लय-परिवर्तन के द्वारा ही जो पद्यबद्ध रचना गद्य में परिवर्तित हो जाये उसे काव्य-कृति नहीं कहा जा सकता। उनके अनुसार कवि की परिभाषा इस प्रकार है, 'दिव्य अन्तर्दृष्टि और प्रतिभा से सम्पन्न, तथा वाणी के प्रयोग में विदग्ध व्यक्ति को ही कवि होने का सम्मान प्राप्त हो सकता है।'

उनके काव्यालोचन के तीन प्रमुख अंग हैं—(१) रचना-शिल्प, (२) शब्दों की आत्मा और (३) कविता के विभिन्न प्रकार। होरेस के विचार से काव्य-रचना सम्बन्धी नियमों का पूर्ण रूप से पालन करना कवि का प्रमुख कर्तव्य है। होरेस की स्थापनाएँ अपने युग में इतना महत्त्व और अर्थ रखती थीं कि परवर्ती साहित्यकार उनका अध्यानुसरण करने लगे—फलतः उनका दृष्टिकोण पूर्णतया रूढ़िवादी हो गया और साहित्य में मौलिकता, नवीनता तथा व्यक्ति-वैचित्र्य का प्रायः अभाव-सा होने लगा।

होरेस के समय में साहित्य-रचना को लोग अर्थ-उपलब्धि का साधन

मानने लगे थे । होरेस ने उनकी इस प्रवृत्ति की निन्दा करते हुए साहित्य के दो निश्चित उद्देश्यों की प्रतिष्ठा की : वे उद्देश्य थे 'नैतिक शिक्षा' तथा 'आनन्द' ।]

×

×

×

औचित्य

यदि कोई चित्रकार अपने चित्र में घोड़े की गरदन और आदमी का सिर बनाए और शेष अंगों पर अनेक प्रकार के रंग-बिरंगे पंख लगा दे, जिससे एक ऐसी स्त्री का चित्र बन जाए, जिसका ऊर्ध्व भाग सुन्दर हो और अधोभाग कुरूप मछली की भाँति विकृत, और यदि उसे देखने के लिए आपको आमन्त्रित किया जाए, तो मेरे मित्रो ! क्या आप अपनी हँसी रोक सकेंगे ? विश्वास करो, पिसौ^{४७}, कि यदि किसी ग्रन्थ में इस प्रकार का असम्भव बिम्ब-विधान है तो वह ठीक उसी चित्र के समान विचित्र प्रतीत होगा । वह एक रुग्ण व्यक्ति के दुःस्वप्नों के समान होगा । परिणामतः कोई भी बिम्ब अपने-आप में न तो सावयव होगा, न सार्थक; और उसका एकत्व नष्ट हो जाएगा ।

'परन्तु कवियों और चित्रकारों को अपनी सनक पूरी करने का सदैव समान रूप से अधिकार रहा है ।' ठीक है । इस छूट की हम अपने लिए भी अपेक्षा करते हैं और दूसरों को भी देते हैं । लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं है कि हम कठोर और कोमल को एकरूप कर दें; हम सर्प और पक्षी या मृग और सिंह को एकजुट नहीं कर सकते !

प्रायः गम्भीरतापूर्वक आरम्भ की गई कृतियों में, जिनसे हमें बड़ी आशा होती है, ध्यान खींचने और रंग को गहरा करने के लिए एक-दो सुन्दर स्थल हो सकते हैं । उदाहरणार्थ 'डायना के कुञ्ज और वेदी' के, या 'मनोरम खेतों से होकर बहते क्षिप्र जल' के, या 'राइन नदी' के, या इन्द्रधनुष के वर्णन हमें मिलते हैं । परन्तु ये सभी दृश्य सदैव प्रासंगिक नहीं होते । सम्भवतः तुम्हें सरो का चित्र बनाना आता है । परन्तु यदि किसी माँझी ने तुम्हें अपना रेखा-चित्र खींचने के लिए नियुक्त किया है और तुम उस माँझी को, समुद्र में नौका डूब जाने के बाद, तट पर पहुँचने के लिए जी-तोड़ प्रयत्न करते हुए चित्रित करते हो, तो तुम्हारी उस योग्यता का यहाँ क्या उपयोग हो सकता है ? मन्तव्य तो है मधु-पात्र बनाने का, परन्तु चाक चलने पर घड़ा क्यों बन जाता है ? संक्षेप में, तुम्हारा विषय कुछ भी हो, परन्तु ऐसा होना चाहिए जो सरल भी हो, और जिसमें अन्तर्विरोध भी न हो ।

हे पिता, और हे पिता के सुयोग्य पुत्रो ! हम अधिकांश कविगण प्रायः यह नहीं समझ पाते कि सही बात क्या है ? मैं संक्षेप में अपनी बात कहने का यत्न करता हूँ, परन्तु अस्पष्टता हाथ आती है। आप प्रसादत्व चाहते हैं, परन्तु उस यत्न में ओज और तेज खो देते हैं। कोई अन्य भव्यता के लिए यत्नशील होता है, परन्तु उसके प्रयत्नों की इति शब्दाडंबर में होती है। कोई और लेखक अत्यधिक सावधानी के कारण और (विरोधियों के) कोलाहल के भय से रेंगता हुआ चलता है। यदि किसी विषय में निसर्गतः एकविधता है और कोई कवि उसे विविधता प्रदान करके अस्वाभाविक प्रभाव उत्पन्न करता है, तो वह उस चित्रकार के समान होगा जो वन में मछली को चित्रित करता है और लहरों पर वन्य वराह को। यदि कलात्मक संवेदना का अभाव है, तो केवल त्रुटि से बचने के प्रयत्न में कोई और गम्भीरतर दोष रचना में आ पੈठता है।

एमीलियन प्रशिक्षण विद्यालय के निकट रहने वाला एक साधारण कांस्यकार भी धातु के नख बना देगा और लहरदार वालों को दिखा देगा, परन्तु सम्पूर्ण मूर्ति का निर्माण करने में असमर्थ होने के कारण वह असफल ही माना जाएगा। यदि मैं सचमुच कोई रचना करना चाहता हूँ तो मैं उस कांस्यकार की भाँति न होना चाहूँगा, वैसे ही जैसे कि अगर मेरी नाक टेढ़ी हो तो कजरारी आँखें और काले केश मेरे किस काम के ?

तुम (लेखकों) को चाहिए कि तुम ऐसे विषय का चयन करो जिसका निर्वाह कर सको। भली भाँति विचार करो कि तुम कितना भार उठा सकते हो और कितना नहीं। जो कोई भी अपने विषय का ठीक-ठीक चयन करने का पूरा प्रयत्न करता है उसे उपयुक्त शब्दावली अथवा सुस्पष्ट वाक्य-विन्यास के विषय में कोई कठिनाई नहीं होती। यदि मैं भूल नहीं करता हूँ तो वाक्य-विन्यास की शक्ति और सौन्दर्य इस बात में निहित है कि जो कुछ तत्काल कहना आवश्यक हो उसे तो तत्काल कहा जाए और जिन बातों को आगे के लिए छोड़ना उचित हो, उन्हें छोड़ दिया जाए।

शैली

कवि का शब्द-चयन सावधान और सुष्ठु होना चाहिए, और उसे किसी शब्द का परित्याग तो किसी का स्वागत करना चाहिए। यदि तुम किसी परिचित शब्द को किसी समुचित सन्दर्भ में रखकर अपने कौशल से उसमें नूतनता का आकर्षण उत्पन्न कर सको, तो तुम्हारी अभिव्यक्ति सराहनीय कही जायेगी।

यदि कभी किसी गूढ़ विषय के स्पष्टीकरण के लिए किसी नये शब्द की आवश्यकता प्रतीत हो तो ऐसे शब्द का निर्माण उचित ही कहा जाएगा, भले ही पुराने ढंग के लोगों ने उसे न सुना हो, और इस प्रकार की स्वतन्त्रता का यदि दुरुपयोग न किया गया हो तो वह स्वीकार्य मानी जाएगी। नव-निर्मित शब्दों को स्वीकृति मिल सकती है बशर्ते कि उनका स्रोत ग्रीक भाषा में हो, और उनकी संख्या अधिक न हो। जो अधिकार वर्जिल^{४८} और वैरियस^{४९} तक को नहीं मिला था, वही अधिकार एक रोमन से कैसीलियस^{५०} और प्लौटस^{५१} को क्यों मिले ? मुझे भी एक-दो पद-समष्टियों का निर्माण करने की स्वतन्त्रता क्यों न मिले, जबकि कैटो^{५२} और ईनिअस^{५३} ने अपनी रचनाओं द्वारा मातृभाषा को समृद्ध किया और वस्तुओं के नये नामों का प्रसार किया ? जिस शब्द पर युग की छाप हो, उसके प्रसार की अनुज्ञा सदैव रही है, और रहेगी।

जैसे प्रत्येक वर्ष के अन्त में वनों में जीर्ण पत्र झड़ जाते हैं, उसी प्रकार काल-क्रम में जो शब्द जितने पहले निर्मित हुए थे उतने ही पहले मर जाते हैं। पुरानी पीढ़ी समाप्त हो जाती है और तरुणों के समान नव-निर्मित शब्द फलते-फूलते और विकसित होते हैं। काल से न हम बचते हैं न हमारी कृतियाँ। यदि धरती काटकर समुद्र को भूमि की सीमा के अन्दर ले आने का शानदार काम किया गया है जिससे उत्तरी हवाओं से हमारे जलयानों की रक्षा हो, यदि दीर्घ काल से अनुर्वर और केवल नौका-नयन के योग्य दलदल को इस प्रकार सुधारा गया है कि उस पर हल चले और निकटस्थ नगरों को खाद्य-सामग्री प्राप्त हो, यदि फसल नष्ट करने वाली नदी की धारा को इस प्रकार मोड़ दिया गया है कि वह लाभदायक बन जाए, तो क्या हुआ ? अंततः मानव-निर्मित सभी कुछ नष्ट होना है : शब्दों की भव्यता और सुन्दरता तो और भी शीघ्र। यदि चलन की माँग हुई तो अनेक शब्द, जो व्यवहृत नहीं हो रहे थे, फिर से प्रयुक्त होंगे और अनेक, जो इस समय अत्यन्त मान्य हैं, धीरे-धीरे लुप्त हो जायेंगे। चलन के ही द्वारा भाषा का निर्णय, नियम-निर्धारण और स्थिरीकरण होता है।

नाटक

प्रतिभाशाली लेखकों की रचनाओं में विषय के भेद और शैली के सूक्ष्म अन्तर सुस्पष्ट रहते हैं। यदि अज्ञानवश मैं इनका निर्वाह न कर सकूँ तो मुझे 'कवि' क्यों कहा जाए ? झूठी लज्जावश मैं ज्ञान के स्थान पर अज्ञान क्यों

स्वीकार करता हूँ ? कामदी के विषय का प्रतिपादन त्रासदी-छन्दों में नहीं हो सकता । थ्युएसतेस^{५४} के भोज का वर्णन उन पंक्तियों में नहीं किया जा सकता जो नित्य-प्रति के जीवन-व्यापार और कामदी के विषयों के लिए ही उपयुक्त हैं । परन्तु कभी-कभी कामदी का स्वर भी उदात्त हो जाता है, और क्रुद्ध खेमेस^{५५} प्रलाप कर सकता है । कभी-कभी त्रासदी में भी तेलेफुस^{५६} या पेलेउस^{५७} के दुख की अभिव्यक्ति गद्य की भाषा में हो सकती है और वह अपनी निर्धनता तथा निष्कासन की दशा में दर्शकों के मर्म को अपनी दुःख-गाथा से छूने की उत्सुकता में अपने रंग के प्याले और लम्बे-लम्बे शब्द इधर-उधर फेंकता है ।

कविता के लिए केवल अच्छी होना ही यथेष्ट नहीं है, उसे आकर्षक भी होना चाहिए और यथेच्छया श्रोता के मन को खींच सकना चाहिए । जैसे मानव-मुख मुस्कान के बदले मुस्कान देता है, उसी प्रकार कविता आँसुओं का प्रद्युत्तर आँसुओं से देती है । यदि तुम मुझे रूलाना चाहते हो तो पहले स्वयं तुमको अपने अन्दर संताप का अनुभव करना होगा । तभी, और केवल तभी तुम्हारी यातनाओं का प्रभाव मुझ पर पड़ेगा । जो अभिनय करने के लिए तुमसे कहा गया है यदि वह मूल पात्र की आन्तरिकता के अनुकूल नहीं, तो मुझे या तो नींद आ जाएगी या हँसी ।

यदि मुखमंडल विषादपूर्ण हो, तो उस पर दुःखपूर्ण शब्द सजते हैं; क्रुद्ध हो तो आतंकपूर्ण; प्रसन्न हो तो हास्यपूर्ण शब्द सजते हैं; और कठोर हो तो पुरुष । हम परिस्थितियों के अनुसार अपने आपको ढाल सकें, इसके लिए प्रकृति पहले हमारे आन्तरिक विचारों का निर्माण करती है । कभी वह हमें प्रसन्नता की ओर ले जाती है तो कभी क्रोध की ओर, कभी वह हमारे हृदय को विषाद से बोझिल और शोक-सम्पृक्त कर देती है । और तब वाणी की सहायता से अपनी अभिव्यक्ति करती है ।

यदि किसी का कथन उसकी मनःस्थिति के अनुकूल नहीं है, तो सभी वर्गों के रोमी उसकी खिल्ली ही उड़ायेंगे । वक्ता देवता है या अर्द्ध-देवता, वयोवृद्ध है या तरुण, धनिक महिला है या चंचल परिचारिका, पर्यटक व्यवसायी है या कृषक, कौल्वियन है या असीरियन, आरगोस में उसका पालन-पोषण हुआ है अथवा थेबेस में : सबकी वार्ता का अलग-अलग ढँग होगा ।

या तो तुम परम्परा-पालन में दृढ़ रहो या इसका ध्यान रखो कि तुम्हारे आविष्कारों में संगति हो । यदि तुम नाटक लिख रहे हो और सुप्रसिद्ध

अखिल्लेस^{५८} को नए रूप में प्रस्तुत करना चाहते हो, तो तुम उसे अधीर, क्रोधशील, निर्दय और हिंस्र चित्रित करो। वह सभी विधि-विधानों का तिरस्कार करे क्योंकि नियम उसके लिए नहीं बनाये गए। उसको केवल तलवार पर भरोसा हो। इसी प्रकार, मेदेआ को उदार-हृदय और अजेय, ईनो^{५९} को अश्रुपूर्ण, इक्सोनो^{६०} को गद्गार, ईओ^{६१} को घुमक्कड़ और ओरेस्तेस^{६२} को असहाय चित्रित करो।

यदि तुम रंगमंच पर किसी ऐसे विषय को प्रस्तुत करना चाहते हो जो एकदम नया हो और इस प्रकार साहसपूर्वक नये चरित्र का निर्माण करता हो, तो उसे अन्त तक वैसा ही चित्रित करो जैसा वह आरम्भ में था, अर्थात् आरम्भ से अन्त तक उसमें एक संगति रहे। किसी पिष्टपेषित विषय को मौलिकतापूर्वक प्रस्तुत करना कठिन होता है और इसीलिए किसी अज्ञात एवं अछूते विषय के बजाय ईलियद का नाट्य-रूपान्तर कहीं अधिक बुद्धिमत्तापूर्ण कार्य है। मैं चाहूँगा कि किसी परिचित विषय को लेकर एक ऐसी सुन्दर कविता लिखी जाए कि कोई भी उसे देखकर उसके अनुकरण के लिए लालायित हो उठे, परन्तु सारे प्रयत्नों के बावजूद वह अनुकरण कर न पाए। व्यवस्था और विन्यास की शक्ति अपरिमित होती है, सामान्य का सौन्दर्य अद्भुत होता है। यदि आप सरल और सस्ते रास्तों पर न मुड़ जायें, यदि आप श्रम से घबरायें नहीं, यदि आप अनुवाद की सचाई के चक्कर में पड़कर किसी लेखक का शब्दशः अनुवाद न करने लगें, और यदि आप कोरे अनुकर्ता बनकर ऐसे सँकरे गढ़े में न कूद पड़ें जहाँ से या तो निराशावश अथवा परिस्थितियों के वश आप बचकर न निकल सकें, तो (ज्ञान की) सामान्य खान पर भी आपका सर्वाधिकार स्वत्व हो जाएगा।

आपका उपक्रम उस प्राचीन, आवर्तनकारी कवि* के समान नहीं होना चाहिए जिसने लिखा था, 'मैं प्रिअम के भाग्य और त्रौइआ (ट्राय) के प्रसिद्ध युद्ध के गीत गाऊँगा।' ऐसा लेखक इन शब्दों के अनुकूल क्या सृजन कर सकता है? उसका प्रयत्न तो ठीक यही कहावत चरितार्थ करेगा कि 'खोदा पहाड़ और निकली चुहिया।' उससे अच्छा तो वह लेखक है जो किसी प्रकार का अविवेकपूर्ण प्रयास नहीं करता, वरन् कहता है, 'हे देवि! मुझे उस वीर की गाथा गाकर सुनाओ जिसने त्रौइआ-विजय के बाद मानवता की रीति-नीति और

* वे कवि जो त्रौइआ-युद्ध का विषय लेकर काव्य-रचना में संलग्न रहे।

विषय का आवर्तन करते रहने के कारण उन्हें आवर्तनकारी कवि कहा जाता है।

नगरों का सर्वेक्षण किया ।' उसका उद्देश्य दीप्ति में से धुआँ ग्रहण करना नहीं है बल्कि धुएँ में से आलोक ग्रहण करना है, जिससे बाद में वह चित्र-विचित्र दृश्यों द्वारा तुमको चमत्कृत कर सके और अंतिमनेस^{६३} और क्युक्लोप्स^{६४}, स्क्युला^{६५} और खार्युवदिस^{६६} जैसे चरित्र दे सके ।

वह न तो मेलेअजर^{६७} की मृत्यु से दियोमेद^{६८} की वापसी का इतिवृत्त संबद्ध करता है, न जुड़वाँ अंडों से त्राईआ-युद्ध का सूत्रपात बताता है । वह कथा की चरम परिणति की ओर द्रुत गति से पहुँचता है, और श्रोताओं को कथा में से इस प्रकार ले जाता है मानो वह पूर्व-विदित हो । जो कुछ भी वह अपने स्पर्श से आलोकित नहीं कर पाता, उसे वह छोड़ता चलता है । वह कथाओं को ऐसा रूप देता है, मिथ्या और सत्य को ऐसे गुम्फित करता है, कि आदि, मध्य और अन्त में एक ही स्वर का स्पंदन हो ।

सुनो : मैं और यह विशाल विश्व तुमसे क्या आशा करते हैं ! यदि तुम चाहते हो कि तुम्हें सहृदय दर्शक मिलें जो यवनिका-पतन तक शान्त बैठे रहें और फिर हर्ष-ध्वनि करें, तो तुम्हें प्रत्येक युग की विशिष्टताओं पर ध्यान देना होगा और जो स्वभाव समय की गति के साथ बदलते जाते हैं उनको उपयुक्त सौन्दर्य से विभूषित करना होगा । जिस शिशु ने बोलना और अपने पैरों पर खड़ा होना अभी सीखा ही हो, वह अपने समवयस्कों के साथ खेलना चाहता है, वह क्षण में रूढ़ होता है तो क्षण में तुष्ट । उसकी चित्तवृत्ति पल-पल परिवर्तित होती रहती है । कुछ और बढ़कर वही बालक अपने शिक्षक के ओभल होते ही, घोड़ों और कुत्तों के साथ खेलता है और तृणाच्छादित धूपैले मैदानों में उसका मन रमता है । वह बुराई के प्रति मोम-सा मुलायम, सीख देने वालों के प्रति भुनभुनाता हुआ, अपने ही हितों की ओर बढ़ने में धीमा, अपव्ययी, उत्साही, भावप्रवण होता है और अपनी मनचाही चीजों को त्यागने तक के लिए तत्पर रहता है । यौवन प्राप्त होते ही उसकी रुचियों में परिवर्तन हो जाते हैं । धन और मित्रता उसके लक्ष्य हो जाते हैं, वह महत्वाकांक्षाओं का दास बनता है और ऐसे कामों से बचता है जिनके लिए उसे बाद में पछताना पड़े ।

वृद्धावस्था के अनेक कष्ट होते हैं । यह अंशतः इसलिए कि वृद्ध व्यक्ति का ध्यान तो होता है धन जोड़ने पर, परन्तु अपनी उपलब्धियों का आनन्द वह नहीं उठा पाता । अंशतः इसलिए भी यह कष्ट का काल होता है, कि किसी भी काम में उसे उत्साह नहीं रह जाता, कि उसके मन में अनिश्चय होता है और होती है निराशा, आलस्य, दीर्घ जीवन की लालसा, क्षोभ, कलहप्रियता और

‘जब मैं लड़का था’ यह कहकर अतीत के गीत गाने की बान ! वह उगती हुई पीढ़ी के मार्ग का बाधक और आलोचक होता है। समय के साथ-साथ जहाँ एक ओर हमें अनेक वरदान मिलते हैं, वहीं अनेक हमसे छिन भी जाते हैं। जीवन की प्रत्येक अवस्था का वर्णन हमें समझ-बूझ कर करना होगा। कहीं ऐसा न हो जाए कि एक वृद्ध की विशेषताएँ हम एक युवक में आरोपित कर दें और एक युवक की विशेषताएँ एक बच्चे में।

कोई कार्य-व्यापार या तो रंगमंच पर दिखाया जाता है या उसके विषय में सूचना दे दी जाती है। सुनने के बजाय दर्शक स्वयं अपनी आँखों से जो-कुछ देखता है वह उसके सम्मुख अधिक जीवन्त रूप में आता है। फिर भी ऐसी घटनाओं को तुम रंगमंच पर प्रस्तुत नहीं कर सकते, जिनका रंगमंच के बाहर ही घटित होना उचित है। ऐसी घटनाओं को अभिनेता रंगमंच पर यथासमय क्रमशः सुनाएगा। उदाहरणार्थ—मेदेआ का पुत्रवध या क्रूर अत्रेउस^{६६} का नर-मांस पकाना या प्रोकने^{७०} का पक्षी बन जाना अथवा कादमस^{७१} का सर्प बन जाना। इस प्रकार की कोई भी घटना जब मुझ पर थोपी जाएगी तब मेरे मन में जुगुप्सा और अविश्वास ही जागेगा।

किसी भी नाटक में, जिसकी माँग हो और जिसकी पुनरावृत्ति होनी हो, पाँच अंक होने चाहिए; न इससे अधिक, न कम। देवताओं का प्रवेश उसमें तब तक न होना चाहिए जब तक कोई ऐसी कठिनाई न उपस्थित हो जाए, जिसको दूर करने के लिए उन्हें नाटक में स्थान देना अनिवार्य हो जाए। चौथे अभिनेता को बोलना नहीं चाहिए। वृन्द-गायक को अभिनेता के रूप में अपनी भूमिका और अपने दायित्व का उत्साहपूर्वक निर्वाह करना चाहिए और अंकों के बीच में ऐसा कुछ भी न कहना चाहिए जो कार्य को आगे न बढ़ाये और कथानक में उसकी स्वाभाविक संगति न हो। वृन्द-गायक ‘शिव’-भावना का पृष्ठ-पोषक हो और सत्परामर्श दे, जो स्वभाव के उग्र हों उन्हें वह नियन्त्रित करे और जो बुराई करने से घबड़ाते हों उनकी रक्षा करे। उसे चाहिए कि वह स्वल्पाहार, न्याय के वरदान, विधि-विधान तथा उस शान्ति की प्रशस्ति करे जिसके द्वार सबके लिए हर समय उन्मुक्त हैं। वह विश्वासपात्र हो और प्रभु से प्रार्थना करे कि समृद्धि दुःखियों का वरण करे और अभिमानियों का त्याग।

प्रतिभा

चूँकि दिमोक्रतुस^{७२} का विश्वास है कि दीन कला से प्रतिभा कहीं अधिक सुखदाई है और चूँकि उसने हेलीकोन^{७३} का मार्ग सभी विवेकी कवियों

के लिए वन्द कर दिया है, इसीलिए कुछ सज्जनों को अपने नाखून काटने और दाढ़ी बनाने की बजाय स्नानादि से दूर रहकर एकान्तवास करना अधिक प्रिय होता है। प्रतिभा इन तुच्छ प्रसाधनों के प्रति उदासीन रहती है।

आलोचक

मैं सान के उस पत्थर के समान बनूँगा जो स्वयं चाहे कुछ भी न काट सके, परन्तु काटने वाले लोहे को तेज अवश्य कर सके। मैं चाहे स्वयं कुछ नहीं लिखता परन्तु मैं लेखक को उसके कर्तव्य और दायित्व सिखाऊँगा। मैं बताऊँगा कि उसे लेखन के लिए सामग्री कहाँ मिलेगी और वे क्या तत्त्व हैं जो किसी को कवि बनाते हैं? क्या उसके लिए शोभन है, और क्या नहीं; कौन-सी दिशा ज्ञान की है और कौन-सी अज्ञान की!

विवेक

समस्त उत्तम साहित्य का रहस्य है—सद्विवेक। सुकरात के अनुयायियों की कृतियों से तुम्हें तथ्य मिल जायेंगे। उन्हें निभ्रान्त दृष्टि से ग्रहण करो, और शब्द तुम्हें स्वतः मिल जायेंगे। यदि कोई एक बार जान लेता है कि मित्रों और मातृ-भूमि के प्रति उसका क्या कर्तव्य है; माता-पिता, भाई और अतिथि से किस प्रकार उसे स्नेह-सम्बन्ध रखना चाहिए; सांसारिक या न्यायाधीश के दायित्व क्या हैं; और युद्ध में भेजे गये सेनाध्यक्ष के कर्तव्य क्या हैं—तो वह प्रत्येक पात्र के लिए उसकी समुचित भूमिका निर्दोष रूप से निर्दिष्ट कर सकता है। कुशल अनुकर्ता से मैं कहूँगा कि अपने सच्चे आदर्श के लिए तुम जीवन और नीति पर ध्यान दो, और उनसे वास्तविक जीवन की भाषा ग्रहण करो। कभी-कभी अर्थहीन पंक्तियों और लयबद्ध तुच्छ रचनाओं की अपेक्षा एक ऐसा नाटक दर्शकों को कहीं अधिक आकर्षित करता है जिसमें साधारण तत्त्वों का कुशल आयोजन हो और सावधान चरित्र-निरूपण, भले ही उसमें कला-कौशल, सुन्दरता और ओज न हो।

यूनानी—केवल यशःप्रार्थी यूनानी—ही ऐसे थे, जिन्हें सरस्वती से प्रखर बुद्धि और उपयुक्त वाक्शक्ति का वरदान मिला था। लेकिन रोमी युवक लम्बे हिसाब-किताब के बाद केवल यही सीख पाते हैं कि शिलिंग को सौ हिस्सों में कैसे बाँटा जाय? “बेटे आल्बिनस! आओ तो, और बताओ तो कि यदि छह पेंस से एक पेनी निकाल दी जाय तो कितना बच रहेगा? तुम्हें यह अवश्य जानना चाहिए।” —“पाँच पेंस।” “बहुत ठीक! तुम अवश्य किसी

दिन नाम कमाओगे। अच्छा, अब यह बताओ कि यदि एक पेनी जोड़ दी जाय तो कितना हो जायगा ? 'सात पेंस।' इस प्रकार की द्रव्य-लिप्सा और लोलुपता जिसकी आत्मा को दूषित कर चुकी हो, क्या हम आशा कर सकते हैं कि वह व्यक्ति ऐसी कविताएँ लिख सकेगा कि उन्हें देवदारु के तेल के प्रकाश में पड़ा जाय या चिकने बक्सों में सुरक्षित रखा जाय !

प्रयोजन

कवि का उद्देश्य या तो उपयोगिता होता है या मनोरंजन अथवा आनन्द तथा उपयोगिता का समन्वय। तुम्हारा अभिप्रेत चाहे कुछ भी हो, तुम्हें अपनी बात संक्षेप में कहनी चाहिए जिससे तुम्हारे श्रोता शीघ्रता से उसे ग्रहण कर सकें और ठीक याद रख सकें। व्यर्थ शब्द केवल उसी की लेखनी से निकलता है जिसकी स्मृति में बहुत अधिक अनावश्यक बातें भरी रहती हैं। कथा को यथार्थ के अधिक निकट होना चाहिए तभी वह आनन्द दे सकती है। तुम्हारे नाटक ऐसे न हों कि उन पर विश्वास करना ही कठिन हो जाए। वयोवृद्ध ऐसी रचना की खिल्ली उड़ाते हैं जिससे कोई उपयोगी शिक्षा न मिलती हो। हमारे तरुण, अभिजात लेखक केवल गम्भीर कविता लिखकर छुट्टी नहीं पा सकते। जो भी व्यक्ति शिव और सुन्दर को समन्वित करता है वही सफल होता है क्योंकि वही पाठक को मुग्ध भी करता है और उसे शिक्षा भी देता है। ऐसी ही पुस्तक प्रकाशकों के लिए लाभदायक सिद्ध होती है, उसका देश-देशान्तरों में प्रचार होता है और उसके लेखक को स्थायी यश प्राप्त होता है।

सत्काव्य : असत्काव्य

फिर भी कुछ ऐसी श्रुतियाँ होती हैं जिनकी ओर से हम सहर्ष आँखें मूँद सकते हैं। वीणा के तारों से सदैव वही स्वर नहीं निकला करता जो हम मन और उँगलियों से निकालना चाहते हैं। हम सुनना चाहते हैं 'मन्द्र' स्वर और हमें सुनने को मिलता है 'तीव्र'। तीर भी सदैव लक्ष्य-वेध नहीं करता। यदि किसी काव्य का अधिकांश सुन्दर हो तो मैं उन कतिपय दोषों में न उलझूँगा जो असावधानी के कारण या मानव-स्वभाव की सहज दुर्बलता के कारण आ जाते हैं।

तो हमारी स्थिति क्या है ? यदि कोई लिपिक एक ही भूल को, चेतावनी के बावजूद, बारम्बार दोहराता है, तो उसे कोई प्रश्रय नहीं मिल सकता।

वादक यदि वीणा बजाते समय किसी एक ही तार को बार-बार गलत ढंग से छेड़ता रहे तो उसकी भी खिल्ली उड़ाई जाती है। इसी प्रकार मैं असावधान कवि को खोएरिलस^{७४} के समकक्ष रखता हूँ जिसकी एक-आध सुन्दर पंक्ति आश्चर्यजनक भले ही हो, परन्तु वह हास्य ही उत्पन्न करती है। पर यदि सुकवि होमेरस (होमर) से कोई असावधानी हो जाती है तो क्या मुझे क्रुद्ध होना चाहिए ?

जब किसी को कोई बड़ी चीज़ लिखनी होती है, तो यह स्वाभाविक है कि वह कभी-कभार कोई प्रमाद कर जाए। कविता चित्रकारी की तरह होती है। कोई चित्र आपको निकट से अच्छा लगेगा, कोई दूर से। कोई चित्र हल्के प्रकाश में अच्छा लगेगा, दूसरा प्रखर प्रकाश की पृष्ठभूमि पर इस तरह शोभायमान होगा कि सजग-से-सजग आलोचक भी मौन हो जाए। किसी का आकर्षण एक बार का होता है, किसी का बार-बार का।

हे पिसौ की आशा ! यद्यपि तुम्हारे निर्णय को सही दिशा देने वाले तुम्हारे पिता मौजूद हैं और तुम स्वयं भी बुद्धिमान हो, तथापि तुम मेरी एक बात सुनो और उसे गाँठ बाँध लो कि बहुत कम क्षेत्रों में साधारणता को सही या क्षम्य माना जाता है। न्यायालय में कोई वकील निम्न स्तर का हो सकता है जिसे मेसाला^{७५} की वक्तृत्व-शक्ति तथा कैसीलियस का ज्ञान प्राप्त न हो। पर उसका अपना कुछ-न-कुछ महत्व होगा ही। परन्तु यदि किसी कवि में साधारणता है तो उसे न देवता सहन करेंगे, न मनुष्य और न पुस्तक-विक्रेता। जैसे किसी सुखद भोज में अशोभन संगीत या निकृष्ट सुगन्धि और विचुद्ध मधु में मिश्रित रामदाने हमारी सुरुचि को आघात पहुँचाते हैं, क्योंकि भोज बिना उपर्युक्त चीज़ों के भी भली प्रकार से सम्पन्न हो सकता था; इसी तरह कोई कविता जिसका सृजन आनन्द प्रदान करने के लिए हुआ हो, यदि सर्वोच्च स्तर से तनिक भी नीचे रह जाती है, तो फिर सीधे रसातल ही को जाती है। जो व्यक्ति इस नियम को नहीं जानता उसे काव्य-रचना से दूर रहना चाहिए। फिर भी प्रायः वे लोग, जो कवि नहीं हैं, काव्य-रचना का दावा करते हैं। क्यों न करें ? क्या वे स्वतन्त्र नहीं हैं ? अभिजात नहीं हैं ? क्या उनकी आय सामन्तों के बराबर नहीं है ? क्या उनका चरित्र निर्दोष नहीं है ? मैं जानता हूँ कि तुम न ऐसी बात कहोगे और न नियम-विरुद्ध काम करोगे। तुम्हारा संकल्प और तुम्हारी बुद्धि ऐसी ही है। पर यदि किसी दिन तुम कोई रचना करो, तो उसे पहले आलोचक मायसिउस^{७६} को दिखाना, फिर अपने पिता को और फिर मुझे; और उसके

बाद अपनी पाण्डुलिपि अपनी मेज़ की दराज़ में बन्द कर देना और प्रायः एक दशाब्दी तक उसे वहीं पड़ी रहने देना । अप्रकाशित (शब्द) का निरसन हो सकता है लेकिन जो शब्द एक बार निकल जाय उसे वापस नहीं लिया जा सकता ।

हेतु

सत्काव्य की रचना का मूल प्रतिभा में होता है या कला में ? यह एक विवादास्पद विषय है । मैं समझ नहीं पाता कि प्रतिभा के बिना अध्ययन की उपयोगिता क्या है, अथवा अभ्यास के बिना प्रतिभा का उपयोग कैसे हो सकता है ? अतः सत्य यह है कि दोनों के सहयोग और समन्वय की आवश्यकता है ।

जो खिलाड़ी अपने अभीप्सित लक्ष्य तक पहुँचने के लिए उत्सुक है, उसने बचपन में न जाने कितना कष्ट सहा होगा और न जाने कितना अभ्यास किया होगा ! उसने सर्दी और गर्मी भेली होगी और वह कामिनी और मदिरा से दूर रहा होगा । जो वंशीवादक आज पाइथियन प्रतियोगिताओं में वंशी बजाता है, वह कभी पहला पाठ सीखते हुए अपने शिक्षक के सामने भय से कम्पित भी हुआ होगा ! आजकल लोग यही कहना यथेष्ट समझते हैं, “मैं विलक्षण कविताएँ रचता हूँ । शेष सब बातों की मुझे रत्ती भर परवाह नहीं है । यह कितनी लज्जा की बात है कि लोग मुझ से अच्छी कविताएँ लिखें और मुझे यह स्वीकार करना पड़े कि जो मैंने नहीं सीखा है उसे मैं नहीं जानता ।” (आर्स पोएटिका)

अनुवादक—श्री प्रयागनारायण त्रिपाठी

जॉन ड्राइडन

(सन् १६१०—१७०० ई०)

[अंग्रेजी के प्रसिद्ध कवि, नाटककार, व्यंग्यकार तथा आलोचक ड्राइडन बहुमुखी प्रतिभा-सम्पन्न युग-प्रवर्तक साहित्यकार थे। सन् १६८५ में जेम्स द्वितीय के सिंहासनाखण्ड होने पर उन्होंने रोमन कैथोलिक मत स्वीकार कर लिया। उन्हें आशा थी कि उनकी नियुक्ति राज्य के प्रमुख प्रवक्ता के रूप में हो जायेगी, परन्तु १६८८ की क्रान्ति के परिणामस्वरूप उनका राजनीतिक पद छीन लिया गया और वे सर्वथा निराश्रित हो गये। जीवन के अन्तिम वर्षों में उन्होंने जीविका-निर्वाह के लिये वर्जिल आदि कवियों की अमर कृतियों का अनुवाद किया। इन अनुवाद-कृतियों में उनकी सशक्त और प्रौढ़ शैली के दर्शन होते हैं।

ड्राइडन ने अपनी आलोचनाएँ विभिन्न कृतियों की भूमिकाओं तथा समर्पण-पत्रों के रूप में ही लिखी हैं। किन्तु फिर भी उनमें विषय-विस्तार और शैली की प्रौढ़ता का अभाव नहीं है। ड्राइडन की रचनाओं के अध्ययन से पुनःस्थापन-युग में प्रचलित वाद-विवाद का ज्ञान सहज ही हो जाता है, साथ ही उसमें एक साधु आलोचना-दृष्टि के दर्शन भी होते हैं। ड्राइडन ने सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक दोनों ही प्रकार की आलोचनाओं के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। रंगमंच से सम्बद्ध विषयों और वीर-नाटक का उन्होंने अधिकार के साथ स्वस्थ-गम्भीर विवेचन किया है।

अपनी कृतियों की भूमिकाओं में उन्होंने अनेक आलोचकों पर बड़े तीक्ष्ण व्यंग्य किये हैं। आलोचना से सम्बद्ध गम्भीर और शाश्वत समस्याओं पर विचार करते हुए उन्होंने हृदय और बुद्धि दोनों के परितोष का ध्यान रखा है। सच्ची कला की विशेषताओं और प्रकृति के विषय में उनकी स्पष्ट मान्यताएँ थीं, जिनके विषय में नव्य-शास्त्रवादी बहुत भ्रम में थे। उन्होंने पुराने युग के महान् कवियों की समीक्षा भी की है। चॉसर, शेक्सपियर तथा मिल्टन के सम्बन्ध में उन्होंने जो निर्णय दिये हैं उनका आधार परवर्ती कवियों ने भी

यथावत् ग्रहण किया है।

ड्राइडन ने अरस्तू और होरेस आदि से प्राप्त अभिजात कला-सिद्धान्तों का विशद अध्ययन किया है, किन्तु उनका महत्त्व वहीं तक सीमित नहीं है। प्राचीन के प्रति निष्ठा रखते हुए भी ड्राइडन ने नवीन के प्रति अपना आकर्षण व्यक्त किया है। परम्परा उन्हें मान्य है, लेकिन युग का अनुरोध भी उनके लिये उतना ही महत्त्वपूर्ण है। वे वास्तव में युग-चेता कवि-आलोचक थे और इसीलिये इतिहास में उन्हें 'आधुनिक आंग्ल आलोचना का जनक' कहा गया है।]

×

×

×

तुकान्त कविता

अब मैं आपके सम्मुख वह विषय-वस्तु मुद्रित रूप में उपस्थित करता हूँ, जिसे आपने रंगमंच पर अस्वीकार न करने की कृपा की है, और यहाँ इंग्लैण्ड में आपके साथ भेंट को मैं एक सौभाग्य मानता हूँ। मैं नहीं कह सकता कि कथानक और भाषा के विषय में मैंने उतनी सावधानी बरती भी है जितनी कि मुझे बरतनी चाहिये थी, किन्तु जहाँ तक भाषा का सम्बन्ध है मैंने अंग्रेजी ही लिखने का प्रयत्न किया है—उस सीमा तक जहाँ तक कि मैं उसे पण्डिताऊ भाषा और यात्रियों की कृत्रिम भाषा से भिन्न रूप में समझ सका हूँ। खेद केवल इस बात का है कि उस गौरवमयी भाषा में, जिसे हम बोलते हैं, वैसी निश्चित एकरूपता नहीं है, जैसी कि फ्रांस में है जहाँ इस कार्य के लिए एक अकादेमी स्थापित की जा चुकी है और जिसे वहाँ के वर्तमान शासक ने व्यापक विशेषाधिकार दे रखे हैं। मैं आशा करता हूँ कि अन्ततः हम दूसरे राष्ट्रों से शब्द उधार लेने की प्रवृत्ति त्याग देंगे, जो कि अब हमारे लिए एक आवश्यकता न होकर दुर्व्यसन बन गई है और जब तक कुछ लोगों में ऐसे शब्द बोलने की प्रवृत्ति रहेगी, तब तक ऐसे अन्य व्यक्तियों का अभाव न होगा जो उन शब्दों को लिखते हुए नहीं हिचकिचायेंगे।

किन्तु मुझे आशंका इस बात की है कि जहाँ एक ओर मैं परम्परागत शब्दों का पक्ष ले रहा हूँ वहाँ दूसरी ओर कहीं मुझ पर नये मार्ग के अनुसरण का आरोप न लगाया जाये अर्थात् पद्यबद्ध दृश्यों की रचना का दोषारोपण न किया जाय। यद्यपि वास्तविकता यह है कि इसे उतना किसी नये मार्ग का अनुसरण नहीं कह सकते जितना एक प्राचीन मार्ग का पुनःसंस्थापन, क्योंकि शेक्सपियर के नाटकों से अनेक वर्ष पहले सुप्रसिद्ध लार्ड बकहर्स्ट^{७७} ने—जो बाद

में अर्ल आफ डारसेट कहलाए—अंग्रेजी में 'क्वीन गॉरवोडक'^{७८} की त्रासदी की पद्यबद्ध रचना की थी। यदि यह मान भी लें कि हमारे देश में इस ग्रन्थ की रचना अभी कुछ काल पहले तक न हुई होती तो भी क्या हम यूरोप के अन्य अत्यन्त सुसंस्कृत और सभ्य राष्ट्रों से विपरीत दिशा में जा सकते थे? जिस प्रकार हममें से अधिकांश लोग लेटिन भाषा का पृथक् उच्चारण करते हैं, क्या हम इस दिशा में भी उसी ऐकान्तिकता के साथ संसार के विरुद्ध जा सकते थे? अथवा क्या हम यह चाहते हैं कि वर्कले^{७९} ने जो साँचा (मेरे विचार में अनुचित ढंग से) अंग्रेजी पर थोप दिया है वस वही निरन्तर चलता रहे? अंग्रेजी में जो वस्तु या व्यक्ति अपने हैं उनके प्रति अत्यधिक सम्मान होता है और जो दूसरों के होते हैं उन्हें वे हेय समझते हैं। जितनी भी स्पेनी और इतालवी त्रासदियाँ अब तक मेरे देखने में आई हैं वे सब तुकान्त पद्य में ही हैं। फ्रांसीसी नाटकों का नाम मैं यहाँ नहीं लेता, क्योंकि तुकान्त पद्य तो मानो उनके भाग्य में ही लिख गया है। उसका प्रचलन उनके यहाँ अति की सीमा तक पहुँचा हुआ है और वही उनके साहित्य-भण्डार की विशेषता है। शेक्सपियर (जिसमें कुछ ऐसी त्रुटियाँ थीं जो उस युग में अनिवार्य थीं, किन्तु साथ ही जिसकी काव्य-मेधा हमारे राष्ट्र में अद्वितीय है) प्रथम रचनाकार था जिसने अविकल तुकान्त रचना का सिरदर्द मोल न लेकर ऐसे काव्य की रचना की जिसे हम अतुकान्त पद्य कहेंगे, किन्तु जिसे फ्रांसीसी अधिक उपयुक्तता के साथ गद्य-वृत्त कहेंगे, जिसकी ओर अंग्रेजी भाषा की इतनी सहजप्रवृत्ति है कि गद्य लिखते हुए उससे बच सकना सम्भव नहीं। इसीलिए मैं उन लोगों की सराहना करता हूँ जो इतने सरल मार्ग में भी बराबर ठोकर खाते हैं और जो अपने शब्दों का क्रम उलटते-पलटते हुए पंक्तियों का अन्त निरन्तर क्रियाओं में करते हैं, जिसको यद्यपि लेटिन लिखने में कभी-कभी प्रोत्साहित किया जाता है किन्तु वेस्टमिन्स्टर में जिसका एक-साथ दो बार प्रयोग करने पर हमें दण्ड भोगना पड़ता था। मैं कुछ व्यक्तियों को जानता हूँ जो अतुकान्त लेखन को, मान्यवर क्षमा करें, शीर्ष का कार्य मानेंगे। जो व्यक्ति तुकान्त की आवश्यकताओं के कारण इस विषम स्थिति में फँस जाता है उसे मेरे मतानुसार अंग्रेजी भाषा का अल्प ज्ञान होता है, यद्यपि कभी-कभी इसका परिहार आसान नहीं होता। और वस्तुतः तुकान्त (काव्य) पर केवल इसी एक असुविधा का आरोप लगाया जा सकता है। यही कारण है कि तुकान्त को वे लोग अस्वाभाविक कहते हैं, लेकिन तुकान्त (काव्य) में अस्वाभाविकता तभी आती है जब कवि शब्दों का सदोष चयन करता है अथवा केवल तुक के लिए उनका ऐसा अस्वाभाविक विन्यास करता है जैसा कि सामान्य

बोलचाल में कदापि नहीं होता। किन्तु जहाँ शब्दों को इस प्रकार विवेकपूर्वक सँजोया जाता है कि काव्य-पंक्ति के एक शब्द में से दूसरा शब्द स्वतः उद्भूत होता हो, वहाँ यह मानना होगा कि तुकान्त काव्य में (पद्य के) सभी गुणों के अतिरिक्त गद्य के सभी गुणों का भी समावेश हो गया है। किन्तु उसका सौष्ठव और गरिमा पूर्णतः तभी स्पष्ट हुई जब मिस्टर वाकर^{२०} ने लेखन को कला का रूप प्रदान किया। जिन भावों को उनके पूर्ववर्ती लेखक अनेक पंक्तियों में व्यक्त करते थे, यहाँ तक कि भाव ग्रहण करने के प्रयत्न में पाठक वेदम हो जाता था, उन्हीं भावों को मिस्टर वाकर ने संक्षेप में सामान्यतः दो पंक्तियों में व्यक्त कर दिखाया। मिस्टर वाकर के गीतिकाव्य के इस माधुर्य को बाद में सर जॉन डनहम^{२१} ने अपने महाकाव्य 'कूपर्स हिल' के लिये अपनाया। मान्यवर ! आप जानते ही हैं कि उनकी यह रचना अपनी शैली की भव्यता के नाते सर्वदा ही सुन्दर लेखन का निश्चित मानदंड समझी जायगी। किन्तु यदि इसके आविष्करण के लिए हम मिस्टर वाकर के आभारी हैं, तो उसके सर्वाधिक सत्प्रयोग का श्रेय हम सर विलियम डेवनैट^{२२} को देंगे जिन्होंने उसका तुरन्त रंगमंच पर उपस्थापन किया और 'सीज आफ़ रोड्स'^{२३} में उसे पूर्ण उत्कर्ष पर पहुँचाया।

अतुकान्त कविता की तुलना में तुकान्त कविता के लाभ इतने अधिक हैं कि उनका उल्लेख करने का अर्थ समय नष्ट करना भर होगा। सर फ़िलिप सिडनी^{२४} ने 'डिफ़ेंस ऑफ़ पोइज़ी' शीर्षक अपने लेख में जिस एक लाभ का संकेत किया है मेरे मतानुसार वह कोई कम महत्वपूर्ण नहीं है। मेरा तात्पर्य तुकान्त रचना से स्मरण-शक्ति को सहज ही प्राप्त होने वाली सहायता से है; क्योंकि ध्वनि-साम्य के कारण किसी पंक्ति का अन्तिम शब्द याद आते ही कविता की दोनों पंक्तियाँ सहज ही स्मरण हो आती हैं।

अतुकान्त कविता की रचना अत्यन्त सुलभ होने के कारण कवि में वाग्विलास-दोष आ जाता है और वह अनेक ऐसी बातें कहने का लोभ संवरण नहीं कर सकता, जिनका न कहा जाना ही श्रेयस्कर होता अथवा जिन्हें अपेक्षा-कृत संक्षेप में व्यक्त किया जाता। परन्तु जब कलात्मकता के साथ तुकान्त पद सँवारने की समस्या सम्मुख रहती है और कवि का लक्ष्य सामान्यतः दो पंक्तियों में ही भाव की अभिव्यक्ति करना होता है तथा उसके लिए ऐसे शब्दों की योजना करनी होती है कि तुक स्वतः उनसे प्रस्फुटित हो, वे तुक से निदेशित न हों, तब ललित कल्पना विवेक को प्रवेश करने का अवकाश देती है जो मानो अत्यधिक कर-भार निर्दिष्ट पाकर समस्त अनावश्यक व्यय समाप्त करने को

प्रस्तुत रहता है। इस अन्तिम स्थापना से कुछ लोगों की इस आपत्ति का निराकरण हो जाता है कि तुकान्त भावाभिव्यक्ति के लिए सज्जा मात्र है, कि जो अपने आप में साधारण है उसे अल्प विवेचन द्वारा उत्कृष्ट ठहराने का साधन मात्र है। किन्तु निश्चय ही जो ललित कल्पना का सर्वाधिक नियमन करता है और विवेक को उसके उपयोग का सर्वाधिक क्षेत्र प्रदान करता है, उसके विषय में सम्भावना तो यही है कि वह समृद्धतम और स्पष्टतम विचारों की अभिव्यक्ति का साधन बनेगा। जो रचना कवि अधिकतम अवकाश के समय करता है उसकी वह सबसे अधिक निरख-परख करता है और उसके सम्बन्ध में यह सावधानी बरतता है कि वह श्रोताओं एवं पाठकों की कठिनतम कसौटी पर खरी उतरे क्योंकि अन्ततः वह उन्हीं के मानस-पटल पर अंकित होने के लिए है और यह प्रक्रिया ठीक वैसी ही होती है जैसी प्रक्रिया के द्वारा पेट में पहुँचकर भोजन प्राणप्रद रस के रूप में परिणत होता है, क्योंकि पेट पोषक तत्त्वों के कण-कण का सार ग्रहण कर लेता है। किन्तु जिस प्रकार उचित उपयोग न होने से सर्वोत्तम ओषधि भी अपना गुण खो बैठती है, उसी प्रकार उपयुक्त विषय का चयन न होने की स्थिति में काव्य निष्प्रभ हो जाता है। और फिर केवल विचार ही नहीं, व्यक्ति और चरित्र भी महान् एवं गौरवमय होने चाहिए अन्यथा (जैसा कि स्कैलिजर^{२५} ने क्लाडियन^{२६} के विषय में कहा है) जो कुछ अवसादजनक है उससे कवि को वितृष्णा हो जायेगी। हमारे मतानुसार जिन दृश्यों में इसकी सार्थकता सर्वाधिक सिद्ध होती है वे तर्क और प्रवचन के दृश्य हैं जिनके परिणाम पर किसी क्रिया का होना या न होना निर्भर करता है। (राइवल लेडोज़)

सर हावर्ड के आक्षेपों का समाधान

नाटकों में पद्य का प्रयोग स्वाभाविक है अथवा अस्वाभाविक, यह समस्या ऐसी है जिसका कोई एकांगी निर्णय नहीं हो सकता। हाँ, मेरे लिए तो उनकी यह स्वीकारोक्ति पर्याप्त है कि वह गद्य की अपेक्षा अच्छी कविता पढ़ना पसन्द करेंगे और यदि काव्य के समस्त विरोधी केवल इतना ही स्वीकार कर लें तो मुझे यह सिद्ध करने की आवश्यकता न रहेगी कि वह सहज स्वाभाविक है। यदि उससे हर्षोद्रेक होता है तो मुझे केवल इतने से ही सन्तोष है क्योंकि यदि हर्षोद्रेक काव्य का एकमात्र लक्ष्य नहीं तो उसका प्रमुख लक्ष्य अवश्य है। शिक्षा देना भी काव्य का उद्देश्य हो सकता है लेकिन आनन्द के सम्मुख वह गौरव ही होता है। कविता आनन्दानुभूति के सहारे ही शिक्षा दे सकती है। यह सच

है कि कवि का कार्य भली भाँति अनुकरण करना है, किन्तु आत्मा को प्रभावित करने और मनोभावों को उद्बलित करने और इन सबसे भी अधिक ऐसा प्रभाव उत्पन्न करने के लिए कि बिना सराहना किए न रहा जा सके (क्योंकि गम्भीर नाटकों का यह परम धर्म है) अनुकरण मात्र यथेष्ट नहीं हो सकता । इसलिए कवि जिस कथोपकथन का अनुकरण करे वह काव्य की समस्त कलात्मकताओं और अलंकारों से विभूषित होना चाहिए और वास्तव में देखा जाये तो ऐसा होना चाहिये मानो बिना पूर्वचिंतन के वह कभी बोला ही नहीं जा सकता ।

उनका यह भी आग्रह है कि नाटक की रचना इस प्रकार की होनी चाहिए कि उसमें अनेक व्यक्तियों के बिना तैयारी किये बोलने का आभास मिले, अच्छी काव्य-पंक्तियों के विषय में यह कदाचित् ही सोचा जा सकता है कि वे उसी रूप में कभी बोली भी जा सकती हैं । इस विषय में मेरा निवेदन यही है कि मैं उनके इस कथन के पूर्वाश से असहमत हूँ, क्योंकि यदि मैं भ्रम में नहीं हूँ तो नाटक कवि की उस रचना को माना जाता है जिसमें वह अनेक व्यक्तियों के कथोपकथन का अनुकरण अथवा निरूपण करता है और मेरे सम्मुख यह स्थिति उतनी ही स्पष्ट है जितनी कि इससे विपरीत स्थिति उनके सम्मुख ।

किन्तु मैं अधिक साहसपूर्वक यह कहूँगा, भले ही इसमें विरोधाभास जाने पड़े, कि गम्भीर नाटकों में गद्य का प्रयोग न करने का एक बड़ा कारण यह भी है कि वह वार्तालाप के स्वरूप के अत्यधिक निकट होता है और उसमें अति साम्य का दोष भलक आने की आशंका रहती है—जैसा कि अत्यंत कुशल चित्रकारों ने भी माना है कि चित्र में (वास्तविकता से) अति साम्य भी एक दोष है । प्रत्येक चिह्न और रेखा को अंकित कर देने से सुन्दर चित्र तैयार नहीं होता, वरन् उतने मात्र के चयन से होता है जिससे सम्पूर्ण वस्तु की प्रतिच्छाया स्पष्टतर होकर उभरती है और ऐसी कलाकृति परोक्ष रूप में प्रकृति देवी को अव्यक्त श्रद्धांजलि अर्पित करती है, क्योंकि उसमें सुन्दर अंगों की सुषमा निखरती है और असुन्दर अंगों की कुरूपता छिप जाती है । होरेस का भी यही कथन है :

“कविता चित्रकारी की तरह होती है.....कोई चित्र हल्के प्रकाश में अच्छा लगेगा, दूसरा प्रखर प्रकाश की पृष्ठभूमि पर इस तरह शोभायमान होगा कि सजग से सजग आलोचक भी मौन हो जाये। चित्र भी ऐसे दर्शकों का स्वागत नहीं करते जिन्हें कला की परख न हो, वे पारखी दर्शक चाहते हैं।”

‘वारथोलोम फ्रेयर’^{५७} अथवा निकृष्टतम प्रकार की कामदी में भी उपयुक्त मात्रा में उत्कर्ष-तत्त्व का समावेश करना आवश्यक होता है। यद्यपि यह सच है कि लेखक ने उक्त रचना में गद्य का उपयोग नहीं किया जैसा कि ‘दि फ़ाक्स एण्ड एल्केमिस्ट’ नामक कामदी के तर्क-वितर्क के स्थलों में किया है, तथापि उस गद्य में भी अपने विषय को उसने सामान्य धरातल से इस प्रकार ऊपर उठाया है कि वह आनन्ददायी हो गया है। यदि वह मेले में नित्यप्रति घटित होने वाली घटनाओं अथवा कही जाने वाली बातों का अक्षरशः निरूपण करता तो यह कभी संभव न होता। इतना ही नहीं, वैसी स्थिति में तो जो आनन्द जागरूक व्यक्ति को नाटक से प्राप्त होता है वही उसे मेले से भी प्राप्त होना चाहिए, किन्तु हम जानते हैं कि यह वास्तविकता नहीं है। उसने एक अत्यन्त रुग्ण वस्तु में भी जान डाल दी है; अनुकृति अमूल्य है, मूल भले ही निस्सार है। ‘कैटिलान् एण्ड सेजानस’^{५८} में जहाँ युक्ति का स्तर ऊँचा है, वहाँ लेखक कभी-कभी पद्य के उच्चतर धरातल पर आ जाता है, जिससे प्रकट है कि गम्भीर नाटकों के लिए वह उसे अस्वाभाविक नहीं मानता और यदि लेखक की प्रतिभा जैसी हास्य के क्षेत्र में थी वैसी ही पद्य के क्षेत्र में भी रही होती, अथवा यदि उसके युग में काव्य-ज्ञान हमारे इस युग के स्तर तक पहुँच चुका होता, तो सम्भव है कि उसने अपने विषयों को पद्य की वेशभूषा से सुसज्जित किया होता।

इस प्रकार गद्य उस युवराज की भाँति है जो सिंहासन का उत्तराधिकारी तो है पर जिसे गम्भीर नाटकों की शासन-व्यवस्था के लिए अत्यन्त अशक्त मान कर सर्वसम्मति से अधिकारच्युत कर दिया गया है और उसके हट जाने पर क्षेत्र में दो प्रतियोगी शेष रहते हैं : अतुकान्त (पद्य) जो वंश-परम्परा की दृष्टि से उसके अधिक समीप है और तुकान्त (पद्य) जो कि शासन-व्यवस्था की वागडोर के लिए उपयुक्त पात्र है।

अतुकान्त (पद्य) निस्सन्देह गद्य के अधिक निकट है किन्तु गद्य की निर्बलता का दोष भी उसमें उपस्थित है, तुकान्त (जिसका मैं स्पष्ट विवेचन करूँगा) सत्ता का अनधिकारी अपहर्ता है किन्तु वह वीर और उदार है और उसका साम्राज्य आनन्दमय है। इसी आनन्द तत्त्व के कारण प्राचीन रचना-कारों ने (जिनको मैं उतना ही विवेकपूर्ण मानता हूँ जितना कि उनको जो बड़े विश्वास के साथ उनकी भूलों को सुधारने के लिए प्रयत्नशील हैं) अपनी समस्त त्रासदियाँ पद्य में रची थीं, यद्यपि उनको ज्ञात था कि वह माध्यम बात-चीत की भाषा से दूर है।

किन्तु मुझे प्रतीत होता है कि अब मैं अपने विरोधियों द्वारा एक और

दोषारोपण का खतरा मोल ले रहा हूँ, क्योंकि यह कहकर कि प्राचीन रचनाकारों ने पद्य के माध्यम को अपनाया है मैंने यह सिद्ध नहीं किया कि वे तुकान्त को भी अपना लेते यदि वह उस समय लिखी जाती होती। मैं केवल यही कह सकता हूँ कि कवियों की सर्वसम्मति से सभी आधुनिक भाषाओं में अतुकान्त के स्थान पर तुकान्त की प्रतिष्ठा हो गई है, क्योंकि लगभग सभी गम्भीर नाटक तुकान्त (काव्य) में ही लिखे जा रहे हैं। इससे यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि चूँकि वे इस रूप में लिखे जा रहे हैं इसलिए लिखे भी जाते रहने चाहिए। सच तो यह है कि इस माध्यम ने हर्षोद्रेक का लक्ष्य प्राप्त कर लिया है और यदि यह सिद्ध हो जाय कि ऐसा नहीं है तो मैं इसे सबसे पहले त्याग दूँगा। मेरी यह स्वीकारोक्ति है कि मेरा मुख्य ध्येय अपने युग को आल्लादित करना है। यदि युग निम्न कोटि की कामदियों, तुच्छ घटनाओं और हो-हुल्लड़ के चित्रण की माँग करे तो मैं अपनी प्रतिभा को उसी दिशा के अनुसरण के लिए बाध्य करूँगा भले ही मेरी गति पद्य में अधिक क्यों न हो।

(डिफेंस ऑफ़ दि ऐसे)

कथानक की गौणता

किन्तु ये छोटे आलोचक इस विषय में भली भाँति विचार नहीं करते कि कवि का कार्य क्या है और किती कविता का सौन्दर्य क्या है? कथानक प्रत्येक दशा में गौण होता है : मेरा तात्पर्य उस आधार-शिला से है जिस पर रचनाकार अपने कौशल से कलाकृति का निर्माण करता है, क्योंकि वाद में वह सावधानी से उसी के सुन्दर अंगों को सँवारता-उभारता है। कथानक की आधारशिला पर पात्र खड़े किये जाते हैं और चूँकि कोई भी कथानक अंग्रेजी रंगमंच की विविधता के अनुरूप पर्याप्त चरित्रों का समावेश नहीं कर सकता इसलिए यह निष्कर्ष निकलता है कि उसे नये व्यक्तियों, घटनाओं और रूपों द्वारा परिवर्तित एवं परिवर्धित करना होगा जो उसे प्रायः नवीन रूप प्रदान करेंगे। इतना हो चुकने के उपरान्त अंक और दृश्य निर्धारित किये जाते हैं, पात्रों के कार्यकलाप और उनके मनोवेगों को यथास्थान निरूपित किया जाता है और वर्णन, उपमा आदि तथा भाषा के सत्प्रयोग से दोनों की श्रीवृद्धि की जाती है—कवि का यही मुख्य कार्य है और कल्पना का विशालतम क्षेत्र भी, क्योंकि कल्पना ही रचनाकार का सर्वोपरि गुण है। विवेक-बुद्धि भी उसमें होनी चाहिए, किन्तु सजीवता और निगूढ़ सौन्दर्य प्रदान करने वाली शक्ति तो कल्पना ही है, विशेषकर गम्भीर नाटकों में जिनमें पर्यवेक्षण का अधिक सहारा नहीं लिया

जा सकता। हाँ, कामदियों में हास्य का अंकन करने के लिए कल्पना की अधिक आवश्यकता नहीं होती : कवि हास्यास्पद एवं मनोरंजक मूर्खता का निरीक्षण करता है और यह निर्णय कर लेने के उपरान्त कि वह वास्तव में मूर्खता ही है उसके निरूपण द्वारा आनन्द प्रदान करता है।

किन्तु सामान्यतः कवि का कार्य किसी वन्द्यक बनाने वाले अथवा घड़ीसाज की तरह है। इस्पात अथवा चाँदी—जिस पर वे काम करते हैं—उनकी अपनी नहीं होती, किन्तु वास्तविक मूल्य इन वस्तुओं में नहीं बल्कि उन लोगों की कारीगरी में निहित होता है। ठीक इसी तरह जो व्यक्ति कामदी में कथानक को निर्जीव और निःस्पन्द बनाकर लोगों को हँसा नहीं पाता अथवा जो व्यक्ति गम्भीर नाटक में लोगों को आकुल नहीं कर सकता वह अकुशल कारीगर की भाँति असफल माना जाना चाहिए।

(‘एन ईवनिंग्स लव’ की भूमिका)

वागाडम्बर को नमस्कार !

किसी भी रंगशाला में सभी वस्तुओं का सम्मिलित प्रभाव होता है : प्रकाश, दृश्य, तौर-तरीके और अभिनय-कौशल—जो सामान्यतः सबसे अच्छा वहाँ बन पड़ता है जहाँ उसकी सबसे अधिक आवश्यकता होती है—दर्शकों को आश्चर्यान्वित करते हैं और उनकी बुद्धि पर एक धूमिल आवरण डाल देते हैं; वैसे ही जैसे कि कोई वाजीगर ठीक हमारे सामने हमको भुलावे में डाल कर उस मौके की तलाश में रहता है जिसमें वह अपना करतब सफ़ाई से दिखाकर अपना काम पूरा कर सके। किन्तु रंगमंच की ये छद्म सुषमाएँ इन्द्रधनुष की भाँति ही अस्थिर होती हैं, ज्यों ही उन पर अभिनेता की दीप्ति का प्रतिबिम्ब पड़ना बन्द होता है, त्यों ही पलक मारते उन सबका भी तिरोभाव हो जाता है। कई बार मुझे यह सोचकर आश्चर्य हुआ है कि रंगशाला में ‘वसी दी एम्बोइ’^{५६} के जो भास्वर रंग उभरते हैं उनका पढ़ते समय कहाँ लोप हो जाता है। किन्तु जब मैंने उसे लिया जिसे मैं उल्का समझा था, तो मुझे अपनी भ्रान्ति का बोध हुआ कि वह तो शीतल और जड़ पदार्थ मात्र है और जिस प्रकार उसमें गति का अभाव है उसी प्रकार प्रकाश का भी; तुच्छ-सा वह विचार है जिस पर बड़े-बड़े किन्तु खोखले शब्दों का परिधान है, पुनरावृत्ति की बहुलता है, अभिव्यक्ति की शिथिलता है, अतिशयोक्ति की भरमार है और एक पंक्ति का अर्थ दस पंक्तियों में फैलाकर रखा गया है; संक्षेप में, वह अशुद्ध अंग्रेजी और झूठी कविता तथा विशुद्ध

प्रलाप का हेय मिश्रण है, अथवा अधिक-से-अधिक उसे कूड़े के ढेर में दबी, सिसकती हुई तथा अभ्रयमाण बुद्धि का नमूना कह सकते हैं। पर अब मैं समझ गया हूँ, और सम्भवतः बहुत देर से समझा हूँ, कि मैं कदाचित् बहुत आगे बढ़ गया था, क्योंकि जब मैं अपनी ही 'मेज़िमीन एण्ड ऐलमेंज़ोर' की कुछ पंक्तियाँ स्मरण करता हूँ तो उनकी अतिशयोक्ति-पूर्णता मुझे सालने लगती है। और मैं सच्चे हृदय से अनुभव करता हूँ कि स्टेटियस^{६०} और चैपमैन^{६१} के साथ वे भी अग्नि के अर्पण करने योग्य हैं। उन ग्रंथों के विषय में, जो मैं समझता हूँ बहुत अधिक नहीं हैं, मैं केवल इतना ही कह सकता हूँ कि लिखते समय भी मुझे इस बात का ज्ञान था कि वह आल्लादकारी नहीं हैं, किन्तु आज उन्हीं को मैं अपना पाप-कर्म मानकर पश्चात्ताप करता हूँ, और यदि आज संयोगवश वैसा कुछ मेरी वर्तमान रचनाओं में दृष्टिगोचर हो तो मैं रंगमंच की उन सब डेलिलाओं पर तुरन्त कुठाराघात कर डालता हूँ और मैंने निर्णय कर लिया है कि अपने यश को मुखों की प्रशंसा पर आधारित नहीं होने दूँगा। तात्पर्य यह नहीं कि मैं महत्वाकांक्षा के प्रति जागरूक नहीं हूँ किन्तु मैं अल्पज्ञों के अवलम्ब पर उसकी पूर्ति करने को वेईमानी से बुलबुले बटोर कर रियासत खड़ी करने जैसा ही कुत्सित मानता हूँ। त्रासदियों में उदात्त शैली का भी मैं विरोधी नहीं हूँ, जो कि स्वभावतः ही भव्य और चमक-दमक वाली होती है, परन्तु कोई भी वस्तु जब तक वह न्याय-संगत एवं उचित न हो सच्चे अर्थ में उदात्त नहीं होती। यदि प्राचीन विद्वानों ने भी एक सामान्य पाठक का मानदण्ड अपनाया होता तो वे भी इस निर्णय पर पहुँचे होते कि स्टेटियस ने वर्जिल से श्रेष्ठतर रचनाएँ दी हैं। किन्तु ऐसा हुआ नहीं; वर्जिल को एक विहित युवराज का गौरव प्राप्त है और स्टेटियस उसकी तुलना में एक पदलोलुप अत्याचारी है। होता यह है कि जब लोग अपनी सामर्थ्य से बाहर किसी गुण से सम्पन्न होने का ढोंग करते हैं, तब वे उस गुण से सर्वाधिक समीप दिखाई देने वाले दुर्गुण के शिकार होकर रह जाते हैं। इस प्रकार महानता प्राप्त करने का इच्छुक अविवेकी कवि अस्वाभाविक स्फीत शैली के जाल में उलझकर रह जाता है क्योंकि वह महानता की मरीचिका प्रस्तुत करती है। मुझे स्मरण है कि जब मैं बालक था तो मैं दु बार्ता^{६२} की तुलना में अनुकरणातीत कवि स्पेंसर को तुच्छ मानता था और उसकी इन पंक्तियों को पढ़ते-पढ़ते भाव-विभोर हो जाता था :

‘अब, जबकि शिशिर की सर्द साँस चल पड़ी है
 बाल्टिक महासागर को जमा देने के लिए,
 भीलों को चमका देने और बाढ़ों की लगाम खींच लेने के लिए
 और निष्पन्न वनप्रान्तरों को बर्फ से पाट देने के लिए ।’*

अब यह कुत्सित शब्दाडम्बर मात्र नहीं तो और क्या है ? असंगत विचार और शब्द, एक दूसरे से विलकुल बेमेल, फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि ऐसे दर्शकगण नहीं होंगे जो रंगमंच पर इन्हीं पंक्तियों की दाद दें । समूह की सराहना का महत्व बहुत कम है, पागलों को केवल पागलपन ही रुचिकर हो सकता है और उस दर्शक-समूह के बीच ख्याति पाने के लिए कवि को बहुत-कुछ उनका-सा बनना होगा । जिस प्रकार रंगशाला में छत की ऊँचाई उसके क्षेत्रफल के अनुपात में होनी चाहिये उसी प्रकार काव्योत्कर्ष में अलंकारों की शक्ति और गति—अवसर, विषय-वस्तु एवं पात्रों के अनुरूप होनी चाहिये । इसके अतिरिक्त जो कुछ है अपरूप है, अस्वाभाविक है और काव्य का सजीव अंग न होकर कायिक विकार मात्र है ।

(‘स्पेनिश फ़ायर’ का समर्पण)

निकृष्ट आलोचना

कुछ मूर्ख अधकचरे लोग होते हैं जो अनायास मुँह से किसी बात के निकल जाने पर वृथा तूमाल बाँधते हैं । चित्रकला की भाँति ही सत् और असत् काव्य की सच्ची परख भी समग्र को दृष्टिगत किये बिना सम्भव नहीं है और जहाँ गुण दोषों की अपेक्षा अधिक होते हैं वहाँ कवि की तुच्छ आलोचक से रक्षा हो जाती है । यह इस बात का संकेत है कि जब दुर्भावना से प्रेरित आलोचना को आधार बनाने के निमित्त किसी शब्द अथवा शब्दांश से अधिक नहीं मिल पाता तो वह अधिक आघात नहीं कर पाती, किसी के दोषों का निरूपण करना एक बात है और उसकी टाँग खींचना दूसरी बात है ।

बहुधा निकृष्ट लेखक कठोरतम आलोचक होते हैं क्योंकि :

‘सिरके की उत्पत्ति उस समय होती है जबकि सड़ने की प्रक्रिया चरम

* ‘Now, when the winter’s keener breath began
 To crystallise the Baltic Ocean
 To glaze the lakes, bridle up the floods
 And periwig with snow the baldpate woods.’

स्थिति में पहुँच जाती है और तब वह फिर क्रियाशील हो जाता है। इसी प्रकार कवि-रूप के विकृत हो जाने पर, उसमें आलोचक जन्म लेता है।'
(‘सैकिड मिसेलेनी’ की भूमिका)

नाट्य-काव्य

इस माँग पर कुछ काल विचार करते हुए क्रिटेस ने युजेनियस से कहा कि यदि वे चाहें तो विवाद को नाट्य-काव्य तक सीमित रखा जाय, जिसमें उनके विचारानुसार यह सिद्ध करना कठिन नहीं कि प्राचीन रचनाकार आधुनिकों से, गत पीढ़ी हमारी अपनी पीढ़ी से, श्रेष्ठतर थी।

युजेनियस इसी विवाद पर आगे कुछ कहना चाहते थे कि लिसिडियस ने कहा कि हम आगे विचार करने से पहले स्थायी मानदण्ड नियत कर लें अन्यथा जब तक हमें यह मालूम नहीं कि नाटक कैसा होना चाहिये यह निर्णय करना कैसे सम्भव होगा कि किसने सर्वोत्तम नाटक लिखे हैं? किन्तु एक बार दोनों पक्षों के यह निश्चित कर लेने के उपरान्त हरेक पक्ष इसके आधार पर या तो अपने पक्ष की अच्छाईयाँ सिद्ध कर सकता है अथवा विपक्ष की कम-जोरियाँ ढूँढ़ सकता है।

उसका इतना कहना था कि सभी यह इच्छा प्रकट करने लगे कि वह नाटक की परिभाषा प्रस्तुत करें, विशेषकर इसलिए कि अरस्तू, होरेस आदि जिस किसी ने भी इस विषय पर लिखा है उसने नाटक की परिभाषा नहीं दी है।

लिसिडियस ने कुछ देर इनकार करने के पश्चात् अन्त में यह स्वीकारोक्ति की कि मेरी इस विषय में एक स्थूल-सी धारणा है जिसे वास्तव में परिभाषा तो नहीं, विवरण मात्र कह सकते हैं किन्तु जब कभी दूसरों की रचनाओं के मूल्यांकन का मुझे अवसर मिलता है तो अपने व्यक्तिगत विचारों में इन्हीं के आधार पर मेरा पथ-निर्देश होता रहा है। मेरे सम्मुख यही कसौटी रहती है कि नाटक को मानव-स्वभाव का सच्चा और सजीव प्रतिबिम्ब होना चाहिये जिसमें मानव-जाति के आह्लाद और ज्ञान के लिए उसके मनोवेगों और हास्य-विनोद तथा भाग्य के उतार-चढ़ाव की भी अभिव्यंजना की गई हो।

यद्यपि इस परिभाषा के सम्बन्ध में क्रिटेस ने यह तर्कमूलक आपत्ति की कि इसमें तो वस्तु-भेद हो गया है इसलिए यह परिभाषा सर्वथा पूर्ण नहीं है, परन्तु अन्य लोगों ने इसे स्वीकार कर लिया।

अरस्तू से हमें जो पुस्तक प्राप्त हुई है उस पर होरेस की 'काव्य-कला'* कृति एक अनुपम भाष्य के समान है और मेरे विचार में कामदी-विषयक उनकी दूसरी कृति के अभाव की मानो पूर्ति कर देती है।

इन दोनों से ही वे प्रसिद्ध नियम खोज निकाले गये हैं जिन्हें फ्रांसीसियों ने अन्विति-त्रय ['Des Trois Unitez'] के नाम से अभिहित किया है जिनका पालन प्रत्येक सम्पूर्ण नाटक में होना चाहिये। ये तीन अन्वितियाँ हैं : काल की, देश की और कथानक की।

काल की अन्विति में चौबीस घंटे की अवधि अथवा रात और दिन को मिलाकर एक प्राकृतिक दिन की अवधि अथवा उससे समीपतम अवधि आती है। इसका कारण स्पष्ट है कि अभिनय अथवा नाटक की कथा का समय उस अवधि के सर्वाधिक अनुपात में होना चाहिये जिसमें कि वह प्रस्तुत किया जाना है : और चूँकि अधिकांश नाटक अधिक-से-अधिक चौबीस घण्टे की अवधि में ही प्रस्तुत किये जा सकते हैं इसलिए उस नाटक को प्रकृति का निकटतम अंकन माना जाता है जो उस अवधि में पूरा हो जाय। और उसी नियम के अन्तर्गत जिसके अनुसार नाटक की अवधि का निर्धारण हुआ है उसके विभिन्न भागों के सम्बन्ध में यह सिद्धान्त स्थिर किया गया है कि उसके सभी अंक लगभग बराबर हों, कोई अंक अकेला इतना बड़ा न हो कि वह असंतुलित रूप में आधा समय खा जाये और बाकी आधे समय में शेष चार अंक ठूँसे जायें। इसलिए कवि का यह कर्तव्य है कि कोई भी अंक उस अवधि से बड़ा न होने पाये जिसमें कि वह रंगमंच पर प्रस्तुत किया जाना है और अंकों के बीच अवकाश सामान्यतः संतुलित रूप में वितरित रहे।

काल-सम्बन्धी इस नियम का प्राचीन रचनाकारों ने कितना सुन्दर निर्वाह किया है—यह उनके अधिकांश नाटकों से स्पष्ट विदित होता है। उनकी त्रासदियों में भी (जहाँ इस नियम का पालन सचमुच बहुत कठिन होता है) काल-संतुलन आपको बराबर मिलेगा—नाटक के आरम्भ से उस स्थल तक जहाँ कथानक का मुख्य अंश प्रदर्शित किया जाता है। प्रथम भाग को वर्णन द्वारा पूरा किया जाता है और इस प्रकार दर्शकों को मानो उस स्थल पर पहुँचा दिया जाता है जहाँ से आगे घुड़दौड़ शुरू होती है।

दूसरी अन्विति अर्थात् देशगत अन्विति से प्राचीन रचनाकारों का तात्पर्य यह था कि नाटक-भर में दृश्य वहीं पर स्थित रहे जहाँ वह नाटक के आरम्भ में स्थित था, क्योंकि जिस रंगमंच पर नाटक प्रस्तुत किया जाता है

* 'Ars Poetica'.

वह भी एक ही होता है और रंगमंच का स्थल भी वही एक ही बना रहता है। इसलिए दृश्य न तो अनेक होने चाहिए और न एक-दूसरे से बहुत दूर स्थित ही। वैसे मुझे तो इनकार नहीं है पर बहुरंगी दृश्यों से कभी-कभी अनेक स्थलों का भ्रम तो हो ही सकता है, तथापि सत्य से समीपता तो तभी सम्भव है जब विभिन्न स्थलों को इस भाँति सँजोया जाये कि विविध दृश्यों से एक ही शहर अथवा नगर के विभिन्न स्थलों का संकेत मिले जो एक ही 'देश' अथवा स्थल की व्यापक संज्ञा के अन्तर्गत आ सकते हों, क्योंकि अधिक दूरी को अभिनय के लिए निर्दिष्ट स्वल्प अवधि के साथ संगत नहीं ठहराया जा सकता। प्राचीन रचनाकारों के पश्चात् फ्रांसीसियों ने इस नियम का सर्वाधिक अनुपालन किया है। देशान्विति का पालन वे इतनी कठोरता से करते हैं कि उनके नाटकों में किसी अंक के मध्य में दृश्य-परिवर्तन कभी नहीं होता। यदि अंक किसी वाटिका, किसी सड़क पर अथवा किसी कक्ष में आरम्भ होता है तो वह समाप्त भी वहीं होता है और आपके सम्मुख यह बात बराबर स्पष्ट रहती है। रंगमंच पर अभिनेता इस प्रकार आते-जाते हैं कि वह कभी खाली नहीं रहता : जो अभिनेता दूसरे नम्बर पर प्रवेश करता है उसका वास्ता पहले अभिनेता से रहता है और अपने जाने से पूर्व वह आगे की कड़ी जोड़कर जाता है जिससे गति निरन्तर निर्वाध बनी रहती है और जिस नाटक के पात्र एक-दूसरे से परिचित होते हैं और प्रत्येक पात्र शेष सबसे सम्बद्ध होता है वह नाटक सुगठित नाटक कहलाता है।

जहाँ तक तीसरी अन्विति अर्थात् कथानक की अन्विति अथवा कार्यान्विति का सम्बन्ध है, प्राचीन रचनाकारों का उससे वही तात्पर्य होता था जो तर्कशास्त्रियों का समापन से : कथानक का उद्देश्य और क्षेत्र जो रचना के उपक्रम में सर्वप्रथम और रचना के सम्पन्न होने में अन्तिम रूप से उपस्थित रहता है। कवि का ध्येय एक महान् और सम्पूर्ण कथानक की रचना करना रहता है और इस ध्येय की पूर्ति के लिए अन्य सभी बातें, यहाँ तक कि बाधाएँ, गौण मानी जाती हैं। कारण इसका भी उतना ही स्पष्ट है जितना कि पिछली अन्वितियों का। यदि लेखक दो बराबर के कथानक उठा ले तो कृति की अन्विति नष्ट हो जाये और वह एक नाटक न रहकर दोहरा बन जाये। जैसा कि बेन जॉनसन ने 'डिसकवरीज' में कहा है : नाटक में कई कथानक हो सकते हैं पर वे सब एक मुख्य कथानक के पूरक मात्र होने चाहिये, जिन्हें उपकथानक कहा जा सकता है : उदाहरणार्थ टेरेंस^१ के 'यूनख' नाटक में थाया और फेडेरिया का भगड़ा और समझौता नाटक का मुख्य कथानक नहीं

है, पर वह चेरिया और खेमेस की बहन के बीच विवाह सम्पन्न कराने में, जो कि नाटक का मुख्य कथानक है, सहायक होता है। कार्नेइ^{१५} का कथन है कि किसी भी रचना में केवल एक पूर्ण कथानक होना चाहिए जिससे दर्शकों का चित्त पूर्णरूपेण उस पर केन्द्रित हो, किन्तु यह अनेक छोटे-मोटे एवं अपूर्ण कथानकों की सहायता के बिना सम्भव नहीं जिनसे कि दर्शकों का मनोरंजन होता है और साथ ही यह लालसा भी बनी रहती है कि देखें अब क्या होता है। (प्राचीन रचनाकारों की अन्य अनेक धारणाओं और परम्पराओं पर आधारित नियमों की ओर ध्यान न देकर) यदि उक्त नियमों की कसौटी पर ही आधुनिक नाटकों को परखा जाये तो उनमें से कुछ ही खरे उतरेंगे : काल की अवधि एक दिन होने की बजाय हमें एक युग मिलेगी, नाटक का कथानक एक होने की बजाय उसमें मानव-जीवन की समस्त क्रियाओं का चित्रण मिलेगा और यद्यपि रंगमंच पर एक ही स्थल प्रस्तुत किया जाना चाहिए तथापि हमें इतने देशों में ले जाया जायेगा जितने हम नक्शे में भी न ढूँढ़ सकें।

(ऑफ़ ड्रामेटिक पोयजी)

अनुवादक : श्री जगदीश गोयल

बुअलो

(सन् १६३६-१७११ ई०)

[बुअलो सत्रहवीं शती के सर्वश्रेष्ठ फ्रांसीसी आलोचक थे। उन्हें एक प्रकार से नव्यशास्त्रवाद का प्रवर्तक कहा जा सकता है। फ्रांस की सरकार ने उनकी साहित्यिक उपलब्धियों को मान्यता देते हुए उन्हें राजकीय वृत्ति प्रदान की और राजकीय इतिहासकार के रूप में उन्हें बड़ी प्रतिष्ठा प्राप्त हुई। सन् १६६० में उनके व्यंग्यों की प्रथम पुस्तक 'एक कवि का पेरिस नगर से अलविदा' नाम से प्रकाशित हुई। सन् १६६४ में उनकी पुस्तक 'रोमी नायकों के सम्वाद' प्रकाशित हुई जिसमें उन्होंने अपने युग के रम्याख्यानों पर व्यंग्य किया था। इसके बाद सन् १६७४ में उन्होंने पत्र-काव्य लिखा और उनकी प्रसिद्ध कृति 'काव्य-कला' प्रकाशित हुई, पाश्चात्य आलोचना-जगत् में जिसका मान आज भी अक्षुण्ण है। उन्होंने यूनानी आचार्य लॉगिनुस के 'काव्य में उदात्त तत्त्व' का सफल अनुवाद भी किया था।

बुअलो के कवि-रूप का फ्रांसीसी और अंग्रेजी साहित्य पर कोई महत्वपूर्ण प्रभाव नहीं पड़ा, परन्तु प्रायः सभी महान् आलोचकों पर उनकी आलोचनात्मक मान्यताओं का गहरा प्रभाव है। अठारहवीं शताब्दी के आलोचकों ने बुद्धि और विवेक के समावेश का जो नारा बुलन्द किया था उसका सैद्धान्तिक प्रतिपादन बुअलो ने ही किया। एक प्रसिद्ध साहित्यकार ने लिखा है कि बुअलो की रचनाओं में फ्रांसीसी आलोचना-साहित्य की समस्त विशिष्टताओं का समावेश हुआ है।

बुअलो ने साहित्य-सम्बन्धी प्राचीन मान्यताओं को युगानुकूल रूप प्रदान किया है। उनकी कृतियों में व्यंग्य तथा आलोचना के साथ ही उपदेशात्मकता भी पाई जाती है। इन विशेषताओं का फ्रांस के लेखकों पर बहुत प्रभाव पड़ा। प्रो० स्पिगार्न* के अनुसार बुअलो ने आभिजात्यवादी कला के आदर्श तथा स्वरूप को चरम उत्कर्ष तक पहुँचाया है। उनकी धारणा के अनुसार सत्य और

* Literary criticism in the Renaissance, pp. 134-35

सुन्दर अन्योन्याश्रित हैं। जो सत्य नहीं है वह सुन्दर नहीं है और जो प्रकृति में विद्यमान नहीं है वह सत्य नहीं हो सकता। आभिजात्यवाद के अनुसार सत्य प्रत्येक वस्तु की—यहाँ तक कि सौन्दर्य की भी अन्तिम कसौटी है और सौन्दर्य तत्त्व के लिये कविता का प्रकृति पर आश्रित होना अनिवार्य है।

अनेक परवर्ती स्वच्छन्दतावादी आलोचकों ने बुअलो के सिद्धान्तों की खण्डनात्मक आलोचना की है। अविग बैबिट ने इन आलोचनाओं का सतर्क उत्तर दिया है : बुअलो, जिसे स्वच्छन्दतावादी पूर्वाग्रहों के कारण प्रधानतः परम्परावादी कहा जाता है, वस्तुतः परम्परावाद के विरुद्ध होने वाली प्रतिक्रिया का अग्रणी था। बुअलो के वास्तविक तथा स्वच्छन्दतावादी आलोचकों द्वारा प्रतिष्ठित रूप में आकाश-पाताल का अन्तर है। अपने समय के लेखकों के प्रति उसका एक विशिष्ट सन्देश था 'तुम्हारे लिये यह उचित और अनिवार्य है कि तुम नियमों का पालन करो परन्तु नियमों की केवल नकारात्मक महत्ता है। सब से महत्वपूर्ण बात तो यह है कि तुम हमें रोचक लगे।']

×

×

×

काव्य-कला

दुस्साहसी लेखक ! यदि तुम्हारे जन्म के समय तुम्हारी मेधा के नियन्ता नक्षत्रों में काव्य-प्रभाव की दीप्ति नहीं थी तो यह एक वृथा एवं घृष्टतापूर्ण अपराध होगा कि तुम काव्य-कला के पवित्र क्षेत्र में प्रवेश करो क्योंकि वैसा करने पर भी तुम अपनी संकीर्ण प्रतिभा में ही सीमित रहोगे : तुम फ़ोयबस^{६४} को बधिर पाओगे और पेगैसस^{६५} को दुर्बल।

तुम जो कुछ भी लिखो—चाहे प्रीतिकर, चाहे उदात्त—तुम्हारी कविता में सदैव विवेक का योग होना चाहिए। बौद्धिकता और काव्य भ्रमवश ही एक-दूसरे के विरोधी प्रतीत होते हैं। काव्य-रचना विवेक के नियमों के अनुरूप होनी चाहिए। जब तुम कविता पर विजय पाने के लिए अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगाते हो तो तुम्हारी बुद्धि विजयी तभी होगी, जब वह साधुता के मार्ग का अर्थात् उसे क्षति पहुँचाने के बजाय दिव्यत्व प्रदान करने के मार्ग का अनुसरण करेगी। उसकी उपेक्षा करोगे तो तुम्हारी रचना विपथगा बन जायेगी और जिस विवेक की अनुगामिनी उसे बनना चाहिए, उसकी स्वामिनी बन जायेगी। इसलिए विवेक के प्रति अनुराग रखो और जो कुछ भी तुम लिखो उसके निमित्त सौन्दर्य, शक्ति और प्रकाश ग्रहण करो। बहुत-से लेखक निष्प्राण प्रेरणा के वशीभूत होकर अमिताचारपूर्ण और निष्प्रयोजन विषयों का चयन कर लेते

हैं। वे सोचते हैं कि यदि उन्होंने अपने काव्य में किसी सहज या स्वाभाविक विचार की अभिव्यंजना की तो यह उनकी भूल होगी। इस अतिचार से दूर रहो और झूठी चमक-दमक वाली निस्सार कविता रचने का श्रेय दम्भी इतालवी लेखकों को ही लेने दो। सभी का उद्देश्य विवेकसम्मत कविता लिखना होना चाहिये। लेकिन अधिकांश लेखक इस ऊँचे और दुर्गम पार्वत्य पथ और फिसलने वाले रास्तों पर व्यर्थ ही पाँव रखते हैं। यदि तुम किंचित् भी दायें या बायें भटके तो डूबे। विवेक का प्रायः एक ही मार्ग होता है। कभी-कभी कोई लेखक अपने विचारों के मोह-वश विषय के विवेचन में अति कर देता है। यदि वह किसी मकान का वर्णन करना चाहता है तो पहले सामने के हिस्से का वर्णन प्रस्तुत करता है, फिर उसके चारों ओर का चक्कर लगवाता है। कभी वह हमें सामने के प्रशस्त मार्ग की ओर ले जाएगा, और कभी बताएगा दरवाजे किधर खुलते हैं। ये छज्जे सोने से मढ़े हुए हैं। हॉल में इतने स्तम्भ हैं और इतनी वेदियाँ। ये झंडियाँ हैं, यह झिझरी है, यह कोर्निस है। उसके इन आलंकारिक अतिचारों से ऊब कर मैं बीस पन्ने पलट कर आगे बढ़ जाता हूँ। ऐसे वर्णनों की व्यर्थता और मूर्खता को समझो और इस निस्सार अतिकथन से बचो। जो भी अनावश्यक है उसका सावधानी से निवारण करो। एक बार सन्तुष्ट मन को शीघ्र ही वितृष्णा होने लगती है। जो अग्राह्य का त्याग करना नहीं जानता उससे लेखन-कार्य नहीं सध सकता। एक भूल को सुधारने के लिए वह सौ भूलें और कर देता है। तुम्हें अपनी कविता अशक्त लग रही है तो तुम उसे अनावश्यक रूप से सबल बना देते हो। कहीं कविता लम्बी न हो जाए इस डर से तुम उसे इतनी संक्षिप्त कर देते हो कि वह अस्पष्ट हो जाती है। कुछ कवियों की रचनाओं में चमक-दमक नहीं होती परन्तु वे एकरस और शुष्क होती हैं। कुछ इस भय से कि कहीं कोई घटिया चीज़ न लिख दें, बहुत ऊँची उड़ानें भरने लगते हैं। क्या तुम्हें सबकी प्रशंसा मिलनी चाहिए? लिखते समय तुम शब्दावली और भाषा में विविधता बनाए रखो। एक ऐसी जड़ शैली, जिसमें उतार-चढ़ाव नहीं होता, हमें प्रसन्नता देने के बजाय ऊब और उकताहट ही देती है। ऐसे लेखकों का सम्मान कोई नहीं करता जो एक-से भारी स्वर से हमें थका देते हैं। सौभाग्यशाली है वह कवि जो अपनी कविता में गम्भीर और सरल, सुखद और कठोर—दोनों का समावेश करता है। उसकी रचनाओं की सर्वत्र सराहना होगी और लोग उन्हें खरीदने के लिए आतुर रहेंगे। जो कुछ लिखो वह संकीर्ण या मात्सर्यपूर्ण न हो। तुच्छ-से-तुच्छ विषय की भी अपनी एक उपयुक्त शैली हो सकती है।

तुम जो भी लिखो उसमें भाषा पर अच्छी तरह ध्यान दो और ऊँची-से-ऊँची उड़ानें भरते हुए भी भाषा के प्रति असावधान न रहो। सर्वत्र शुद्ध अर्थ देने वाली एकांततः निर्दोष कविता भी सदोष भाषा होने पर हमें अप्रसन्न करती है। कोई भी पाठक न तो वर्वरतापूर्ण पदावली की प्रशंसा कर सकता है और न उसे क्लिष्टता, कृत्रिमता अथवा शब्दाडम्बर ही प्रिय हो सकते हैं। संक्षेप में, जब तक भाषा शुद्ध नहीं है तब तक तुम कुछ भी लिखो, तुम्हारी रचना न तो उपयोगी होगी, न आनन्दप्रद। सोच-विचार में यथेष्ट समय लगाओ। कोई भी कार्य शीघ्रता में न करो। अपना मूल्य इस बात से न आँको कि तुम बहुत तेज लिख सकते हो। शीघ्रता से लिखी गई कविता इस बात का प्रमाण होती है कि तुम्हारे अन्दर निर्णयात्मिका बुद्धि की कमी है। वह प्रतिभा की परिचायक नहीं होती। नदी के किनारों पर खड़े होकर गरजती हुई लहरों का कोलाहल और पंक्ति लट पर फैलित पानी फैलता देखकर हमें उतना सुख नहीं होता जितना उस नदी की मन्द गति वाली धाराओं को, पुष्पाच्छादित कुञ्जों में से अपनी राह बनाते हुए देखकर होता है। शीघ्रता करो तो उसमें एक सौम्यता होनी चाहिए, परिश्रम से कभी न घबराओ। जो कुछ भी तुमने कहा है उस पर सौ बार विचार करो। उसको माँजो, फिर-फिर माँजो, और उसमें प्रत्येक सम्भव रंग भरो। बढ़ाने की अपेक्षा घटाना अधिक लाभप्रद होता है। यदि दोषों का घटाटोप है तो यत्र-तत्र वैदग्ध्य के स्फुलिंग चमक उठने से भी कुछ नहीं हो सकता। प्रत्येक वस्तु उचित स्थान पर समाविष्ट होनी चाहिए और विभिन्न अंगों का परस्पर अनुरूप सौन्दर्य होना चाहिए यहाँ तक कि जब एक अद्भुत कला के द्वारा सभी अंग जुड़ जायें तब हमें एक पूर्ण इकाई के दर्शन हों। तुम जो भी लिखो उसमें अपने विषय के सन्निकट रहो और किसी एक अच्छे वाक्य के निमित्त अन्य वाक्यों को विशृंखलित मत करो। अपनी रचनाओं पर लोक-अभिप्राय से डरो और अपने सबसे निर्मम आलोचक स्वयं बनो।

कोई सुन्दर वनदेवी जब शैया से उठती है तो वह अपने शीश का शृंगार चमकीले हीरों से नहीं करती, न स्वर्ण या मुक्ता के आभूषणों और बहुमूल्य प्रसाधनों का ही प्रयोग करती है। वह निकटवर्ती वनों में से ही अपने आभूषण एकत्र करती है। आदर्श गोप-गीति को इसी प्रकार सादी, किन्तु आकर्षक सज्जा से युक्त होना चाहिए। उसकी मृदु शैली में प्रचण्डता का तत्त्व नहीं होता, वह उद्धत पद-रचना के वर्धर नाद से सर्वथा मुक्त होती है। उसकी सहज सुन्दरता उत्तेजक और आनन्दप्रद होती है। यह भय नहीं रहता कि कानों

को कर्कश शब्द सुनने पड़ेंगे । लेकिन इस प्रकार की रचना में प्रायः प्रतिभा-शील कवि, आक्रोशपूर्वक ग्राम्य वाद्यों को परे फेंक देता है और उलभे हुए विचारों से आक्रान्त होकर गोप-गीति के बीच तूर्यनाद करने लगता है । फल-स्वरूप वनदेवता पैन^{६७} शंकित होकर निकट के घने वन में जा छिपता है और भयभीत जल-परियाँ, बाढ़ के जल में डुबकी लगा लेती हैं । इसके विपरीत, कुछ अन्य कवि हीन शैली में लिखते हैं, उनके गोप निकृष्ट और कुत्सित भाषा का प्रयोग करते हैं । ऐसे कवि की रचना नीरस, प्रवाहहीन और निराधार होती है । तुम्हें स्पष्ट प्रतीत होगा मानो रैण्डल की ग्राम्य-कविता की स्वर-लहरी दुबारा ग्रामीणों के प्रति निवेदित हो रही है । अतिवादों के बीच सही रास्ते पर चलना कठिन होता है । मार्ग-दर्शन के लिए वर्जिल को पढ़ो, थियोक्राइट^{६८} का अध्ययन करो ।

इस संसार में ऐसा कोई भी अरूप प्राणी नहीं है जो कला के द्वारा सँवारे जाने पर हमें सुख न दे । कुशल कलाकार अपने देवी कौशल के द्वारा कुरूप को दर्शनीय रूप प्रदान करता है । इस प्रकार हमें आल्लादित करने के लिए, हमारे मनोरंजन के लिए, त्रासदी दुख की अवस्था में भी ओइदिपस के लिए हमारे मन में आशा और भय का संचार करती है । पितृहन्ता ओरेस्तेस के लिए शान्ति का विधान करती है तथा हमें दुःखी बना कर भी हमारे आनन्द का संवर्धन करती है । तुम भी, जो इस साधु कला में सफलता प्राप्त करना चाहते हो, सामने आओ और उत्कृष्ट काव्य-रचना द्वारा सुयश-लाभ के लिए प्रयत्न करो । क्या तुम वस्तुतः चाहते हो कि रंगमंच पर तुम यशस्वी बनो और निरायिकों के रूप में सम्पूर्ण नगर को आमन्त्रित कर सको ? क्या तुम्हारी अभिलाषा यह है कि तुम्हारी रचनाएँ अमर हो जायें और युगों-युगों के बाद भी उनको पढ़ा जायें ? तो तुम जो कुछ लिखो उसमें सावधानी और कलात्मकता से भावों के उद्रेक का और हृदय को आकर्षित करने का ध्यान रखो । यदि किसी परिश्रम-साध्य अंक में व्यक्त सुखद रोष क्रमशः हमारे मन में भय और आशा के भाव नहीं जगाता, न करुणा का ही उद्रेक करता है, तो नाटकों में विद्वत्तापूर्ण दृश्यों का समावेश व्यर्थ ही है । तुम्हारे भावहीन संवाद निर्मम आलोचक के मर्म को कभी नहीं छू सकते, क्योंकि वह स्वभाव से ही कठोर होता है और तुम्हारी पांडित्यपूर्ण उड़ानों से थक कर या तो सो जाता है या तुम जो कुछ भी लिखते हो उस सब की कठोर आलोचना करता है । रहस्य की बात यह है कि पहले हमारा ध्यान आकर्षित किया जाये जिससे पहले ही दृश्य से यह स्पष्ट हो जाए कि लेखक का प्रयोजन क्या है । पहले

मन को आन्दोलित किया जाये और तब मनोरंजन ।

आनन्द प्रदान करने के लिए तुम्हें शतशः विकल्पों की परीक्षा करनी होगी । कभी नम्र बनो तो कभी ऊँची उड़ानें भरो । साधु विचारों का सर्वत्र प्राचुर्य रहना चाहिए । तुम्हारी अभिव्यक्ति सरल, सुखद, सारवान और गम्भीर हो । इनके साथ-साथ कौतूहलवर्धक पुट भी रहे । प्रत्येक पंक्ति में एक नये आश्चर्य का समावेश करो ताकि इन सबका एक समुचित सुयोजित रीति से प्रयोग करके तुम मन पर गहरा प्रभाव अंकित कर सको । ये ही सब ऐसी कलात्मक विशेषताएँ हैं जो त्रासदी में होती हैं । उसमें उद्भावना, कला और कथा—तीनों का ही संयोग होना चाहिए । कथा का स्वरूप अधिक-से-अधिक सुघर हो । ये सब मन, काय और वदन से समन्वित होकर मूर्तिवन्त हो उठें । प्रत्येक गुण किसी दिव्य शक्ति में मूर्तिमन्त हो उठे; बुद्धि पैलास^{१०६} के रूप में और सुन्दरता पैफ़ोज की अधिष्ठात्री^{१०७} के रूप में; वह मेघ के समान नहीं जहाँ से चंचला का उद्भव होता है वरन् गर्जना करने वाले जुपीटर^{१०८} के समान है; माँभी को कष्ट देने वाला प्रचण्ड तूफान नहीं है, वह तो नेपचून^{१०९} का रोष है जो उत्ताल तरंगों में व्यक्त होता है । प्रतिध्वनि केवल असार वायवीय ध्वनि ही नहीं है, वह एक सुन्दर जलपरी का अपने जल-मग्न प्रेमी के लिए व्याकुल क्रन्दन है । इस प्रकार कवि अपने मन के अक्षय भण्डार से सहस्रों अलंकारों की उद्भावना करता है और उनसे अपनी कृति को सँवारता है और अपने मन में प्रस्फुटित होते हुए फूलों का मुक्त कर से वितरण करता चला जाता है ।

हमारे भ्रान्त लेखकों ने व्यर्थ ही यह प्रयत्न किया कि इन प्राचीन अलंकरणों को दूर रखा जाय । उन्होंने यह सोचा कि ईश्वर और उसके पैगम्बर उन चरित्रों की भाँति व्यवहार करने लगेंगे जिनकी उद्भावना कवियों ने बेचारे पाठकों को भयभीत करने के लिए की और प्रत्येक पंक्ति में नरक और शैतान, ऐशतेरोथ^{१०३} और बेल^{१०४} की चर्च की । और ईसाइयों को इन सब रहस्यों पर विश्वास करना पड़ा । इस प्रकार के अस्थिर प्रदर्शनों (दृश्यों) को हेय समझो । मसीही धर्मविश्व में पश्चात्ताप या हमारे पापों के दण्ड के अतिरिक्त और कोई बात नहीं है । यदि उक्त रहस्य-कथाओं के अन्तर्गत मिथ्या कथन का समावेश किया जायगा तो हमारे पवित्र सत्य झूठ-से लगने लगेंगे ।

अगर तुम चाहते हो कि तुम्हारे पाठक कभी ऊबें नहीं तो किसी ऐसे महान् नायक को चुनो, जो सभी की प्रशंसा का पात्र हो । वह अद्वितीय साहसी हो और गुणों से देदीप्यमान । यदि उसमें कुछ दुर्बलताएँ भी हों तो उनके वर्णन से हमें प्रसन्नता ही प्राप्त हो । उसके महान् कार्यों के प्रति हम आकर्षित

हो सकें। उसकी चित्तवृत्तियाँ सीज़र या सीपियो^{१०५} की तरह हों, विश्वासघाती कुल में उत्पन्न ओइदिपूस जैसी नहीं। किसी साधारण व्यक्ति को विजेता के रूप में चित्रित करना अत्यन्त ध्रुव विषय है। ऐसी कथा मत चुनो जिसमें आकस्मिक घटनाओं का बाहुल्य हो। वैविध्य-बहुल होने से तुम्हारी कथा नीरस हो सकती है। यदि कुशलता से लिखा जाय तो अखिल्लेस का रोष ही सम्पूर्ण ईलिअद का विषय बनने के लिए यथेष्ट है। अपने वर्णनों को सजीव, संक्षिप्त और प्रवाहशाली बनाओ। अपने कथन में अपनी साधुतम कला का दिग्दर्शन करो। यही वह स्थल है जहाँ तुम्हारी काव्य-शक्ति का उपयोग होना चाहिए। परन्तु तुच्छ घटनाओं के निरूपण से बचो। उस मूर्ख का अनुकरण मत करो जिसने किसी कबीले की सेनाओं के आश्चर्यजनक अभियान का वर्णन करने के लिए रास्ते के किनारे शीशे के बर्तनों में रखी हुई मछलियों का वर्णन किया जो उन सेनाओं का टुकटकी बाँध कर देख रही थीं, और एक बच्चे का वर्णन किया, जिसने अपने नन्हें-से हाथों से (बालू में चमकते हुए पत्थर के टुकड़ों) को चुना। ऐसी वस्तुएँ इतनी तुच्छ होती हैं कि उन पर हमारी दृष्टि नहीं ठहर सकती। अपनी रचना में समुचित और भव्यतर उड़ानें भरों। तुम्हारी कृति का आरम्भ सहज हो और सावधान रहो कि तुम एकदम हवाई घोड़े पर सवार न हो जाओ और तुम दंभपूर्ण छन्दों में पाठकों से यह भी न कहो—“मैं गाता हूँ विश्व-विजेता नायक के यशगान।” इसके बाद लेखक लिख क्या सकता है? यह ‘खोदा पहाड़ और निकली चुहिया’ वाली बात होगी। हम ऐसे लेखक से कहीं अधिक प्रसन्न होते हैं जो बिना डींग मारे सरल शैली में सहज भाव निवेदन करता है, “मैं उस पवित्र राजकुमार के युद्धों का गायक हूँ जो फ्रीजियन तटों से होकर अपनी सेनाएँ ले आया और सर्वप्रथम लैवी-नियन तट पर उतरा।” इस कवि का आरम्भिक वर्णन दुनिया में उत्तेजना को जन्म देने वाला तो नहीं है, परन्तु हमें जितनी अपेक्षा होती है उससे अधिक कुशलता का परिचय देने वाला है, फिर तुरन्त ही वह रोमी वीर के भावी यश का गायन आरम्भ कर देता है। स्टाइक्स और एचरन की बाढ़ का और एलीजियन वनों में सीज़र के भ्रमण का वर्णन होता है। और भी कितने ही अलंकार कथा में सुन्दरता से गुम्फित होते हैं। हर वस्तु अपने सुन्दर रंगों में निरूपित की जाती है। तुम किसी भी रचना में सुखदता और उदात्तता का समावेश एक साथ कर सकते हो। बोझिल और अवसादपूर्ण काव्य-कृति मुझे अच्छी नहीं लगती। यदि कोई लेखक हमेशा नीरस है, यदि उसकी शैली क्लिष्ट तथा घिसी-पिटी है, यदि वह समझता है कि उसकी शैली में सौन्दर्य की देवियाँ

मुस्कराएँगी तो उसका अपमान होगा, तो ऐसे लेखक की कृति पढ़ने के बजाय मैं आरलैण्डो^{१०६} की हास्य-कथा पढ़ना अधिक अच्छा समझूँगा। कहा जाता है होमर ने, जो अद्वितीय कलाकार था, हृदय को आकर्षित करते के लिए सुन्दरता की देवी वीनस^{१०७} की करधनी चुराई। वस्तुतः उसकी काव्य-कृतियों में सौन्दर्य का अतुल भण्डार है। वह जिस वस्तु का भी स्पर्श करता है उसे स्वर्ण बना देता है। उसके हाथ में पहुँच कर प्रत्येक वस्तु नया सौन्दर्य ग्रहण कर लेती है। वह सदैव आनन्द प्रदान करता है और क्लान्त कभी नहीं करता। उसमें सर्वत्र एक आह्लाददायी ऊष्मा मिलती है। उसकी कृतियों में कहीं भी लम्बे-लम्बे विषयान्तर नहीं। उसके सभी छन्द किसी नियम का अनुसरण किए बिना एक विशिष्ट रीति से नियोजित होते हैं। सभी परिस्थितियाँ उसके उद्देश्य की पूर्ति में सहायक बनने के लिए उत्सुक प्रतीत होती हैं। प्रत्येक अक्षर घटना के सौन्दर्य को निखारता है। होमर के उदाहरण से तुम्हारे प्रयत्नों को बल मिलना चाहिए। उसकी कविताओं को प्यार करना भी प्रशंसा का एक प्रकार है।

यदि हमें किसी कविता में सभी प्रकार की पूर्णता मिले तो हमें यह नहीं मान लेना चाहिए कि वह रचना किसी विलक्षण मस्तिष्क की उपज है। उसमें अनुभव-शून्य मस्तिष्क का आरम्भिक सम्भ्रम न होकर सावधानी, सामयिकता, कुशलता और परिश्रमशीलता झलकेगी। फिर भी कुछ कला-हीन कवि, किसी भावपूर्ण कल्पना के वेग से प्रेरित होकर, मिथ्याभिमान से फूल कर, यह मान लेते हैं कि वे सब कुछ जानते हैं और दुःसाहसपूर्वक तुर्य हाथ में ले लेते हैं। उनके शब्दाडम्बरपूर्ण कवित्व के अन्तर्गत प्रत्येक घटना उलझ जाती है। उनकी कविता उड़ानें नहीं भर पाती, वह उछल-उछल कर आगे बढ़ती है, यहाँ तक कि उन कवियों के ज्ञान का लघु कोष समाप्त हो जाता है और उनकी कविता, पोषण के अभाव में, काल-कवलित हो जाती है। उनके तप्त मस्तिष्क से निःसृत काव्य की निन्दा लोग करते हैं, पर उन पर कोई असर नहीं होता; आलोचना होती है, पर उनकी आँखें नहीं खुलतीं, वे हठपूर्वक यशस्वी कवियों पर प्रहार करते हैं और अपनी अपरूप सृष्टि की सराहना करने के लिए कटिबद्ध रहते हैं। उनके कथनानुसार, उनके मुक्ताबले वजिल शुष्क और नीरस है, होमर को कविता की समझ ही नहीं। यदि उनकी योग्यता के प्रति वर्तमान युग विद्रोह करता है तो न्याय के लिए वे भविष्य की दुहाई देते हैं।

(काव्य-कला)

अनुवादक : श्री प्रयागनारायण त्रिपाठी

पोप

(सन् १६८८—१७४४ ई०)

[यूरोप के नव्यशास्त्रवादी साहित्यकारों में पोप का गौरव अक्षुण्ण है। उनका जन्म सन् १६८८ ई० में लन्दन नगर में हुआ था। परिवार के धर्मनिष्ठ वातावरण में उनका पालन-पोषण हुआ और उसी वातावरण में उनके व्यक्तित्व में सृजनशील साहित्यकार तथा आलोचक की विशेषताओं का प्रस्फुटन एवं विकास हुआ। अत्यन्त अस्वस्थ रहने पर भी उनकी साहित्य-साधना में किसी प्रकार का अन्तर नहीं आया। एक स्थान पर तो उन्होंने लिखा है कि 'कविता की देवी ने इस अनन्त रोग के द्वारा मुझे लाभान्वित ही किया है।'

साहित्य-साधना के प्रारम्भ-काल में ही पोप ने अपने आलोचना-सम्बन्धी मन्तव्यों की स्थापना की थी। श्री कोथोप का विश्वास है कि उनके 'आलोचना-विषयक निबन्ध' (ऐसे आन क्रिटिसिज्म) की रचना १७०६ ई० में हुई। पोप ने स्वयं भी पहले इसी प्रकार का उल्लेख किया था किन्तु बाद में उन्होंने लिखा कि उक्त कविता की रचना सन् १७०७ में हुई थी। पोप के मत से साहित्य का मुख्य प्रयोजन है नैतिक विचारों की स्थापना और प्रसार।

'ऐसे आन क्रिटिसिज्म' पोप की मुख्य आलोचनात्मक कृति है। यह तीन भागों में विभाजित है। प्रथम भाग में प्रमुख सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है जो प्राचीन आचार्यों के 'अनुकरण-सिद्धान्त' पर आश्रित है। द्वितीय भाग में प्रतिभा का विवेचन किया गया है तथा काव्यगत नियमों के पालन और अन्विति-निर्वाह पर बल देते हुए हर प्रकार के अतिवादी दृष्टिकोण के निवारण की शिक्षा दी गई है। तृतीय भाग में एक सफल आलोचक के गुणों का व्याख्यान है।

अपने सिद्धान्तों की स्थापना के लिये पोप ने विविध स्रोतों से सहायता ली है। वे क्विन्टीलियन, होरेस, बुअलो, आदि आलोचकों के ऋणी हैं : अपने पूर्ववर्ती अंग्रेज आलोचक ड्राइडन का भी उन पर काफी प्रभाव है। फिर भी पोप में अपनी एक मौलिकता है। उनकी आलोचना की विशेषता यह है कि

उन्होंने कवियों के लिये न लिखकर आलोचकों के लिये लिखा है : उनके आलोचना-विषयक निबन्ध में कवियों को काव्य-कला की शिक्षा नहीं दी गई। पोप का विश्वास था कि संस्कृति की धारा अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित होती रहती है, इसलिये प्रत्येक पीढ़ी को अपना कार्य नये रूप से आरम्भ करने की आवश्यकता नहीं होती। वह तो पुरानी परम्पराओं का ही विकास नये रूप में करती है। जॉनसन ने सामग्री-चयन, विन्यास की नूतनता, न्याय्य शिक्षा, उदाहरणों की भव्यता एवं उचित विचार-परम्परा के कारण इस निबन्ध की बहुत प्रशंसा की है।

यद्यपि पोप के सिद्धान्तों में मौलिकता की मात्रा अधिक नहीं है फिर भी अपनी निर्दिष्ट योजना एवं स्पष्टता के कारण वे बहुत महत्वपूर्ण हैं। स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्तियों का आरम्भ ड्राइडन की आलोचना से होता है। पोप ने उसकी सीमा बाँध दी। मृत्यु के पश्चात् अठारहवीं शताब्दी में पोप के सिद्धान्तों का विरोध होता रहा किन्तु उनका उद्देश्य सफल और प्रयास अमर हो गया।]

×

×

×

समालोचना

यह कहना कठिन है कि कौशल का अधिक अभाव किसमें है?—सदोष काव्य-रचना में अथवा दोषपूर्ण काव्य-परीक्षण में। परन्तु इन दोनों दोषों में हमारे धैर्य को डिगाने की अपेक्षा बुद्धि को भ्रमान्वित करना अधिक हानिकारक है। पहले में तो कुछ ही लोगों से चूक होती है परन्तु दूसरे—अर्थात् बुद्धि को भ्रमान्वित करने—के अपराधी बहुत होते हैं। अगर सदोष रचना करने वाला एक होता है तो अनुचित निन्दा करने वाले दस। मूढ़मति एक बार स्वयं अपनी जगहँसाई कराता है—पद्य में यदि ऐसा एक होता है तो गद्य में उनकी संख्या अनेक होती है।

हमारी विवेचनाएँ एक-सी नहीं होतीं—जैसे हमारी घड़ियाँ सब एक ही समय नहीं देतीं परन्तु फिर भी प्रत्येक व्यक्ति अपनी ही विवेचना (और घड़ी) पर विश्वास करता है। जैसे कवियों में सच्ची प्रतिभा विरल होती है वैसे ही आलोचक के भाग में सच्चा रस-बोध कम ही आता है। ये जो परखने के लिए जन्मे हैं और वे जो लिखने के लिए पैदा हुए हैं दोनों ही अपनी ज्योति विधाता से प्राप्त करते हैं। जो स्वयं उत्कृष्टतर हों वे दूसरों को सिखायें, जिन्होंने स्वयं सुन्दर काव्य-रचना की हो वे ही दूसरों (के काव्य) को दोष-दर्शन

कराते शोभा पा सकते हैं। यह सत्य है कि रचनाकार में अपनी काव्य-प्रतिभा के प्रति पक्षपात की भावना होती है, परन्तु क्या आलोचक में अपनी विवेचन-शक्ति के प्रति ऐसा ही पक्षपात नहीं होता ?

परन्तु यदि हम और सूक्ष्म दृष्टि से देखें तो पायेंगे कि विवेक-बीज बहुधा मनुष्य के अपने अन्तर में निहित रहता है; प्रकृति कम-से-कम एक क्षीण आलोक का वरदान तो देती ही है; रेखाएँ यद्यपि अस्फुट होती हैं परन्तु वे होती ठीक हैं। परन्तु जैसे सुष्ठु रेखाओं से युक्त ललित चित्र भी बेढंगे रंग भरने से अत्यन्त कुरूप हो जाता है, वैसे ही अविद्या से सद्बुद्धि विकृत हो उठती है। कुछ विद्यालयों की भूलभुलैयाँ में पड़ कर बौराये हुए हैं, और कुछ स्वभाव-जात मूढ़ दम्भी बनकर रह गये हैं। वैदग्ध्य की खोज में ये गाँठ की अक्ल भी गँवा बैठते हैं और फिर अपनी रक्षा के निमित्त आलोचक बन जाते हैं। परन्तु तुम—जो सुयश देने और पाने के अधिकारी बनते हो और आलोचक का पुनीत नाम न्यायपूर्वक धारण किये हो—स्वयं दृढ़ बनो, देख-परख लो कि तुम्हारी पहुँच कहाँ तक है, जान लो कि तुम्हारी प्रतिभा, रुचि और ज्ञान का क्षेत्र कितना है। अपनी थाह से आगे न बढ़ो, अच्छी तरह सोच-समझ कर पग उठाओ, बुद्धिमत्ता एवं मन्दता के सीमा-बिन्दु को अच्छी तरह पहचान लो।

प्रकृति ने प्रत्येक वस्तु की सीमाएँ निर्धारित कर दी हैं और विवेकपूर्वक हस्त मानव की अभिमानिनी बुद्धि को नियंत्रित कर दिया है। जैसे समुद्र जब एक ओर की मही को आप्लावित कर लेता है तो दूसरी दिशाओं में विस्तृत सिकता-प्रदेश पड़े रह जाते हैं, वैसे ही हृदय में जब स्मरण-शक्ति का प्राचुर्य हो जाता है तो बोध की प्रौढ़ शक्ति क्षीण हो जाती है। जहाँ सजग कल्पना की किरणें जगमगाती हैं, वहाँ स्मरण की कोमल आकृतियाँ तिरोहित हो उठती हैं। एक प्रतिभा के योग्य एक ही शास्त्र हो सकता है—कला इतनी अपार है और मानव-मति इतनी सीमित ! मानव-मति की किसी एक सम्पूर्ण विद्या में भी गति नहीं होती—उसकी भी किसी एक ही शाखा में वह सीमित रहती है। तृष्णा के वश यदि हम अपनी विजयों को विस्तार देने का प्रयत्न करते हैं तो पूर्व-प्राप्त विजयों को भी गँवा बैठते हैं। यदि मनुष्य उसी क्षेत्र में रहे जिसमें उसकी गति है तो वह अपना अधिकार-प्रबन्ध भली भाँति संचालित कर सकता है।

पहले प्रकृति का अनुसरण करो और उसके उपयुक्त मापदण्ड के सहारे—जो नित्य एक रहता है—अपनी विवेक-शक्ति को सुधारो। सदैव दैवी द्युति से मण्डित अच्युत प्रकृति विमल, नित्य एवं सार्वभौम ज्योति है—वह

सबको जीवन, शक्ति एवं सुपमा वितरित करती है; वह कला का स्रोत, उसका साध्य, उसकी कसौटी सभी-कुछ है। प्रत्येक कला को उसी से उचित सम्भार उपलब्ध होता है, वह बिना प्रदर्शन के कार्य करती है तथा बिना आडम्बर के निर्देशन करती है। इसी प्रकार ज्ञानप्रद आत्मा किसी सुन्दर काया में विराजती है, उसे वह भावों से पोषित करती है, उसमें ओज भरती है, उसकी प्रत्येक गति को निर्देशित करती है तथा प्रत्येक स्नायु को परिपोषण देती है—स्वयं अव्यक्त रहती है परन्तु कार्यों में प्रस्फुटित होती है। जिन्हें विधाता ने वैदग्ध्य प्रचुर मात्रा में प्रदान किया है, वे उसके समुचित उपयोग के लिए उसकी उतनी ही मात्रा और चाहते हैं : विवेक और वैदग्ध्य प्रायः परस्पर द्वन्द्वरत रहते हैं यद्यपि उनका अस्तित्व पति-पत्नी की भाँति एक-दूसरे की सहायता के निमित्त होता है। वैदग्ध्य का काम होता है पथ-प्रदर्शन करना, काव्य-तुरंग को एड़ लगाना नहीं; उसके रोष को संयत रखना, गति को उत्तेजित करना नहीं। यह पक्षधर वेगवान् अश्व एक सुशील घोड़े की तरह तब अपना सच्चा स्वरूप प्रकट करता है जब उसका मार्ग अवरोद्ध किया जाता है। पुरातन आविष्कृत नियम—जो कृत्रिम नहीं—आज भी प्रकृति के ही हैं, परन्तु व्यवस्थाबद्ध प्रकृति के। स्वतन्त्रता की भाँति प्रकृति भी उन्हीं नियमों द्वारा प्रतिबन्धित है जो पहले उसी के द्वारा निर्मित हुए हैं।

ज्ञान-भूमि यूनान ने अपने उपयोगी नियम कैसे बनाये हैं ! कहाँ हमारी उड़ानों को नियन्त्रित किया जाये और कहाँ छूट दे दी जाये ! अपनी सन्तानों को उसने परनासस^{१०८} के उत्तुंग शिखर पर प्रतिष्ठित दिखला दिया और जिस दुर्लभ पथ पर होकर वे गये हैं, उसकी ओर भी संकेत कर दिया। दूर, अमित ऊँचाई में शाश्वत पुरस्कार दिखला कर उसी पन्थ से अग्रसर होने के लिए उसने औरों को भी प्रेरित किया है। इस प्रकार इसने महान् दृष्टान्तों के द्वारा सत् शिक्षा दी है। उन्होंने दैव-कृपा से जो पाया सो इसने उनसे ग्रहण कर संचित किया है। उदारचेता समालोचक ने कवि का उत्साह-वर्धन किया और संसार को विवेकपूर्वक प्रशंसा करने की शिक्षा दी।

तब समालोचना कविता की सखी हो गई—उसका काम हुआ कविता की श्री को मण्डित करना तथा उसे और भी आकर्षक बनाना। परन्तु उत्तरवर्ती प्रतिभाएँ इस उद्देश्य से भटक गईं। वे (आलोचक) जब स्वामिनी को न जीत सके तो उन्होंने दासी पर ही जाल डाला। उन्होंने अपने अस्त्र कवि के विरुद्ध उन्मुख किये, जिनसे वह स्वयं सीखते थे उन्हीं की निश्चय निन्दा की ओर वे प्रवृत्त हुए। अतः नीमहकीमों ने चिकित्सक की व्यवस्थाओं

को पढ़-पढ़कर चिकित्सक की भूमिका सम्पन्न करने की कला सीखी। आन्त नियमों के परिपालन में उन्होंने बड़ी निडरता का परिचय दिया—वे अनुपात बताने लगे, प्रयोग करने लगे, साथ ही अपने गुरु को मूर्ख बताने लगे। कुछ पुरातन लेखकों के पन्नों पर ही दाँत लगाते हैं—जितना विनाश ये कर रहे हैं, उतना न काल ने किया है, न कीड़ों-मकोड़ों ने। बहुत-से लेखक अत्यन्त शुष्क, विरस शैली में—विना किसी नूतन उक्ति आदि के—काव्य-सृजन के शिथिल नियमों का निर्माण करते हैं। ये पांडित्य-प्रदर्शन के हेतु अर्थ का तिरस्कार करते हैं और वे अर्थ का अनर्थ।

अस्तु, तुम—जिसकी विवेचना समुचित मार्ग का अनुसरण करती है—प्रत्येक प्राचीन (लेखक) के सत्य स्वरूप से अवगत हो : तुम उनके प्रत्येक पृष्ठ की कथा, वर्ण्य-विषय, विस्तार, धर्म, देश, युगीन प्रतिभा सबको जानते हो। इन सबके एक साथ दृष्टि के सम्मुख हुए बिना तुम छिद्रान्वेषण कर सकते हो, समालोचना नहीं। होमर की कृतियों का अवगाहन करो, उनका रसास्वाद करो—दिन में उनका अध्ययन करो और रात्रि के समय मनन : इस प्रकार अपनी विवेक-शक्ति का निर्माण करो, उसी के आधार पर सूत्र निर्धारित करो और कविता के आदि स्रोत के अन्वेषण का प्रयत्न करो। फिर उसके काव्य पर, उसी से तुलना करते हुए, विचार करो, और उस पर अपना अभिमत व्यक्त करने के लिए वजिल की कविता का पारायण करने लगे।

जब नवयुवक मारो^{१०६} ने प्रथम बार अपने विशाल मानस में अमर रोम से भी अधिक चिरंजीवी कृति की कल्पना की तो कदाचित् वह समालोचकों के नियम से ऊपर दिखाई पड़ा, उसने प्रकृति के अतिरिक्त किसी अन्य से सीख लेना हेय समझा। परन्तु जब उसने सूक्ष्मता से सर्वांग का निरीक्षण किया तो उसने पाया कि प्रकृति और होमर में तो कोई अन्तर नहीं। आश्वस्त और विस्मय-विमुग्ध होकर उसने अपनी साहसपूर्ण योजना का पुनः परीक्षण किया और अपनी श्रमसाध्य कविता को ऐसे अटल नियमों में बाँध दिया मानो स्वयं अरस्तू ने प्रत्येक पंक्ति का शोधन किया हो। अतः प्राचीन नियमों का समुचित आदर करना सीखो—उनका और प्रकृति का अनुसरण करना एक ही बात है।

कुछ सौन्दर्य ऐसा है जो आज भी अनिर्वचनीय है—क्योंकि उसमें आह्लाद भी होता है, विषाद भी। संगीत भी काव्य-कला के सहश है—दोनों में ऐसा सौष्ठव होता है जिसे शब्द द्वारा अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता और न किसी रीति से उसकी शिक्षा दी जा सकती है। वहाँ तक किसी कलासिद्ध की ही पहुँच हो सकती है। जहाँ कहीं कोई नियम यथार्थ में समर्थ नहीं

होते (क्योंकि नियमों का निर्माण तो साध्य की सिद्धि के निमित्त ही होता है), वहाँ कोई शुभगति स्वतन्त्रता अभीष्ट की सिद्धि करती है और वही नियमवत् प्रतिष्ठित हो जाती है। अतः कविता-अश्व लघु मार्ग ग्रहण करने के लिए लीक से हटकर अपनी निर्भीकता का भी परिचय दे सकता है (इसमें कोई अनीति नहीं)। साहसपूर्ण क्रान्ति के द्वारा कविता तुच्छ मर्यादाओं का उल्लंघन भी कर सकती है और कोई ऐसा सौष्ठव अर्जित कर सकती है जो कला की पहुँच के परे हो, यह सौष्ठव बिना कसौटी पर कसे ही मन को जीत लेता है तथा एकवारगी ही अपने इष्ट साध्य को प्राप्त कर लेता है।

अतः प्रकृति की सामान्य व्यवस्था से भिन्न कुछ पदार्थ ऐसे होते हैं जो अपनी रूपरेखा में हमारे नेत्रों को आह्लाददायी होते हैं—जैसे आकृतिहीन शिलाखण्ड तथा अधर में लटकते हुए कगारे। सुकवि कहीं-कहीं स्तुत्य रीति से नियम भंग कर सकते हैं, वे ऐसे दोषों को स्थान दे सकते हैं जिनके शोधन का साहस सच्चे समालोचकों को भी न हो। परन्तु यद्यपि प्राचीनों ने स्वयं इस प्रकार से अपने ही नियमों का अतिक्रमण किया है (जैसे राजा अपने ही द्वारा निर्मित नियम को तिलांजलि दे देता है) तथापि हे आधुनिको ! तुम सावधान रहना। उन्होंने जो सीख दी है उसके विरुद्ध यदि कभी तुम्हें नियम भंग करना ही पड़े—जो कि बहुत ही कम और आवश्यकता से विवश होने पर ही किया जाना चाहिए—तो भी तुम साध्य का अतिक्रमण कभी मत करना और अपने पक्ष के समर्थन में उनका प्रमाण अवश्य प्रस्तुत रखना। अन्यथा आलोचक निर्ममता से अपनी लेखनी चलायेगा—तुम्हारी कीर्ति को अस लेगा तथा अपने नियमों का प्रवर्तन करेगा।

मैं जानता हूँ यहाँ ऐसे गर्विष्ठ भी हैं जिन्हें उन (प्राचीनों) की वह मुक्त आर्ष शोभा भी दोष दृष्टिगोचर होती है। कुछ आकृतियाँ अत्यन्त निकट से अथवा अलग-अलग करके देखने पर कुरूप एवं विकट प्रतीत होती हैं परन्तु यदि उन्हें ठीक-ठीक स्थान एवं आलोक मिले तथा उचित अन्तर से देखा जाये तो उन्हीं में शोभा एवं आकृति-सौष्ठव दीख पड़ता है। चतुर सेनापति के लिए सदा बराबर दल खड़ा करके तथा न्यायोचित व्यूह बनाकर अपनी शक्ति दिखाना आवश्यक नहीं होता—उसे तो देश-काल के अनुकूल आचरण करना चाहिए। कभी वह अपनी शक्ति का गोपन कर सकता है, यहाँ तक कि कभी रण-विमुख होकर भागता हुआ भी भासित हो सकता है। ये तो प्रायः युद्धक्षेत्र के छल होते हैं जिन्हें हम त्रुटियाँ समझते हैं। इसी प्रकार वास्तव में होमर नहीं ऊँचता, हम ही सो रहे होते हैं। प्राचीन वेदियाँ आज भी वृक्ष-गुल्मों की

हरीतिमा से सुशोभित हैं—वे धर्मद्रोही हाथों की पहुँच से दूर हैं, ईर्ष्यामूलक भीषण रोष की ज्वालाओं से, सत्यानाशी युद्ध एवं सर्वग्रासी काल की चपेट से वे सुरक्षित हैं। प्रत्येक प्रदेश से ज्ञानीजन यहाँ धूप-दीप लेकर आते हैं, यहाँ सब भाषाओं में एक ही जयघोष ध्वनित होता है : ऐसे उचित स्तवन में प्रत्येक स्वर मिलकर मानव-मात्र के गायन को और भी बल-स्थैर्य दे ! शुभ काल में जीवन धारण करने वाले सफल सुकवि, तुम धन्य हो ! तुम सम्पूर्ण जगत् की प्रशंसा के अमर अधिकारी हो। काल की गति के साथ तुम्हारी प्रतिष्ठा उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही है जैसे नदी ज्यों-ज्यों नीचे की ओर प्रवाहित होती जाती है, त्यों-त्यों उसका विस्तार भी बढ़ता है। भावी जातियाँ तुम्हारे यशस्वी नामों का गुणगान करेंगी, आज जो संसार भविष्य के गर्भ में प्रतिष्ठित है वह भी एक दिन तुम्हारी सराहना करके कृतकृत्य होगा। तुम्हारी दिव्य ज्योति का कोई स्फुलिंग कदाचित् तुम्हारी किसी अन्तिम अधम सन्तान को प्रेरणा दे (अशक्त पक्षधारी ये तुम्हारी सन्तानें दूर से ही तुम्हारी उड़ानों का अनुसरण करती हैं, पड़ते समय उनके मुख पर दीप्ति छा जाती है परन्तु कलम उठाते ही उनके हाथ काँप उठते हैं) और मृषा प्रतिभाओं (कवियों) को श्रेष्ठतर बुद्धि की सराहना करने और अपनी मति पर संशय करने का अज्ञात ज्ञान प्रदान करे। मानव के च्युतिशील विवेक को अन्धा बनाने तथा मन को भ्रान्त करने में जो कारणभूत है, जो दुर्बल मनुष्य तथा अत्यन्त दृढ़ धारणा वाले मनुष्य दोनों को शासित करता है, जो मूढ़ों की अमोघ दुर्बृत्ति है—वह है गर्व। प्रकृति जब सद्गुण की न्यूनता कर देती है तो मानो उसके अभाव की पूर्ति अपार गर्व देकर करती है। जैसी प्रक्रिया हम तन में देखते हैं, मन में भी वैसी ही होती है—वहाँ रक्त और उत्साह का अभाव होने पर वात से स्फीति हो जाती है। जहाँ बुद्धि विफल हो जाती है वहाँ गर्व ही हमें त्राण देता है और सुमतिहीनता की अमित रिक्तता को पूर्णतः भर देता है। यदि एक बार सद्बिवेक उस मेघ-माला को छिन्न-भिन्न कर दे तो सूर्य के समान प्रखरता से सत्य हमारे मन को आलोकित कर देता है। अपनी त्रुटियाँ जानने के लिए अपने ऊपर विश्वास मत करो—इसके निमित्त प्रत्येक मित्र तथा प्रत्येक शत्रु का उपयोग करो।

अल्प ज्ञान अनर्थ का मूल होता है, काव्य-स्रोत में या तो गहरे पैठकर उसका अमृत-पान करो अन्यथा उसका आस्वाद ही मत करो। उसके छोटे घूँट बुद्धि को अतिशय प्रमत्त कर देते हैं, आवृत्ति पान से वह पुनः स्थिर हो जाती है। उद्दण्ड यौवन में सरस्वती के वरदान से पहले-पहल उत्तेजित होकर हम कला के शिखर पर पहुँचने के लिए ललचाते हैं परन्तु अपने मन के सीमित धरातल से

हम निकट दृश्य ही देख पाते हैं, पृष्ठभूमि में फैले हुए क्षेत्र को नहीं देख पाते । जितना ही हम आगे बढ़ते हैं उतना ही आश्चर्यचकित होकर देखते हैं कि अनन्त विद्याओं के दूरवर्ती नये-नये दृश्य उदित होते जाते हैं । अतः आरम्भ में प्रमुदित मन से हम गगनचुम्बी आल्प्स पर चढ़ने की अभिलाषा करते हैं, हमें लगता है हम घाटियों को पार कर आकाश को भी पदाक्रान्त कर लेंगे, मानो चिरन्तन हिमानी पीछे ही छूट गई है ; प्रथम श्रृंग एवं प्रथम मेघखण्ड हमें अन्तिम-से प्रतीत होते हैं । परन्तु जब इन तक पहुँच जाते हैं तो कातर-भाव से देखते हैं कि चिरवर्द्धमान मार्ग उत्तरोत्तर अधिक श्रम की अपेक्षा करता है, विराट् होते हुए दृश्य को देखकर हमारे आतुर नयन थक उठते हैं, एक श्रृंग के पश्चात् दूसरा तथा एक आल्प्स के बाद दूसरा आल्प्स आता चला आता है ।

निष्णात विवेचक प्रत्येक वैदग्ध्यपूर्ण कृति को उसी भावना से पढ़ता है जिससे रचयिता ने उसका प्रणयन किया हो । वह सम्पूर्ण कृति को परखता है, देखता है कहाँ प्रकृति आन्दोलित होती है तथा आह्लाद मन को भावोष्णता से भर देता है—वह छोटे-छोटे दोष नहीं देखता और न मात्सर्यमूलक जड़ प्रसन्नता के निमित्त काव्य-गुण पर मुग्ध होने के उदार आनन्द का परित्याग करता है । परन्तु ऐसी कविताओं पर जिनमें न ज्वार आता है, न भाटा; जो शुद्ध होते हुए भी भावविहीन होती हैं; जो एक ही रीति से मन्द-मन्द प्रवाहित होती हैं; जो दोषों से बचती हुई एक ही बँधी-बँधई गति अपनाये रहती है—हम दोष भले न लगायें परन्तु (उनसे ऊँचकर) सो तो सकते हैं । प्रकृति की भाँति कविता में भी जो हमारे मन को प्रभावित करती है वह उसके पृथक्-पृथक् अंग-प्रत्यंगों की सुडौलता नहीं होती, हम एक आँख, अथवा अधर को सौन्दर्य की संज्ञा नहीं देते—सौन्दर्य उन सबकी सम्मिलित शक्ति एवं निष्पन्न परिणाम की संज्ञा है । इस प्रकार जब हम किसी सुघर-सानुपात गुम्बद को देखते हैं (जो सम्पूर्ण जगत् के लिए—और ए रोम ! तेरे लिए भी—विस्मय का कारण हो) तो उसके भिन्न-भिन्न भाग कम या अधिक आश्चर्य नहीं उपजाते—प्रशंसा-भरे नयनों के सम्मुख वे एक इकाई के रूप में उपस्थित होते हैं । उसमें कोई अनुपातहीन ऊँचाई, चौड़ाई या लम्बाई नहीं होती—पूरी इकाई अत्यन्त सुडौल एवं उत्कृष्ट दिखाई पड़ती है । जो कोई सब विधि निर्दोष कविता देखने का इच्छुक हो, वह एक ऐसी चीज की कल्पना कर रहा है जो न कभी रही है, न है और न होगी । प्रत्येक कृति में कर्ता के साध्य को ध्यान में रखना चाहिए क्योंकि उसका जो अभीष्ट होता है, उससे अधिक अपनी भावना में कोई नहीं बाँध सकता और फिर यदि उसके साधन उचित हों, आचरण सच्चा हो

तो छोटे-मोटे दोषों के रहते भी प्रशंसा उसका प्राप्तव्य हो जाता है। जैसे अभिजातों को—और कभी-कभी कवियों को भी—बड़ी त्रुटियों से बचने के लिए छोटी त्रुटियाँ करनी पड़ती हैं, वैसे ही ऐरे-गैरे शब्दवीर समालोचक द्वारा नियत नियमों की उपेक्षा कर दी जानी चाहिए क्योंकि तुच्छ बातों को न जानना भी प्रशंसा की ही बात है। अधिकांश समालोचक—जो किसी पराश्रित कला के प्रेमी होते हैं—अब भी पूर्ण को अंश के आश्रित रखते हैं। वे बात तो करते हैं सिद्धान्तों की परन्तु धारणाओं को बड़ा महत्त्व देते हैं और अपनी किसी एक अभिमत मूढ़ता पर सब-कुछ उत्सर्ग कर देते हैं।

कहते हैं एक बार ला मांचा के सामन्त की भेंट मार्ग में एक कवि से हो गई। उस (सामन्त) ने एक मनस्वी की-सी गम्भीर मुद्रा में अत्यन्त उपयुक्त भाषा के माध्यम से ऐसा प्रवचन किया जैसा यूनानी रंगमंच का डेनिस^{११०} भी क्या कर सकता है ! अन्त में उसने निष्कर्ष यह निकाला कि जो अरस्तु-कृत नियमों का उल्लंघन करते हैं वे सब मध्यमस्त एवं मूढ़मति हैं। कवि ऐसा सुन्दर पारखी एवं कलाविद् पाकर प्रसन्न हो गया, उसने अपना नाटक उसके सम्मुख प्रस्तुत किया तथा सामन्त की सम्मति माँगी। उसने सामन्त को वर्ण्य-विषय समझाया, कथानक, आचार-व्यवहार, भाव, अन्वितियाँ—संक्षेप में, सभी तत्त्वों पर प्रकाश डाला। ये सभी तत्त्व नितान्त नियमानुकूल निष्पन्न हुए थे—केवल एक युद्ध उसमें छूट गया था। सामन्त ने तुरन्त आश्चर्य प्रकट किया : “हैं! युद्ध का समावेश नहीं किया गया !” “हाँ”—कवि ने उत्तर दिया, “अन्यथा हमें अरस्तु के नियम छोड़ने होंगे।” क्रोधावेश में आकर सामन्त ने कहा : “राम, राम ! यह कैसे हो सकता है ? सामन्त, सूरमा, पदातिक, हय-रथ सभी रंगमंच पर आने चाहिए।” “परन्तु ये इतना सब झमेला मंच पर समायेगा कैसे ?” “नहीं समायेगा तो नया मंच बनाओ—या फिर मैदान में अभिनय करो।” इस प्रकार विवेचक—जो पारखी कम, सनकी अधिक होते हैं; जिनमें जिज्ञासा होती है, अभिज्ञता नहीं; भले होते हुए भी जिनके पास अन्वर्थ दृष्टि नहीं होती—संकीर्ण विचार बना लेते हैं और अवयवों के प्रति अपने आग्रह के कारण कला के क्षेत्र में अपराध के भागी बनते हैं (जैसे बहुत से व्यक्ति आचार-व्यवहार में)। कुछ लोगों की रूचि अलंकार में ही परिमित होती है, वे प्रत्येक पंक्ति में कोई-न-कोई भासमान विचार आबद्ध करते हैं। वे ऐसी कृति से ही सन्तुष्ट हो जाते हैं जिसमें न कुछ उचित होता है, न उपयुक्त—होती है केवल अत्यन्त स्फुट अव्यवस्था तथा विदग्धता का क्रमहीन संघात। इस प्रकार अनावृत प्रकृति एवं जीवन्त शोभा के निरूपण में अकुशल चित्तेरे की भाँति ये कवि

प्रत्येक अंग को स्वर्ण एवं रत्नादिक से लाद देते हैं—वे कला के अभाव का गोपन अलंकारों से करना चाहते हैं। सच्ची कविता सौन्दर्यवर्धक परिच्छद से युक्त प्रकृति की भाँति है; वह है जो मन में पहले भी प्रायः आया हो परन्तु इतनी अच्छी तरह अभिव्यक्त कभी नहीं हुआ हो; वह जिसकी सत्यता की प्रतीति हमें देखते ही हो जाये, जो हमारे हृदय का चित्र ही हमें दिखला दे। जैसे छाया प्रकाश को और मधुर बना देती है वैसे ही सहज सरलता उक्ति-चमत्कार को और भी वैशिष्ट्य प्रदान कर देती है क्योंकि हो सकता है किसी कृति में उपयुक्त मात्रा से अधिक (उक्ति) वैदग्ध्य हो—रक्त की अतिशयता से भी शरीर का नाश हो जाता है।

अन्य ऐसे हैं जिनका सारा ध्यान भाषा की ओर ही होता है—वे ग्रन्थ का मूल्य, नर-नारी की तरह, वेशभूषा के आधार पर आँकते हैं। उनकी प्रशंसा का आज भी यह रूप है : “शैली बहुत बढ़िया है !”—जहाँ तक अर्थ का प्रश्न है वे मौन भाव से सन्तोष कर लेते हैं। शब्द तो पत्तों की तरह हैं, जहाँ उनका बाहुल्य होता है वहाँ उनके नीचे अर्थ-रूपी फल कभी-कवाद ही मिलता है। मृषा वाग्मिता इन्द्रधनुषी काच की भाँति प्रत्येक स्थल पर अपने चित्र-विचित्र रंग फैला देती है—तब फिर प्रकृति का यथार्थ रूप दृष्टिगोचर नहीं होता, सम्पूर्ण प्रकृति बिना भेद के प्रमुदित-प्रफुल्लित तथा अपने रंगों में झिलमिलाती हुई दिखाई पड़ती है। परन्तु सुष्ठु अभिव्यक्ति नित्य सूर्य की भाँति जिस पर भी अपनी किरणें बिखेर देती है उसे ही निर्मल बना देती है, सुधार देती है। वह उसे उज्ज्वल प्रभापुंज से भर देती है, वह प्रत्येक वस्तु को सुवर्ण से मंडित कर देती है परन्तु बदलती किसी को नहीं। अभिव्यक्ति विचार का परिच्छद होती है, वेशभूषा जितनी अच्छी होगी उतना ही विचार सुघर मालूम पड़ेगा। आडम्बरपूर्ण शब्दों में अभिव्यक्त तुच्छ भावना राजकीय सज्जा से मंडित विदूषक की भाँति लगती है। भिन्न-भिन्न विषयों के साथ भिन्न-भिन्न शैलियाँ शोभित होती होती हैं—जैसे अलग-अलग देशों में, नगरों में एवं राज-सभाओं में अलग-अलग तरह के वस्त्र धारण किये जाते हैं। कुछ लोगों ने पुरातन शब्द-योजना के द्वारा कीर्ति-कामना की है, वे पदावली में प्राचीन परन्तु अर्थ की दृष्टि से अर्वाचीन हैं—ऐसी विचित्र शैली में इस प्रकार का निष्फल श्रम अनधीत को विस्मित करता है परन्तु जो विद्वान है वह उस पर मुस्करा भर देता है।

फंगोसो^{१११} की तरह ये दुर्भाग अपनी भँडैती द्वारा अपनी विद्रूप निःसारता में यह प्रदर्शित करते हैं कि अतीत में अभिजात जन क्या वस्त्र पहनते थे। इस

प्रकार वे उत्कृष्ट बुद्धि-सम्पन्न प्राचीनों की नकल किया करते हैं जैसे वानर हमारे पूर्व-पुरुषों की वेशभूषा धारण कर उनका अनुकरण करें। वस्त्रादि की भाँति शब्द के क्षेत्र में भी यही नियम सत्य है—बहुत प्राचीन हो या बहुत नवीन, दोनों ही वेढेंगे लगते हैं। अग्रयायी मत वनो जिसे नूतन का प्रयोग करना पड़ता है और न प्राचीन का परित्याग करने वालों में अन्तिम ही वनो !

परन्तु बहुत-से (समीक्षक) कवि की रचना छन्द की कसौटी पर परखते हैं—वह (छन्द) सुगति हो तो कविता अच्छी, नहीं तो बुरी। देवि दीणापाणि अपने सहस्रों लावण्यों से सुशोभित होती हैं। परन्तु ये कनरसिये मूढ़ केवल उनके स्वर की सराहना करते हैं। जो परनासस पर विचरते हैं उनका उद्देश्य चित्त-सुधार नहीं होता, वे परम श्रवण-सुख के निमित्त वहाँ जाते हैं—जैसे कुछ लोग उपदेश ग्रहण करने नहीं, संगीत-प्रेम के वश गिरजे में जाया करते हैं। ये चाहते हैं केवल बराबर मात्राएँ—यद्यपि विवृत स्वर प्रायः कानों को उकता देते हैं; इनके अशक्त सहायक होते हैं भरती के पद : प्रायः एक शिथिल पंक्ति में दस-दस निकृष्ट पद प्रवेश पा जाते हैं। और उधर वे बार-बार एक ही लय का चक्कर काटते रहते हैं, घिसे-बँधे अनुप्रासों का नित्य पुनर्वर्तन होता रहता है। जहाँ शीतल मंद पश्चिम पवन लता-गुल्मों का स्पर्श कर मन्द स्वर उद्बुद्ध करती हुई प्रवाहित होती है, यदि पास ही कहीं कलकल ध्वनि करती हुई निर्मल सरिता बहती हो तो पाठक निद्रा के भार से (वृथा ही नहीं) अलसा उठता है। तब, अन्त के दो चरण किसी निरर्थक वस्तु से—जिसे स्वयं ये 'विचार' कहते हैं—आपूरित रहते हैं, और यही अनावश्यक छन्द सम्पूर्ण कविता का अवसान कर देता है। आहत सर्प की भाँति वह घिसट-घिसट कर चलती है। इन्हें अपनी शिथिल लय-तुक जोड़ने दो, क्या सुघर-सुढर है तथा क्या अवसन्न एवं मंद—इसके ज्ञान का संचय इन्हें करने दो, और इनकी उपेक्षा करके उस एक पंक्ति की सहज स्फूर्ति की सराहना करना सीखो जिसमें डनहम^{११२} के ओज तथा वालर^{११३} के माधुर्य का संयोग हो गया हो। लेखन में सच्ची सहजता कला (अभ्यास) से आती है, संयोग से नहीं—जैसे जिन्होंने नृत्य-कला सीखी हो उनकी गति में सब से अधिक सहजता होती है। कविता में इतना ही इष्ट नहीं कि उसमें कर्कशता न होने के कारण वह कष्टदायी न हो, यह भी आवश्यक है कि उसके पदों में अर्थ की प्रतिध्वनि हो। जब पश्चिम पवन मन्द-मन्द प्रवाहित हो रहा हो तो कोमल वर्ण चाहिए, शान्त-गति सरिता के वर्णन के लिए और भी शान्त छन्द की आवश्यकता है : परन्तु जब भीषण रोर करती हुई तुमुल तरंगें तट से टकरा रही हों तब उत्कट-उद्धत वर्णों को प्रबल प्रवाह की भाँति ही गर्जना-सी

करनी चाहिए। जब अजबस^{११४} किसी विकट भार वाली विशाल शिला के प्रक्षेप का प्रयत्न करे तो छन्द की गति शिथिल हो जाती है और शब्द भी धीरे-धीरे चलते हैं परन्तु जहाँ वेगवती कैमिला^{११५} एक के बाद एक मैदान को क्षिप्र गति से पार करती चली जाती हो तब ऐसे छन्द की आवश्यकता नहीं होती। देखो ! तिमोथेउस^{११६} की विविध-रूप कविता कैसा आश्चर्यान्वित करती है और उसमें विविध भावों का उदय और शमन किस प्रकार होता है। लिवियन जोव का पुत्र^{११७} प्रत्येक परिवर्तन पर नये रूप में दृष्टिगोचर होता है। कभी तेज से तप्त, कभी प्रीति से द्रवित, कभी उसके विकराल नेत्र रोप की ज्वाला से प्रज्ज्वलित हो उठते हैं, कभी वह उसाँसें छोड़ता है और नेत्रों से अश्रुधारा प्रवाहित होने लगती है। यूनानियों एवं ईरानियों ने भी प्रकृति के ऐसे प्रबल प्रभाव को देखा—विश्व-विजय करने वाले शब्द से पराभूत हुए। संगीत की असीम शक्ति को हमारे सब के मन स्वीकार करते हैं—जैसा पहले तिमोथेउस था, वैसा ही अब ड्राइडन है। अति से बचो, उन लोगों के दोषों से दूर रहो जो सदैव या तो बहुत अधिक या बहुत कम प्रसन्न होते हैं। प्रत्येक लघु पदार्थ से घृणा करने की वृत्ति अतीव अहंकार अथवा अल्पमति की द्योतक होती है। वे मस्तिष्क निश्चय ही श्रेष्ठ नहीं होते जिनमें प्रत्येक वस्तु अरुचि उत्पन्न करती है—जैसे वे उदर जो किसी भी चीज़ को पचा नहीं पाते। प्रत्येक प्रफुल्ल उक्ति से आह्लादित भी नहीं हो जाना चाहिए क्योंकि गुण मूढ़ जन गाते हैं, बुद्धिमानों का काम तो समझना-सराहना है। जैसे कुहरे में से देखने पर प्रत्येक वस्तु बड़ी दीख पड़ती है वैसे ही मन्दता निरन्तर बद्धमान आकार धारण करती रहती है। कुछ लोग विदेशी लेखकों से घृणा करते हैं, कुछ स्वदेशियों से; कुछ केवल प्राचीनों का महत्व मानते हैं, कुछ अर्वाचीनों का। इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति धर्म की भाँति (काव्य) वैदग्ध्य को एक सम्प्रदाय विशेष में सीमित मानता है—और सब उसके जाने निकृष्ट, वृथा होते हैं। अपनी अधमता में वे इस वरदान को सीमित रखना चाहते हैं, वे चाहते हैं कविता का सूर्य एक भाग में ही अपना प्रकाश फैलाये परन्तु वह केवल दक्षिण की प्रतिभा का ही उन्नयन नहीं करता वरन् उत्तर की शीत जलवायु में भी भावों को प्रौढ़ता देता है। वह गत युगों में आदि काल से ही उदित हुआ है, वर्तमान को भी आलोकित किये है और अन्त तक उष्णता देता रहेगा—यद्यपि प्रत्येक युग उन्नति और अवनति का अनुभव कर सकता है, कभी सुख और कभी दुःख के दिनों से गुज़र सकता है। अतः कविता प्राचीन है या नवीन, इसका विचार न कीजिए—जो असत् है उसकी निन्दा कीजिए और जो सत् है उसका समादर। कुछ लोग कभी अपनी

कोई सम्मति नहीं देते, वे जनता में प्रचलित धारणा को ही ग्रहण कर लेते हैं, वे पूर्व-दृष्टान्तों के आधार पर तर्क करते और निष्कर्ष निकालते हैं—सड़ी-बुरी धारणाओं को अपना लेते हैं और सो भी उनकी अपनी उद्भावना नहीं होती। कुछ लेखक का नाम परखते हैं, कृतियाँ नहीं और फिर कृतियों के बजाय व्यक्ति-विशेष की सराहना या निन्दा करते हैं। इस अधम दल में सबसे निकृष्ट वह है जिसमें गर्व-पुष्ट मूढ़ता धनिक-वर्ग की चेरी बन जाती है, वह बड़ों की सभा का स्थायी विवेचक होता है और प्रभु-हित में वृथा प्रलाप का बोझ ढोया करता है। वह उत्कृष्ट कविता को भी महा दरिद्र और घटिया रचना बतायेगा वशर्ते कि उसकी सृष्टि किसी भुक्खड़, अर्थकामी गीतिकार द्वारा हुई हो। परन्तु कल ही अगर कोई धनाढ्य इन भाग्यशाली पंक्तियों को अपना ले तो उनमें प्रतिभा की दीप्ति भासित हो उठती है, शैली में परिष्कार आ जाता है। उसके पवित्र नाम के स्पर्श से प्रत्येक दोष तिरोहित हो जाता है और प्रत्येक उत्कृष्ट छन्द में विचारों का अपार वैभव विलसित हो उठता है। इस प्रकार जो अनधीत हैं वे अनुकरण करने से भटकते हैं और जो पंडित हैं वे अनुपम बनने के फेर में। सर्वसाधारण के प्रति उनकी इतनी घृणा होती है कि यदि कहीं संयोगवश वे सुपथ पर चल निकलें तो ये जान-बूझकर गलत राह पर चल देते हैं। इसी तरह सहज-सीधे विश्वासी नवधर्मग्राहियों का परित्याग कर देते हैं—उनका तिरस्कार होता है अति वैदग्ध्य के कारण। कुछ लोगों का स्वभाव यह होता है कि रात को जिसकी निन्दा करते हैं सवेरे उसी की प्रशंसा। परन्तु अपनी अन्तिम सम्मति को ही सदैव ठीक समझते हैं। ये कविता के साथ खेल का-सा व्यवहार करते हैं—एक क्षण सब तरह का सम्मान उसे देते हैं, दूसरे ही क्षण घोर निरादर। अरक्षित नगर की भाँति इनके दुर्बल मस्तिष्क प्रतिदिन भले-बुरे के बीच अपना पक्ष बदलते रहते हैं। उनसे कारण पूछिए : कहेंगे—उनकी बुद्धि का विकास हो गया है। कल वे निश्चय ही आज से भी अधिक बुद्धिमान हो जायेंगे। हम इतने बुद्धिमान हो गये हैं कि अपने पुरखों को मूर्ख समझने लगे हैं, हमारी सन्तानें हम से भी अधिक बुद्धिमान होंगी और हमें निश्चय ही मूर्ख समझेंगी। एक बार इस उत्साही देश में वितंडावादी धर्माचार्यों का बाहुल्य हो गया, उनमें जिसके मुख से अधिक वाक्य निकलते वही सबसे अगाध पंडित समझा जाता। धर्म, आस्था-विश्वास सभी विवादास्पद-से बन गये—किसी में खंडन करने की बुद्धि न थी। परन्तु अब स्कोट्सवादी^{११८} और टामसवादी^{११९} शान्त होकर रहते हैं—डक-लेन^{१२०} उनके सदृश जालों में से एक है। जब स्वयं धर्म रंग-बिरंगे वस्त्र धारण करता हो तो कविता की

रीतियों में यदि यह वैविध्य आ जाये तो क्या आश्चर्य ! जो कुछ स्वाभाविक एवं उपयुक्त है आजकल के मूर्ख उसे छोड़कर प्रत्युत्पन्नमति प्रमाणित करने में लगे रहते हैं—और लेखक सोचते हैं उनके यश को कोई खतरा नहीं क्योंकि जब तक मूढमति प्रसन्न होते और हँसते हैं तब तक वह अक्षुण्ण है ।

ग्रन्थ-ग्रथित, स्थूलमति, मूर्ख पंडित वृथा विद्या का अपार भार सिर पर धारण किये हुए अपने ही श्रीमुख से अपने श्रवणों का उत्कर्ष करता रहता है और सदा अपनी ही सुनता प्रतीत होता है । वह सभी ग्रन्थ पढ़ता है और डाइडन से डफ़^{१२१} तक सभी की कृतियों की आलोचना करता है । उसके जाने अधिकांश लेखकों की कृतियाँ या तो छुराई हुई होती हैं या खरीदी हुई—गार्थ^{१२२} ने अपनी 'डिस्पेंसरी' तक स्वयं नहीं लिखी ! उनके सामने किसी नये नाटक का नाम लो—तुरन्त कहेंगे "इसका रचयिता हमारा मित्र है ।" इतना ही नहीं वे यह भी कहेंगे "मैंने इसके दोष लेखक को बताये थे । न जाने ये कवि कब सुधरेंगे !" कोई भी स्थान इन वड़बोलों के लिए इतना पवित्र नहीं जहाँ इन्हें कुछ रोक हो—न मरघट, न तीर्थ । देवल में जाइए, बोल-बोल कर आपकी नाक में दम कर देंगे—जिस भूमि पर देवता जाते डरते हैं वहीं मूर्ख निश्शंक भाव से विचरण करता है ! सुमति सशंकित होने पर विनय एवं सावधानी से बोलता है—वह थोड़ा बाहर जाता है और बराबर घर की ओर देखता रहता है परन्तु दुर्मति बलबला कर पूरे वेग से अनर्गल प्रलाप की झड़ी लगा देता है, न कभी ठिठकता है न कभी इधर-उधर देखता है—घनघोर रोर करता हुआ उसका वाक्-प्रपात मर्यादाओं को तोड़ कर निर्बाध गति से फूट पड़ता है ।

परन्तु ऐसे लोग कहाँ मिलते हैं जो सम्मति दे सकें, जो शिक्षा देने में प्रसन्नता लाभ करें परन्तु जिन्हें ज्ञान का अभिमान न हो; जो राग-द्वेष से मुक्त हों, अभिजात हों—और अभिजात होने के साथ ही सच्चे, निष्कपट हों; जो विनयशील होने के साथ ही निर्भीक हों, जिनमें कठोरता के साथ ही करुणा हो; जो मित्र को निश्शंक भाव से उसके दोष दिखा सकें और शत्रु के गुणों की प्रशंसा प्रसन्नतापूर्वक करें; जिनमें यथार्थ रसानुभूति हो—परन्तु वह एकांगी न हो; जिन्हें ग्रन्थ-ज्ञान भी हो और मानव-प्रकृति का ज्ञान भी; जो मधुरभाषी हों; जिनका हृदय अभिमान-विहीन हो, जिनका मन सविवेक प्रशंसा-रुचि से ओत-प्रोत हो ।

(ऐसे आँन क्रिटिसिज़्म)

अनुवादक : श्री महेन्द्र चतुर्वेदी

डॉ० जॉनसन

(सन् १७०६-१७८४ ई०)

[डॉ० सैमुअल जॉनसन का जन्म सन् १७०६ में लिचफील्ड में हुआ था। उनका जीवन आरम्भ से ही अत्यन्त संघर्षपूर्ण रहा। सन् १७३१ में पिता की मृत्यु के बाद तो उन्हें बड़ी विषम आर्थिक परिस्थितियों का सामना करना पड़ा। दीर्घ काल तक वे स्फुट लेखों तथा अनियमित और अस्थायी अध्यापन के द्वारा जीविका-निर्वाह करते रहे। इसी अवधि में उनकी 'लन्दन' आदि रचनाएँ प्रकाशित हुईं जिससे उन्हें कुछ ख्याति प्राप्त हुई। सन् १७५५ में उनका प्रसिद्ध कोश प्रकाशित हुआ। उसके बाद 'कतिपय लेख-संग्रहों' और 'रैसलस' (उपन्यास) आदि का प्रकाशन हुआ। सन् १७६३ में जॉनसन की साहित्यिक विशेषताओं को भावनात्मक मान्यता के साथ क्रियात्मक मान्यता भी प्राप्त हुई जब उनके साहित्यिक महत्व के पुरस्कार-स्वरूप उन्हें राजकीय वृत्ति प्रदान की गई। जीवन में कदाचित् पहली बार मुख से उनका परिचय हुआ। सन् १७६४ में प्रसिद्ध 'क्लब' की स्थापना की गई और बृहत्तर समाज में जॉनसन के सम्भाषण बहुत प्रसिद्ध हुए। बास्वेल के प्रयत्न से ये सम्भाषण अठारहवीं शती के अमर अंश बन गये हैं।

मैथ्यू आर्नेल्ड का कथन है कि जिस युग में जनता विकास और स्वतन्त्रता की ओर बढ़ रही थी उसमें जॉनसन प्राचीन परम्पराओं का अत्यन्त दृढ़तापूर्वक संरक्षण कर रहे थे। वे वर्षों तक काव्य में नई स्वच्छन्दतावादी चेतना का उग्र विरोध करते रहे। उसके प्रति जॉनसन का व्यवहार 'अमित्रोचित विरुचि' अथवा 'मित्रोचित अवज्ञा' का था। वास्तव में जॉनसन के जीवन-काल में वर्ड्सवर्थ के गीतों और उनकी प्रसिद्ध भूमिका का प्रकाशन असम्भव था। डॉ० जॉनसन शास्त्रवाद के प्रबल पोषक थे : उन्होंने पोप और बुअलो जैसे आचार्यों द्वारा मान्य सिद्धान्तों का ही आधार ग्रहण किया था। ड्राइडन के समान डॉ० जॉनसन भी साहित्य-क्षेत्र के एकछत्र शासक थे। उनके बाद साहित्य के नेता तो अनेक हुए किन्तु शासक एक भी नहीं हुआ।]

आलोचना का असुन्दर पक्ष

यद्यपि यह सम्भव है कि लेखक में उत्कर्ष-सिद्धि की क्षमता हो तथापि यह भी हो सकता है कि वस्तुओं के वैविध्य में अस्तव्यस्त तथा जीवन की सामान्य संकुलता में पड़ा हुआ उसका गुण अव्यक्त ही रह जाये। जो लेखन के द्वारा यश-लाभ का प्रयत्न करना है, आह्लाद के भूले पर भूलते हुए अथवा काम-काज में डूबे हुए करोड़ों ऐसे लोगों का आदर पाने के लिए उत्सुक रहता है जिनके पास बौद्धिक विनोद का समय नहीं, वह मानो इस प्रकार के निर्णोताओं के सम्मुख उपस्थित होता है जिनके मन आवेगों से आक्रान्त एवं पूर्वाग्रहों से दूषित होते हैं जिसके फलस्वरूप वे किसी भी नये कृतित्व को नहीं सराह पाते। कुछ लोग इतने आलसी होते हैं कि जब तक किसी कृति की ख्याति न हो जाये तब तक वे उसे पढ़ते ही नहीं और अन्य इतने ईर्ष्यालु होते हैं कि उस ख्याति को बढ़ाते नहीं—उसकी अभिवृद्धि से उन्हें कष्ट होता है। जो नवीन है उसे चीर-फाड़ कर रख दिया जाता है क्योंकि अधिकांश व्यक्ति शिक्षा पाना नहीं चाहते; जो ज्ञात है उसे ग्रहण नहीं किया जाता क्योंकि यह बात लोग अच्छी तरह नहीं समझते कि उन्हें प्रायः शिक्षा की उतनी आवश्यकता नहीं होती जितनी बार-बार स्मरण कराये जाने की। जो विद्वान् हैं वे अपना मत जल्दी देने से डरते हैं—कहीं उनकी ख्याति पर कोई आँच न आये; जो अज्ञान हैं वे किसी प्रकार भी परितुष्ट न होकर समझते हैं वे अपनी सूक्ष्म बुद्धि का प्रमाण दे रहे हैं। इन सब बाधा-अवरोधों से गुजरता हुआ जो यश-लाभ कर लेता है उसे यह स्वीकार करना चाहिए कि इसका श्रेय उसके परिश्रम, उसकी विद्वत्ता तथा वैदग्ध्य के अतिरिक्त अन्य कारणों को है।

आलोचक के दायित्व

युवक विद्यार्थी लेखकों के स्वरूप का उद्घाटन करने वाले प्रबन्धों पर जितना समय व्यतीत करते हैं उतना शायद ही किसी और प्रकार की कृतियों पर करते हों। और पाठक की प्रत्याशा को उतना छलने वाली तथा उसके मस्तिष्क को ऐसे विचारों से—जिन्हें अपने अध्ययन की प्रगति और ज्ञान की वृद्धि के साथ उसे विवश होकर छोड़ना पड़े—भरने वाली भी शायद ही और कोई कृति होती हो।

बैले^{१२३} ने विद्वानों के निर्णयों का जो संकलन किया है उसकी भूमिका में उसने वे सब पूर्वाग्रह गिनाये हैं जो आलोचक को भ्रान्त करते हैं और उसके

निर्णय के प्रति विद्रोह के लिए उत्तेजित करते हैं। उसने जो सूची दी है वह विस्तृत होते हुए भी अपूर्ण है—और उसे पूरी करने की आशा कौन कर सकता है? लेखन का सौन्दर्य प्रायः ऐसा पाया गया है कि मानव-ज्ञान की वर्तमान अवस्था में उसे प्रमाण देकर सिद्ध नहीं किया जा सकता और न उसका निदर्शन किया जा सकता है। अतः यह सौन्दर्य पूर्णतः कल्पना पर आश्रित होता है, वह ऐसे किसी मन पर अपनी छाप नहीं डाल सकता जिसमें पहले से ही प्रतिकूल भाव घर किये हुए हों और न किसी मिथ्या सिद्धान्त अथवा दृढ़ पक्षपातिता के विरोध को पराभूत कर सकता है।

किसी मनुष्य को उसकी इच्छा के विरुद्ध प्रत्यय कराना कठिन है परन्तु इच्छा के विरुद्ध किसी को प्रसन्न करने के विषय में तो ड्राइडन ने ठीक ही कहा है कि वह मानव की सामर्थ्य के परे है। स्वार्थलीन एवं आवेग-सन्तप्त व्यक्ति तार्किक युक्तियों के विरुद्ध संघर्ष करता रहेगा किन्तु जहाँ तक बिम्ब-विधान और भाव का सम्बन्ध है उनके प्रभाव के लिए तो वह सर्वथा अभेद्य ही रहेगा। वह वर्जिल और होमर के प्रबल-से-प्रबल काव्य-स्वरो का तिरस्कार करता रहेगा यद्यपि यह हो सकता है कि कभी समय आने पर एउक्लेइदेस (यूक्लिड)^{१२४} अथवा अर्खिमिदेस^{१२५} के शस्त्र उस पर कारगर हो जायें।

अतः आलोचक के निर्णय पर विश्वास करने में हमें केवल उस अहंकार से ही खतरा नहीं जिसके वश प्रायः लेखक जो-कुछ उसे स्वयं भी नहीं आता वह सिखाने की भी गरिमा धारण कर लेता है; न केवल उस प्रमाद से खतरा है जो अत्यन्त सतर्क और सावधान होने पर भी कभी-कभी अपना काम कर जाता है और न केवल उस त्रुटिशीलता से है जिसकी शिकार प्राकृतिक परिस्थितियों के कारण प्रत्येक मानव की बुद्धि होती है वरन् यह खतरा हजारों बहिर्वर्ती एवं संयोगजनित कारणों से है, प्रत्येक उस वस्तु से है जिसमें दया अथवा दुर्बुद्धि, आदर अथवा अवज्ञा जगाने की सामर्थ्य हो।

बहुत-से ऐसे लोगों पर, जिन्होंने बड़े साहस के साथ साहित्यिक गुणों की विविध मात्राओं का विवेचन किया है, यह सन्देह किया जा सकता है और वैसा करना अनुचित न होगा—कि उन्होंने अपने सामने जो उद्देश्य है उसे भली-भाँति जाने बिना निर्णय दे दिया है।

लैंग्वेन^{१२६}, बोरिकियस^{१२७} अथवा रेपिन^{१२८} के सम्बन्ध में यह सहज ही नहीं सोचा जा सकता कि जिन ग्रन्थों की उन्होंने निन्दा या प्रशंसा की है उनका उन्होंने अच्छी तरह अनुशीलन किया होगा। दूसरे यदि स्वभाव तथा विद्वत्ता के कारण वे निर्णायक होने योग्य बन भी गये हों तो उचित आलोचना के लिए

जितनी एकाग्रता आवश्यक है उतने दत्तचित्त होकर वे हमेशा पढ़ते रह सकेंगे—यह भी सन्देहास्पद है। इतने पर भी इस प्रकार के कार्यों का अपना कुछ-न-कुछ उपयोग होता ही है क्योंकि वे सामान्यतः यश के स्वर की सही प्रतिध्वनियाँ होती हैं और यदि उसे दवाने का कोई विशेष प्रयोजन न हो तो उसके द्वारा मानवता का व्यापक मत अभिव्यक्ति पा जाता है।

अन्य मनुष्यों की भाँति आलोचक भी बहुधा रुचि के कारण भ्रान्त होते हैं। सम्पादक जिस लेखक की व्याख्या या जिसका संशोधन करते हैं उसके प्रति उनका रुख कितना दुराग्रहपूर्ण होता है—इसका प्रायः उल्लेख किया गया है। सर्वविदित है कि ड्राइडन ने जो आलोचनात्मक प्रबन्ध लिखे उनमें अधिकांश ऐसे हैं जो वे जब कोई रचना कर रहे होते थे तब उसके समर्थन में लिखते थे। और एडीसन^{१२९} पर तो सन्देह है कि उन्होंने काव्य-न्याय के औचित्य का भी निषेध किया क्योंकि उनका अपना कैटो^{१३०} सदुद्देश्य के निमित्त विनाश को प्राप्त हुआ था।

कुछ ऐसे पूर्वाग्रह हैं जिनके शिकार लेखक निर्विकल्प भाव से हुए हैं—ऐसे लेखक भी जो अन्यथा दुर्बल या भ्रष्ट न हों। इनमें कुछ तो हमारे प्रकृत रोगों के साथ ऐसे बँधे हुए हैं कि उनसे आसानी से हृदय को मुक्त नहीं किया जा सकता। अपने और किसी दूसरे देश के लेखकों की तुलना निष्पक्ष भाव से शायद ही कोई सुन सकता हो। मैं समझता हूँ सब राष्ट्रों पर यह आरोप बराबर तो नहीं लगाया जा सकता कि वे इस साहित्यिक देशभक्ति से ग्रन्थे हो जाते हैं परन्तु ऐसा भी कोई नहीं जिसका अपने लेखक के प्रति आत्मीयता-जनित अनुराग का भाव न हो और जो उसके ज्ञान एवं वैदग्ध्य के लिए उसका जितना आदर करता हो उतना ही समदेशीय होने के नाते न करता हो। अतः जब प्रतियोगी भिन्न देशों के हों तो तुलनात्मक आलोचना के बल पर किसी को कोई विशेष आदर नहीं मिलता—हाँ, निर्णायक यदि ऐसे राष्ट्र का हो जो दोनों के प्रति उदासीन हो, तो बात दूसरी है। इतालवी बहुत समय तक यही विश्वास न कर सके कि उनके पर्वतों के पार भी ज्ञान का कोई अस्तित्व है और फ्रांसीसियों की तो आम तौर से यह धारणा होती है कि उनके बराबर विदग्ध तथा विवेकशील और कोई है ही नहीं। मैं सोच भी नहीं सकता कि यदि स्कैलिजर एक ही देश में जन्म लेने के नाते अपने-आपको वर्जिल से सम्बन्धित न मानता तो भी उसे होमर की तुलना में उसकी कृतियाँ उत्कृष्टतर लगतीं और वह इस विवाद को इतने उत्साह, उग्रता एवं कटुता के उपयुक्त समझता।

वस्तुतः एक—और केवल एक—पूर्वाग्रह ऐसा है जिसके विषय में सन्देह किया जा सकता है कि उससे कभी-कभी पथभ्रष्ट होना असम्मान की बात है या नहीं। आलोचना ने ईर्ष्यालुओं एवं दुष्टात्माओं को अपनी द्वेष-बुद्धि के परि-तोष का इतना अवसर दिया है कि कुछ लोगों ने यह कहना आवश्यक समझा कि प्रतिबन्धों से मुक्त सहज सचाई भी एक गुण है और भविष्य में अभिशंसा करने की स्वतन्त्रता किसी को न दी जाये। इस मत के उन्नायक लेखक निरन्तर एक शिष्टता एवं शालीनता का प्रवर्तन कर रहे हैं—आलोचकों से उनका कहना है कि वे समुचित विनय से काम लें, यशस्वी लेखकों के प्रति वे उचित आदर-भावना जगाने के लिए प्रयत्नशील हैं।

मैं नहीं मानता कि अभिमान और उग्रता के इन प्रतिश्रुत शत्रुओं में दूसरे लोगों से अधिक विनयशीलता या दयालुता होती है; मैं यह भी नहीं मानता कि उनके मन में अपनी मृदुता एवं कोमलता के द्वारा अपने आपको औरों से विशिष्ट सिद्ध करने के अतिरिक्त और कोई उद्देश्य होता है। कुछ लोग भीरु होने के कारण विनयशील होते हैं और कुछ लोग इसलिए खुले दिल से प्रशंसा करते हैं कि उन्हें भी बदले में प्रशंसा मिले।

जीवित लेखक यदि ऐसे किसी सत्य पर आक्रमण नहीं करते जो मानवता के सुख के लिए महत्वपूर्ण हों और अपने अज्ञान अथवा शिथिलता को अनावृत करने के अतिरिक्त और कोई अपराध नहीं करते तो वे कुछ दया के पात्र अवश्य होते हैं। कोई कीड़ा-मकोड़ा अगर केवल मेरे कान में भनभना कर मुझे नाराज कर देता है तो उसे मसल डालना मैं तो निर्दयता ही समझूँगा; मैं किसी निर्दोष मूढ़ का स्वप्न जान-बूझकर भंग नहीं करूँगा और न किसी ऐसे परिहास पर आघात करना चाहूँगा जिससे स्वयं परिहास करने वाला हँसता है। परन्तु मैं यह नहीं कहता कि इस तरह की दया सभी के लिए आवश्यक है क्योंकि जो लिखता है वह एक तरह से सबको चुनौती देता है और उस पर आक्रमण करने का अधिकार प्रत्येक व्यक्ति को है—वह सामान्य मनुष्य की पाँत छोड़ देता है, एक घेरे से बाहर आ खड़ा होता है और अपने गुण को लोक-निर्णय के निमित्त प्रस्तुत करता है। लिखना आरम्भ करना प्रशंसा का दावा करना है और अवमानना की जोखिम उठाये बिना किसी को भी सम्मान के स्वप्न नहीं देखने चाहिए।

जो मानव-मन के पाखण्ड को जानता है और यह भी जानता है औचित्य एवं उदात्तता के निमित्त प्रयत्नशील होने के बहाने कितनी बार हम अपनी ईर्ष्या या अहंकार-भावना का परितोष करते हैं, वह जिन्हें छेड़ना न चाहे उन

—समसामयिकों—के विषय में चाहे कुछ भी निर्णय हो परन्तु जिन पर भर्त्सना या अभिशंसा का अब कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता, जिनके नाम और साहित्य के अतिरिक्त अब कुछ भी शेष नहीं रह गया उन्हें आलोचना से बरी रखने के लिए निश्चय ही कोई युक्ति नहीं दी जा सकती। इन लेखकों के प्रति आलोचक निश्चय ही अपनी पूरी निर्ममता का प्रयोग करने के लिए स्वतन्त्र हैं क्योंकि इससे उसकी अपनी ही ख्याति खतरे में पड़ती है। उसकी यह स्थिति ठीक एनिग्रस की तरह होती है; जैसे वह असुर लोक में जब अपनी तलवार निकालता था तो उसका सामना छायाओं से होता जिन्हें आघात भी नहीं पहुँचाया जा सकता था। हाँ, जिसका यश स्थिर हो गया है उसका वह अवश्य कुछ ख्याल कर सकता है परन्तु वैसा सम्मान जताकर वास्तव में वह अपनी ही सुरक्षा का प्रबन्ध करता है क्योंकि अन्य सब हेतुओं की तो अब तक इति हो चुकी होती है।

जिस लेखक की उत्कृष्टता स्वीकृत हो चुकी हो उसके दोष और अधिक खतरनाक होते हैं क्योंकि उसका आदर्श कहीं अधिक व्यापक प्रभाव डालता है। ज्ञान का हित इसमें है कि इन लेखकों का उद्घाटन किया जाये और इससे पहले कि प्राचीन होने के नाते वे शक्ति अर्जित कर लें तथा अतर्क्य एवं प्रामाणिक उदाहरण बन जायें, उन पर वर्जना की छाप लगा दी जाये।

एडीसन ने सच्चे समालोचक का यह लक्षण बताया है कि वह दोषा-न्वेषण के बजाय सौन्दर्य की ओर इंगित करता है। परन्तु प्रतिभा-सम्पन्न एवं ज्ञानवान् व्यक्ति के लिए यह स्वाभाविक ही है कि वह मुख्यतः ऐसे लेखकों के अध्ययन में निरत हो जहाँ दोष-दर्शन की अपेक्षा उसे सौन्दर्य ही अधिक मिले, क्योंकि आलोचना का कर्तव्य न तो किसी रचना का अवमूल्यन करना होता है और न आंशिक विवेचन द्वारा उसे गरिमा-मंडित करना—उसका कर्तव्य तो विवेक के आलोक में जो दीखे उसका उद्घाटन करना और सत्य के निर्देश में जो निर्णय हों उनका आख्यान करना है।

त्रासिक कामदी और 'कार्य' का महत्त्व

कभी-कभी आलोचना ने ललित कल्पना को वे नियम आदिष्ट करने का अवसर दिया है जिनसे स्वयं ललित कल्पना मर्यादित होनी चाहिए, और हेत्वाभास को उन सिद्धान्तों में भ्रान्ति पैदा करने का जिनके आधार पर उसका अन्वेषण हुआ करता है। दूसरों पर अधीक्षण करने में वह अपनी ही उपेक्षा करने के लिए प्रवृत्त हुई है—उसकी दशा प्राचीन शीथियनों के समान है :

दूर-दूर के प्रदेशों पर अपनी विजय-पताका फहराने के चक्कर में वह अपना सिंहासन अपने दासों के लिए खाली छोड़ बैठी है।

सत्ता-विस्तार की इच्छा अथवा ज्ञानवर्धन के उत्साह की प्रेरणा से जिन नियमों का विधान हुआ है उनमें से लेखकों को जो प्राप्त हुए हैं वे सभी ऐसे नहीं जिन्हें हमारा आदर पाने का आधारभूत अधिकार हो। उनमें से कुछ मौलिक और अपरिहार्य होते हैं, शेष केवल उपयोगी और सुविधाजनक; कुछ का निर्देश आवश्यकता और विवेक के कारण हुआ है, औरों का निरंकुश प्राचीनता के द्वारा; कुछ को प्रकृति-विधान तथा बुद्धि-व्यापार की अनुरूपता के कारण अजेय समर्थन प्राप्त होता है, शेष दैवयोग से अस्तित्व में आते हैं या उदाहरण से प्रतिष्ठापित होते हैं और इसीलिए वे सदैव विवादास्पद एवं परिवर्तनीय होते हैं।

इसमें तो सन्देह नहीं किया जा सकता कि कई नियम प्रकृति या विवेक से पुष्ट हुए बिना भी प्रस्तुत किये गये हैं। प्राचीन आचार्यों का दृढ़ आदेश है कि मंच पर एक समय में तीन से अधिक सवाक् व्यक्ति न आयें—परन्तु आज के नाटक की विविधता और जटिलता ने इस नियम का पालन असम्भव कर दिया है। अतः हम निश्चिन्त भाव से उसका अतिक्रमण करते हैं और अनुभव साक्षी है कि हम बिना किसी असुविधा के वैसा करते हैं। मूलतः यह आदेश सर्वथा संयोगजनित था। त्रासदी बैक्स^{१३१} के सम्मान में एक ही व्यक्ति द्वारा गाया हुआ गीत हुआ करती थी, बाद में एक और वक्ता के योग से उसने संवाद का रूप ले लिया। परन्तु प्राचीनों को यह बराबर स्मरण रहा कि त्रासदी मूलतः एक ही व्यक्ति द्वारा उच्चारित होती थी—अतः वे बहुत समय तक दो से अधिक वक्ताओं का विधान करने का साहस नहीं कर सके। अन्ततः जब वह प्रथा हो गई और उनका कोई अपकार नहीं हुआ तो उनमें साहस आया और उन्होंने अपनी स्वतन्त्रता का विस्तार करते हुए त्रासदी में तीन व्यक्तियों का प्रवेश स्वीकार कर लिया परन्तु एक आलोचनात्मक आदेश द्वारा इससे अधिक विस्तार का निषेध कर दिया।

अंकों की संख्या कौन-से दैवयोग से पाँच तक सीमित कर दी गई थी—इस सम्बन्ध में, जहाँ तक मुझे ज्ञान है, किसी लेखक ने कुछ नहीं कहा परन्तु इतना निश्चित है कि कार्य की प्रकृति अथवा प्रदर्शन के औचित्य से उद्भूत किसी आवश्यकता के वश यह निर्णय नहीं किया गया। अंक नाटक के कार्य-व्यापार के उस अंश का निरूपण होता है जो अव्याहत काल-प्रवाह में घटित हो अथवा जिसके बीच में कोई विराम न आये। यह नितान्त स्पष्ट है कि प्रत्येक

सच्चे—फलतः प्रत्येक नाट्योचित—कार्य में पाँच से कम या अधिक विराम हो सकते हैं। सच तो यह है कि अँग्रेजी रंगमंच पर व्यवहार-रूप में इस नियम को नित्य प्रति तोड़ा जाता है और प्रकट रूप में उसके पालन के भेदे प्रयत्न से जनित अनर्थ के अतिरिक्त उससे और कोई अनर्थ नहीं होता। जब कभी दृश्य बदलता है, अंक की भी इति हो जाती है क्योंकि जितनी देर में नाटक के अभिनेता अपने स्थान बदलते हैं, कुछ-न-कुछ समय अवश्य निकल जाता है।

नाटकीय कार्य को कुछ घण्टों तक सीमित कर देने का जो विधान आलोचकों ने किया है, उसका हम से पालन कराना चाहने का भी उन्हें अपेक्षा-कृत अधिक अधिकार नहीं। सम्भाव्यता का तकाजा है कि कार्य-व्यापार का समय प्रायः उतना ही हो जितना प्रदर्शन का होता है और वे नाटक सदैव सबसे अधिक सुसंचालित ससभे जायेंगे जो थोड़े-से-थोड़े स्थान में अधिक-से-अधिक विविधता भर देते हैं। परन्तु अकसर होगा यह कि कुछ-न-कुछ मिथ्या धारणा का समावेश अवश्य हो जायेगा—अतः मैं कह नहीं सकता कि कल्पना की सीमाएँ कहाँ नियत की जायें।

जो मन घिसी-पिटी आलोचना से आक्रान्त नहीं उसे अंकों के बीच विराम बढ़ाने से कुछ बुरा लगता हो—ऐसा देखा नहीं गया और न मैं इसे असम्भव या अशोभन समझता हूँ कि जो तीन घण्टे से उसका समय बढ़ाकर बारह या चौबीस कर सकता है वह उसी सरलता से उसका और भी विस्तार नहीं कर सकता।

जो प्रकृत नियमों के अतिरिक्त और किसी भी नियम को न मानने की बात करता है वह त्रासिक-कामदी को संरक्षण देने की ओर प्रवृत्त होगा या नहीं—मैं नहीं कह सकता। उसकी चारों ओर से चाहे जितनी अभिशंसा हुई हो परन्तु उसकी अपनी प्रतिष्ठा ने उसे अब तक आलोचना के विस्फोटों से बचाया है। इस संसृष्ट नाटक में ऐसी क्या बात है कि निष्पक्ष बुद्धि उसकी गहँगा करे? नाटक जीवन का दर्पण होने का दावा करता है और संसार में महत्वपूर्ण के साथ तुच्छ का संयोग सामान्य ही नहीं, नित्य है—अतः मंच पर भी निश्चय ही उसका प्रदर्शन किया जा सकता है। अगर कहा जाये कि रागों को उत्तेजना को अभीष्ट अवस्था तक लाने से पहले दबा देना और किसी घटना को बाद में उठाने के लिए बीच में लटका कर प्रत्याशा को छलना अनुचित है तो इसमें सत्य का आभास हो सकता है। परन्तु क्या अनुभव से यह आक्षेप न्याय्य होने की बजाय केवल विदग्धतापूर्ण ही सिद्ध नहीं हो जायेगा? क्या यह निश्चय नहीं कि कारुणिक और हास्यात्मक भावों का बारी-बारी से समान

प्रभविष्णुता के साथ उपयोग किया गया है और जिन नाटकों में बीच-बीच में उल्लास का पुट रहता है उनके बराबर कोई भी नाटक नयनों को अश्रु से तथा हृदय को स्पन्दन से नहीं भर सका ।

परन्तु मैं प्रतिभा के कामों को केवल कार्य के आधार पर आंकना उचित नहीं समझता । कभी-कभी ऐसा भी हो सकता है कि हृदय के इन निर्वाध परिवर्तनों, आह्लाद तथा गम्भीरता के इस प्रकार बारी-बारी से व्याप्त होने का श्रेय परियोजना की संगति के बजाय लेखक की प्राणवत्ता को ही देना ज्यादा सही हो, और त्रासिक कामदी के समर्थन में शेक्सपियर की सफलता की युक्ति प्रस्तुत करने के बजाय शायद हमें उस असीम-उत्कृष्ट प्रतिभा को नया सम्मान देना चाहिए जो सहज ही आवेगों को बश में रख सकती है, जिसे भावों को उद्दीप्त करने के लिए सामान्य साधनों के क्रमिक अवस्थानों की आवश्यकता नहीं होती बल्कि जो सहसा हमारे हृदयों को आह्लाद या शोक से भर देती है और जो अपने दृश्य बदलने के साथ ही हमारी मनःप्रवृत्ति को भी बदल सकती है । यदि शेक्सपियर ने अपना ही प्रतिकार न किया होता तो शायद उसकी कविता और भी अधिक प्रबल प्रभाव डाल पाती और यदि उसके विदूषकों के हास-परिहास ने हमारे ध्यान को इतना बाँट न दिया होता तो शायद हम उसके नायकों के दुःख में अधिक सहानुभूति दे पाते ।

और नियम भी हैं—इससे अधिक नियत एवं अनिवार्य । यह आवश्यक है कि प्रत्येक नाटक का मुख्य कार्य इकहरा हो—नाटक में किसी व्यापार का नियमित अवस्थाओं से गुजरते हुए चरम घटना तक पहुँचने का निरूपण होता है, अतः यदि दो बराबर महत्वपूर्ण कार्यों का समावेश होगा तो स्पष्टतः ही दो नाटक बन जायेंगे ।

त्रासदी का मन्तव्य रागों के उद्दीपन द्वारा शिक्षा देना होता है अतः उसमें सदैव एक नायक होना चाहिए—ऐसी विभूति जो स्पष्टतः और अतर्क्यतः दूसरों से उच्चतर हो, जिस पर हमारा ध्यान केन्द्रित रह सके और जिसकी हमें चिन्ता रहे । बराबर योग्यता और बराबर गुणों वाले दो विरोधी यदि द्वन्द्वरत हों तो भावक कभी-न-कभी अनिवार्यतः उनमें से एक को अपना प्रिय पात्र बना लेगा परन्तु इस वरण में ऐसी कोई संगति न होगी जो दूसरों में प्रत्यय जगाये, अतः उसके कारण जो त्रास एवं आशा उद्बुद्ध होगी वह क्षीण तथा शिथिल होगी । यदि दो नायक साथ मिलकर एक ही शत्रु के विरुद्ध संघर्ष कर रहे हों तो उनके गुणों से अथवा उनके खतरे में पड़ जाने से हमारे मन में कोई भाव न जागेगा क्योंकि वे दोनों ही हमारी सहानुभूति को समान अधिकार से

आकर्षित करेंगे और मन दो समान हेतुओं के बीच में पड़ कर निष्क्रिय रह जायेगा ।

लेखक का प्रथम प्रयास प्रकृति और परम्परा में भेद करना होना चाहिए— अर्थात् जिसकी प्रतिष्ठा उपयुक्त होने के नाते हुई है और जो प्रतिष्ठित हो जाने के कारण ही उपयुक्त है : इन दोनों का भेद उसे हृदयंगम कर लेना चाहिए जिससे वह नवीनता लाने की लालसा से अनिवार्य सिद्धान्तों का अतिक्रमण न करे और न ऐसे नियमों को—जिनके प्रवर्तन का अधिकार किसी साहित्यिक तानाशाह को न था—तोड़ने के अनावश्यक डर के मारे अपनी दृष्टि की परिधि में आए हुए सौन्दर्य का समावेश करने से विमुख हो । (दि रैम्बलर)

अनुवादक : श्री महेन्द्र चतुर्वेदी

गोइटे (गैटे)

(सन् १७४६—१८३२ ई०)

[गोइटे जर्मनी के सूर्धन्य कवि हैं। माँ की उदारता और सौन्दर्यप्रियता तथा पिता की चारित्रिक दृढ़ता उन्हें विरासत के रूप में प्राप्त हुई थी। सोलह वर्ष की आयु में उन्होंने लीपज़िग में विश्वविद्यालय-शिक्षा प्राप्त करना आरम्भ किया। इन्हीं दिनों अस्वस्थता के कारण उन्हें फ्रैंकफर्ट वापस आना पड़ा जहाँ उनका भुकाव दर्शन और धर्म की ओर हुआ। न्याय-शास्त्र का अध्ययन पूरा करने के लिए वे स्ट्रास्बर्ग गये जहाँ अपने प्रेम की असफलता के कारण उन्हें कठोर मानसिक आघात हुआ। उसके बाद गोइटे ने मानो यह अनुभव कर लिया कि विवाह के बन्धन को सहन करना उनके लिए सम्भव न हो सकेगा और उन्होंने विवाह करने से इनकार कर दिया।

सन् १७७१-७४ के बीच में गोइटे ने अनेक अमर-ग्रन्थों का निर्माण किया। उनका उपन्यास 'वरथर की करुण कहानी' जर्मन साहित्य की निधि है। सन् १७८६ में उन्होंने रोम-यात्रा की। उन्होंने स्वयं कहा है कि यह रोम-यात्रा उनके जीवन की सबसे महत्वपूर्ण घटना थी। यहीं पर वे शास्त्रवाद की ओर आकृष्ट हुए और एक नवीन दर्शन एवं दृष्टि लेकर स्वदेश लौटे। सन् १८०८ में 'फ़ाउस्ट' का प्रथम भाग समाप्त हुआ। यह कृति उनके जीवन की सबसे बड़ी और महत्वपूर्ण सिद्धि और विश्व-साहित्य की अमर विभूति है—इसे 'मानवतावाद की दिव्य कामदी' कहा गया है।

शास्त्रवाद के पृष्ठपोषक होने के कारण सिद्धान्त में गोइटे का स्वभावतः स्वच्छन्दतावाद से विरोध था। किन्तु उन पर स्पिनोज़ा का गहरा प्रभाव था—उनका यह विश्वास दृढ़ हो गया था कि जीवन का एक दैवी उद्देश्य होता है। अतः यूरोप के साहित्य की स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्तियाँ निरन्तर उनसे प्रेरणा और बल प्राप्त करती रहीं। इस प्रकार गोइटे के काव्य के सिद्धान्त और व्यवहार में एक रमणीय विरोधाभास मिलता है जो उनके प्रतिभावान् व्यक्तित्व में निहित विरोधाभास का सुन्दर प्रतिबिम्ब है।]

महाकाव्य और नाट्य-कविता

महाकाव्यकार तथा नाटककार दोनों ही सार्वजनीन काव्य-नियमों के—विशेष रूप से अन्विति-नियम तथा उत्तरोत्तर विकास-नियम के—अधीन होते हैं। दोनों के प्रतिपाद्य विषय एक-से होते हैं और दोनों ही विविध प्रेरक-हेतुओं का प्रयोग कर सकते हैं। उनमें आधारभूत भेद यह है कि महाकाव्यकार किसी घटना का वर्णन पूर्णतः अतीत के रूप में करता है जबकि नाटककार उसे पूर्णतः वर्तमान के रूप में प्रस्तुत करता है। यदि कोई इन नियमों को—जिनका अनुसरण दोनों को करना होता है—मानव-प्रकृति का अवलम्ब लेकर विस्तार देना चाहे तो उसे चारण तथा अभिनेता दोनों की कवि-रूप में कल्पना करनी होगी। पहले के ओर-पास बैठी हुई श्रोता-मण्डली मौन रूप से एकाग्रचित्त होकर सब-कुछ सुन रही है, दूसरा एक अधीर-असंयत भीड़ से घिरा हुआ है जो देखने-सुनने भर के इरादे से जमा हुई है। इसके पश्चात् यह निष्कर्ष निकाल लेना कठिन नहीं होगा कि इन दोनों काव्य-रूपों में से प्रत्येक के लिए सबसे अधिक हितकर क्या है, प्रत्येक किन विषयों का प्रमुख रूप से चयन करेगा अथवा किन प्रेरक-हेतुओं का प्रायः प्रयोग करेगा। जैसा मैंने आरम्भ में कहा है इनमें से कोई एकान्ततः किसी एक वस्तु पर दावा नहीं कर सकता।

महाकाव्य का विषय—और त्रासदी का भी—विशुद्ध मानवीय तत्त्व पर आधृत होना चाहिए। उसमें सजीवता हो और वह मानव-भावनाओं का स्पर्श करे। सबसे अच्छा प्रभाव तब पड़ता है जब पात्र सांस्कृतिक उन्नयन के एक विशिष्ट धरातल पर प्रतिष्ठित हों जिससे कि उनके कार्य नैतिक, राजनीतिक अथवा यान्त्रिक विचारणाओं से अभिभूत हुए बिना उनके व्यक्तित्व की निःश्रान्ति अभिव्यंजना करें। इन्हीं कारणों से वीर-युग की पुराण कथाएँ कवियों के लिए विशेष उपयोगी हुआ करती थीं।

महाकाव्य विशेषतः व्यष्टि के कार्य का चित्रण करता है, त्रासदी व्यष्टि की पीड़ा का। महाकाव्य मानव का चित्रण युद्ध, यात्रा एवं अन्य भाँति-भाँति के व्यापारों में संलग्न बाह्य अभिकर्ता के रूप में करता है—अतः उसके प्रतिपादन में एक विशदता की अपेक्षा रहती है। परन्तु त्रासदी मानव का चित्रण अन्तरंग अभिकर्ता के रूप में करती है, अतः उत्कृष्ट त्रासदी में कार्य-व्यापार के लिए बहुत थोड़ी जगह की आवश्यकता होती है।

पाँच प्रकार के प्रेरक-हेतु होते हैं :

(१) पुरोगतिशील—जो कार्य को अग्रसर करते हैं। इनका उपयोग

नाटक में प्रधानतः होता है ।

(२) प्रतिगतिशील—जो कार्य को अपने लक्ष्य से दूर खींचते हैं । इनका उपयोग प्रायः एकान्त रूप से महाकाव्य में होता है ।

(३) मदन्क—जो कार्य की प्रगति में विलम्ब उत्पन्न करते हैं और उसके मार्ग को लम्बा बना देते हैं । महाकाव्य एवं त्रासदी-काव्य इनका बड़ा अच्छा उपयोग करते हैं ।

(४) अतीतसापेक्ष—जो कविता में पूर्वकालीन घटनाओं का अन्तर्भाव करते हैं ।

(५) भविष्यसापेक्ष—जिनमें यह कल्पना की जाती है कि काव्य-काल के पश्चात् क्या होगा ।

महाकाव्य एवं नाट्य-काव्य का रचयिता अपनी कविता को पूर्ण बनाने के लिए अन्तिम दोनों प्रकार के प्रेरक-हेतुओं का उपयोग करता है । निरूप्य जगत दोनों के समान होते हैं; अर्थात्

(१) भौतिक जगत—जिसमें सर्वप्रथम तो उनका निकटवर्ती जगत आता है; कविता में निरूपित पात्र उसी संसार के होते हैं । वही उनके चारों ओर प्रसारित होता है । इसमें नाटककार अधिकांशतः अपने को एक प्रदेश में सीमित रखता है, महाकाव्यकार अधिक विस्तृत क्षेत्र में अधिक स्वतन्त्रता से विचरण करता है । दूसरे, भौतिक जगत में दूरवर्ती जगत का अन्तर्भाव है जिसमें सम्पूर्ण प्रकृति आ जाती है । इस जगत को महाकाव्यकार—जो एकान्ततः हमारी कल्पना को प्रभावित करता है—उपमाओं एवं रूपकों के प्रयोग से अधिक बोधगम्य बना देता है : इन अलंकारों का उपयोग नाटककार विरल रूप से करता है ।

(२) नैतिक जगत—जो दोनों के लिए सर्वथा समान होता है । वह चाहे प्रकृत हो अथवा विकृत : उसका श्रेष्ठ निरूपण उसकी सरलता में ही होता है ।

(३) ललित कल्पनाओं, अनिष्टाभासों, पूर्वानुमानों, दैवयोग एवं भाग्य का जगत—इसका उपयोग दोनों ही कर सकते हैं, यह आवश्यक है कि यह गोचर जगत के अधिक-से-अधिक निकट हो । इस जगत में हम आधुनिकों के लिए विशेष कठिनाई होती है क्योंकि हम चाहे जितना चाहें परन्तु प्राचीनों के इन कल्पना-प्रसूत प्राणियों, देवताओं, दैवजों तथा भविष्यवक्ताओं के स्थानापन्न हमें आसानी से नहीं मिल सकते ।

यदि हम प्रतिपादन-पद्धति को सम्पूर्णता में देखें तो पायेंगे कि शान्त

विवेक से घटनाओं का सर्वेक्षण करता हुआ चारण—जो सर्वथा अतीत घटनाओं का निपाठ करता है—बुद्धिमान प्रतीत होता है। उसके निपाठ का उद्देश्य यह होगा कि उसके श्रोता सन्तुलित मनोदशा में आ जायें जिससे वे स्वेच्छापूर्वक देर तक उसे सुनते रहें। वह मनोरंजन का सम-विभाजन करेगा क्योंकि किसी अत्यन्त सजीव और चित्रमय प्रभाव को श्रोता के मन से तुरन्त धो डालना सम्भव नहीं होता। काल की दृष्टि से, वह चाहेगा तब अतीत में विचरेगा और जब चाहेगा तब भविष्य की भी कल्पना करेगा। हम सर्वत्र उसका अनुसरण कर सकते हैं क्योंकि वह हमारी कल्पना को कुरेदता है, और वह अपने स्वतन्त्र विम्बों की सर्जना करती है तथा कुछ हद तक इस ओर से उदासीन होती है कि कौन विम्ब उदित हुए हैं। उच्चतर प्राणी होने के नाते चारण को स्वयं अपनी कविता में अवतरित नहीं होना चाहिए। सबसे अच्छा तो यह है कि वह यवनिका के पीछे से पाठ करे जिससे कि हम उसकी कृति से व्यष्टि-तत्त्व को पृथक् रख सकें और यह विश्वास कर लें कि हम कविता-देवी की वाणी सुन रहे हैं।

अभिनेता में इसके सर्वथा विपरीत परिस्थिति परिलक्षित होती है। वह अपने को एक निश्चित व्यक्तित्व के रूप में प्रस्तुत करता है। वह चाहता है कि हम उसमें और उसके परिवेश में एकान्त रुचि लें जिससे कि हम उसकी देह एवं आत्मा की वेदनाओं की समानुभूति कर सकें, उसकी आकुलताओं को समझें और अपने आपको उससे तदात्म कर दें। निश्चयात्मकता के विचार से वह भी क्रदम-क्रदम करके ही चलेगा परन्तु वह कहीं अधिक सजीव प्रभाव उत्पन्न करने की जोखिम उठा सकता है क्योंकि सामाजिकों के सम्मुख अपनी साक्षात् उपस्थिति के द्वारा वह क्षीणतर प्रभाव द्वारा भी प्रबलतर प्रभाव को निरसित कर सकता है। दर्शकों एवं श्रोताओं की वृत्तियों को निरन्तर उद्दीप्त रखना चाहिए। उनकी चिन्तन की मनोवृत्ति न जागने पाये, वे उत्सुकता से उसका अनुसरण करते रहें, उनकी कल्पना सर्वथा अबुद्ध रहे—उससे कोई अपेक्षा न की जाये, और जो कुछ वर्णन किया जाये वह इस प्रकार कि उसका चित्र उनकी दृष्टि के सम्मुख उपस्थित हो जाये मानो वह मूर्त कार्य ही हो।

उपदेशात्मक काव्य

उपदेशात्मक काव्य उस अर्थ में कोई विशिष्ट काव्य-शैली या विधा न जिस अर्थ में प्रगीति-काव्य, महाकाव्य या नाट्य-काव्य : जो जानता है कि इनमें रूप-भेद होता है वह इस बात को समझ जायेगा; अतः उपदेशात्मक काव्य, जो

अपना अभिधान ही वर्ण्य-वस्तु से ग्रहण करता है, उस श्रेणी में परिगणित नहीं किया जा सकता ।

काव्य शिक्षाप्रद होना चाहिए परन्तु प्रच्छन्न रूप से । वह पाठक का ध्यान संवेद्य मूल्यवान् विचार की ओर आकृष्ट भर करे परन्तु उससे शिक्षा पाठक स्वयं ही ग्रहण करे जैसे जीवन से करता है ।

उपदेशात्मक अथवा अध्यापकीय कविता भाषण एवं कविता के बीच की एक संकर सृष्टि है । कभी वह इनमें से एक के समीप चली जाती है कभी दूसरी के : उसी अनुपात में उसका न्यूनाधिक काव्य-मूल्य होता है । परन्तु वर्णनात्मक अथवा व्यंग्यात्मक कविता की भाँति वह सदैव गौण एवं अप्रधान काव्य-प्रकार मानी जाती है । सच्चे सौन्दर्य-शास्त्र में इसे सदा काव्य-कला एवं भाषण-कला के बीच में रखा जाता है । परन्तु इसी कारण से लय तथा स्वर-माधुर्य एवं कल्पना-शक्ति से विभूषित और मोहक तथा ओजपूर्ण शैली में लिखित उपदेशात्मक काव्य—अर्थात् उत्कर्षकारी कलाकृति—की अन्तरंग सहता कम नहीं हो जाती । लयबद्ध इतिवृत्तों से, प्राचीन शिक्षकों के पद्यबद्ध सिद्धान्त-वाक्यों से लेकर इस श्रेणी की श्रेष्ठ कृतियों तक सभी का अपना मूल्य है—यदि उन्हें उपयुक्त स्थान पर रखा जाये और उनका समुचित मूल्य आँका जाये ।

यदि इस प्रश्न की परीक्षा सूक्ष्म रूप से और पूर्वाग्रहों से विमुक्त होकर की जाये तो हम देखते हैं कि उपदेशात्मक काव्य का महत्व इस बात में है कि वह लोक-हृदय का स्पर्श करता है । उपयोगी ज्ञान के किसी भी अंग को इस शैली में प्रतिपादित कर देने पर बड़े-से-बड़े मेधावी कवि को भी अपने आपको सम्मानित अनुभव करना चाहिए । अंग्रेजों के पास इस शैली के कुछ अत्यन्त प्रशंसनीय उदाहरण हैं । कभी परिहास और कभी गम्भीरता द्वारा वे जनता को प्रसन्न कर उसे अपने अनुकूल बना लेते हैं और फिर कविता को समझने के लिए पाठक को जो-कुछ भी जानना आवश्यक हो उसे वे व्याख्यात्मक टिप्पणियाँ देकर स्पष्ट कर देते हैं । सौन्दर्य-शास्त्र, नीति अथवा इतिहास के अध्यापक के पास इस अंग को व्यवस्थित एवं सुस्पष्ट करने का तथा इस प्रकार की श्रेष्ठ कृतियों के गुणों से अपने छात्रों को अवगत करने का बड़ा अच्छा अवसर होता है—उनके विषय-वस्तु की उपयोगिता के अनुसार नहीं वरन् उनके काव्य-मूल्य की न्यून अथवा अधिक मात्रा के अनुसार ।

उचित यह है कि सौन्दर्य-शास्त्र के पाठ्य-क्रम से इस विषय को विल्कुल हटा दिया जाये परन्तु जिन्होंने काव्य एवं भाषण-शास्त्र का अध्ययन किया है उनके निमित्त विशेष—कदाचित् सार्वजनिक—व्याख्यानों में इसका समावेश

कर लिया जाये। जैसा अन्यत्र होता है यहाँ भी (विषय का) सच्चा बोध व्यवहार की दिशा में अत्यन्त लाभकारी सिद्ध होगा। ज्ञान एवं कल्पना के योग से किसी कृति की रचना करने में, दो विरोधी तत्त्वों को गुम्फित कर एक जीवन्त काया का रूप दे डालने में क्या कठिनाई होती है—इसे बहुत-से लोग समझ सकते हैं। व्याख्याता को वे साधन बता देने चाहिए जिनसे यह समन्वय हो सकता है और फिर उसके श्रोता—गलतियों से सचेत होकर—अपने-अपने ढंग से एक ही प्रभाव उत्पन्न करने की चेष्टा कर सकते हैं।

इस प्रकार के सफल संश्लेषण के कई साधन और उपाय हो सकते हैं—परिष्कृत हास्य इसमें सब से अमोघ है। और यदि विशुद्ध हास्य का इतना अकाल न होता तो उसे ही सबसे उपयुक्त भी समझा जा सकता था।

किसी प्रदेश के भूगर्भ-वृत्त को उपदेशात्मक और अत्यन्त कल्पनात्मक कविता का रूप देने से अधिक अद्भुत कार्य की बात आसानी से सोची भी नहीं जा सकती तथापि इस प्रकार विषय-विशेष को लोकप्रिय बनाने के लिए तथा सामान्यतः यात्री जिसे असह्य समझ विचार में भी न लायें उसी के अध्ययन की उन्नति के लिए 'जियोलोजिकल सोसायटी आफ़ लन्दन' के एक सदस्य ने यही किया है।

सहज आस्था और कविता

सहज आस्था जीवन की कविता है। दोनों एक काल्पनिक जगत का निर्माण करते हैं और वास्तविक मूर्त जगत के पदार्थों के बीच वे अत्यन्त अद्भुत सम्बन्धों का आभास पाते हैं। सहानुभूति और प्रत्यनुभूति का सर्वत्र शासन रहता है।

कविता अपने ऊपर जो मनमाने बन्धन लगाती रहती है उनसे निरन्तर मुक्ति भी पाती रहती है। इसके विपरीत सहज आस्था की तुलना उन रहस्यमय सूत्रों से की जा सकती है जो जितना ही कोई उनसे छूटने का प्रयास करे उतने ही जकड़ते चले जाते हैं। महानु ज्ञान का क्षण भी उससे अलिप्त नहीं होता। किसी असंस्कृत युग अथवा शताब्दी में उसका पदार्पण होने दीजिए, बेचारी मानवता का मोहाच्छन्न मन असम्भव के निमित्त प्रयास कर उठता है; अतिप्राकृतिक, अनागत भविष्य से सम्पर्क स्थापित करने के, उसे प्रभावित करने के प्रयत्न होने लगते हैं। वह अपने लिए विस्मय के वैविध्यपूर्ण जगत का निर्माण कर लेती है—जो चतुर्दिक् अन्धकार एवं विषाद के वृत्त से घिरा रहता है। ये कालमेघ शताब्दियों तक छाये रहते हैं—बल्कि अधिकाधिक घने होते जाते हैं।

कल्पना ऐन्द्रिय संवेदनों के सूने आकाश में मँडराती है, विवेक अस्वेइआ^{१३२} की भाँति मानो अपने दिव्य आवास की ओर उन्मुख हो जाता है, बुद्धि हताश हो जाती है क्योंकि उसके पास सफलतापूर्वक अपने अधिकारों की स्थापना करने का कोई साधन नहीं रह जाता। सहज आस्था कवि की हानि नहीं करती क्योंकि वह उसके अर्धसत्यों का—जिन्हें वह केवल साहित्यिक मान्यता प्रदान करता है—कल्याण के निमित्त बहुविध उपयोग करना जानता है।

कला में व्यक्तित्व

तुम्हारे सामने प्रखर मेधावियों की कृतियाँ हैं—जिन्होंने कुछ सीखा है और कलात्मक सुरुचि का भी प्रचुर अर्जन किया है। फिर भी इन सब चित्रों में एक अभाव है—पौरुष का। इस शब्द पर ध्यान दो और इसे रेखांकित कर लो। इन चित्रों में एक विशिष्ट आवश्यकीय शक्ति का अभाव है, प्राचीन काल में वह प्रायः सुव्यक्त होती थी परन्तु वर्तमान काल में उसका ह्रास हो गया है—केवल चित्र-कला के क्षेत्र में ही नहीं, अन्य कलाओं में भी। आज यह जाति दुर्बल हो गई है—कह नहीं सकते यह दुर्बलता जन्मजात है अथवा अपेक्षाकृत शिथिल शिक्षा एवं कम पौष्टिक भोजन का परिणाम है। व्यक्तित्व कला एवं कविता का सर्वस्व है फिर भी आधुनिक आलोचकों में कई ऐसी दुर्बल विभूतियाँ हैं जो इसे स्वीकार करने को तैयार नहीं वरन् वे काव्य अथवा कला-कृति में महान् व्यक्तित्व को एक क्षुद्र अनुबन्ध मात्र मानते हैं।

अस्तु, महान् व्यक्तित्व को समझने और उसका आदर करने के लिए व्यक्ति को स्वयं भी कुछ होना चाहिए। जिन लोगों ने एउरिपिदेस की उदात्तता का निषेध किया वे या तो वैसे औदात्त्य को समझने में असमर्थ दीन-हीन प्राणी थे अथवा ऐसे धूर्त प्रवंचक थे जो इस मान्यता द्वारा अपना बड़प्पन सिद्ध करना चाहते थे और सचमुच जिन्होंने किया भी यही।

कविता की विषय-वस्तु

यह संसार इतना विशाल और समृद्ध है और जीवन इतना वैविध्यपूर्ण कि कविता के अवसरों का अभाव नहीं हो सकता। परन्तु वे सब अवसर-प्रेरित रचनाएँ होनी चाहिए—अर्थात् उनकी रचना की प्रेरणा एवं सामग्री दोनों यथार्थ से उपलब्ध होनी चाहिए। कवि की वाणी का अवलम्ब पाने मात्र से विशेष का साधारणीकरण और काव्यात्मक परिणति हो जाती है। मेरी समस्त कविताएँ ऐसी ही अवसरमूलक हैं—उनकी प्रेरणा वास्तविक जीवन से

मिली है और उनका आधार दृढ़ है। हवा में भपट्टा मारकर जो कविताएँ रची गयी हों उन्हें मैं कोई महत्त्व नहीं देता।

कोई यह नहीं कह सकता कि वास्तविकता में काव्यात्मक रोचकता का अभाव होता है क्योंकि उसी में तो कवि-कर्म की सिद्धि है। सामान्य विषय के किसी मनोरंजक पक्ष के उद्घाटन में ही उसकी (कला की) सार्थकता है। प्रेरक-हेतु, अभिव्यंजनीय मन्तव्य—अर्थात् सार-तत्त्व तो यथार्थ से ही उपलब्ध होने चाहिए परन्तु इन उपादानों में से एक सुष्ठु-सजीव स्वतःपूर्ण रचना का विधान कर लेना कवि का काम है। फ्रन्स्टीन^{१३३} को तुम जानते होगे—उसे प्रकृति का कवि कहा जाता है। पोस्त की खेती पर उसने अत्यन्त सुन्दर कविता लिखी है। मैंने उससे प्रस्ताव किया है कि कामगारों के विभिन्न शिल्पों को लेकर गीत लिखे—विशेष रूप से जुलाहे का गीत। मुझे विश्वास है वह बड़ा सुन्दर गीत लिखेगा क्योंकि वह युवावस्था से ऐसे लोगों के बीच रहा है। वह इन विषयों को भली भाँति समझता है, अतः अपनी सामग्री पर उसका पूरा अधिकार होगा। छोटी रचनाओं का यही लाभ है। आप बस वे ही विषय चुनें जिन पर आपका पूरा अधिकार हो। बड़ी कविता में यह नहीं हो सकता, उसके किसी भी अंश को टाल जाना सम्भव नहीं। पूरी रचना का जो भी अंश होगा—जो उसके सम्पूर्ण विधान में अनुस्यूत होगा—उसका यथातथ्य निरूपण करना पड़ेगा। परन्तु यौवन-काल में वस्तु-ज्ञान एकांगी होता है। महान् कृति में बहुपक्षीयता की अपेक्षा होती है और इसी चट्टान से टकराकर युवा लेखक चकनाचूर हो जाता है।

मैं विशेष रूप से यह चेतावनी देता हूँ कि तुम अपने बड़े-बड़े आविष्कार न करना—क्योंकि तब तुम प्रत्येक वस्तु के प्रति अपना विचार प्रस्तुत करने का प्रयत्न करोगे और इस उद्देश्य के लिए युवावस्था कभी परिपक्व नहीं होती। इसके अतिरिक्त, चरित्र और विचार कवि-मानस से किसी एक सर्वांग चित्र के दो पहलुओं के रूप में विच्छिन्न हो जाते हैं और भावी रचनाओं के लिए आवश्यक पूर्णता से उसे वंचित कर देते हैं। और मान, लीजिए कार्य सफलतापूर्वक सम्पन्न हा भी जाये तो आविष्कार, आन्तरिक प्रबन्ध एवं गुम्फन में जितना समय नष्ट होता है उसके लिए कोई भी हमें श्रेय नहीं देता।

दूसरी ओर, उपलब्ध सामग्री के आधार पर सारा कार्य सहज ही और अच्छे ढंग से निष्पन्न हो जाता है। तथ्य और चरित्र उपलब्ध हों तो कवि को केवल उनमें प्राण-संचार करना होता है। वह अपनी पूर्णता बनाये रखता है क्योंकि उसे अपना कुछ देना नहीं पड़ता : समय और शक्ति का व्यय भी कम

होता है क्योंकि उस पर केवल कार्यान्विति का ही भार होता है। वस्तुतः मैं तो उन्हीं विषयों के चयन का परामर्श दूँगा जिन पर पहले कार्य हो चुका हो। 'ईफिगेनिया' पर आधृत कितनी कृतियाँ रची जा चुकी हैं परन्तु वे सब एक-दूसरी से भिन्न हैं क्योंकि प्रत्येक लेखक विषय पर अपने विशिष्ट ढंग से विचार करता है और अपना अलग संयोजन करता है।

हमारे अधिकांश युवा लेखकों में इसके सिवाय कोई दोष नहीं कि उनका आत्म-तत्त्व महत्वपूर्ण नहीं होता और वस्तु-तत्त्व में उन्हें कोई सामग्री नहीं मिल पाती। अधिक-से-अधिक उन्हें ऐसी सामग्री मिलती है जो उनके अपने ही सद्दृश हो, जो उनके आत्म-तत्त्व के अनुरूप हो। परन्तु जहाँ तक सामग्री को उसके अपने गुण के आधार पर, केवल इसलिए कि वह काव्यात्मक है—चाहे आत्म-तत्त्व के वह बिल्कुल प्रतिकूल पड़ती हो—ग्रहण करने का प्रश्न है, ऐसा कोई सोचता भी नहीं।

हमारे जर्मन सौन्दर्य-शास्त्री सदैव काव्यात्मक एवं अकाव्यात्मक पदार्थों का उल्लेख किया करते हैं और एक तरह से देखा जाये तो वे एकदम गलत नहीं तथापि मूलतः कोई भी वास्तविक पदार्थ अकाव्यात्मक नहीं होता—बशर्त कि कवि उसका समुचित प्रयोग करना जानता हो।

अभिजात एवं स्वच्छन्द (रचनाएँ)

इस तथ्य को स्पष्ट करने के लिए मुझे एक नई अभिव्यंजना सूझी है। मैं अभिजात को स्वस्थ और स्वच्छन्द को रुग्ण मानता हूँ। इस अर्थ में निबेलुगेनलिद* भी उतनी ही अभिजात कृति है जितनी ईलिअद क्योंकि दोनों ही ओजपूर्ण एवं स्वस्थ हैं। अधिकांश आधुनिक रचनाएँ स्वच्छन्द होती हैं—नयी होने के कारण नहीं बल्कि इसलिए कि वे दुर्बल, विकृत तथा रुग्ण होती हैं और पुरातन कृतियाँ अभिजात होती हैं—प्राचीन होने के कारण नहीं बल्कि इसलिए कि वे प्राणवान्, चिरनवीन, आह्लाददायिनी एवं स्वस्थ होती हैं। यदि हम इन गुणों के आधार पर 'अभिजात' तथा 'स्वच्छन्द' का भेद करें तो सुविवापूर्वक तथा निभ्रान्त रूप से अपना विवेचन कर सकेंगे।

यह (स्वच्छन्द रचना) एक विकृत काया की भाँति है। जहाँ आवश्यकता नहीं उन अंगों में रस की अतिशयता कर दी जाती है तथा जहाँ आवश्यकता है उन अंगों से उसका निःसरण किया जाता है। विषय अच्छा था परन्तु जिन दृश्यों की मैंने प्रत्याशा की थी वे उनमें न थे और जिनकी नहीं की थी उनका बड़े

*१३वीं शती की एक जर्मन कविता

परिश्रम एवं आसक्ति से विशद निरूपण किया गया था। इसी को मैं विकृतकाय कहता हूँ—अथवा यदि आप हमारे नये सिद्धान्त के आधार पर कहें तो 'स्वच्छन्द।'।

अभिजात एवं स्वच्छन्द कविता में भेद के विचार का—जो आज सारे संसार में फैल गया है और जिसके कारण अनेक कलह एवं विग्रह होते हैं—सूत्रपात मैंने तथा शिलर ने किया था। मैंने कविता में (विषय के) वस्तुपरक प्रतिपादन का सिद्धान्त-वाक्य रखा—और किसी दृष्टिकोण को मैं मान्यता नहीं दे सकता। शिलर की शैली आत्मपरक है और वे उसे ही उचित समझते हैं : अपने पक्ष के प्रतिपादन में उन्होंने 'सरल एवं भावप्रवण कविता' पर एक प्रबन्ध लिखा। उन्होंने मेरे समक्ष यह सिद्ध किया है कि मैं भी—अपनी इच्छा के प्रतिकूल—स्वच्छन्द हूँ तथा मेरी ईफिगेनिया—भावना के प्राधान्य के कारण न तो उतनी अभिजात है, न अपनी आत्मा में उतनी प्राक्तन जितनी कुछ लोग समझते हैं।

श्लेजल-बन्धुओं^{१३४} ने यह विचार ग्रहण किया, उसे विस्तार दिया—अतः अब सारे संसार में उसका प्रसार हो गया है। प्रत्येक व्यक्ति आज अभिजातवाद और स्वच्छन्दतावाद की चर्चा करता है जबकि पचास वर्ष पूर्व इसके विषय में कोई सोचता भी न था।

कवि की परिभाषा

अधिक परिभाषा की आवश्यकता क्या है? स्थितियों की सजीव अनुभूति और उनकी अभिव्यंजना की शक्ति कवि का निर्माण करती हैं।

सौन्दर्य की परिभाषा

मुझे सौन्दर्य-शास्त्रियों पर बरबस हँसी आ जाती है। वे कुछ अमूर्त शब्दों के द्वारा उस अनिर्वचनीय वस्तु को—जिसे हम सौन्दर्य के नाम से अभिहित करते हैं—अवधारणा में परिणत करने का प्रयास करके बृथा कष्ट भेलते हैं। सौन्दर्य वह आदिम विषय है जो कभी स्वयं प्रकट नहीं होता परन्तु जिसका प्रतिबिम्ब सृजनशील मन की सहस्रों विविध उक्तियों में उद्भासित होता रहता है और जो उतना ही वैविध्यपूर्ण है जितनी स्वयं प्रकृति।

अरस्तू-कृत काव्य-शास्त्र का परिशिष्ट

जिस किसी ने काव्य-कला के—और विशेष रूप से आसदी के—

सिद्धान्त का थोड़ा-बहुत भी अध्ययन किया होगा, उसे स्मरण होगा अरस्तू के कुछ ऐसे वाक्य हैं जो व्याख्याताओं के लिए बड़ी कठिनाई का कारण बने हुए हैं—और वे आज तक उसके अर्थ के सम्बन्ध में पूर्णतः आश्वस्त नहीं हो सके। त्रासदी की परिभाषा करते हुए इस महान् लेखक ने कदाचित् उससे (त्रासदीकार से) यह अपेक्षा की है कि वह त्रास एवं करुणा जागृत करने वाले सजीव कृत्यों एवं घटनाओं के निरूपण द्वारा दर्शक के अन्तस्तल को इन भावों से मुक्त कर दे।

इन वाक्यों के विषय में अपने विचारों तथा विश्वासों की अभिव्यक्ति में उसका अनुवाद देकर सबसे भली प्रकार कर सकता हूँ :

“त्रासदी अर्थवान् एवं पूर्ण कार्य का अनुकरण होती है। इस कार्य का कुछ कालावधि में प्रसार होता है और उसका निरूपण भिन्न-भिन्न व्यक्तियों द्वारा—जिनमें से प्रत्येक कोई-न-कोई भूमिका करता है—सुन्दर भाषा में किया जाता है। इसमें सभी भूमिकाएँ एक व्यक्ति नहीं कर लेता जैसा किसी कथा अथवा महाकाव्य के वर्णन में होता है। त्रास एवं करुणोत्पादक घटना-क्रम के पश्चात् इन भावों का सन्तुलन करके कार्य की इति हो जाती है।”

उपर्युक्त अनुवाद में, मैं समझता हूँ, मैंने इन अद्यावधि संदिग्ध वाक्यों को स्पष्ट कर दिया है, बस इतना कह देना और आवश्यक है : अपनी सहज वस्तुपरक प्रणाली के—जैसे यहाँ, जब वह (अरस्तू) एकान्ततः त्रासदी की प्रविधि की चर्चा करते प्रतीत होते हैं—बावजूद क्या अरस्तू सचमुच दर्शक पर पड़ने वाले प्रभाव की, दूरवर्ती प्रभाव की बात सोचते होंगे ? निश्चय ही नहीं। उन्होंने निभ्रान्त एवं हड़ शब्दों में कहा है : जब कार्य-विधान त्रास एवं करुणा उद्बुद्ध करने वाला हो तब मंच पर त्रासदी की इति इन भावों के सन्तुलन-सामंजस्य में होनी चाहिए। ‘विरेचन’ से वह इसी सामंजस्यपूर्ण परिणति का अर्थ लेते हैं—जिसकी अपेक्षा प्रत्येक नाटक से ही क्या, प्रत्येक काव्य-कृति से की जाती है।

त्रासदी में यह कार्य एक प्रकार के मानव-उत्सर्ग के माध्यम से सम्पन्न होता है। इसका विधान स्वयं उद्दिष्ट की बलि देकर कराया जाये या किसी अनुकूल देवी-देवता की कृपा से उसके स्थानापन्न किसी अन्य व्यक्ति की : जैसा अब्राहम^{१३५} और अगमेमनोन^{१३६} के मामले में हुआ। परन्तु अन्त में इस प्रकार का समाधान, इस प्रकार का निस्तार आवश्यक है—अन्यथा त्रासदी पूर्ण कलाकृति न हो पायेगी। दूसरी ओर जब यह निस्तार किसी अनुकूल अथवा वांछनीय परिणाम के द्वारा निष्पन्न होता है तब कृति कला की कोई माध्यमिक उपजाति-

सी प्रतीत होने लगती है—जैसे अल्केसतिस^{१३७} के प्रत्यावर्तन में। इसके विपरीत, कामदी में समस्त जटिलताओं को—जो त्रास या आशा उद्बुद्ध करने की दृष्टि से अपने आप में सर्वथा महत्वहीन होती हैं—सुलझाने के लिए प्रायः विवाह का आयोजन कर दिया जाता है। और इससे यद्यपि जीवन का पूर्णतः अन्त नहीं होता तथापि उसमें एक महत्वपूर्ण एवं गम्भीर अन्तराल अवश्य आ जाता है। मरना कोई नहीं चाहता, विवाह हर कोई चाहता है। व्यावहारिक सौन्दर्य-शास्त्र के अन्तर्गत त्रासदी एवं कामदी में यही—अंशतः हास्यात्मक, अंशतः गम्भीर—भेद है।

अब हम देखेंगे कि यूनानियों ने अपनी 'त्रिनाटकी'* का उपयोग इस उद्देश्य के लिए किया है। कोलोनुस के सेदिपुस से अधिक उदात्त विरेचन कहीं नहीं मिलेगा। इसमें एक अर्ध-अपराधी विक्षिप्त व्यक्ति अपनी प्रकृति पर आसुरी दबाव के कारण, अपने चरित्र की विषादमूलक तीक्ष्णता और उसके साथ ही महानता के कारण, तथा अपने दृढ़ कार्यकलाप के कारण अपने आपको चिर-अज्ञेय, अपरिवर्तनशील शक्तियों के सहारे छोड़ देता है; अपने साथ अपने परिवार को भी अगाध, अप्रतिकार्य विपदा के गर्त में ले गिरता है, तथापि, अन्त में, प्रायश्चित्त एवं प्रतिकार के पश्चात् दिक्पाल के रूप में देवताओं की श्रेणी में आ जाता है तथा विशेष यज्ञोपचार से सम्मानित होता है।

यहाँ हम महान् आचार्य के इस सिद्धान्त का प्रतिपालन देखते हैं कि त्रासदी के नायक को न तो सर्वथा अपराधी समझना चाहिए, न सर्वथा निरपराध और उसका वैसा एकांगी निरूपण भी नहीं होना चाहिए। पहली अवस्था में कथा की प्रकृति से ही विरेचन प्रतिफलित हो जायेगा—ऐसा लगेगा कि अभागा हत व्यक्ति लोक-न्याय से वंच गया है, विधि के अधीन तो उसे वह हर हालत में भुगतना ही पड़ता। दूसरी अवस्था में भी यह सम्भव नहीं क्योंकि तब ऐसा लगेगा मानो अन्याय का नितान्त असह्य भार मानव-शक्ति या भाग्य पर आ पड़ा है।

परन्तु मैं इस विषय पर, या किसी और विषय पर, कोई विवाद खड़ा करना नहीं चाहता। यहाँ मैं केवल इतना स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि आज तक लोग इन वाक्यों की संदिग्ध व्याख्या को कैसे हृदयंगम करते आये हैं। अरस्तू ने 'राजनीति' में कहा है कि नैतिक उद्देश्यों की शिक्षा देने के लिए संगीत का उपयोग किया जा सकता है क्योंकि तुमुल आचार-उत्सव द्वारा जो मन उन्मत्त हो गये हों वे पूत रागों से पुनः शान्त तथा स्थिर हो जाते हैं। इसी

* Trilogy.

प्रकार उनके विचार से अन्य भाव एवं राग भी संयत-सन्तुलित किये जा सकते हैं। हम इससे इनकार नहीं कर सकते कि यह तर्क सादृश्य पर आश्रित है, परन्तु हमारे विचार में वे समान नहीं। संगीत का प्रभाव उसके विशिष्ट स्वरूप पर निर्भर होता है—जैसा कि हैंडेल^{१३८} ने 'अलैक्जेंडर्स फ्रीस्ट' में विस्तारपूर्वक बताया है। इसका प्रमाण किसी भी नृत्य-आयोजन में मिल सकता है : मन्थर गति के निर्मल गरिमाय संगीत के पश्चात् यदि चपलगतिक युग्म-नृत्य का उद्दाम संगीत आरम्भ कर दिया जाये तो समस्त युवा-दल एक उन्मत्त आवेश में बह जायेगा।

अन्य कलाओं की भाँति संगीत में भी नैतिक भावना पर सीधा प्रभाव डालने की शक्ति नहीं होती और उनसे इस प्रकार के परिणामों की अपेक्षा करना हमेशा गलत होता है। यह कार्य तो केवल धर्म तथा दर्शन ही सम्पन्न कर सकते हैं। यदि शुचिता एवं कर्तव्य-भावना को उद्बुद्ध करना हो तो कलाएँ इस दिशा में केवल आनुषंगिक योग ही दे सकती हैं। हाँ, वे असंगत नीति-आचारों को मार्दव अवश्य प्रदान कर सकती हैं, परन्तु दूसरी ओर यह भी हो सकता है कि यह मार्दव स्त्रैणता में परिणत हो जाये।

जो व्यक्ति सच्चे नैतिक एवं आध्यात्मिक आत्मोत्कर्ष के मार्ग पर अग्रसर हो वह यह अनुभव करेगा और मानेगा कि त्रासदी तथा त्रासिक रम्याख्यान से मन को शान्ति एवं परितोष प्राप्त नहीं होता, बल्कि वे भावों तथा हृदय को चंचल बनाने की दिशा में ही उन्मुख होते हैं तथा एक अशान्त-अनिश्चयपूर्ण मनोदशा को जन्म देते हैं। यौवन का इस मनोदशा के प्रति सहज आकर्षण होता है, अतः इस प्रकार की कृतियों के प्रति उसकी गहरी रुचि होती है।

अब हम अपनी मूल बात पर आते हैं और अपने कथन की आवृत्ति करते हैं : अस्तु इस अर्थ में त्रासदी की प्रविधि का उल्लेख करते हैं कि कवि—उसे अपने मनोयोग का लक्ष्य बनाकर—पूर्ण कार्य के अनुक्रम में किसी ऐसी वस्तु का सृजन करता है जो नेत्र एवं श्रवण दोनों के लिए आह्लादप्रद हो।

यदि कवि ने अर्थ की ग्रन्थियों को बाँध कर और बाद में सुलभ कर उक्त उद्देश्य पूरा कर दिया है और अपने कर्तव्य का निर्वाह किया है तब ठीक यही प्रतिक्रिया सहृदय के मन में होगी। जटिलताएँ उसे सम्भ्रम में डालेंगी, उनकी विवृत्ति उसका उद्बोधन करेगी पर इस सबसे उसका अन्त में कोई लाभ नहीं होने का। यदि वह चिन्तनशील है तो घर पहुँचकर वह अपने को जिस मनोदशा में पायेगा उस पर उसे कुछ आश्चर्य-सा होगा : यह मनोदशा वैसी ही चंचल, दुर्दम, प्रचण्ड, दुर्बल, सुकुमार अथवा संशयशील होगी जैसी तब थी जब

वह घर से बाहर गया था। जब तक इस सम्पूर्ण विषय के और गहरे विश्लेषण-विवेचन द्वारा इसे और स्पष्ट रूप से समझना सम्भव नहीं हो जाता, तब तक हमारे अनुसार जो कुछ भी इस पर कहा जा सकता है वह हम कह चुके हैं।

विश्व-साहित्य का सिद्धान्त

जिस प्रकार किसी राष्ट्र की आन्तरिक एकता एवं सामंजस्य से उसकी सैनिक एवं भौतिक शक्ति का विकास होता है, उसी प्रकार भावों तथा विचारों के ऐक्य से धीरे-धीरे उसकी नैतिक और सौन्दर्य-बोध की शक्ति बढ़ती है। परन्तु इसमें समय लगता है—यह काल-सापेक्ष है। इस कार्य में कई वर्ष से सहयोगी होने के नाते मैं अतीत पर दृष्टि डालता हूँ और सोचता हूँ कैसे, विरोधी नहीं तो, बहुविध तत्त्वों के संयोग से एक जर्मन साहित्य का उद्भव हुआ है—जो एक है तो केवल इस विशिष्ट अर्थ में कि उसकी भाषा एक है। परन्तु ये तत्त्व नितान्त भिन्न प्रतिभाओं एवं योग्यताओं, भिन्न मनों तथा क्रियाकलापों, विचारों एवं उत्तरदायित्वों के वैविध्य में से धीरे-धीरे राष्ट्र की सच्ची अन्तरात्मा को प्रस्फुटित करते हैं।

यदि किसी साहित्य को अपने में ही बन्द कर दिया जाये, किसी अन्य साहित्य के सम्पर्क, योग और रुचियों के प्रभाव से उसमें ताज़गी न लाई जाय तो निश्चय ही वह अपनी प्राण-शक्ति खो बैठेगा। दर्पण में प्रतिबिम्बित होकर जो आश्चर्यजनक वस्तुएँ दृष्टिगोचर होती हैं, उन्हें देखकर कौन प्रकृतिवादी आह्लादित नहीं होता? आचारों-विचारों के क्षेत्र में दर्पण का क्या अर्थ होता है इसका अनुभव प्रत्येक व्यक्ति ने अपने आपमें किया है, और एक बार उसकी चेतना उद्बुद्ध हो जाये तो वह यह समझ लेगा कि उसकी शिक्षा का कितना श्रेय इसको है।

दुबारा कहें : हमारा मन्तव्य यह नहीं कि सब राष्ट्र एक ही तरह से सोचें, वरन् यह कि वे एक-दूसरे को समझना सीखें, यदि वे एक-दूसरे से प्रेम न करना चाहें तो कम-से-कम एक-दूसरे के प्रति सहिष्णुता रखना तो सीखें।

(गेटे के साहित्यिक निबन्ध : सं० जे० ई० स्पिंगार्न)

अनुवादक : श्री महेन्द्र चतुर्वेदी

शिलर

(सन् १७५६-१८०५ ई०)

[शिलर जर्मनी के प्रसिद्ध कवि, नाटककार और दार्शनिक थे। उनका प्रतिभावान् व्यक्तित्व जीवन की स्थूल विषमताओं के साथ सामंजस्य करने को तैयार न होता था इसलिए उन्होंने जीवन के प्रति विद्रोह करते हुए उसके साथ अनेक प्रयोग किये। उनकी साहित्यिक कृतियों में इस क्षोभ और विद्रोह की अभिव्यक्ति अनेक स्थलों पर हुई है। सन् १७७७ में उनका प्रथम नाटक समाप्त हुआ; तत्कालीन समाज पर उस कृति का बहुत गहरा प्रभाव पड़ा। कुछ दिनों उन्होंने रंगमंच के कवि के रूप में कार्य किया और इसी समय उनके दो नये नाटक रंगमंच पर प्रस्तुत किये गये। १७८५ से उनका भुकाव दर्शन की ओर भी होने लगा और १७८६ में उनकी प्रसिद्ध रचना 'फ़िलोसोफ़िश व्रीज़' का प्रकाशन हुआ। लगभग इसी समय सन् १७८७ में उनका परिचय गोइटे के साथ हुआ।

सन् १७८५-८६ में उनकी रचना 'सरल तथा भाव-प्रवण कविता' (Über naive und Sentimentalische Dichtung) प्रकाशित हुई। इस रचना में उन्होंने अपने सौन्दर्य-सिद्धान्त के आधार पर काव्य-कला की व्याख्या का उपक्रम करते हुए साहित्य के विभिन्न रूपों का वर्गीकरण किया है। जैसे : 'प्राचीन तथा अर्वाचीन', 'आभिजात्यवादी और स्वच्छंदतावादी' इत्यादि। इस प्रकार के वर्गीकरण का उद्देश्य गोइटे की सहज और आभिजात्यवादी प्रवृत्ति के विरुद्ध अपनी भावुक और स्वच्छन्द प्रतिभा की प्रतिष्ठा करना था।

सन् १७९६-१८०४ की अवधि में शिलर ने 'वैलेन्स्टीन' और 'मेरिया स्टुअर्ट' जैसे श्रेष्ठ नाटकों की रचना की। जीवन के अन्तिम दिनों में वे प्रायः रुग्ण रहते थे परन्तु इससे उनकी साहित्य-साधना में अधिक अन्तर नहीं आया। शिलर की कला सुस्पष्ट, निर्दिष्ट, नैतिक तत्त्वों से युक्त और आशावाद से अनुप्राणित है। यही कारण है कि जर्मन जाति की विचारधारा पर उनका गहरा प्रभाव पड़ा है।]

सरल तथा भाव-प्रवण कविता

जब हम सोचते हैं कि प्राचीन काल में यूनानियों के चतुर्दिक् निसर्ग-मुषमा का प्रसार था; वे अपने देश के मनोरम आकाश के नीचे, मुक्त प्रकृति के संसर्ग में जीवन बिताते थे; उनकी कल्पना, उनकी भावना और उनके आचार-व्यवहार की पद्धति सभी हमारी अपेक्षा प्रकृति की सहजता के निकटतर थी और इस सबको उनके कविगण ने बड़ी सच्चाई के साथ अपनी रचनाओं में व्यक्त किया है, तो यह सचमुच ही एक विचित्र बात लगेगी कि प्राकृतिक दृश्यों और प्राकृतिक चरित्रों में हम आधुनिक लेखक जितनी भावुकतापूर्ण रुचि लेते हैं, उसका लेश-मात्र ही यूनानियों में दिखाई देता है। मैं मानता हूँ कि ग्रीक-लेखक प्रकृति का यथातथ्य तथा वस्तुनिष्ठ वर्णन करने में सर्वोपरि हैं। वे अपने विवरणों को सावधानी से व्यक्त करते हैं परन्तु हम पाते हैं कि उन वर्णनों में उनकी रुचि ठीक वैसी ही होती है जैसी कि किसी के परिधान, ढाल, कवच, मेज़-कुर्सी आदि अथवा यान्त्रिक कलाओं की किसी भी अन्य निर्मिति के वर्णन में होती है। वे प्रकृति-वर्णन में इनकी अपेक्षा भावना का अधिक सन्निवेश नहीं करते। उनकी वस्तु-परक भावना इतनी तीव्र होती है कि वे, जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व है उसमें, और जो कला-प्रसूत है या मानवेच्छा से निर्मित है उसमें कोई भेद नहीं करते। ऐसा प्रतीत होता है कि नैतिक भावना की बजाय प्रकृति उनके मन को और उनकी जिज्ञासा-वृत्ति को अधिक आकृष्ट करती है। वे अपने आपको प्रकृति से भावना की उस गहराई और उस हल्के विषाद-भाव के साथ सम्पृक्त नहीं कर पाते जो आधुनिकों की विशेषता है। वरन् विशेष व्यापारों से संयुक्त प्रकृति के मानवीकरण द्वारा, उस पर दैवत्व के आरोपण द्वारा, उसके प्रभावों को स्वतन्त्र प्राणियों के क्रिया-कलाप के रूप में निरूपित करके, वे प्रकृति के मौन अनिवार्यता वाले उस रूप को समाप्त कर देते हैं जिसके कारण ही हम उसके प्रति इतने आकर्षित होते हैं। उनकी अधीर कल्पना प्रकृति में इसीलिए पैठती है कि वह उसे पार करके मानव-जीवन रूपी नाटक तक जा पहुँचे। उसे जो कुछ सजीव और स्वच्छन्द है उसी को देखने-सुनने में रस आता है; उसे चरित्रों, कार्यों, भाग्य और आचार-व्यवहार की आकस्मिकताओं की अपेक्षा रहती है जबकि हमारे साथ, कम-से-कम कतिपय नैतिक मनोदशाओं में, यह होता है कि हम अपने इस परमाधिकार—स्वतन्त्र संकल्प-शक्ति—को एक अभिशाप समझने लगते हैं क्योंकि इसी के कारण हमें अनेक अन्तर्द्वन्द्वों का सामना करना पड़ता है, अनेक चिन्ताओं और भूलों का भार ढोना पड़ता है, और हम इच्छा करने लगते हैं कि इसके बदले हमें किसी

तर्क-विहीन प्राणी का जीवन प्राप्त हो जाए—एक ऐसी अदृष्ट-प्रेरित अवस्था जिसमें किसी प्रकार के विकल्प का कोई अवकाश ही न हो, बल्कि जो अपनी नितान्त एकरसता में अत्यन्त शान्त हो—हम तो ऐसी आकांक्षा करते हैं, पर इसके विपरीत यूनानी अपनी कल्पना का उपयोग जड़ जगत में मानव प्रकृति के अन्वेषण के लिए करते थे और जहाँ अन्ध अनिवार्यता का साम्राज्य हो वहाँ भी इच्छा-शक्ति को प्रभविष्णु बनाने का प्रयत्न करते थे ।

प्राचीन और नवीन मनोभावना में यह प्रभेद कहाँ से उत्पन्न हुआ ? क्या कारण है कि प्रकृति के सम्बन्ध में अन्य सब विषयों में हम प्राचीनों से अत्यन्त निम्न स्तर पर रहते हुए भी इस एक बात में उनसे श्रेष्ठतर हैं कि हम प्रकृति के प्रति कहीं अधिक पूर्ण श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं, हमारी उसके प्रति कहीं गहरी आसक्ति है, और हम जड़ जगत को भी अत्यन्त उत्कट संवेदना के साथ अपना देने की क्षमता रखते हैं ? इसका कारण यह है कि आज प्रकृति के साथ मनुष्य का तादात्म्य नहीं है और अब हम जड़ जगत को आदिम सत्य-स्वरूप में कभी नहीं देख पाते, और यदि देख पाते हैं तो केवल मानव-स्वभाव-वश । इसका कारण यह नहीं है कि हम प्रकृति के अधिक अनुरूप हैं । बात इसके बिल्कुल विपरीत है । इसका कारण यह है कि अपने सामाजिक सम्बन्धों में, अपने रहन-सहन की पद्धति में, अपने आचार-व्यवहार में, हम प्रकृति के सर्वथा प्रतिकूल हैं । इसीलिए जब सत्य और सरलता की सहजवृत्ति का उदय होता है—और यह वह सहजवृत्ति है जो नैतिक प्रवणता के समान, जो इसका उद्गम है, प्रत्येक मानव-हृदय में अमिट और अविच्छिन्न रूप में निवास करती है—तो हम भौतिक जगत में उसके लिए वह सन्तोष जुटाते हैं जिसे पाने की आशा नैतिक व्यवस्था के अन्तर्गत नहीं की जा सकती । यही कारण है कि जो भावना हमें प्रकृति के प्रति आसक्त करती है वह उसी भावना से निकटतम रूप से सम्बद्ध है जिसके वशीभूत विगत शैशव और आदिम अवोधता के लिए दुःख का अनुभव करते हैं । मानवता में प्रकृति का अवशेष जो कुछ मिलता है, वह है शैशव । हमें सभ्यता ने जो कुछ बना दिया है उसमें अछूती और अधुणा प्रकृति का रूप वचन में ही मिलता है । अतः यह आश्चर्य की बात नहीं कि जब हम बाह्य प्रकृति से प्रभावित होते हैं तो हमारा ध्यान अपने वचन की ओर चला जाता है ।

प्राचीन यूनानियों की बात सर्वथा भिन्न थी । उनके समय में सभ्यता का ह्रास नहीं हुआ था, न वह अतिवादिता की ऐसी सीमा तक पहुँची थी कि प्रकृति से सम्बन्ध विच्छेद आवश्यक हो जाता । उनके सामाजिक जीवन का

सम्पूर्ण ढाँचा किसी कृत्रिम अवधारणा में विश्वांति न पाकर भावनाओं में या किसी कला-कृति में विश्वांति पाता था। उनका धर्मशास्त्र तक सरल मनोभावना और उल्लासपूर्ण कल्पना की प्रेरणा का परिणाम था : वह आधुनिक राष्ट्रों के धार्मिक मताग्रह की भाँति बुद्धि के सूक्ष्म जोड़-तोड़ से निर्मित न था। यूनानियों में मानव में प्रकृति-दर्शन की क्षमता अक्षुण्ण थी, अतः यदि वे मनुष्य से बाहर प्रकृति को देखते थे तो उनके लिए आश्चर्यान्वित होने का कोई कारण न होता था और न उन्हें किन्हीं ऐसे माध्यमों की आवश्यकता का अनुभव होता था जिनके द्वारा वे प्रकृति का पुनः अन्वेषण कर सकें। वे अपने प्रति सन्तुष्ट रहते थे, अपने आपको मानव समझने में प्रसन्नता का अनुभव करते थे, और इसीलिए उनकी समझ में जो कुछ भी महानतम था उसे वह मानवता के लिए सुरक्षित रखते थे और शेष उसकी ओर उन्मुख हो इसका प्रयत्न करते थे। लेकिन हम अपने आप से सामंजस्य नहीं रख पाते—हमने मानवता के जो भी अनुभव किए हैं उनसे हम असन्तुष्ट हैं। अतः हम उससे दूर भागने के सिवा और कोई रुचि उसके प्रति नहीं दिखाते, हम तो उस अपरूप आकार को अपनी दृष्टि से दूर ही रखना चाहते हैं। जिस भावना की बात हम यहाँ कर रहे हैं वह वही नहीं है जो प्राचीनों की थी। यह उस भावना के कहीं अधिक निकट है जो हम प्राचीनों के प्रति अनुभव करते हैं। प्राचीनों की अनुभूति सहज हुआ करती थी और हम उसका अनुभव करते हैं जो सहज है। होमेरस (होमर) ने जब यूलिसिस का आतिथ्य करने वाले दिव्य गुणों से युक्त गोपालक का चित्रण किया, तो उसकी आत्म-प्रेरणा उस उद्वेलन से बहुत भिन्न थी जिसका अनुभव तरुण 'वर्थर' की आत्मा ने उस क्षण किया जब उसने एक ऐसी सभा से, जहाँ बैठा-बैठा वह ऊबता रहा था, बाहर निकलने पर 'ओडिसी' पढ़ना शुरू किया। आज हम प्रकृति को जिस भावना से देखते हैं वह स्वास्थ्य के लिए एक रोगी की भावना से मिलती-जुलती कही जा सकती है।

जैसे-जैसे मानव-जीवन से प्रकृति तिरोहित होती जाती है अर्थात् जैसे-जैसे (सक्रिय अथवा निष्क्रिय) कर्ता के रूप में उसकी अनुभूति समाप्त होती जाती है, वैसे-ही-वैसे हम उसे काव्य-जगत में एक विचार और एक विषय के रूप में उदित और विकसित होते हुए पाते हैं। प्रकृति के अभाव को और साथ ही उसके प्रतिबिम्बों को जिन लोगों ने पराकाष्ठा तक पहुँचाया वे ऐसे ही लोग होंगे जो सरलता के इस व्यापार से बहुत अधिक प्रभावित हुए होंगे और उसका नाम-करण अवश्य ही किया होगा। यदि मैं भूलता नहीं हूँ तो ये फ्रांसीसी लोग थे। लेकिन सरल की भावना, और उसमें हम जो रुचि लेते हैं, उससे बहुत पहले की

है : उस समय की जब नतिक भावना और सौन्दर्य-भावना विकृत हो चली थीं। भावन की रीति में यह भेद एउरिपिदेस में अपने पूर्ववर्तियों, विशेषतः ऐस्कुयुलस^{१३६}, की अपेक्षा अत्यन्त मुखर है; फिर भी एउरिपिदेस अपने समय का प्रिय कवि था। प्राचीन इतिहासकारों में भी यही क्रान्ति परिलक्षित होती है। होरेस ने, जो बाह्य परिष्कार और विकृति के युग का कवि था, तिवुर के छायादार कुञ्जों में बैठकर ग्राम्य-प्रदेश की सुख-शान्ति का वर्णन किया है और उसे इस प्रकार के भावुकतापूर्ण काव्य का सच्चा प्रवर्तक कहा जा सकता है, और इस क्षेत्र में उसके उत्कर्ष की समता आज तक कोई नहीं कर सका। प्रापर्टियस^{१४०}, वर्जिल तथा अन्य कवियों में भी हम इस भावन-विधि के चिह्न पाते हैं, ओविड^{१४१} में वह कुछ कम मात्रा में है। उसे ऐसे वर्णन के लिए अधिक सहृदय होने की आवश्यकता थी, और उसने अपने निष्कासन-काल में टोम्स में रहते हुए उस सुख के अभाव पर दुःख प्रकट किया है जिस सुख का होरेस ने अपने तिवुर-स्थित भवन में सहज ही त्याग कर दिया था।

कविता के मूलभूत विचार के अनुसार कवि सर्वत्र ही प्रकृति का संरक्षक होता है। जब वह इस भूमिका का निर्वाह पूरी तरह नहीं कर पाता, और जब वह मनमाने एवं कृत्रिम कला-रूपों के विषाक्त प्रभाव से प्रभावित रह चुका हो, या उस प्रभाव के विरुद्ध संघर्ष कर चुका हो, तब वह अपने आपको प्रकृति के साक्षी और वैर-शोधक के रूप में प्रस्तुत करता है। अतः कवि को स्वयं प्रकृति की अभिव्यक्ति बनना है अथवा उसका कार्य यह होगा कि यदि मानव की दृष्टि प्रकृति पर नहीं पड़ती, तो वह उसको प्रत्यक्ष कर दे। अतः काव्य के दो प्रकार हमारे सम्मुख आते हैं जिनमें उसके सम्पूर्ण क्षेत्र का अन्तर्भाव हो जाता है। सभी कवि—मेरा तात्पर्य सच्चे कवियों से ही है—अपने समय और अपनी सांयोगिक परिस्थितियों के अनुसार, जिन्होंने उनकी शिक्षा-दीक्षा को सामान्यतः प्रभावित किया है और अपनी-अपनी मनःस्थितियों के अनुसार, या तो भावप्रवण या सरल कविता रचने वाले होंगे।

सरल और प्रेरणान्वित आदिम संसार का कवि और वह कवि भी जो कृत्रिम सभ्यता के युग में भी आदिकालीन चारणों के निकट पहुँच जाता है, अरण्य में विचरण करती हुई अक्षता डायना^{१४२} के समान कठोर और अति सावधान होगा। वह किसी पर विश्वास नहीं करता और उस हृदय से, जो उसके लिए विकल है, और उस कामना से, जो उसका आलिंगन चाहती है, अपने को छिपायेगा। आश्चर्य की कोई बात न होगी यदि उसके द्वारा प्रतिपादित विषय अपने शुष्क सत्य के कारण संवेदना-शून्य प्रतीत हो। वह वर्ण-

वस्तु से सर्वथा अभिन्न हो जाता है और उस तक पहुँचने के लिए सतह को छूना काफी नहीं है, गहरे-से-गहरे डुबकी लगाने से ही काम बनेगा। जैसे इस विश्व का नियन्ता अपने आपको छिपाये हुए है, वैसे ही वह सरल कवि अपने कृतित्व के पीछे छिपा रहता है, उसका कृतित्व ही उसका स्वरूप है। उस कृतित्व के रचयिता को जानने की इच्छा भी यदि किसी में जागती है तो इसका यह अर्थ होगा कि वह व्यक्ति या तो उस कृति को समझने योग्य नहीं है या उससे ऊब चुका है। उदाहरणार्थ प्राचीनों में होमरस (होमर) और आधुनिकों में शेक्सपियर हमें ऐसे ही कृतिकार लगते हैं। ये दोनों ही महाकवि काल की दृष्टि से एक-दूसरे से बहुत दूर हैं पर चारित्र्य की इस वृत्ति विशेष की दृष्टि से सर्वथा समान हैं। किशोरावस्था में ही पहली बार मैं शेक्सपियर से परिचित हुआ। मैं उसकी उदासीनता से बहुत अप्रसन्न हुआ। मुझे उसकी उस संवेदनहीनता से बड़ी खेद हुआ जो अत्यन्त करुण क्षणों में भी उसे परिहास के लिए प्रेरित करती है और जो 'हैमलेट', 'किंगलियर', 'मैकबैथ' के भयावह-से-भयावह दृश्यों के साथ एक विक्षिप्त की विदूषक वृत्तियों का समावेश करके उनके प्रभाव की गहराई को कम कर देती है। मेरी संवेदनशीलता जिन स्थलों से मुझे जल्दी-से-जल्दी गुजर जाने की प्रेरणा देती है, उन स्थलों पर कभी-कभी रुक जाने में जो संवेदनहीनता परिलक्षित होती है, उसके प्रति मेरे मन में बड़ा क्षोभ होता था। और यही संवेदनहीनता उसे विरक्त भाव से ऐसे स्थानों से आगे बढ़ा ले जाती है, जहाँ रुकने में मेरा मन प्रसन्नता का अनुभव करता। आधुनिक कवियों के अध्ययन के कारण मैं कृति में कृतिकार को देखने का, उसके मन के साक्षात्कार का और उसकी चिन्तन-प्रक्रिया में उसके साथ-साथ चलने का अभ्यस्त हो गया था; संक्षेप में, मैं विषय के उद्देश्य का दर्शन करने का आदी हो गया था, पर यह बात मेरे लिए असह्य थी कि शेक्सपियर के कवि को मैं कभी पकड़ न पाता था, कि वह मेरे सम्मुख अपने अन्तर का उद्घाटन कभी नहीं करता था। जब मैंने शेक्सपियर के व्यक्तित्व से स्नेह करना आरम्भ किया उसके कुछ वर्ष पहले तक लगातार मैं उसे पढ़ता रहा और उसके प्रति मेरे मन में आदर-भाव भी रहा। पर तब तक मैं प्रकृति को प्रत्यक्षतः समझने के योग्य न हो पाया था।

मैंने पहले कहा है कि कोई कवि या तो प्रकृति-स्वरूप होता है, अथवा प्रकृति का अन्वेषी। पहली अवस्था में तो वह सरल कवि होता है, और दूसरी में भावुक।

कवित्व-प्रेरणा अमर है। मानवता के मध्य से उसका लोप कभी नहीं

हो सकता। वह तभी लुप्त होगी जब स्वयं मानवता का, या मानव में अपने आपको मानव समझने की वृत्ति का, लोप हो जाए। और वास्तव में यद्यपि मानव अपनी कल्पना और बुद्धि के स्वातंत्र्य से प्रेरित होकर सरलता, सत्य और प्रकृति की आवश्यकता से दूर हटता है तथापि उसके लिए न केवल प्रकृति की ओर लौटने का एक मार्ग उन्मुक्त रहता है प्रत्युत एक प्रबल, अनश्वर सहज-वृत्ति—नैतिक सहजवृत्ति—उसे निरंतर प्रकृति की ओर खींचती रहती है। और ठीक इसी नैतिक सहजवृत्ति से हमारी कवित्व-शक्ति का सुदृढ़ गठबंधन होता है। इस प्रकार मानव, प्रकृति की सरलता से विच्छिन्न होकर भी, कवित्व-शक्ति खो नहीं देता, केवल वह क्षमता एक अन्य दिशा की ओर क्रियाशील होती है।

वर्तमान समय में भी प्रकृति ही एक ऐसी ज्योति है जो कवि-हृदय को आलोक और भावोष्णता प्रदान करती है। कवि की आत्मा प्रकृति से ही अपनी सम्पूर्ण शक्ति प्राप्त करती है। कृत्रिम, संस्कृति-अन्वेषी मानव में वह कवि की आत्मा केवल प्रकृति को ही सम्बोधित करती है। उसके क्रिया-कलाप का अन्य कोई भी रूप काव्य की आत्मा से दूर जा पड़ता है। अतः यह कहा जा सकता है कि तथाकथित वाग्वैदग्ध्यपूर्ण रचनाओं को काव्यात्मक शब्द से अभिन्न मानना गलत है, यद्यपि फ्रेंच साहित्य को जो प्रतिष्ठा मिली उसके कारण बहुत समय तक उक्त रचनाओं को काव्यात्मक माना जाता रहा। मैं फिर कहता हूँ कि आज, हमारी संस्कृति की वर्तमान अवस्था में भी, प्रकृति ही सशक्त रूप से कवि की आत्मा को आन्दोलित करती है; हाँ, प्रकृति से उसका वर्तमान सम्बन्ध पहले से भिन्न प्रकार का है।

जब तक मानव विशुद्ध प्राकृतिक अवस्था में रहता है (मेरा तात्पर्य शुद्ध प्रकृति से है, स्थूल प्रकृति से नहीं) तब तक उसका सम्पूर्ण अस्तित्व एक सरल, ऐन्द्रिय अन्वित के रूप में, एक समंजित इकाई की भाँति क्रियाशील रहता है। उसमें इन्द्रियाँ और बुद्धि, संग्राहिका वृत्ति और सहज-सक्रिय वृत्ति, अपने-अपने पृथक् क्रिया-क्षेत्र नहीं बनातीं, वे परस्पर-विरोधिनी नहीं हो चुकी होतीं। और फिर, मानव की मनोभावनाएँ संयोग की अरूप क्रीड़ा नहीं हैं उसका चिन्तन कल्पना का खोखला विलास नहीं है जिसका कोई मान-मूल्य ही न हो। उसकी भावनाओं का प्रेरणा-स्रोत है आवश्यकता का नियम, चिन्तन का स्रोत है यथार्थ। परन्तु जब मनुष्य सभ्यता के प्रांगण में पग धरता है, और उसका निर्माण कला के हाथों होता है, तब यह ऐन्द्रिय सामंजस्य उसके अंदर से लुप्त हो जाता है और तब वह केवल नैतिक इकाई के रूप में ही अपने को

अभिव्यक्त करता है, अर्थात् अन्विति का आकांक्षी बनता है। पहले भावना और चिन्तन का जो सामंजस्य पाया जाता था, जो कि एक तथ्य था, वह अब आदर्श के रूप में ही रह जाता है। अब वह उसके अन्दर नहीं, बाहर होता है; वह एक ऐसी धारणा, एक ऐसा विचार बन जाता है जिसकी अनुभूति मनुष्य को अपने अन्तर में करनी पड़ती है, अब वह तथ्य अथवा उसके जीवन का यथार्थ नहीं रह जाता। अब, आइये, हम कविता-सम्बन्धी धारणा पर विचार करें। कविता वस्तुतः मानवता की, यथासंभव उसके समग्र रूप में, अभिव्यक्ति मात्र है। अब इस विचार को आप उपरोक्त दोनों अवस्थाओं पर आरोपित कीजिए। निष्कर्ष यह निकलेगा कि एक ओर तो प्राकृतिक सरलता की अवस्था में, जब मनुष्य की समग्र वृत्तियाँ एक साथ क्रियाशील रहती हैं, तब उसकी आत्माभिव्यक्ति एक सामंजस्यपूर्ण अन्विति में होती है और परिणामस्वरूप यथार्थ के माध्यम से ही स्वयं कवि की समग्र प्रकृति अभिव्यक्त होती है, और कवि का कर्तव्य यथार्थ का यथासंभव पूर्ण अनुकरण करना ही होता है। इसके विपरीत, सभ्यता की अवस्था में, जब कि समग्र मानव-प्रकृति की सामंजस्य-पूर्ण प्रतियोगिता एक विचार के अतिरिक्त और कुछ नहीं रह जाती, तब कवि का यह दायित्व हो जाता है कि वह यथार्थ का उन्नयन आदर्श तक करे, अथवा, दूसरे शब्दों में, आदर्श का प्रतिनिधान करे। और वस्तुतः काव्य-प्रतिभा की अभिव्यक्ति की ये ही दो पद्धतियाँ होती हैं। स्पष्ट ही इनमें बहुत अन्तर है, लेकिन इनमें बड़ा विरोध होते हुए भी, एक उच्चतर विचार ऐसा हो सकता है जिसमें दोनों ही अन्तर्भूत हों। कोई आश्चर्य नहीं यदि उक्त विचार स्वयं मानवता के विचार से एकात्म हो।

यहाँ इस सम्बन्ध में विस्तार से कहने की गुंजाइश नहीं है। इसको पूर्णतः स्पष्ट करने के लिए पृथक् विवेचन की आवश्यकता है। पर यदि हम आधुनिक और प्राचीन कवियों की तुलना करें—सांयोगिक कला-रूपों की दृष्टि से नहीं, बल्कि उनकी प्रकृत आत्मा की दृष्टि से करें—तो हम आश्चर्य हो जायेंगे कि यह विस्तार सत्य है। प्राचीन कवि में हमें जो चीज सबसे अधिक मर्मस्पर्शी लगती है वह है प्रकृति, वह एक गोचर सत्य है, वह वर्तमान और सजीव यथार्थ है; आधुनिक कवि हमें विचारों के माध्यम से स्पर्श करता है।

अतएव वांछनीय यही होता कि प्राचीन और आधुनिक कवियों की, सरल और भावप्रवण कवियों की तुलना न की जाती और यदि की भी जाती तो एक उच्चतर विचार की पृष्ठभूमि में (जो वस्तुतः केवल एक ही है) जिसमें दोनों ही आ जाते हैं। क्योंकि वस्तुतः यदि हम कविता के विषय में केवल

प्राचीन कवियों की कृतियों के आधार पर कोई विशिष्ट विचार बनाना आरम्भ कर दें तो वैसा करना होगा तो बहुत सरल परन्तु इस तुलना के द्वारा आधुनिकों का अवमूल्यन करने से अधिक भद्दी बात भी और कोई नहीं होगी ।

(‘सरल तथा भाव-प्रवण कविता’ शीर्षक निबन्ध)

अनुवादक : श्री प्रयागनारायण त्रिपाठी

वर्ड्सवर्थ

(सन् १७७०-१८५० ई०)

[विलियम वर्ड्सवर्थ मूलतः कवि थे—रोमानी काव्य-युग के प्रवर्त्तक कवि । प्रारम्भ काल से ही जीवन में उन्हें दैविक आपत्तियों का सामना करना पड़ा । लगभग बीस वर्ष की आयु में ही उन्होंने साहित्य-साधना आरम्भ कर दी थी । सन् १७९३ के प्रारम्भ में उनकी कृतियाँ (१) 'वर्णनात्मक रेखाचित्र' (डेस्क्रिप्टिव स्कैचिज़), (२) 'सांध्य अटन' (एन ईवनिंग वॉक) प्रकाशित हुई । उसके उपरान्त कवि का संवेदनात्मक हृदय विविध दर्शनों में अपना समाधान ढूँढ़ता रहा । गॉडविन और रूसो के सिद्धान्तों में उन्हें चिन्तन और मनन की प्रभूत सामग्री प्राप्त हुई । १७९८ में उनके लोकगीतों (बैलड्स) का प्रकाशन हुआ । सन् १८०० में ही उसका द्वितीय संस्करण निकला जिसकी भूमिका में उन्होंने अपनी प्रसिद्ध मान्यताओं की स्थापना की । सन् १८४३ में उन्हें राजकवि की उपाधि प्राप्त हुई और सात वर्ष के उपरान्त १८५० में वे दिवंगत हुए ।

'लोकगीतों' के द्वितीय संस्करण की भूमिका के विषय में विविध प्रकार के मत व्यक्त किए गए हैं । कुछ लोग उसे साहित्यकार के अधिकारों तथा उसकी स्वतन्त्रता का घोषणा-पत्र मानते हैं और कुछ लोगों को उसमें निरंकुशता की गहरी छाया दिखाई देती है, लेकिन उसका महत्व सभी स्वीकार करते हैं । इसका कारण यह है कि इस भूमिका ने अठारहवीं तथा उन्नीसवीं शती की आलोचना-धाराओं को विभाजित करने का महान् कार्य किया । इस प्रकार आलोचना के क्षेत्र में स्वच्छन्द आलोचना-धारा का प्रवर्त्तन हुआ ।

वर्ड्सवर्थ से पूर्व नव्यशास्त्रवादी परम्परा का ही बोलबाला था । उन्होंने आलोचना-सम्बन्धी पुराने सिद्धान्त-वाक्यों को अस्वीकार कर दिया । इन परम्परागत सिद्धान्तों के परित्याग से कई वाद-विवादों का स्वतः ही शमन हो गया । परम्परावादी आलोचक काव्य-रूढ़ियों के पालन, प्रकृति के अनुकरण, कविता की परिशुद्धता इत्यादि के सम्बन्ध में अनेक प्रकार के वाद-विवाद किया

करते थे—वर्ड्सवर्थ ने इन विषयों पर मौन धारण करके ही उनको अमान्य कर दिया ।

वर्ड्सवर्थ का काव्य-सिद्धान्त प्रकृति-प्रेम पर आधारित है । उनका विश्वास है कि प्रकृति के 'मूलभूत सिद्धान्त' तथा उसका 'सुन्दर शाश्वत रूप' सामान्य जीवन से पृथक् और भिन्न है । काव्य के बहिरंग की अपेक्षा अन्तरंग की महत्व-प्रतिष्ठा कर, शैली की परिशुद्धता और अलंकृति के स्थान पर आत्मा की अन्तःस्फूर्ति और उससे प्रेरित भावों के सहज उच्छ्वलन पर बल देकर वर्ड्सवर्थ ने रोमानी आलोचना का प्रवर्त्तन किया और इस दृष्टि से मूलतः आलोचक न होने पर भी पाश्चात्य आलोचना-शास्त्र में उनकी मान्यताओं का गौरव अधुण है ।]

×

×

×

कविता और काव्य-भाषा

प्रत्येक सुन्दर कविता की भाषा अधिकांश में सुष्ठु गद्य की भाषा से किसी प्रकार भी भिन्न नहीं हो सकती । इससे भी आगे बढ़कर हम निस्संकोच यह कह सकते हैं कि गद्य-भाषा और छन्दोबद्ध रचना की भाषा में न तो कोई तात्त्विक अन्तर है, न हो सकता है । कविता और चित्रकला के साम्य के निरूपण का हमें चाव है और इस साम्य-निरूपण के फलस्वरूप हम उन्हें सर्वांगीय कलाएँ कहते हैं परन्तु छन्दोबद्ध एवं गद्य-रचना के बीच जो सम्बन्ध है उसे विशेषित करने के लिए पर्याप्त दृढ़ सम्बन्ध-सूत्र हम कहाँ से पायेंगे ? उनकी अभिव्यंजनेन्द्रिय एवं ग्रहणेन्द्रिय दोनों एक ही हैं, उनके परिच्छद एक ही तत्त्व से निर्मित कहे जा सकते हैं, उनकी राग-रुचि परस्पर समान—प्रायः एक-सी ही है—यहाँ तक कि उसमें मात्रा-भेद होना भी आवश्यक नहीं । कविता जो आँसू बहाती है वह 'स्वर्ग के देवताओं जैसे आँसू' नहीं होते बल्कि वे मानव के प्राकृतिक आँसू होते हैं, कविता कोई इस प्रकार का गुर्व नहीं कर सकती कि उसके अन्तर में कोई दिव्य प्राण-रस प्रवाहित होता है जो गद्य से भिन्न है—तथ्य यह है कि दोनों की शिराओं में एक ही मानव-रक्त का संचार होता है ।

अब अगर यह कहा जाय कि लय और छन्द-व्यवस्था स्वतः ही भेद का आधार होती हैं और गद्य एवं छन्दमयी भाषा के परस्पर साम्य-सम्बन्ध के विषय में अभी-अभी जो कुछ कहा गया है वह इससे खण्डित हो जाता है तथा अन्य कृत्रिम भेदों के लिए—जिन्हें मन स्वेच्छा से स्वीकार करता है—मार्ग प्रशस्त होता है, तो मेरा उत्तर यह है कि जिस कविता का मैं यहाँ

स्तवन कर रहा हूँ उसकी भाषा, यथासम्भव, उसी भाषा से ग्रहण की जाती है जिसका प्रयोग मनुष्य, वास्तव में, बोलचाल में करता है : भाषा का यह वरण जहाँ भी सच्ची भावना और रुचि से किया जायगा वहाँ स्वयं ही इतना अधिक विभेद पैदा हो जायेगा जिसकी पहले-पहल कल्पना भी नहीं की जा सकती और वह उक्त रचना को साधारण जीवन की अधमता और अश्लीलता से बिल्कुल विमुक्त कर देगा; फिर इसके अतिरिक्त यदि छन्द का समावेश और कर दिया जाय तो, मेरा विश्वास है, ऐसा विसादृश्य उत्पन्न हो जायेगा जो विवेकपूर्ण मन के परितोष के लिए सर्वांशतः पर्याप्त हो। और क्या विभेद हमें चाहिए ? वैसा विभेद तो निश्चय ही नहीं जहाँ कवि अपने चरित्रों के माध्यम से अपनी अभिव्यक्ति करता है—वह यहाँ आवश्यक नहीं हो सकता : न शैली के उदात्तीकरण के लिए, न उसके किसी अन्य कल्पित अलंकरण के लिए। तथ्य यह है कि यदि कवि ने विषय-निर्वाचन विवेकपूर्वक किया है तो स्वभावतः और उपयुक्त अवसर पर वह उसको ऐसे भावों की ओर उन्मुख करेगा जिनकी भाषा—यदि उसका वरण विवेकपूर्वक एवं अकृत्रिम रूप से हुआ है—अनिवार्यतः गरिमामयी तथा बहुरंगी एवं अलंकारों तथा लक्षणा से स्पन्दित होगी। भाव के सहज संकेत के प्रतिकूल यदि कवि उसे मनमाने विजातीय वैभव से समन्वित करने का प्रयत्न करे तो इस विसंवादिता से विदग्ध पाठक को जो आघात पहुँचेगा उसका उल्लेख मैं नहीं करूँगा—इतना ही कहना पर्याप्त है कि ऐसा करना अनावश्यक है। और यह निश्चय ही अधिक सम्भाव्य है कि जिन छन्दों में औचित्यपूर्ण रीति से अलंकार और लक्षणा का प्राचुर्य होगा, वे (पाठक के मन पर) समुचित प्रभाव डालेंगे बशर्ते कि अन्यत्र जहाँ भाव अपेक्षाकृत कम प्रखर हो वहाँ शैली भी संयत और शान्त हो।

×

×

×

अस्तु, सामान्य भूमिका पर इस विषय का विवेचन करें तो मैं यह पूछूँगा कि 'कवि' शब्द का अर्थ क्या है ? कवि कौन होता है ? वह किससे अपनी बात कहता है ? उससे किस भाषा की अपेक्षा की जानी चाहिए ?—वह मानव होता है, मानवों से ही अपनी बात कहता है : हाँ, उसकी संवेदना-शक्ति अधिक जीवन्त होती है, उसमें अधिक उत्साह, अधिक सौकुमार्य होता है, मानव-स्वभाव का उसे अधिक गम्भीर ज्ञान होता है, उसकी आत्मा अधिक विशाल होती है—सामान्य मानव में ये तत्त्व इतनी मात्रा में नहीं होते। वह अपने राग और अपने संकल्प में ही प्रफुल्लित रहता है, अन्तर में विद्यमान जीवन के प्राण-तत्त्व में वह अन्यों की अपेक्षा अधिक रस लेता है, सृष्टि

के क्रिया-कलाप में जो वैसे ही संकल्प एवं राग दृष्टिगोचर होते हैं, उनका विचार कर वह हर्षित होता है—जहाँ वे नहीं होते वहाँ स्वभाववश वह उनका सृजन करने के लिए प्रेरित होता है। इन्हीं गुणों में उसने एक मनोवृत्ति जोड़ ली है—परोक्ष वस्तु से अन्यो की अपेक्षा अधिक प्रभावित होने की : ऐसे मानो वे प्रत्यक्ष हों; ऐसे भावों के उन्मेष की योग्यता प्राप्त कर ली है जो वास्तविक घटनाओं से उत्पन्न भावों से नितान्त भिन्न होते हैं तथापि (सामान्य सहानुभूति के उन अंशों में जो सुखद और प्रीतिकर होते हैं) अपने मन के क्रिया-कलाप मात्र से अन्य लोग स्वभावतः अपने अन्तर में जो अनुभव करते हैं उनकी अपेक्षा वे वास्तविक घटनाओं द्वारा उत्पन्न भावों से कहीं अधिक साम्य रखते हैं। इस कारण से और अभ्यासवश वह जो कुछ सोचता है और अनुभव करता है उसे अभिव्यक्त करने की अधिक तत्परता एवं क्षमता उसने अर्जित कर ली है : विशेष रूप से उन विचारों और भावनाओं को व्यक्त करने की जो स्वेच्छा से, अथवा अपने मन की विशिष्ट रचना के कारण, बिना किसी प्रत्यक्ष बाह्य उत्तेजना के उसके मन में जागृत होते हैं।

परन्तु इस शक्ति का चाहे कितना भी अंश हम बड़े-से-बड़े कवि में विद्यमान मान लें, इसमें सन्देह नहीं कि इसके कारण उसमें जिस भाषा का स्फुरण होगा वह, यथार्थता एवं जीवन्तता में, प्रायः उस भाषा से पीछे ही रहेगी जो उन भावों के वास्तविक दबाव से यथार्थ जीवन में मानव के मुख से निस्सृत होती है : जिसकी कुछ छायाएँ कवि अपने अन्तर में निष्पन्न करता है अथवा उसे लगता है कि वे उसके अन्तर में बन रही हैं।

कवि के चारित्र्य के विषय में हम कितनी ही उत्कृष्ट धारणा अपने मन में जमाये रहना चाहें, परन्तु यह स्पष्ट है कि जब वह भावों का वर्णन और अनुकरण करता है तो यथार्थ एवं वास्तविक पीड़ानुभूति की तीव्रता एवं कार्य-कलाप की स्वतन्त्रता की अपेक्षा उसका कर्म किसी हद तक यांत्रिक होता है। अतः कवि अपनी भावनाओं को उन व्यक्तियों की भावनाओं के निकट लाना चाहेगा जिनकी भावनाओं का वह निरूपण करता है—बल्कि शायद कुछ समय के लिए अपने आपको एकदम भ्रमान्वित हो जाने देना चाहेगा और चाहेगा कि उसकी भावनाएँ उनकी भावनाओं के साथ एकाकार हो जायें, उनका परस्पर तादात्म्य हो जाये : हाँ, वह इस प्रकार स्फुरित होने वाली भाषा में संशोधन कर लेगा—यह सोचकर कि वह एक विशेष प्रयोजन से कह रहा है, और वह यह कि पाठक आनन्द-लाभ करे। यहाँ आकर वह वरण-सिद्धान्त का उपयोग करेगा जिस पर पहले ही जोर दिया जा चुका है। भाव में अन्यथा जो

कुछ क्लेशकर या अप्रीतिकर होता उसे दूर करने के लिए वह इस पर निर्भर करेगा; उसे लगेगा कि प्रकृति के उन्नयन की या उससे किसी प्रकार वच निकालने की कोई आवश्यकता नहीं है : और वह जितने परिश्रम से इस सिद्धान्त का प्रयोग करेगा उतनी ही उसकी इस बात में आस्था बढ़ेगी कि उसकी कल्पना से प्रसूत कोई भी शब्द उन शब्दों के समकक्ष नहीं हो सकते जो सत्य एवं यथार्थ से उद्भूत होते हैं ।

परन्तु ऊपर जो कुछ कहा गया है उसके सामान्य तत्त्व पर जिनको आपत्ति न हो, वे यह कह सकते हैं कि यथार्थ भाव जिस भाषा की प्रेरणा देता है सदैव वैसी ही एकान्ततः भावानुरूप भाषा प्रस्तुत कर पाना कवि के लिए सम्भव नहीं, अतः उचित यह होगा कि वह अपने को अनुवादक की स्थिति में समझे—जो उत्कृष्टताएँ उसके (अनुवादक के) लिए असाध्य होती हैं, उनके स्थान पर दूसरे प्रकार की उत्कृष्टताओं का समावेश करने में वह हिचकिचाता नहीं और कभी-कभी वह मूल से भी ऊपर उठने का प्रयत्न करता है ताकि (मूल की तुलना में) जिस सामान्य अपकर्ष को वह अनिवार्य समझता है उसकी थोड़ी-बहुत कसर पूरी कर सके । किन्तु इसका तात्पर्य तो आलस्य और अमानवोचित नैराश्य को प्रोत्साहन देना हुआ । फिर, यह तो उन लोगों की भाषा है जो किसी बात को बिना समझे ही उस पर बोलते हैं, जो कविता को मनोरंजन और निष्क्रिय आनन्द का विषय समझते हैं, जो कविता के प्रति रुचि के विषय में कुछ ऐसी गम्भीरता से बात करेंगे (जैसा वे स्वयं कहते हैं) मानो वह रज्जु-नृत्य के प्रति, अथवा शेरी के प्रति रुचि जैसी ही कोई महत्त्वहीन बात हो । मुझे बताया गया है कि अरस्तू ने कहा है समस्त वाङ्मय में कविता सबसे अधिक दार्शनिक वस्तु होती है : यह बिलकुल सत्य है । उसका विषय होता है सत्य : वैयक्तिक या स्थानीय सत्य नहीं, सामान्य और व्यावहारिक सत्य और वह किसी बहिर्साक्ष्य पर आधृत नहीं होता, भाव के माध्यम से वह अविकल रूप से हृदय में प्रवेश करता है, ऐसा सत्य जो अपना साक्ष्य स्वयं ही है, वह जिस न्यायाधिकरण के सम्मुख आवेदन करता है उसमें स्वयं ही विश्वास एवं क्षमता जगाता है और उसी न्यायाधिकरण से उन्हें प्राप्त भी करता है । कविता मानव और प्रकृति का प्रतिबिम्ब होती है । चरितकार और इतिहासकार की ईमानदारी और उनकी उपादेयता की राह में जो बाधाएँ होती हैं वे उनसे कहीं अधिक और अमित हैं जिनका सामना अपनी कला की गरिमा को समझने वाले कवि को करना पड़ता है । कवि पर केवल एक प्रतिबन्ध होता है अर्थात् उसे मानव को तात्कालिक आनन्द प्रदान करना होता है—ऐसे मानव को जिसे वह सब

ज्ञान होता है जिसकी मानव के रूप में—वकील, चिकित्सक, नाविक, नक्षत्रवेत्ता अथवा प्रकृति-वैज्ञानिक के रूप में नहीं—उससे अपेक्षा की जा सकती है। इस एक प्रतिबन्ध के अतिरिक्त, कवि और वस्तु-छवि के बीच कोई भी बाधा नहीं होती जबकि इसके तथा चरितकार एवं इतिहासकार के बीच सहस्रों बाधाएँ होती हैं।

किन्तु तात्कालिक आनन्द निष्पन्न करने की इस आवश्यकता को कवि की कला का अपकर्ष न समझा जाये। बात एकदम इसके विपरीत है। यह तो सृष्टि के सौन्दर्य की स्वीकृति है : जो अधिक सच्ची है, क्योंकि वह औपचारिक नहीं वरन् अप्रत्यक्ष है। यह कार्य उसके लिए सरल और सहज है जो प्रेम-भाव से संसार को देखता है; इसके अतिरिक्त, यह मानव की नैसर्गिक एवं अपरिच्छिन्न गरिमा के प्रति मानो श्रद्धांजलि है, उस भव्य तात्त्विक आनन्द-सिद्धान्त के प्रति श्रद्धांजलि है जो उसके जानने-समझने, अनुभव करने, जीने और चलने-फिरने का आधार है। आनन्द से जिसका संचार होता है उसके अतिरिक्त हमारी कोई सहानुभूति नहीं, मेरी बात को अन्यथा न समझा जाये परन्तु जहाँ कहीं भी हम दुःख से सहानुभूति करते हैं, वहाँ यह देखा जा सकता है कि उस सहानुभूति का उद्भावन और निर्वहण आनन्द के साथ सूक्ष्म संयोग द्वारा ही होता है। हमारा कोई ज्ञान नहीं अर्थात् विशेष तथ्यों के विवेचन से आकलित कोई सामान्य सिद्धान्त नहीं—जो है आनन्द से निर्मित है और केवल आनन्द से ही हममें विद्यमान रहता है। वैज्ञानिक—रसायनज्ञ एवं गणितज्ञ—इस बात को जानते हैं और अनुभव करते हैं, चाहे उन्हें कितनी ही कठिनाइयों और निराशाओं से झूझना पड़ा हो। शरीरविद् के ज्ञान का जिन वस्तुओं से सम्बन्ध है वे चाहे जितनी क्लेशकर क्यों न हों परन्तु वह अनुभव करता है कि उसका ज्ञान आनन्द है और जहाँ उसे आनन्द-लाभ नहीं होता वहाँ ज्ञान भी नहीं मिलता। कवि क्या करता है ? वह मानव और उसके आसपास की वस्तुओं को परस्पर क्रिया-प्रतिक्रियारत मानता है जिससे सुख-दुःख की अनन्त जटिलता की उद्भावना होती है, वह मानव को अपने सहज स्वरूप और साधारण जीवन में कुछ निकट ज्ञान, कुछ विश्वासों, सहजानुभूतियों और निष्कर्षों—जो स्वभाव से सहजानुभूतियों के गुण अर्जित कर लेते हैं—के साथ इन पर विचार करते देखता है, वह देखता है कि मानव भावों एवं संवेदनाओं के इस जटिल दृश्य को निरखता है और उसे सर्वत्र ऐसे आलम्बन मिल जाते हैं जो उसमें तुरन्त सहानुभूति जगा दें जिनमें—उसकी प्रकृतिगत आवश्यकताओं के कारण—हर्ष का पलड़ा ही भारी रहता है।

कवि मुख्यतः इस ज्ञान पर जो हर समय हर व्यक्ति के पास रहता है और इन अनुभूतियों पर—जिनमें दैनिक जीवन के अनुशासन के अतिरिक्त किसी अन्य अनुशासन के बिना ही हम हर्ष-लाभ कर सकते हैं—अपना ध्यान केन्द्रित करता है। वह मानता है कि मानव और प्रकृति मूलतः एक-दूसरे के अनुकूल ढले हुए हैं और मानव का मन निसर्गतः प्रकृति के उत्कृष्टतम एवं सर्वाधिक रोचक गुणों का दर्पण है। इस प्रकार कवि आनन्द की इस भावना से—जो सम्पूर्ण अध्ययन-क्रम में उसके साथ रहती है—प्रेरित होकर सामान्य प्रकृति के सम्पर्क में आता है : उसका अनुराग वैसा ही होता है जिसकी उद्भावना अपने अध्ययन-विषयों के अन्तर्गत पड़ने वाले प्रकृति के विशेष अंगों के साथ सम्पर्क में आने पर अपने परिश्रम और समय की गति के कारण वैज्ञानिक कर लेता है। कवि और वैज्ञानिक दोनों का ज्ञान आनन्द-रूप है परन्तु एक का ज्ञान हमारे अस्तित्व का आवश्यक अंग होता है—वह हमारा प्रकृत उत्तराधिकार है, उसे कोई हमसे छीन नहीं सकता; दूसरे का ज्ञान वैयक्तिक उपलब्धि है, उसका अर्जन धीरे-धीरे किया जा सकता है : वह किसी स्वाभाविक एवं प्रत्यक्ष अनुभूति द्वारा अपने बन्धु-बान्धवों से हमारा सम्बन्ध नहीं जोड़ता। वैज्ञानिक सुदूर एवं अज्ञात उपकर्ता समझकर सत्य का सन्धान करता है : वह एकाकी उसका पोषण करता है, उससे प्रेम करता है; कवि सत्य को साकार मित्र और अभिन्न साथी के रूप में साक्षात् उपस्थित समझ कर खुशी के गीत गाता है जिसमें मानव-मात्र उसका साथ देता है। कविता ज्ञान का प्राण है, उसकी शुद्ध-बुद्ध आत्मा है, वह रागदीप्त अभिव्यक्ति है जो समस्त विज्ञान का आश्रय है। शेक्सपियर ने मानव के विषय में जो कुछ कहा है वही कवि के विषय में और हड़तापूर्वक कहा जा सकता है कि वह आगे भी देखता है और पीछे भी। वह मानव-स्वभाव के लिए रक्षा की अजय भूमि है, वह पोषक और रक्षक है : जहाँ-जहाँ वह जाता है प्रेम और स्नेह-सम्बन्ध उसके साथ रहते हैं। मिट्टी और जलवायु, भाषा और तौर-तरीके, नियम तथा रीति-रिवाज के भेद रहते हुए भी कुछ चीजों के अनजाने मन से निकल जाने और कुछ के भीषण अन्त के बावजूद कवि इस समूची पृथ्वी पर सर्वदा फैले हुए मानव-जाति के विशाल साम्राज्य को राग एवं ज्ञान द्वारा एक सूत्र में बाँधता है। कवि के मन में भाव का उन्मेष करने वाले विषय सभी जगह होते हैं, यद्यपि यह सत्य है कि मानव के नेत्र एवं इन्द्रियाँ ही उसके प्रिय पथदर्शक होते हैं तथापि उसे जहाँ भी अपने पंख फैलाने योग्य संवेदनापूर्ण वातावरण मिल सकता हो उसी ओर वह अनुगमन करेगा। कविता ज्ञान का अर्थ भी है, इति भी—मानव-मन की भाँति वह अमर

है। यदि वैज्ञानिक के प्रयत्न कभी हमारी स्थिति में, और हम जो प्रभाव स्वभावतः ग्रहण करते हैं उनमें, कोई महत्वपूर्ण—प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष—परिवर्तन पैदा कर दें, तब भी कवि आज जितना जागरूक रहता है उतना ही जागरूक रहेगा। वह वैज्ञानिक के चरण-चिह्नों का अनुसरण करने के लिए प्रस्तुत रहेगा—केवल उन सामान्य अप्रत्यक्ष प्रभावों में ही नहीं वरन् स्वयं विज्ञान के विषयों में संवेदना जगाने में भी वह उसके साथ होगा। यदि कभी ऐसा समय आया जब रसायनज्ञ, वनस्पतिविद् और खनिज-शास्त्री की गवेषणाएँ हमारे लिए परिचित वस्तुएँ हो जाएँ और इन विज्ञानों के अनुयायी जिन सम्बन्धों के अन्तर्गत इनका भावन करते हैं वे सुख-दुख-द्वन्द्वग्रस्त मानव के रूप में हमारे लिए स्पष्ट और प्रकट महत्व के हों तो इनके अज्ञात-से-अज्ञात अनुसन्धान भी कवि-कला के लिए वैसे ही समीचीन विषय बन जायेंगे जैसे कोई भी अन्य विषय। यदि कभी ऐसा समय आया कि आज हम जिसे विज्ञान कहते हैं वह, इस प्रकार मानव से परिचित होकर, मांस-मज्जायुक्त रूप धारण करने को प्रस्तुत हो तो कवि इस रूपान्तर को सफल बनाने के लिए अपनी दिव्यात्मा का बल लगायेगा और इस प्रकार जो प्राणी अस्तित्व में आयेगा उसका मानव-परिवार के प्रिय एवं नैसर्गिक अंग के रूप में स्वागत करेगा। अतः यह माना नहीं जा सकता कि कविता के प्रति जिसकी वही उदात्त धारणा हो जिसका आख्यान मैंने किया है, वह कभी भी क्षणिक और सांयोगिक अलंकारों का उपयोग करके अपने मनश्चित्रों की शुचिता और यथार्थता नष्ट करेगा और कौशल का प्रयोग करके अपनी कृति के लिए प्रशंसा-भाव उत्पन्न करने का प्रयत्न करेगा क्योंकि स्पष्ट ही उसकी आवश्यकता तो तभी होती है जब विषय की अधमता को हम पहले ही स्वीकार कर लें।

अब तक जो कुछ भी कहा गया है वह सामान्यतः तो कविता मात्र के विषय में सत्य है पर विशेष रूप से कृति के उन अंशों पर लागू होता है जिनमें कवि अपने पात्रों के माध्यम से बोलता है और इस विषय में यह निष्कर्ष समीचीन प्रतीत होता है कि ऐसे विवेकवान् व्यक्ति कम ही हैं जो यह न मानें कि कृति के जो नाट्यांश प्रकृति की यथार्थ भाषा से जितनी दूर हैं और कवि की अपनी पदावली के रंग में जिस हद तक रंगे हुए हैं वे उतने ही सदोष हैं—फिर वह चाहे व्यष्टि-कवि के रूप में उसकी अपनी विशेषता हो या कवि-समष्टि के अंग के रूप में अर्थात् उस जन-समुदाय अंग के रूप में जिनसे, उनकी रचना छन्दमयी होने के नाते, यह आशा की जाती है कि वे एक विशेष भाषा का ही प्रयोग करेंगे।

अतः किसी कृति के नाट्यांशों में हम भाषा के ये भेद नहीं खोजते परन्तु जहाँ कवि प्रत्यक्ष, अपनी निजता को साक्षात् रखकर, हमसे कुछ कहता है, वहाँ यह उचित और आवश्यक हो सकता है। इसके उत्तर में कवि का मैंने पहले जो निरूपण किया है उसकी ओर मैं पाठक का ध्यान आकृष्ट करूँगा। वहाँ जो मुख्य गुण गिनाये गये हैं—जिनके योग से कवि का निर्माण होता है—उनका सामान्य मानव-गुणों से प्रकार-भेद नहीं : भेद है तो केवल मात्रा का। वहाँ मैंने जो कुछ कहा उसका सारांश यह है कि कवि और सामान्य मानव में मुख्यतः अन्तर यह होता है कि किसी तात्कालिक बाह्य उत्तेजना के बिना भी कवि अपेक्षाकृत शीघ्र विचार और भावन कर सकता है और इस प्रकार उसके मन में जो विचार और भावनाएँ जन्म लेती हैं उन्हें अभिव्यक्ति देने की उसमें अपेक्षाकृत अधिक क्षमता होती है। परन्तु ये वासनाएँ, विचार और भावनाएँ मानव की सहज-सामान्य वासनाएँ, विचार और भावनाएँ ही होती हैं। और उनका सम्बन्ध किससे होता है ? निस्सन्देह हमारी नैतिक भावनाओं और पाशविक संवेदनाओं से और उन कारणों से जो इन्हें उत्तेजित करते हैं, तत्त्वों के क्रिया-कलाप और दृश्य जगत के प्रकट रूपों से, भङ्गाओं और आतप से—ऋतु-क्रम से : जाड़े और गर्मी से; मित्रों और सगे-सम्बन्धियों को खो देने से, आघात और मनःक्षोभ से, कृतज्ञता और आशा से, भय और दुःख से। इनका और ऐसी ही संवेदनाओं और विषयों का निरूपण कवि करता है—ये ही संवेदनाएँ औरों की भी होती हैं, इन्हीं विषयों में औरों की अभिरुचि होती है। मानवीय वासनाओं के अनुरूप ही वह सोचता है, वैसी ही अनुभूतियाँ उसमें जागती हैं। तब, जिन लोगों की दृष्टि अमलिन होती है और जो अनुभूति-प्रवण होते हैं उनकी भाषा से कवि की भाषा बहुत भिन्न कैसे हो सकती है ? यह प्रमाणित किया जा सकता है कि यह असम्भव है। पर मान लें कि ऐसा नहीं, तो हम कवि को अपने या अपने सरीखे अन्य लोगों के परि-तोष के लिए अपनी भावनाएँ व्यक्त करते समय विशेष प्रकार की भाषा के प्रयोग की छूट दे सकते हैं। परन्तु कवि कवियों के लिए ही तो लिखते नहीं, जनसाधारण के लिए लिखते हैं। अतः यदि हम अज्ञानमूलक प्रशस्ति के, और जो हम समझ नहीं पाते उसे सुनकर उत्पन्न होने वाले आनन्द के, हिमायती नहीं तो निश्चय ही कवि को इस कल्पित ऊँचाई से उतरना होगा और उसे अन्य लोगों की भाँति ही अपनी अभिव्यक्ति करनी होगी ताकि लोग बात समझें और समझकर सराहना और सहानुभूति दे सकें। और इसके साथ ही यह भी कह दिया जाये कि जब वह मानव की यथार्थ भाषा से इस प्रकार चयन करता है अथवा

यों कहें कि इस प्रकार चयन की भावना से प्रेरित होकर रचना करता है तब मानो उसके कदम सुरक्षित भूमि पर बढ़ रहे होते हैं और हमें भी ज्ञात होता है कि हम उससे क्या प्रत्याशा कर सकते हैं। छन्द के विषय में भी हमारी भावनाएँ यही हैं—वह समुचित, नियमित और एकविध होना चाहिए, मनमाना नहीं, जिसमें पूर्ण स्वैरिता से काम लिया गया हो, जिसके आधार पर कोई निश्चय करना ही सम्भव न हो। एक अवस्था में तो पाठक को पूर्णतः कवि के इशारे पर नाचना पड़ जाता है कि वह मनोगत वासना के साथ जाने कौन-से बिम्ब और पदावली का सम्बन्ध जोड़े। दूसरी अवस्था में, छन्द कुछ नियमों में बँधकर चलता है—कवि और पाठक दोनों उन्हें सहर्ष स्वीकार करते हैं क्योंकि वे नियत-निश्चित होते हैं और वासना में किसी प्रकार का अवरोध उपस्थित नहीं करते बल्कि युगों के अविकल साक्ष्य से यह सिद्ध है कि इससे उसका सह-वर्ती आनन्द और भी तीव्रतर एवं परिष्कृत होता है। कविता का साध्य अतिशय आनन्द के साथ-साथ उत्तेजना उत्पन्न करना है परन्तु मान्यता के अनुसार, उत्तेजना मन की असाधारण एवं अनियमित अवस्था होती है : इस अवस्था में विचार और भावनाएँ सामान्य क्रम में उद्भूत और विलीन नहीं होतीं। किन्तु जिन शब्दों से यह उत्तेजना उत्पन्न होती है वे यदि अपने आप में शक्तिशाली हों अथवा यदि उन बिम्बों और भावनाओं के साथ अतिशय दुःख अन्वित हो तो इस बात का कुछ खतरा होता है कि कहीं उत्तेजना अपनी उचित मर्यादा पार न कर जाये। अस्तु, किसी नियमित वस्तु की सह-उपस्थिति—किसी ऐसी चीज की उपस्थिति जिसका विभिन्न मनोदशाओं में और कम उत्तेजित अवस्था में मन अभ्यस्त रहा हो—सामान्य भावना के और ऐसी भावना के समन्वय द्वारा, जो अनिवार्य और आवश्यक रूप से उस वासना से सम्बद्ध न हो, उसे (वासना को) संयत और सन्तुलित करने में निश्चय ही अत्यन्त प्रभावशाली होगी। यह अतर्क्य सत्य है। अतः भाषा को उसकी यथार्थता से कुछ हद तक वंचित करने की छन्द की प्रवृत्ति के कारण—और इस प्रकार समूची रचना को अमूर्त अस्तित्व की एक प्रकार की अर्धचेतना से अभिभूत कर देने के कारण—यह मत पहले-पहल कुछ विरोधाभास-सा प्रतीत हो सकता है किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि अधिक करुण स्थितियाँ और भावनाएँ—अर्थात् वे स्थितियाँ और भावनाएँ जिनके साथ दुःख का अधिक अंश समन्वित होता है—गद्य की अपेक्षा छन्दमयी रचना में ही अधिक स्थायित्व पा सकती हैं : विशेषतः लययुक्त पद्य में।

यहाँ जिस वाद का प्रतिपादन किया गया है उसका यदि मैं व्यवस्थित रीति

से मण्डन करने बैठा होता तो मुझे उन कारणों का विवेचन करना चाहिए था जिन पर छन्दोबद्ध भाषा से प्राप्त आनन्द निर्भर होता है। इनमें से प्रमुख कारण एक ऐसा सिद्धान्त है जिससे वे लोग सुपरिचित होंगे जिन्होंने किसी भी कला को सूक्ष्म चिन्तन का विषय बनाया हो। यह उस आनन्दोपलब्धि का सिद्धान्त है जो मन विषमता में समता का बोध कर ग्रहण करता है। यह सिद्धान्त हमारे मन की क्रियाशीलता का महान् प्रेरणा-स्रोत है और उसका प्रमुख परिपोषक भी। इसी सिद्धान्त के आधार पर यौन वासना और उससे सम्बद्ध सभी वासनाएँ दिशा ग्रहण करती हैं, यही हमारे नित्य-व्यवहार का प्राण है, हमारी अभिरुचि और नैतिक भावनाएँ भी इसी पर आवृत हैं कि हम विषमता में समता और समता में विषमता का बोध कितनी सूक्ष्मता से कर सकते हैं। छन्द के विवेचन में इस सिद्धान्त का उपयोग करना, और यह बताना कि इसके आधार पर कैसे छन्द बहुत आनन्द प्रदान कर सकता है और कैसे उसकी सृष्टि होती है, वृथा नहीं होगा। परन्तु विस्तार-भय से मैं इस विषय की मीमांसा नहीं करूँगा; संक्षेप में, सामान्य विवेचन करके ही सन्तोष करूँगा।

मैं पहले कह चुका हूँ कि कविता बलवती भावनाओं का सहज उच्छलन होती है। शान्त अवस्था में भाव के स्मरण से उसका उद्भव होता है। उस भाव का भावन किया जाता है—यहाँ तक कि एक विशेष प्रकार की प्रतिक्रिया द्वारा—शनैः-शनैः शान्तता का लोप होकर वैसा ही भाव उत्पन्न हो जाता है जो पहले भावन का विषय रहा हो और वह भाव वास्तव में मन में अस्तित्व ग्रहण कर लेता है। प्रायः ऐसी मनोदशा में सफल रचना का सूत्रपात होता है और इसके सदृश मनोदशा में ही वह अग्रसर होती रहती है परन्तु विविध कारणों से उत्पन्न भाव—चाहे वह किसी भी प्रकार का और तीव्र-क्षीण कैसा भी हो—विविध प्रकार के आनन्द से संयुक्त होता है; अतः किसी भी वासना के निरूपण में, जो स्वतः स्फूर्त हो, मन कुल मिलाकर आनन्द की अवस्था में ही रहता है। अतः यदि प्रकृति इस कृत्य में संलग्न प्राणी को आनन्द की अवस्था में बनाये रखने के लिए इतनी सजग रहती है तो इससे जो सबक मिलता है उससे कवि को लाभ उठाना चाहिए और इस बात का विशेष ध्यान रखना चाहिए कि वह अपने पाठक के प्रति जो भी वासनाएँ संवेदित कर रहा हो उनमें—यदि पाठक का मन स्वस्थ और सबल है तो—सदा ही आनन्द का प्राधान्य होना चाहिए। अस्तु, सामंजस्यपूर्ण छन्दोबद्ध भाषा का संगीत, कठिनाई पर विजय पा लेने की भावना, इसी या इसके सदृश रचना वाले छन्द अथवा लय की कृतियों से पहले कभी प्राप्त आनन्द से अलक्ष्य सम्बन्ध-संसर्ग,

वास्तविक जीवन की भाषा के अत्यन्त सहज किन्तु छन्द के कारण उससे अत्यन्त भिन्न होने का बार-बार होने वाला भाषा-विषयक अस्पष्ट बोध—ये सब मिलकर अनजाने ही एक संश्लिष्ट हर्ष-भावना को जन्म देते हैं और यह दुःख की उस भावना को मर्यादित रखने में अत्यन्त महत्वपूर्ण होती है जो गहनतर वासनाओं के सशक्त निरूपण के साथ प्रायः जुड़ी रहती है। करुण और भावपूर्ण कविता का सदैव यह प्रभाव होता है, जबकि हल्की-फुल्की रचनाओं में कवि जिस अनायासता एवं सौष्ठव के साथ अपनी कविता को व्यवस्थित करता है वे स्वयं अतर्क्य रूप में पाठक के लिए आह्लाद का मुख्य स्रोत होते हैं। इस विषय में जो कुछ कहना आवश्यक है वह इतना कहने से ही समझा जा सकता है—और कम ही लोग इससे असहमत होंगे—कि यदि आवेग, आचार-व्यवहार अथवा चरित्रों के दो समान सुष्ठु वर्णन लें, जिनमें से एक गद्य में हो, दूसरा पद्य में तो पद्यबद्ध वर्णन को सौ बार पढ़ा जायेगा और गद्य को केवल एक बार।

(‘लिरिकल बैलड्स’ के द्वितीय संस्करण की भूमिका)

परिशिष्ट

सभी राष्ट्रों के आदि कवियों ने प्रायः वास्तविक घटनाओं से उत्पन्न भाव की प्रेरणा से काव्य-रचना की थी। उनकी रचना नैसर्गिक थी; रचनाकार सहज मानव था। अनुभूति उनकी बड़ी बलवती हुआ करती थी—अतः भाषा साहस-पूर्ण भी रहती थी और लाक्षणिक भी। परवर्ती काल के कवियों ने—और कविरूप में यश-लाभ करने के इच्छुक जनों ने—इस प्रकार की भाषा का प्रभाव देखते हुए और तद्वत् रागोत्तेजना के बिना वैसा ही प्रभाव डालने की इच्छा से प्रेरित होकर यन्त्रवत् उनके अलंकारों और लक्षणाओं को ग्रहण करने का प्रयत्न किया। कभी-कभी तो वे औचित्य के साथ उनका निर्वाह कर पाये परन्तु प्रायः ऐसे भावों और विचारों के लिए उनका उपयोग करने का प्रयत्न किया जिनके साथ उनका किसी प्रकार का सहज सम्बन्ध न था। इस प्रकार अनजाने ही एक भाषा जन्मी—इस भाषा में और किसी भी परिस्थिति में पड़े हुए मानव की वास्तविक भाषा में आकाश-पाताल का अन्तर था। इस विकृत भाषा का पाठक या श्रोता अशान्त एवं असाधारण मानसिक स्थिति में पहुँच जाता था; सच्ची रागान्वित भाषा का प्रभाव भी यही हुआ करता था—दोनों ही अवस्थाओं में वह चाहता था कि उसका सामान्य विवेक और ज्ञान सुप्त हो जायें। सत्य का उसे कोई सहज एवं अचूक बोध हो नहीं सकता था, कि वह मिथ्या को

अस्वीकार कर देता : इनमें से एक दूसरे में पैठ पाने के लिए मानो अनुज्ञा-पत्र की भाँति था । दोनों ही अवस्थाओं में आनन्द का भाव होता था—अतः यदि दोनों में कोई भेद नहीं समझा गया या दोनों को एक ही अथवा एक-से ही कारणों से जनित समझा गया तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं । इसके अतिरिक्त कवि एक ऊँचे धरातल पर खड़े हुए—एक प्रतिभाशाली एवं अधिकारी मानव की भाँति उससे बोलता था । इस प्रकार—और कई अन्य कारणों से भी—इस विकृत भाषा का बड़ी प्रशंसा के साथ स्वागत किया गया और सम्भवतः कवि—जो अब तक अधिकांशतः उन अभिव्यंजनाओं का ही दुरुपयोग कर पाया था जो कभी सच्चे राग से उद्भूत हुई थीं—एक कदम और आगे बढ़ गया : उसने ऐसे पदोच्चय का समावेश किया जो वैसे तो सच्ची भावमयी लाक्षणिक भाषा के समान ही प्रतीत होते थे परन्तु थे एकान्ततः उनके अपने ही आविष्कार—सन्मति और नैसर्गिकता से वे न्यूनाधिक मात्रा में दूर जा पड़े थे । यह सत्य है कि आदिकालीन कवियों की भाषा साधारण भाषा से बहुत-कुछ भिन्न प्रतीत होती थी क्योंकि वह असाधारण क्षणों की भाषा थी परन्तु वह मनुष्य द्वारा बोली अवश्य जाती थी—वह भाषा ऐसी थी जो वर्णित घटनाओं से प्रभावित होने के समय स्वयं कवि-मुख से स्फुरित हो चुकी हो अथवा उसने अपने आसपास के लोगों के मुख से सुनी हो । सम्भव है इस भाषा के साथ शुरू में ही किसी न किसी प्रकार का छन्द और जोड़ दिया गया हो । इससे कविता की सहज भाषा सामान्य जीवन से और भी दूर जा पड़ी—फलतः इन आदिकालीन कवियों की कविता जो कोई सुनता या पढ़ता उसका मन कुछ इस प्रकार से द्रवित हो उठता जैसा कि वास्तविक जीवन में प्रायः नहीं हुआ करता और उसके कारण भी उन कारणों से भिन्न होते थे जिनका प्रभाव वास्तविक जीवन में उन लोगों पर पड़ा करता था । इस भावना की ओट में जितनी विकृतियाँ पनपीं उनके लिए यही सबसे बड़ा प्रलोभन था । परवर्ती कवियों ने जो भाषा अपनाई वह इस दृष्टि से निश्चय ही सच्ची काव्य-भाषा के समान थी कि सामान्य वातचीत में वह भाषा नहीं सुनाई पड़ सकती थी— वह असाधारण थी । परन्तु मैं कह चुका हूँ कि पूर्ववर्ती कवियों की भाषा असाधारण होते हुए भी मनुष्य की ही भाषा हुआ करती थी । परवर्तियों ने इस बात की उपेक्षा की, उन्होंने देखा कि आह्लाद प्रदान करने के और भी सुलभतर साधन हैं—उन्हें उन अभिव्यंजना-पद्धतियों पर गर्व होने लगा जो उनके अपने ही द्वारा आविष्कृत हुई थीं और जिन्हें केवल वे ही प्रयोग में लाते थे । काल की गति के साथ छन्द इस असाधारण भाषा का प्रतीक अथवा मूलाधार बन गया और जिस

किसी ने छन्द में लिखने का निश्चय किया उसने न्यून-अधिक सच्ची कवित्व-प्रतिभा के अनुपात में अपनी रचनाओं में अधिक या न्यून इस विकृत पदावली का समावेश किया। इस प्रकार सत्य और मिथ्या अविच्छेद्य रूप से संग्रथित होते गये, यहाँ तक कि धीरे-धीरे मनुष्य की रुचि ही विकारग्रस्त हो गई और यह भाषा सहज भाषा के रूप में ग्रहण की जाने लगी। अन्ततः मनुष्य पर पुस्तकों के प्रभाव से, कुछ हद तक, वह सचमुच वैसी हो भी गई। इस प्रकार के विकृत प्रयोग एक राष्ट्र से दूसरे राष्ट्र में चलते गये और परिष्कार की प्रगति के साथ यह पदावली नित्य अधिकाधिक भ्रष्ट होती गई—इसने नानाविध चमत्कारों, विलक्षणताओं, प्रतीकात्मक आभरणों और गूढ़ोक्तियों के द्वारा प्रकृति के सहज मानवीय तत्त्वों पर पर्दा डाल दिया।

यह असंगत और अमर्यादित पदावली जो आह्लाद देती है उसके कारणों की ओर निर्देश करना अरोचक न होगा। वैसे तो इसके कारण अनेक और विविध हैं परन्तु कदाचित् सबसे बड़ा कारण यह है कि वह कवि-चरित्र के वैशिष्ट्य और उत्कर्ष की धारणा जमाने में सफल होती है और उस चरित्र के साथ सहानुभूति के वृत्त में निकटतर लाकर पाठक की आत्मरति का परितोष करती है—यह प्रभाव निष्पन्न होता है चिन्तन की साधारण वृत्तियों को भ्रम-भोर कर पाठक को उस क्षुब्ध और अनवहित मानसिक अवस्था तक पहुँचने में सहायता करने से, जिसमें न पहुँचने पर, वह सोचता है कि वह एक विशिष्ट आनन्द से वंचित रह गया है जो कविता दे सकती है और उसे देना चाहिए।

(उक्त भूमिका का परिशिष्ट)

अनुवादक : श्री महेन्द्र चतुर्वेदी

कॉलरिज

[सन् १७७२-१८३४ ई०]

[पाश्चात्य रोमानी आलोचना के उन्नायकों में सूक्ष्मद्रष्टा कवि सैमुअल टेलर कॉलरिज का स्थान अन्यतम है। वे अंग्रेजी के अमर रोमानी कवि हैं। वर्ड्सवर्थ के सहयोग में कार्य करते हुए उन्होंने अठारहवीं शती के कृत्रिम एवं रूढ़ काव्य-मूल्यों के उन्मूलन और स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति की प्रतिष्ठा में महत्वपूर्ण योगदान किया। उनकी 'ऐनशिअंट मेरिनर', 'क्रिस्टावेल' आदि कृतियाँ रोमानी काव्य-शिल्प की अमर निधियाँ हैं।

कॉलरिज को भी जीवन के प्रारम्भ काल से ही अनेक विषमताओं का सामना करना पड़ा था। बाल्यावस्था में ही वे पितृ-सुख से वंचित हो गये। बालक कॉलरिज को क्राइस्ट चिकित्सालय में विद्यार्थी के रूप में प्रविष्ट कर दिया गया जहाँ उसका सारा व्यय स्कूल की ओर से ही वहन किया जाता था। अपने एक निबन्ध में उन्होंने इसका बड़ा मनोरंजक वर्णन किया है।

कॉलरिज ने दर्शन और काव्य का अविच्छिन्न सम्बन्ध मानते हुए दर्शन और तत्त्व-चिन्तन के आधार पर अपने काव्य-सिद्धान्तों की स्थापना की है। उन्होंने लॉक आदि द्वारा प्रतिपादित मन की निष्क्रियता के सिद्धान्त का विरोध किया और मन को स्रष्टा का प्रतिबिम्ब माना। इसी आधार पर वे कल्पना-शक्ति को दिव्य प्रेरणा और ईश्वर की सर्जना-शक्ति की सहोदरा मानते हैं : 'वह ससीम में असीम की शाश्वत सृजन-शक्ति की आवृत्ति है।' कॉलरिज के अनुसार काव्य तथा अन्य ललित कलाओं की मूल चेतना एक ही है। 'सौन्दर्य के माध्यम से सद्यःपरनिवृत्ति ही इन सब का मूल प्रयोजन है, और यही विज्ञान से इनका भेद स्पष्ट हो जाता है, जिसका तात्कालिक उद्देश्य एवं मौलिक प्रयोजन सत्य और सम्भाव्य उपयोगिता है।' इस प्रकार वे सौन्दर्य का शिवत्व से पार्थक्य कर सत्य से एकत्व स्थापित कर देते हैं : कॉलरिज की यही स्थापना आगे चलकर क्रोचे आदि के काव्य-दर्शन की आधार-भूमि बनी।

कॉलरिज ने वर्ड्सवर्थ के इन दो अतिवादों का खण्डन किया है :

(१) काव्य और ग्राम्य जन-जीवन का अन्तरंग सम्बन्ध है। (२) काव्य-भाषा और सामान्य जनभाषा में कोई मौलिक भेद नहीं है। उनका प्रसिद्ध आलोचना ग्रन्थ 'बायोप्रेक्रिया लिटरेरिया' विचित्र ग्रन्थ है : उसमें काव्य-शास्त्र के अनेक सिद्धान्तों का जगड़वाल तो अवश्य है किन्तु काव्य-सत्य के अनेक पहलुओं का इतना तात्त्विक व्याख्यान अन्यत्र दुर्लभ है। अनेक दोषों के रहते हुए भी वास्तव में मौलिकता और गाम्भीर्य की दृष्टि से पाश्चात्य काव्य-शास्त्र के इतिहास में कॉलरिज का स्थान मूर्धन्य आचार्यों में है।]

×

×

×

छन्दोबद्ध रचना

वर्ड्सवर्थ ने जोर देकर कहा है कि गद्य और छन्दोबद्ध रचना की भाषा में न कोई तात्त्विक भेद है, न हो सकता है। अस्तु, स्वयं गद्य—कम-से-कम तर्कानुबद्ध एवं विचारात्मक कृतियों का गद्य—बोलचाल की भाषा से भिन्न होता है और होना चाहिए : वैसे ही जैसे बातचीत में और पढ़ने में अन्तर होना चाहिए। अतः यदि सब लेखन-शैलियों में सामान्यतः प्रयुक्त उपादान के रूप में शब्दों के भेद का ही निषेध किया गया है, सर्वतोस्वीकृत अर्थ में शैली का नहीं, तो स्वभावतः यह माना जा सकता है कि गद्य और साधारण बोलचाल में जो भेद हो सकता है उससे कहीं अधिक भेद छन्दोबद्ध रचना और गद्य के अवयव-विधान में होगा।

साहित्य के इतिहास में ऐसे उदाहरण कम नहीं जब विरोधाभासों ने नूतन एवं आश्चर्यकारी सत्यों के रूप में प्रकट होकर जनता को चकित कर दिया हो परन्तु जो सूक्ष्म परीक्षण के पश्चात् चिर-परिचित और घिसे-पिटे सर्वविदित तथ्य मात्र ही सिद्ध हुए हों, वैसे ही जैसे विल्ली की आँखें अँधेरे में देखने पर अग्निशिखा-सी प्रतीत होती हैं। परन्तु जिसे वर्ड्सवर्थ के अन्तर्मन और चरित्र के अध्ययन का थोड़ा-सा भी अवसर मिला हो वह यह कभी न मानेगा कि वे भी इस प्रकार की भ्रान्ति के शिकार हुए होंगे। जब ऐसे लेखक ने एक आपत्ति की स्वाभाविक कह कर प्रत्याशा की है तो उनके द्वारा दिये गये उसके प्रत्युत्तर की व्याख्या भी कुछ ऐसी होनी चाहिए जिसका खंडन हुआ हो, हो रहा हो अथवा हो सकता हो। तब, मेरा उद्देश्य यह होना चाहिए कि मैं 'तात्त्विक भेद' का इस प्रसंग में कोई और अर्थ खोजूँ—जो इन शब्दों की सामान्यता और अस्पष्टता से निरपेक्ष हो। अँग्रेजी में कोई ऐसा शब्द-समूह होना चाहिए या नहीं जो कुछ सीमा तक यूनानियों और इतालवियों

की काव्य-भाषा से मिलता-जुलता हो—यह प्रश्न तो नितान्त गौण है। हमारी भाषा में तो निश्चय ही ऐसे शब्दों की संख्या बहुत कम होगी। यूनानी और इतालवी भाषाओं में भी ये शब्द वस्तुतः कोई अलग शब्द नहीं, उन्हीं शब्दों के धातु-रूपों एवं शब्द-रूपों में साधारण भेद हो जाने से ये शब्द बन गये हैं। ये शब्द-रूप निस्सन्देह सुदूर अथवा निकट अतीत में कभी-न-कभी किसी जन-जाति अथवा प्रदेश के व्याकरण-सम्मत सामान्य शब्द-रूप रहे होंगे। संयोग से, प्रेरणा के प्रथम प्रतिष्ठित आलोक-पुंज—कुछ परम मेधावी लेखकों—की प्रशंसा पाकर ये ही शब्द काव्य में आ गये होंगे। जिस बोली के ये शब्द होंगे, वह उनकी अपनी बोली रही होगी। तत्त्व का वाच्यार्थ है अनन्य-सामान्यता का सिद्धान्त—किसी वस्तु के (अपने) उस विशिष्ट रूप में सम्भव होने का अन्तरंग सिद्धान्त। यह किसी वस्तु के 'भाव' का समानार्थी है—यदि हम 'भाव' शब्द को एकान्ततः दार्शनिक अर्थ में प्रयुक्त करें। दूसरी ओर 'अस्तित्व' का 'तत्त्व' से भेद है—उसमें यथार्थता का संयोग रहता है। अस्तु, हम वृत्त के तत्त्व और उसके तत्त्वगत गुणों का उल्लेख करते हैं परन्तु उसका निष्कर्ष यह नहीं निकालते कि कोई भी वस्तु जिसका यथार्थ अस्तित्व हो गणित की दृष्टि से वृत्ताकार होगी। इसी प्रकार बिना किसी शब्दाडम्बर के हम परमात्मा की सत्ता का कथन करते हैं—अर्थात् भाव के अनुरूप एक यथार्थ की सत्ता का। इसके पश्चात् 'तत्त्व' शब्द का एक गौण प्रयोग भी होता है जहाँ वह एक ही वस्तु अथवा विषय के दो रूप-भेदों में विरोध-विन्दु अथवा आधार की व्यंजना करता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि वेस्टमिस्टर एवे और सेंट पाल की स्थापत्य-शैली में तत्त्वतः भेद है यद्यपि दोनों ही एक ही खान से निकाले गये और समान आकार में कटे हुए प्रस्तर-खंडों से निर्मित हैं। तत्त्व शब्द के इसी अर्थ में (क्योंकि जनसाधारण में इसी अर्थ में उसका ग्रहण और दृढ़तापूर्वक उल्लेख किया जाता है) वर्ड्सवर्थ ने काव्य-भाषा (अर्थात् पद एवं वाक्यांशों के रूप-विधान अर्थात् शिल्प) और गद्य में तत्त्वगत भेद का निषेध किया होगा। अब अपनी स्थापना को प्रमाणित करने का भार जनसाधारण के विश्वास के समर्थकों पर नहीं, प्रतिपक्षियों पर है। फलतः वर्ड्सवर्थ ने अपनी स्थापना का प्रमाण यह दिया है कि प्रत्येक अच्छी कविता—उत्कृष्ट से उत्कृष्ट कविता—के अधिकांश भाग की भाषा आवश्यक रूप से (केवल छन्द की बात छोड़कर) न केवल गद्य से किसी भी प्रकार भिन्न न होगी बल्कि इसी प्रकार श्रेष्ठ कविताओं के कुछ अत्यन्त रोचक अंशों में विशुद्ध गद्य-भाषा—मुलिखित गद्य की भाषा—मिलेगी। इस दृढ़ोक्ति की सत्यता के प्रमाणस्वरूप प्रायः सभी

काव्य-रचनाओं से—स्वयं मिल्टन की काव्य-रचनाओं से भी—असंख्य उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं।

पहले मैं छन्द के उद्गम की दृष्टि से विचार करूँगा। मैं तो इसका उद्गम उस स्वतःस्फुरित प्रयास द्वारा मन में उत्पन्न सन्तुलन से मानता हूँ जो भावना के ज्वार को संयत रखने में संलग्न होता है। इसी तरह यह भी बताया जा सकता है कि किस प्रकार इस श्रेयस्कर प्रतिरोध में वही अवस्था सहायक होती है जिसका यह प्रतिकार करता है और किस प्रकार सचेतन रूप से तथा आनन्द-लाभ के पूर्व-निर्दिष्ट उद्देश्य से संकल्प एवं निर्णय के निरोधक कार्य द्वारा प्रतिरोधी तत्त्वों का यह सन्तुलन छन्द (इस शब्द का सामान्यतः स्वीकृत अर्थ ही यहाँ अभिप्रेत है) के रूप में घटित हो गया। इस सिद्धान्त को अपने तर्क का आधारभूत तथ्य मानकर हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि दो ऐसी वैध अवस्थाएँ हैं जिनकी प्रत्याशा आलोचक प्रत्येक छन्दोबद्ध रचना में कर सकता है। एक, चूँकि छन्द के तत्त्वों का अस्तित्व संवर्धित उत्तेजना पर आधृत होता है, अतः स्वयं छन्द भी आवेग की सहज भाषा से संवलित होना चाहिए। दो—चूँकि ये तत्त्व कृत्रिम रूप से और प्रयत्नपूर्वक आह्लाद को भावों से संश्लिष्ट करने के उद्देश्य एवं मन्तव्य से छन्द में ढाले जाते हैं अतः छन्दोबद्ध भाषा में सर्वत्र वर्तमान संकल्प के चिह्न उसी अनुपात में परिस्फुट होने चाहिए। अस्तु, इन दोनों अवस्थाओं में सामंजस्य और सह-विद्यमानता होनी चाहिए। भावना और संकल्प, स्वतःस्फूर्त आवेग और स्वैच्छिक उद्देश्य का साथ-साथ होना ही पर्याप्त नहीं, उनका पूर्ण संयोग होना चाहिए—ऐसा कि वे परस्पर घुल-मिल जायें।

वह चित्रमयी एवं मूर्तिविधायिनी भाषा के अधिक उपयोग की प्रेरणा ही नहीं देता, स्वयं वैसी भाषा के उद्भव की दिशा में उन्मुख रहता है। अन्य किसी अवस्था में—जहाँ प्रस्तुत अवस्था की भाँति कवि और पाठक के बीच पहले से ही यह सुविचारित परन्तु मौन समझौता न हो कि इस प्रकार की और इतनी आह्लादप्रद उत्तेजना की प्रत्याशा करना पाठक का अधिकार है और उसका सृजन कवि का कर्तव्य—उक्त भाषा का इतना अधिक प्रयोग स्वाभाविक न होगा।

दूसरे, मैं अपने पक्ष का प्रतिपादन छन्द के प्रभाव की दृष्टि से करूँगा। जहाँ तक छन्द अपने आप में और अपने निमित्त क्रियाशील रहता है, वह सामान्य भावनाओं और मनोयोग दोनों को अधिक ग्रहणशील एवं प्रबलतर बनाने की ओर उन्मुख होता है। यह प्रभाव विस्मय-भाव के सतत उद्दीपन

तथा जिज्ञासा के—जो शान्त हो-होकर पुनरुद्दीप्त हो उठती है—जल्दी-जल्दी परिवर्तन से उत्पन्न होता है। ये दोनों पृथक्-पृथक् इतने नगण्य होते हैं कि किसी भी क्षण स्पष्ट चेतना की परिधि में नहीं आते परन्तु समष्टि रूप से इनका प्रभाव पर्याप्त हो जाता है। औषध-गर्भित वातावरण के रूप में अथवा उत्साह-पूर्ण वातचीत के समय उत्तेजना के रूप में ये बड़ा प्रबल प्रभाव डालते हैं—यद्यपि स्वयं अलक्षित रहते हैं। अतः इस प्रकार से उद्दीप्त मनोयोग और भावनाओं के लिए उनके अनुकूल आहार तथा उपयुक्त सामग्री न मिले, तो निराशा का अनुभव अवश्यम्भावी है : यह ऐसे ही होगा जैसे हम अँधेरे में किसी जीने की तीसरी-चौथी सीढ़ी से कूदने के लिए अपने अवयवों को तैयार करें और कूदने पर मालूम हो कि केवल एक ही सीढ़ी शेष रह गयी थी।

आमुख में छन्द-शक्ति का विवेचन परम कौशल का परिचायक है और सर्वत्र सत्य का स्पर्श करता है। परन्तु छन्द की शक्ति का निरपेक्ष और पृथक् कोई भी विवेचन मुझे नहीं दिखाई पड़ता। इसके विपरीत, लगता है वर्ड्सवर्थ ने काव्य के अन्य तत्त्वों से संयोग होने पर (और, मैं ससम्भता हूँ, उसके फलस्वरूप) छन्द जो प्रभाव डालता है, उसके आधार पर ही सदैव उसका मूल्यांकन किया है। इस प्रकार, पहले वाली समस्या का कोई समाधान नहीं होता—अर्थात् इस समस्या का कि कौन-से ऐसे तत्त्व हैं जिनके साथ संयोग होने से छन्द आल्लाद देने की दिशा में अपना पूरा प्रभाव डाल सकता है। दो और तीन मात्राओं के अन्त्यनुप्रास काव्य-कौशल के निम्नतर प्रकार हैं और एकान्ततः उनके अपने निमित्त उन पर ध्यान दिया जाये तो वे क्षणिक विनोद के साधन बन सकते हैं।

छन्द अपने आप में केवल मनोयोग को उद्दीप्त करने वाला होता है, अतः प्रश्न उठता है कि अवधान को इस प्रकार उद्दीप्त करने की क्या आवश्यकता है? इस प्रश्न का समाधान छन्द से प्राप्त आनन्द के द्वारा नहीं किया जा सकता, क्योंकि हम दिखा चुके हैं यह तो आनुषंगिक है और उन विचारों एवं अभिव्यंजनाओं पर निर्भर है जिन्हें छन्द का परिच्छद पहनाया जाता है। मुझे तो सिवा इसके और कोई भी ऐसा उत्तर नहीं दिखाई पड़ता जो बुद्धिग्राह्य हो कि—मैं छन्द में इसलिए लिखता हूँ कि मैं गद्य से भिन्न भाषा का प्रयोग कर रहा होता हूँ। इसके अतिरिक्त जहाँ भाषा ऐसी न होगी वहाँ दार्शनिक मन कविता की घटनाओं और उसमें व्यक्त भावनाओं से चाहे कैसे भी रोचक विचार ग्रहण कर ले, पर छन्द प्रायः निष्प्राण हो जायेगा।

तीसरे, मैं अन्यत्र दिये गये सभी कारणों से भी—जिनके अनुसार छन्द

ही कविता का उचित परिच्छद होता है और बिना छन्द की कविता अपूर्ण एवं सदोष रह जाती है—यही निष्कर्ष निकालता हूँ। अतः छन्द का—चाहे उसके साथ किसी और वस्तु का संयोग हो या न हो—प्रायशः कविता से सम्बन्ध रहने के कारण, और एक विशिष्ट औचित्य के साथ रहने के कारण, उसमें कोई-न-कोई गुण ऐसा होना चाहिए जो कविता में भी विद्यमान हो—चाहे वह (छन्द) स्वयं तत्त्वतः काव्यात्मक न हो। यह गुण उनके परस्पर साम्य का माध्यम होगा, कविता और उसके बाह्य परिच्छद छन्द के बीच एक तरह का (यदि मैं प्राविधिक रसायन से शब्द उधार लेकर कहूँ) रंग-स्थापक रसायन होगा। अस्तु, वर्ड्सवर्थ ने यह ठीक ही कहा है कि कविता में राग सदैव ही विवक्षित रहता है—इस शब्द को यहाँ अत्यन्त व्यापक अर्थ में अर्थात् भावनाओं एवं वृत्तियों की उत्तेजित अवस्था के अर्थ में ग्रहण करना चाहिए। प्रत्येक राग का अपना अलग स्पन्दन होता है, उसी प्रकार से उसकी अपनी विशिष्ट अभिव्यंजना-पद्धति भी होगी। परन्तु जहाँ प्रतिभा एवं मेधा की उतनी मात्रा विद्यमान हो जो लेखक को कवि-कीर्ति की साधना का अधिकारी बनाती है वहाँ स्वयं काव्य-रचना की क्रिया ही उत्तेजना की एक असाधारण अवस्था होती है, उसमें वैसी ही दशा विवक्षित रहती है और उत्पन्न होने दी जाती है। इस दशा में इसके अनुरूप भाषा-भेद उसी भाँति उचित एवं अपेक्षित होता है जिस भाँति प्रेम, भय, क्रोध अथवा ईर्ष्यामूलक उत्तेजना में—यद्यपि वह उतना परिस्फुट नहीं होता। इन तथा ड्राइडन में वर्णनों की सजीवता जितनी उनकी विषय-वस्तु और सामग्री में निहित विचारों तथा घटना-रूपों से प्रेरित है, उतनी ही वर्णनकर्ता की शक्ति एवं उत्साह से। चक्र जितने वेग से घुमेगा, उतनी ही वह शक्ति अर्जित करेगा। किस हद तक और किन संशोधनों के साथ उसके प्रभाव को स्वीकार किया जा सकता है—इसकी व्याख्या करने का प्रयत्न मैं अपने आक्षेप पर वर्ड्सवर्थ के समाधान अथवा यों कहें कि मेरे इस उत्तर के विषय में उनके आमुख में पहले से ही प्रत्याशित आपत्ति पर एक पश्चात्-टिप्पणी में करूँगा।

चौथे,—और यह अधिक व्यापक रूप में यदि वही युक्ति नहीं तो उससे घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित अवश्य है—मैं मानव की उच्च आध्यात्मिक सहजवृत्ति का उल्लेख करूँगा जो सामंजस्यपूर्ण समायोजन द्वारा हमें ऐक्य-साधना के लिए प्रेरित करती है और इस प्रकार इस सिद्धान्त की प्रतिष्ठा करती है कि किसी संगठित इकाई के विविध अंग उसके अधिक महत्वपूर्ण एवं अनिवार्य अंगों से सम्बद्ध होने चाहिए। प्रस्तुत एवं पूर्वोक्त युक्तियाँ इस तर्क से

और भी परिपुष्ट की जा सकती हैं कि काव्य-रचना अनुकरणात्मक कलाओं के अन्तर्गत है; अनुकरण प्रतिलिपिकरण नहीं है, वह या तो समान का आद्यन्त मूलतः भिन्न के साथ अथवा भिन्न का आद्यन्त मूलतः समान आधार के साथ घुल-मिल जाना है।

अन्त में, मैं कहूँगा कि प्रत्येक देश के और प्रत्येक युग के श्रेष्ठ कवियों की चर्चा इसी (उपर्युक्त युक्तियों से निष्कर्ष-रूप में निकाले गये) मत का समर्थन करती है कि 'तात्त्विक' शब्द के प्रत्येक अर्थ में—जिसमें यहाँ कोरा प्रत्यक्ष सत्य ही अन्तर्भूत नहीं—गद्य की भाषा तथा छन्दोबद्ध रचना की भाषा में 'तात्त्विक' भेद हो सकता है, होता है और होना चाहिए।

कविता की परिभाषा

दार्शनिक मीमांसा का कार्य उचित विभेद करना है, पर साथ ही उसे इस दृष्टि से अपने आपको निरन्तर सचेत रखना होता है कि विभेद विभाजन नहीं। किसी सत्य को सम्यक् रूप से हृदयंगम करने के लिए हमें उसके विभेद अवयवों को वीद्विक दृष्टि से अलग-अलग करना होता है : यह दर्शन की प्राविधिक प्रक्रिया है। परन्तु ऐसा करने के पश्चात् हमें अपनी धारणा में उन्हें फिर उसी एकत्व की स्थिति में ले आना चाहिए जिसमें उनका वास्तविक सह-अस्तित्व होता है : यह दर्शन का परिणाम है। कविता में भी वे ही तत्त्व होते हैं जो किसी गद्य-रचना में, अतः अन्तर तो उनके भिन्न मिश्रण में ही हो सकता है और उसका कारण यह है कि उसका प्रस्तावित प्रयोजन भिन्न होता है। प्रयोजन-भेद के अनुसार ही यह मिश्रण का अन्तर होगा। हो सकता है उसका प्रयोजन कृत्रिम विन्यास द्वारा किन्हीं विशेष तथ्यों आदि के स्मरण के लिए सुविधा प्रदान करना भर हो, यह रचना कविता केवल इसलिए कहलायेगी कि उसका स्वरूप छन्द अथवा तुक या छंद-तुक दोनों के कारण गद्य से भिन्न होगा। (यह कविता का निकृष्टतम स्वरूप है) और चूँकि ध्वनियों और मात्राओं के आवर्त्तन की प्रत्याशा में एक विशिष्ट आनन्द प्राप्त होता है अतः वे सभी रचनाएँ जिनमें यह अतिरिक्त आकर्षण रहता है कविता नाम से अभिहित की जा सकती हैं—चाहे उनकी विषय-वस्तु कुछ भी हो।

यह तो हुई बहिरंग रूप-विधान की बात। विभेद का एक और आधार है विषय-वस्तु और प्रयोजन का अन्तर। प्रत्यक्ष उद्देश्य सत्य का सम्प्रेषण हो सकता है—या तो निरपेक्ष और तर्कसिद्ध सत्य का, जैसे वैज्ञानिक कृतियों में; अथवा अनुभूत और अभिलिखित तथ्यों का, जैसे इतिहास में। साध्य की सिद्धि

से आनन्द की लब्धि हो सकती है—सर्वोच्च तथा चिरन्तन आनन्द की—परन्तु वह प्रत्यक्ष साध्य नहीं होता। अन्य कृतियों में आनन्द का सम्प्रेषण प्रत्यक्ष उद्देश्य हो सकता है—और यद्यपि, नैतिक अथवा बौद्धिक, सत्य चरम साध्य होना चाहिए तथापि उससे लेखक का स्वरूप निर्दिष्ट होगा, यह नहीं कि कृति किस वर्ग की है। समाज की वह अवस्था धन्य है जिसमें प्रत्यक्ष उद्देश्य समुचित चरम साध्य के विपर्यास से बाधित हो जाये, जिसमें पद-रचना और विम्ब-विधान का बड़े से बड़ा आकर्षण भी अनेक्रेओन* के बैथुलस तथा वर्जिल के अलेक्सिस को वितृष्णाजनक एवं विरुचिपूर्ण होने से न बचा सके।

परन्तु जो कृति छन्दोबद्ध रचना न हो उसका प्रत्यक्ष प्रयोजन आनन्द का सम्प्रेषण हो सकता है—और उस प्रयोजन की अधिकांश में सिद्धि भी हो सकती है, जैसे उपन्यासों और रमन्यासों में। तब क्या तुक या बिना तुक के छन्द में बाँध देने भर से ये रचनाएँ कविता नाम की अधिकारिणी हो जायेंगी? इसका उत्तर यह है कि कोई भी वस्तु तब तक शाश्वत आनन्द का स्रोत नहीं हो सकती जब तक उसमें इस बात का कारण निहित न हो कि वह वैसी क्यों है, अन्यथा क्यों नहीं। यदि उसमें छन्द का विधान किया जाए तो शेष अवयवों को उसके अनुकूल बनाना होगा। वे ऐसे होने चाहिए कि प्रत्येक अंग की ओर अलग से और अनवरत ध्यान देना समीचीन हो—स्वराघात और ध्वनि का परस्पर अनुकूल प्रत्यावर्तन करने में यही लक्ष्य होता है। अतः इस विवेचन के फलस्वरूप जो अन्तिम व्याख्या निकलती है उसे हम इस प्रकार शब्दबद्ध कर सकते हैं : कविता रचना का वह विशिष्ट प्रकार है, जो वैज्ञानिक कृतियों से इस बात में भिन्न है कि उसका प्रस्तावित प्रत्यक्ष उद्देश्य आनन्द होता है, सत्य नहीं, और जिसमें अन्य सब रचना-प्रकारों से (जिनका उक्त लक्ष्य उसके समान ही होता है) यह भेद होता है कि पूर्ण रचना वही आनन्द प्रदान करने का प्रयत्न करती है जो प्रत्येक घटक अंग से प्राप्त होने वाले विशिष्ट परिणाम के अनुरूप हो।

कई बार मतभेद ऐसे पैदा होता है कि विवादियों में से प्रत्येक एक ही शब्द को भिन्न अर्थ का वाचक ठहराता है, और उक्त तथ्य प्रस्तुत विषय से सम्बद्ध विवादों में जितना स्पष्ट होकर उभरता है उसकी तुलना में शायद ही कोई और उदाहरण रखा जा सके। यदि कोई व्यक्ति प्रत्येक ऐसी रचना को, जिसमें तुक या छन्द या दोनों का विधान हो, कविता कहना चाहे तो मैं उसकी सम्मति पर कोई आक्षेप नहीं करूँगा। यह विभेद कम-से-कम लेखक का मन्तव्य

*छठी शती ई० पू० में आयोनिआ का प्रख्यात प्रगीतिकार।

व्यक्त करने में समर्थ है। अगर साथ ही यह भी कहा जाए कि सम्पूर्ण रचना समान रूप से रोचक अथवा प्रभाव डालने वाली है, जैसे कोई कथा या मनोरंजक विचारों की शृंखला, तो मैं यह मानता हूँ कि यह कविता का एक समुचित तत्त्व है और उसका एक अतिरिक्त गुण है। परन्तु यदि सच्ची कविता की परिभाषा देनी हो तो मेरा उत्तर यह है कि वह ऐसी होनी चाहिए, जिसके विविध भाग परस्पर एक-दूसरे को सहारा दें और एक-दूसरे की व्याख्या करें और सब अपने-अपने अनुपात में छन्द-विधान के साथ समंजस हों तथा उसके उद्देश्य एवं ज्ञात प्रभावों का उन्नयन करें। प्रत्येक युग के चिन्तनशील समालोचक सभी देशों के इस अन्तिम निर्णय से सहमत रहे हैं कि न तो मन को अभिभूत कर लेने वाली पंक्तियों या श्लोकों की ऐसी शृंखला को सच्ची कविता की प्रशस्ति से मंडित किया जा सकता है जिनमें से प्रत्येक पाठक का सारा ध्यान अपने आप में केन्द्रित करके उसे सन्दर्भ से विच्छिन्न कर दे और उसे सामंजस्यकारी अंग बनाने के बजाय पृथक् और स्वतःपूर्ण (कृति) बना दे, और न किसी ऐसी निर्जीव रचना को जिसमें पाठक उसके घटक अवयवों की ओर आकृष्ट हुए बिना सीधा सामान्य निष्कर्ष ग्रहण कर ले। पाठक केवल अथवा मुख्यतः उत्सुकता के यान्त्रिक आवेग की प्रेरणा से या अन्तिम समाधान तक पहुँचने की उद्वेगमयी इच्छा से नहीं बल्कि यात्रा (पाठ) के आकर्षण से जनित मन के सुख की लब्धि के लिए आगे बढ़े—तब बात है। सर्प की गति की भाँति, जिसे मिस्रियों ने बौद्धिक शक्ति के प्रतीक के रूप में स्वीकार किया था, अथवा वायुमंडल में ध्वनि के मार्ग की तरह, हर कदम पर वह रुक जाता है और आधा पीछे को चला जाता है, फिर उस प्रतिवर्ती गति से शक्ति संचय करता है जो उसे पुनः आगे की ओर ले जाती है।

परन्तु इसे हम कविता के स्वरूप की सन्तोषजनक व्याख्या के रूप में ही मान सकते हैं, कविता की परिभाषा करना तो अभी शेष है। प्लेटो और बिशप टेलर के लेखों से तथा बर्नेट* की 'थियोरिया सैकरा' से इस बात के अकाट्य प्रमाण उपलब्ध होते हैं कि उत्कृष्ट-से-उत्कृष्ट कविता बिना छन्द के हो सकती है—यहाँ तक कि उसमें कविता के विभेदक उद्देश्यों का भी अभाव हो सकता है। 'इसाइया' का प्रथम अध्याय (बल्कि सम्पूर्ण ग्रन्थ का बहुत बड़ा भाग) समर्थ काव्य का उदाहरण है, परन्तु अगर हम कहने लगे कि यीशु का प्रत्यक्ष उद्देश्य सत्य नहीं, आनन्द था तो यह विचित्र बात होगी—और असंगत उससे भी अधिक। संक्षेप में, हम कविता शब्द को किसी भी विशिष्ट अर्थ का द्योतक

*टामस बर्नेट (१६३५ ?-१७१५ ई०)

मानें, उसमें अनिवार्यतः यह तथ्य निहित होगा कि कोई भी कविता—छोटी हो या बड़ी—सारी-की-सारी काव्य नहीं हो सकती। परन्तु यदि उसे एक सामंजस्य-पूर्ण इकाई का रूप देना हो तो यह आवश्यक है कि शेष भाग काव्य (अंश) के अनुरूप हों और इसका एक ही उपाय है कि उनका ऐसा सतर्क चयन और कृत्रिम विन्यास किया जाये कि काव्य का एक गुण उनमें आ जाये—माना कि वह उसका विशिष्ट गुण नहीं—और वह गुण यह है कि वह लिखित अथवा बोलचाल की गद्य-भाषा की अपेक्षा अनवरत एवं समव्यापी मनोयोग जगाए।

(वस्तुतः) 'काव्य क्या है' ? यह प्रश्न 'कवि कौन होता है ?' इस प्रश्न के इतने समीप और समान है कि पहले प्रश्न का उत्तर दूसरे के समाधान में ही निहित है क्योंकि यह तो कवि-प्रतिभा से ही निष्पन्न विभेद है जो कवि के अपने मन के बिम्बों, विचारों और भावों को जीवन देती है और उनका संशोधन करती है। आदर्श पूर्णता में देखें तो कवि मानव की सम्पूर्ण आत्मा को गतिमान बनाता है और उसकी विविध शक्तियों को, उनकी सापेक्षिक महत्ता एवं गरिमा के अनुसार, एक-दूसरी के अधीन रखता है। वह एकता के स्वर और भावना का विकिरण करता है जो अपने जादू से, अपनी उस संश्लेषात्मक शक्ति से—जिसे हमने कल्पना के अनन्यसाधारण नाम से अभिहित किया है—एक भाग को दूसरे के साथ एकान्वित करता है और (मानो) वे धुल-मिलकर एकाकार हो जाते हैं। यह शक्ति—जो सर्वप्रथम संकल्प और सद्भाव द्वारा क्रियाशील होती है और जो उनके अडिग, परन्तु सुकुमार एवं अविदित, नियन्त्रण में रहती है—परस्पर-विरोधी अथवा विसंवादी गुणों के सामंजस्य या सन्तुलन में अपनी अभिव्यक्ति करती है : यथा, सदृशता और अन्तर के, सामान्य एवं विशिष्ट के, विचार और बिम्ब के, व्यक्ति और प्रतिनिधि के, नवीनता और ताजगी की भावना तथा पुरानी और परिचित वस्तुओं के, असाधारण भावुकता की स्थिति और असाधारण अनुशासन के, चिर-जागरूक विवेक एवं आत्म-निग्रह और उत्साह एवं गम्भीर अथवा प्रखर भावना के, और, यद्यपि वह प्रकृत एवं कृत्रिम को समन्वित तथा समंजित करती हैं तथापि कला को प्रकृति के, रीति को वस्तु के तथा कवि के प्रति हमारी प्रशंसा को कविता के प्रति हमारी सहानुभूति के आश्रय रखती है।

अन्त में, सद्बुद्धि कवि-प्रतिभा की काया है, ललित कल्पना परिच्छद, मनोवेग जीवन और कल्पना उसकी आत्मा है जो सर्वत्र और सब भागों में व्याप्त रहती है तथा सब को मिलाकर एक गरिमामय एवं सम्प्रेषणीय पूर्णता का निर्माण करती है।

कल्पना

मेरे विचार में कल्पना या तो मुख्य होती है या गौण । मुख्य कल्पना तो मेरे अनुसार समस्त मानवीय ज्ञान की जीवन्त शक्ति और प्रमुख माध्यम होती है, वह असीम में होने वाली अनन्त सृजन-प्रक्रिया की ससीम मन में आकृति होती है । गौण कल्पना को मैं मुख्य कल्पना की छाया मात्र समझता हूँ, सचेतन संकल्प-शक्ति के साथ उसका सह-अस्तित्व होता है परन्तु फिर भी माध्यम का प्रकार वह वैसी ही होती है जैसी मुख्य कल्पना—अन्तर होता है मात्रा का और क्रिया-विधि का । पुनः सृजन के निमित्त उसका तिरोधान, विकिरण, विघटन होता है, या जहाँ यह प्रक्रिया असम्भव होती है वहाँ भी आदर्शीकरण तथा एकीकरण का प्रयत्न तो होता ही है । वह मूलतः सजीव होती है—वैसे ही जैसे (वस्तुओं के रूप में) सभी वस्तु मूलतः अचल और निर्जीव होती हैं ।

इसके विपरीत, ललित कल्पना की क्रीड़ा का अचलता और निर्दिष्टता के क्षेत्र के अतिरिक्त और कोई ठिकाना नहीं होता । ललित कल्पना, वास्तव में, देश-काल के अनुशासन से मुक्त स्मरण की एक रीति है—और कुछ नहीं, वह इच्छा-शक्ति के उस अनुभवमूलक व्यापार से पुष्ट और परिवर्तित होती है जिसे हम 'चयन' शब्द से व्यंजित करते हैं । परन्तु साधारण स्मृति की भाँति ललित कल्पना भी अपनी सम्पूर्ण सामग्री साहचर्य-नियम से यथावत् ग्रहण करती है ।

(वायोग्रैफिया लिटरेरिया)

अनुवादक : श्री महेन्द्र चतुर्वेदी

शैले

(सन् १७६२ से १८२२ ई०)

[वर्ड्सवर्थ की भाँति मूलतः कवि होने पर भी शैले की काव्य-विषयक मान्यताओं का पाश्चात्य-जगत् में अपना स्थान है। जीवन के आरम्भ से ही उनमें प्रखर व्यक्तित्व के सभी गुण विद्यमान थे। उनका जन्म एक उच्च कुल के परिवार में हुआ था तथा उन्हें 'बैरन' बनने का अधिकार प्राप्त था किन्तु उनकी विद्रोही आत्मा जीवन की रूढ़ियों से समझौता नहीं कर सकी। उनका व्यक्तिगत तथा गृहस्थ जीवन भी अत्यन्त विषम ही था।

सन् १८१३ में शैले की आरम्भिक कृति 'क्वीन मैब' का प्रकाशन हुआ। तीन वर्ष पश्चात् उनका परिचय लार्ड बायरन और ले हन्ट से हुआ। १८१८ में 'इस्लाम का विद्रोह' (दि रिवोल्ट ऑफ़ इस्लाम) छपा और उसके कुछ ही दिनों के उपरान्त वे अपनी पत्नी मेरी के साथ इटली चले गये। जीवन के शेष दिन उन्होंने वहीं व्यतीत किए। सन् १८१६ उनके लिए महान् सफलता का वर्ष था। सन् १८१६ से २२ तक उनकी अनेक अमर कृतियों की रचना और प्रकाशन हुआ। इन वर्षों में वे बायरन तथा अपने अन्य मित्रों के साथ इधर-उधर भ्रमण करते रहे। जुलाई, सन् १८२२ में नौका-विहार करते हुए वे डूब गए; इस प्रकार इस रोमानी कवि को रोमानी मृत्यु ही प्राप्त हुई। शैले की साहित्यिक मान्यताओं का आधार है उनका प्रसिद्ध निबन्ध 'डिफ़ेन्स ऑफ़ पोयट्री' जिसकी रचना उन्होंने १८२१ में कर ली थी परन्तु जिसका प्रकाशन उन्नीस वर्ष के बाद हुआ।

शैले के नैतिक तथा दार्शनिक विचारों का आधार तर्क नहीं, कल्पना तथा सहज ज्ञान है। परन्तु इससे उपर्युक्त निबन्ध के महत्त्व में कोई अन्तर नहीं आता क्योंकि उन्होंने अपने सिद्धान्तों की प्रतिष्ठा बड़े प्रबल ढंग से की है। साहित्य का ऐतिहासिक मूल्यांकन, आदिम जीवन की पवित्रता, तर्क की अपेक्षा भावनाओं की प्रतिष्ठा आदि इस निबन्ध के प्रमुख प्रतिपाद्य विषय हैं।

शैले प्लेटो की इस उक्ति से पूर्ण रूप से सहमत थे कि कोई भी व्यक्ति तब तक कविता नहीं लिख सकता जब तक उसमें कविता लिखने का पागलपन न हो। एक पत्र में उन्होंने पीकाँक को लिखा है, “फ्रीड्स (फ़ेडर्स) का वह अनुच्छेद कितना चमत्कारपूर्ण है ! मेरे विचार में वह ‘कवित्वपूर्ण विक्षेप’ की प्रशंसा में, ‘कविता की परिभाषा’ और ‘मनुष्य कैसे कवि बन जाता है’—इस सम्बन्ध में, सुकरात के एक भाषण का प्रारम्भिक अंश है। इस युग में कवियशः-प्रार्थी प्रत्येक व्यक्ति को इस वाक्य से प्रेरणा ग्रहण करनी चाहिए।” इस प्रशस्ति में शैले के सिद्धान्त-प्रतिपादन की शक्ति और सीमा निहित है।

राबर्ट ब्राउनिंग ने लिखा है, “शैले में प्रशंसनीय निष्ठा थी। उनके कथन और चिन्तन में सदैव सत्य की प्रतिष्ठा नहीं होती थी, परन्तु वे सदा ‘सत्य की पवित्रता में बोलते और विचार करते थे।’” इस पवित्रता का क्षेत्र यद्यपि प्रायः व्यक्तिगत ही था परन्तु उनका आलोचनात्मक निबन्ध स्वच्छन्दता-वादी काव्यधारा के भाव-प्रेरित सिद्धान्तों का अमर अभिलेख बन गया है।]

×

×

×

काव्य का महत्त्व

कविता को, सामान्य अर्थ में, कल्पना की अभिव्यक्ति कहा जा सकता है और कविता का उद्भव मानव के साथ ही सहज रूप से हुआ है। जिस प्रकार वातचालित विपंची पर चिर-चंचल वायु के नित्य-परिवर्तित स्पर्शों से निरन्तर बदलते हुए राग का उदय होता है, उसी प्रकार मनुष्य भी एक यन्त्र है जिस पर बाह्य एवं आन्तरिक प्रभाव-क्रम अपनी छाप छोड़ जाता है। परन्तु मानव में—और शायद सभी सचेतन प्राणियों में—एक ऐसा सिद्धान्त है जो विपंची से भिन्न कार्य करता है और वह केवल राग ही उत्पन्न नहीं करता वरन् इस प्रकार से उद्दीप्त ध्वनियों या गतियों तथा उन्हें उद्दीप्त करने वाले प्रभावों में आन्तरिक समंजन पैदा करके एक समस्वरता को जन्म देता है। यह ऐसा है मानो विपंची अपनी तन्त्री को—एक निश्चित ध्वनि-अनुपात में—जो उसका स्पर्श करे उसी की गति के अनुकूल बना ले। अपने आप अकेला खेलता हुआ बच्चा अपनी आवाज़ और गतियों से अपना आह्लाद अभिव्यक्त करता है, स्वर के प्रत्येक परिवर्तन और प्रत्येक भंगिमा का उसके सुखद अन्तःसंस्कारों में विद्यमान अपने प्रतिरूप के साथ सीधा सम्बन्ध होगा, यह उस अन्तःसंस्कार का प्रतिबिम्ब होगा और जिस प्रकार हवा के विलीन हो जाने पर भी विपंची में कम्पन होता रहता है तथा ध्वनि निकलती है, उसी प्रकार बच्चा—अपनी

आवाज और गतियों में प्रभाव-काल को विस्तार देकर—कारण की चेतना को विस्तार देने का प्रयत्न करता है। बच्चे को आह्लाद देने वाली वस्तुओं से इन अभिव्यंजनाओं का वही सम्बन्ध है जो कविता का उच्चतर वस्तुओं से। बर्बर मानव भी (और युगों के अमित विस्तार में बर्बर मानव के विकास की वही स्थिति मानी जा सकती है जो वर्षों के सीमित विस्तार में बच्चे के विकास की) अपने चारों ओर की वस्तुओं द्वारा अपने मन में जगाये हुए भावों को इसी प्रकार प्रकट करता है; भाषा और मुद्राएँ—मूर्ति आदि अथवा चित्र के रूप में अनुकरण से मिलकर—उन वस्तुओं के संश्लिष्ट प्रभाव और उसके द्वारा उनके बोध की प्रतिमा बन जाती हैं। इसके बाद अपने समस्त राग और आनन्द से युक्त समाज-मानव उसके (मानव के) राग और आनन्द का विषय बनता है, भावों का अतिरिक्त वर्ग अभिव्यंजना के एक संवर्द्धित भण्डार को जन्म देता है और भाषा, मुद्रा एवं अनुकरणात्मक कलाएँ तुरन्त ही उसकी अभिव्यंजना बन जाती हैं तथा पेन्सिल और चित्र, छेनी और मूर्ति, तन्त्री एवं समस्वरता माध्यम। सामाजिक सहानुभूतियाँ—अथवा वे नियम जिनसे, अपने तत्त्वों की भाँति, समाज का उद्भव होता है—उसी क्षण से विकसित होने लगती हैं जब से दो मानव साथ रहना शुरू करते हैं, भविष्य वर्तमान में अन्तर्भूत होता है—जैसे वृक्ष बीज में। समता, विविधता, एकता, पारस्परिक अन्तर, परस्पर-निर्भरता—ये सब ऐसे हेतु प्रदान करने वाले सिद्धान्त बन जाते हैं जिनके अनुसार सामाजिक प्राणी का, जिस हृद तक वह सामाजिक है, संकल्प क्रिया में परिणत होता है और संवेदना में आनन्द, भावना में सात्विकता, कला में सौन्दर्य, तर्क में सत्य तथा सजातियों के परस्पर सम्पर्क में प्रेम की प्रतिष्ठा होती है। अतः समाज के शैशव-काल में भी मनुष्य अपनी वाणी और कर्म में एक प्रकार की व्यवस्था बनाये रखता है, जो उन पदार्थों एवं प्रभावों की व्यवस्था से अलग होती है जिसका वे प्रतिनिधान करते हैं, प्रत्येक अभिव्यंजना अपनी मूल वस्तु के नियमों के अधीन होती है। परन्तु हम यहाँ उन सामान्य विचार-णाओं को छोड़ दें—क्योंकि उनमें तो हमें स्वयं समाज के सिद्धान्तों का विवेचन करना पड़ेगा—और अपनी दृष्टि कल्पना को अभिव्यक्त करने की रीतियों पर, उसके रूपों पर केन्द्रित करें।

जगत के यौवन में, लोग नाचते-गाते हैं और प्राकृतिक पदार्थों का अनुकरण करते हैं; अपनी इन क्रियाओं में, अन्य क्रियाओं की भाँति—वे एक लय या क्रम का पालन करते हैं। यद्यपि सभी लोग नृत्य की गति में, गीत के राग में, भाषा के ताने-बाने में प्राकृतिक पदार्थों के अनुकरण-विधान में एक-सा क्रम

रखते हैं परन्तु वह एक ही नहीं होता । अनुकरणात्मक अभिव्यंजन के इन वर्गों में से प्रत्येक में कोई-न-कोई लय या क्रम होता है, श्रोता या दर्शक को अन्य किसी की अपेक्षा इससे तीव्रतर एवं विशुद्ध आनन्द की उपलब्धि होती है । इस क्रम के निकट पहुँचने की भावना को आधुनिक लेखकों ने 'रुचि' शब्द द्वारा व्यक्त किया है । कला के शैशव में प्रत्येक व्यक्ति एक क्रम का पालन करता है जो प्रायः उस क्रम के अधिकाधिक निकट होता है जिससे उच्चतम आनन्द की सृष्टि होती है, परन्तु वैविध्य पर्याप्त स्फुट नहीं होता—जैसे केवल उन अवस्थाओं को छोड़कर जहाँ सुन्दर (उच्चतम आनन्द और उसके कारण के पारस्परिक सम्बन्ध को इस शब्द से अभिहित करने की अनुमति चाहता हूँ) के निकट पहुँचने की इस वृत्ति का बहुत ही अधिक प्राधान्य हो, उसकी कोटियाँ बोधगम्य होनी चाहिए । जिनमें इसकी अतिशयता होती है वे 'कवि' हैं—इस शब्द के सबसे अधिक प्रचलित अर्थ में । अपने मन पर पड़े हुए समाज अथवा प्रकृति के प्रभाव को वे जिस रीति से अभिव्यक्त करते हैं उससे प्राप्त होने वाला आनन्द अन्य लोगों तक संवेदित होता है तथा उस समुदाय से मानो उसका संवर्धन होता है । उनकी भाषा प्रबल एवं लाक्षणिक होती है, अर्थात् उसमें वस्तुओं के सम्बन्धों का ऐसा बोध परिलक्षित होता है जो पहले नहीं होता था और उस बोध को स्थायित्व मिलता है, यहाँ तक कि काल की गति के साथ उनके द्योतक शब्द सांगोपांग विचारों के विम्व के बजाय विचार-वर्गों के कुछ भागों के चिह्न मात्र रह जाते हैं, और तब जो परस्पर सम्बन्ध छिन्न-भिन्न हो गये हैं उनमें नये प्राण डालने के लिए यदि नये कवि जन्म नहीं लेते तो मानव-सम्पर्क के समस्त उच्चतर उद्देश्यों के लिए भाषा निष्प्राण हो जायेगी । इन सादृश्यों अथवा सम्बन्धों के विषय में लार्ड वेकन^{१४३} की बड़ी सुन्दर उक्ति है कि 'ये जगत के विविध विषयों पर अंकित प्रकृति के चरण-चिह्न हैं' और वे उनका अवबोध करने वाली शक्ति को समस्त ज्ञान में अन्तर्भूत सामान्य सत्य का कोष मानते हैं । समाज के शैशव-काल में प्रत्येक लेखक आवश्यक रूप से कवि होता है क्योंकि स्वयं भाषा कविता होती है, और कवि होने का अर्थ है 'सत्य' और 'सुन्दर' का—एक शब्द में कहें तो 'शिव' का—बोध कर लेना : उस 'शिव' का जिसका अस्तित्व पहले तो सत्ता एवं बोध के और दूसरे बोध एवं अभिव्यक्ति के सम्बन्ध में होता है । अपने उद्गम-काल में प्रत्येक मौलिक भाषा अपने आप में आवर्तन कविता* का अव्यवस्थित रूप ही तो होती है, शब्द-भण्डार का बाहुल्य तथा व्याकरण-सम्मत भेद तो बाद के युगों का काम होता है; वे तो काव्य-सृजन की परि-

गणना तथा रूप मात्र होते हैं ।

परन्तु कवि, अर्थात् वे जो इस अक्षय क्रम की कल्पना एवं अभिव्यक्ति करते हैं, भाषा और संगीत, नृत्य, स्थापत्य, मूर्ति, चित्र के स्रष्टा मात्र ही नहीं होते, वे नियमों के प्रतिष्ठापक, नागर-समाज के जन्मदाता, जीवन-कलाओं के आविष्कर्ता तथा अदृश्य जगत की शक्तियों के आंशिक बोध को—जिसे धर्म कहते हैं—सत्य और सुन्दर के विशेष सान्निध्य में ले जाने वाले गुरु भी होते हैं । अतः सब मूलभूत धर्म अन्योक्तिपरक होते हैं—या कम-से-कम अन्योक्ति का उनमें अन्तर्भाव हो सकता है, और जानस^{१४४} की भाँति उसके सत्य एवं मिथ्या के दो चेहरे होते हैं । विश्व के आदिम युगों में कवि अपने-अपने राष्ट्र तथा युग की परिस्थितियों के अनुसार, विधायक अथवा द्रष्टा कहे जाते थे । कवि में इन दोनों लक्षणों का अनिवार्यतः संयोग एवं संश्लेषण होता है । वर्तमान जैसा कुछ है उसको कवि मर्म में पेंठ कर देखता हो और वर्तमान को जिन नियमों के अनुसार व्यवस्था दी जानी चाहिए उनका अन्वेषण करता हो—केवल इतना ही नहीं है ; वह वर्तमान में भविष्य का दर्शन भी करता है, उसके विचारों में नये-नये फल-फूलों का बीज निहित रहता है । मैं यह नहीं कहता कि कवि स्थूल अर्थ में भविष्यवक्ता होता है या जिस प्रकार घटनाओं की प्रवृत्ति का उसे पूर्व ज्ञान होता है उसी प्रकार निश्चयपूर्वक वह भविष्यकथन भी कर सकता है ; यह दावा तो अन्धविश्वास से किया जा सकता है जिसके फलस्वरूप भविष्यकथन काव्य का लक्षण बनने के बजाय काव्य भविष्यकथन का एक लक्षणमात्र बन कर रह जायेगा ।

कवि चिरन्तन, असीम एवं अद्वैत का समभागी होता है; उसकी काव्य-धारणाओं में, देश, काल एवं संख्या का कोई महत्व नहीं होता । पुरुष-भेद एवं देश-भेद तथा कालगत अवस्थाओं को व्यंजित करने वाले व्याकरण-रूप, ये सभी उच्चतम काव्य के सन्दर्भ में, काव्यत्व का क्षय किये बिना, परिवर्तनीय हैं ।

भाषा, रंग, रूप-आकार, धार्मिक एवं नागर कार्य-प्रवृत्ति—ये सब कविता के उपादान एवं साधन हैं । उस अलंकार-विशेष के अनुसार जिसमें कार्य को कारण का पर्याय माना जाता है, इन्हें कविता भी कह सकते हैं, परन्तु सीमित अर्थ में कविता, विशेषतः छन्दोबद्ध कविता उस भाषा-विन्यास को व्यक्त करती है जिसका सृजन मानव के अदृश्य स्वभाव में प्रच्छन्न आसन पर प्रतिष्ठित राजन्य शक्ति के द्वारा होता है । और इसका उद्भव भाषा की प्रकृति से ही होता है; भाषा रंग, आकार अथवा गति की अपेक्षा हमारे अन्तरतम की वासनाओं एवं क्रियाकलाप का अधिक प्रत्यक्ष निरूपण होती है—

उसमें रूप बदलने की अधिक क्षमता होती है, जिस शक्ति के द्वारा उसका जन्म होता है उसके नियंत्रण को वह अधिक मानती है। भाषा का जन्म कल्पना से अनायास होता है और उसका सम्बन्ध केवल विचारों से होता है, परन्तु कला के अन्य सब उपादानों, साधनों एवं परिस्थितियों का पारस्परिक सम्बन्ध होता है जो एक सीमा-रेखा खींचते हैं और भावन एवं अभिव्यंजना के बीच व्यवधान बन जाते हैं। एक दर्पण की तरह है जो प्रकाश को प्रतिबिम्बित करता है, दूसरा मेघ की भाँति जो उसे मन्द कर देता है—दोनों प्रकाश-संप्रेषण के माध्यम हैं। यही कारण है कि मूर्तिकार, चित्रकार एवं संगीतज्ञ का यश, सीमित अर्थ में, कवि के यश की तुलना कभी नहीं कर सका यद्यपि हो सकता है इन कलाओं में सिद्धहस्त कलाकारों की अन्तरंग शक्तियाँ उनसे किसी भी तरह कम न हों जिन्होंने भाषा को अपनी विचाराभिव्यक्ति का माध्यम बनाया है, जैसे दो बराबर कुशल कलाकार गिटार और वीणा बजायें तो वे असमान प्रभाव उत्पन्न करेंगे। केवल विधान-निर्माताओं एवं धर्म-संस्थापकों का यश ही, जब तक उनकी संस्था जीवित रहती है, सीमित अर्थ में कवि से अधिक दीख पड़ता है परन्तु अशिष्टों की स्थूल बुद्धि की चाटुकारी से प्रायः उपलब्ध ख्याति तथा कवि के उच्चतर स्वरूप में मिलने वाले यश को यदि उसमें से घटा दें तो कुछ बच रहेगा—इसका प्रश्न ही नहीं उठता।

इस प्रकार हमने 'कविता' शब्द को उस कला की परिसीमाओं में आबद्ध कर दिया है जो स्वयं उक्त शक्ति की सबसे अधिक परिचित एवं पूर्ण अभिव्यक्ति है। परन्तु अभी इस वृत्त को और छोटा करने की तथा छन्दबद्ध एवं छन्दमुक्त भाषा के भेद पर विचार करने की आवश्यकता है क्योंकि सूक्ष्म विचार करते समय गद्य एवं पद्य के लोक-प्रचलित भेद अस्वीकार्य हैं।

ध्वनि और विचार का परस्पर सम्बन्ध भी है और उससे भी है जिसका वे निरूपण करते हैं, और इन सम्बन्धों के क्रम का बोध सदैव विचारों के सम्बन्ध-क्रम के बोध से संपृक्त पाया गया है। अतः कवियों की भाषा में सदैव ध्वनि की एकविध एवं समंजस आवृत्ति होती आई है—जिसके बिना वह कविता ही न होती और प्रभाव के संप्रेषण के लिए वह शब्दों से किसी प्रकार कम अनिवार्य नहीं। इसी से अनुवाद की व्यर्थता सिद्ध होती है। पाटल के रंग और महक के प्रमुख तत्त्व जानने के लिए जैसे उसे किसी पात्र में डाल देना भर कोई बुद्धिमत्ता नहीं उसी प्रकार कवि की रचना को एक भाषा से दूसरी भाषा में ढालना भी कोई बुद्धिमानी नहीं।

कवि-मानस की भाषा में सामंजस्य के पुनर्वर्तन की नियमित रीति के

तथा संगीत से उसके सम्बन्ध के प्रेक्षण से छन्द का जन्म हुआ—छन्द का अर्थात् सामंजस्य एवं भाषा के परम्परागत रूपों की एक पद्धति विशेष का। परन्तु सामंजस्य की—जो प्राण है—प्रतिष्ठा के लिए यह अनिवार्य नहीं कि कवि अपनी भाषा को इन परम्परागत रूपों में ही ढाले। यह प्रथा वास्तव में सुविधाजनक एवं लोकप्रिय है, और अधिमान्य भी—विशेष रूप से ऐसी रचनाओं में जिनमें कार्य अधिक हो, परन्तु प्रत्येक उत्कृष्ट कवि के लिए यह आवश्यक है कि अपने पद्य-विशेष की रचना में अपने पूर्ववर्तियों के उदाहरणों की अपेक्षा कोई-न-कोई नूतनता लाये। कवि और गद्यकार के बीच भेद करना बड़ी भद्दी भूल है। दार्शनिक और कवि का भेद तो प्रत्याशित है। प्लेटो मूलतः कवि था। उसकी विम्ब-सृष्टि की यथार्थता और भव्यता, उसकी भाषा का माधुर्य—इनमें कल्पनातीत गहराई और तीव्रता है। महाकाव्य, नाटक और प्रगीति-रूपों के छन्द को उसने ग्रहण नहीं किया क्योंकि उसका प्रयत्न मूर्त रूप और कार्य-व्यापार से रहित विचारों में सामंजस्य की ज्योति जगाना था और नियत रूपों के अधीन अपने शैली-विन्यास के यति-विधान का अन्तर्भाव करने वाली लय की किसी नियमित योजना से भी उसने अपने को मुक्त रखा है।

सिसैरो^{१४५} ने अपने युग के स्वर-संक्रम का अनुकरण करना चाहा पर उसे सफलता नहीं मिली। लार्ड बेकन कवि था। उसकी भाषा में एक मधुर एवं गौरवमयी लय है जिससे मन की तृप्ति होती है—ठीक वैसे ही जैसे उसके दर्शन की प्रायः अतिमानवीय ज्ञानवत्ता बुद्धि का परितोष करती है। यह ऐसा दबाव है जो पहले स्फीति पैदा करता है, फिर पाठक के मन का बाँध तोड़ देता है और तब उसके साथ-साथ सार्वभौम तत्त्व में—जिसके प्रति उसकी चिरन्तन सहानुभूति होती है—मिल जाता है। विचार के क्षेत्रों में क्रान्ति के प्रवर्तक आवश्यक रूप से इसीलिए कवि नहीं कि वे आविष्कर्ता हैं, न केवल इसलिए कि उनके शब्दों में सत्य-जीवन से सम्बद्ध विम्बों के द्वारा वस्तुओं के स्थायी सादृश्य का उद्घाटन होता है वरन् इसलिए कि उनके वाक्यों में सामंजस्य और लय होती है और उनमें पद्य के तत्त्व रहते हैं—जो शाश्वत संगीत की प्रतिध्वनि है। न वे उत्कृष्ट कवि, जिन्होंने अपने विषयों के रूप-आकार के कारण लय के परम्परागत रूपों का प्रयोग किया है, वस्तु-सत्य का बोध करने और उसकी शिक्षा देने में उनसे किसी तरह कम समर्थ हैं जिन्होंने उस रूप का त्याग किया है।

कविता शाश्वत सत्य-रूप में अभिव्यक्त जीवन का ही प्रतिविम्ब है। कहानी और कविता में यह भेद है कि कहानी असम्पृक्त तथ्यों की एक अवलि

मात्र होती है जिनका काल, देश, परिस्थिति, कार्य और कारण के अतिरिक्त और कोई सम्बन्ध नहीं होता; कविता मानव-स्वभाव के अपरिवर्तनीय रूपों के अनुसार स्रष्टा के मन में अवस्थित कार्य-व्यापारों की सर्जना होती है और स्रष्टा का मन सभी के मन का विम्ब होता है। कहानी एकांगी होती है, वह एक निश्चित काल-खण्ड और घटनाओं के एक निश्चित संयोग से—जिसका पुनरावर्तन नहीं होता—सम्बन्ध रखती है; कविता सार्वजनीन होती है—मानव-स्वभाव के विविध सम्भावित रूपों में जिन प्रेरक हेतुओं और कार्यों का स्थान होता है उन सबसे सम्बन्ध के बीज उसमें विद्यमान रहते हैं। काल कहानी में विशेष तथ्यों के सौन्दर्य और उपयोग को नष्ट कर देता है—यदि इन तथ्यों को कविता के तत्त्वों से, जो उनमें होने चाहिए, वंचित कर दिया जाए। वही काल कविता के सौन्दर्य की अभिवृद्धि करता है और उसमें अन्तर्हित शाश्वत सत्य के नये और आश्चर्यजनक प्रयोगों को नित्य विकसित करता है। अतः संक्षेपण की प्रवृत्ति को सच्चे इतिवृत्त का धुन कहा गया है—वह उसके काव्य-तत्त्व को नष्ट कर देता है। किन्हीं विशेष तथ्यों की कहानी ऐसे दर्पण की भाँति है जो सुन्दरता को विकृत और आच्छन्न कर लेता हो। कविता ऐसा दर्पण है जो विकृत को सुन्दर बना देता है।

हो सकता है किसी रचना के अंश काव्यात्मक हों और सम्पूर्ण रचना कविता न हो। एक वाक्य को भी अपने आप में पूर्ण समझा जा सकता है—भले ही वह एक सूत्र में अनावद्ध अंशों के बीच में हो। एक अकेला शब्द भी चिर-ज्वलन्त विचार का स्फुलिंग हो सकता है। इस प्रकार देखें तो सभी महान् इतिहासकार कवि थे—और यद्यपि अपनी लेखन-योजना के कारण वे अपनी इस शक्ति को चरम उत्कर्ष पर नहीं ले जा सके तथापि उन्होंने अपने विषयों के बीच की सन्धियों को सजीव विम्बों का वैभव देकर अपनी विवशता का प्रचुर एवं प्रभूत परिहार कर दिया है।

कविता का चिरसंगी है आनन्द। जिन प्राणों का वह स्पर्श करती है वह आल्लाद से पुष्ट उसकी बुद्धिमत्ता ग्रहण करने के लिए उन्मुक्त हो जाते हैं। जगत के शैशव-काल में, काव्य-उत्कर्ष के प्रति न तो कवि सचेत होता है और न उनका भावक क्योंकि वह (कविता) अब्रूभ और दिव्य रीति से क्रियाशील होती है, जो चेतना से परे है। प्रबल कारण और कार्य के सशक्त एवं भव्य संयोग के मनन एवं उसके अंकन का श्रेय भावी पीढ़ियों का अपना अधिकार होता है। आधुनिक काल में भी, कोई जीवित कवि अपने यश की पराकाष्ठा पर नहीं पहुँच पाया। कवि काल की सीमाओं में आवद्ध नहीं होता, उसका

निर्णय करने के लिए जो निर्णायक-गण बैठें वे भी उसी के समतुल्य होने चाहिए—काल अनेक पीढ़ियों से चयन करके वरिष्ठ विद्वानों को उस स्थान पर प्रतिष्ठित करे। कवि बुलबुल की भाँति होता है जो अँधेरे में बैठकर अपने एकाकीपन को आह्लाद से भरने के लिए मधुर स्वरों में गाती है, उसके भावक अदृश्य संगीतकार की मृदु स्वर-लहरी से मुग्ध हो जाने वाले लोग होते हैं—वे यह तो अनुभव करते हैं कि वे भाव-विभोर हैं, स्निग्धता से ओतप्रोत हैं, पर क्यों और कैसे—यह वे नहीं जानते। आदिकालीन यूनान में होमर और उसके समसामयिकों की कविताएँ आह्लाद का स्रोत प्रवाहित करती थीं। वे उस समाज-व्यवस्था के अंग थे जिसने स्तम्भ बनकर सम्पूर्ण परवर्ती सभ्यता के भवन का बोझ सहा है। होमर ने मानव-स्वभाव में अपने युग की आदर्श पूर्णता को साक्षात् रूप दिया है। हमें सन्देह नहीं कि उसकी कविता का आस्वाद करने वालों में अखिल्लेस, हैक्तोर^{१४६} और ओद्युस्सेस के समान बनने की बलवती अभिलाषा जागी होगी। मैत्री, देशभक्ति तथा किसी वस्तु के प्रति अकम्प निष्ठा के सत्य और सुन्दर रूपों का उद्घाटन इन कृतियों में बड़ी गहरी पैठ के साथ हुआ है, ऐसे महान् एवं सुन्दर व्यक्तित्वों के साथ सहानुभूति के कारण उनके भावकों की भावनाओं का विस्तार एवं परिष्कार हुआ होगा, प्रशंसा करते-करते उन्होंने इनका अनुकरण किया होगा और अनुकरण के पश्चात् अपने प्रशंसा-पात्रों के साथ तादात्म्य कर लिया होगा। यह भी आपत्ति न की जाये कि ये चरित्र नैतिक पूर्णता से बहुत दूर हैं और उन्हें सर्वसाधारण के अनुकरण के निमित्त उत्तमयनकारी दृष्टान्त नहीं समझा जा सकता। प्रत्येक युग ने, न्यूनाधिक वास्तविक नामों से, अपनी भूलों को दिव्य रूप दिया है, प्रतिहिंसा अर्धवर्बर युग की उपासना की नग्न मूर्ति है और आत्म-प्रवंचना अज्ञात बुराई की आवृत प्रतिमा है जिसके सम्मुख विलासिता और परितृप्ति नतशिर रहती हैं। परन्तु कवि अपने समसामयिकों की बुराइयों को अस्थायी परिच्छद मानता है जो उसकी कृतियों को धारण करना पड़ता है; वे आवरण तो होती हैं परन्तु उनके सौन्दर्य के अमर रूप का गोपन नहीं करतीं। महाकाव्य अथवा नाटक का पात्र उन्हें अपनी आत्मा के चतुर्दिक् धारण करता है जैसे वह अपने शरीर पर प्राचीन कवच या आधुनिक वर्दी पहनता है—हम यह भी जानते हैं कि इन दोनों से अधिक भव्य और सुन्दर पहनावा भी हो सकता है। आन्तरिक स्वभाव के सौन्दर्य का गोपन कभी आनुषंगिक परिच्छद से नहीं हो सकता परन्तु उसके रूप की प्रवृत्ति से तो यह भी विदित हो जायेगा कि यह छद्मरूप क्या है और उसके पहनने का जो

ढंग है उसके पीछे छिपा हुआ आकार भी प्रस्फुटित हो उठेगा। भव्य रूप एवं मृदुगति बरबर एवं रुचिहीन वेश के पीछे भी बोल उठेंगे। उत्कृष्ट कोटि के शायद ही किसी कवि ने अपनी भावनाओं के सौन्दर्य को उसके निरावृत रूप एवं ऐश्वर्य में प्रकट किया होगा और इस स्वर्गिक संगीत को मर्त्य श्रवणेन्द्रियों के योग्य बनाने के लिए आवरण, आभरण आदि का आश्रय लेना आवश्यक नहीं—यह भी सन्देह की बात है।

परन्तु काव्य की अमरता के विषय में सारा आक्षेप उस रीति को ठीक-ठीक न समझने के कारण है जिसके द्वारा कविता मनुष्य में नैतिक सुधार लाती है। जिन तत्त्वों का सृजन कविता ने किया है आचार-शास्त्र उनका विन्यास करता है, और नागरिक एवं गार्हस्थ्य जीवन की योजनाओं का प्रतिपादन करता है तथा उदाहरण प्रस्तुत करता है; मनुष्य एक-दूसरे से घृणा करते हैं, एक-दूसरे की निंदा करते हैं, धोखा देते हैं और एक-दूसरे को अपने अधीन करने के लिए प्रयत्न करते हैं सो इसलिए नहीं कि सराहनीय सिद्धान्तों का अभाव है। कविता और दूसरी अधिक भव्य रीति से अपना कार्य करती है। विचारों के हजारों संयोगों के लिए प्रस्तुत करके वह मन को जगाती है और उसे उदार बनाती है। कविता मानो जगत के प्रच्छन्न सौन्दर्य पर से पर्दा उठा देती है—परिचित पदार्थ भी ऐसे लगने लगते हैं मानो वे अब तक अपरिचित थे, वह उस सब को प्रस्तुत कर देती है जिसका वह प्रतिनिधित्व करती है। और फिर जिन्होंने उनका एक बार भी भावन किया हो उनके मानस में वे विभूतियाँ स्निग्ध एवं उदात्त तत्त्व के स्मारक के रूप में—जिसका प्रसार उन सभी विचारों एवं कार्यों में हो जाता है जो उससे सम्पृक्त होते हैं—दिव्य आलोक से मण्डित होकर प्रत्यक्ष हो उठती हैं। आचार का सबसे बड़ा रहस्य है प्रेम अर्थात् अपने स्वभाव का बहिर्जगत में प्रसार और अपने से इतर व्यक्ति, विचार या कार्य में विद्यमान 'सुन्दर' के साथ तादात्म्य। बहुत अच्छा होने के लिए आदमी के पास प्रखर और व्यापक कल्पना होनी चाहिए, उसे अपने को दूसरे की—दूसरों की—स्थिति में रखना चाहिए, अपनी सम्पूर्ण जाति का सुख-दुःख उसका अपना सुख-दुःख हो जाना चाहिए। नैतिक कल्याण का सबसे बड़ा साधन है कल्पना, और कविता कारण को उद्दीप्त करके कार्य में योग देती है। कविता नित नये आह्लाद के विचारों से पुष्ट करके कल्पना के वृत्त को विस्तृत करती है—और इन विचारों में अन्य सब विचारों को आकर्षित करने की और अपनी प्रकृति में आत्मसात् कर लेने की क्षमता होती है, उनमें नई दरारें और नई सन्धें बनती हैं और और इस शून्य को हमेशा नई खुराक

की अपेक्षा रहती है। कविता उस शक्ति को पुष्ट करती है जो मनुष्य के नैतिक स्वभाव का साधन होती है—जैसे व्यायाम से शरीर के अवयव पुष्ट होते हैं।

अतः कवि के लिए यह उचित नहीं कि वह अपनी काव्य-कृतियों में सही-गलत की अपनी धारणाओं का समावेश करे क्योंकि उसकी ये धारणाएँ अपने देश-काल में सीमित होती हैं और कविता उनसे मुक्त होती है। प्रभाव की व्याख्या का निकृष्टतर कार्य-भार ग्रहण करके—जिसके सम्पादन में वह कदाचित् पूर्ण सफल न हो सकेगा—मूल कारण से तादात्म्य करने के गौरव को वह खो बैठेगा। इस प्रकार का कोई खतरा नहीं था कि होमर अथवा कोई और अमर कवि अपने को इतना गलत समझते कि अपने इस विशालतम साम्राज्य का सिंहासन त्याग देते। जिनमें कवित्व-शक्ति महान् होने पर भी उतनी प्रखर नहीं होती, वे प्रायः उसमें किसी नैतिक उद्देश्य का समावेश करते हैं और जिस अनुपात में वे हमें अपना ध्यान उस ओर केन्द्रित करने पर विवश करते हैं उसी अनुपात में उनकी कविता अपना प्रभाव खो बैठती है।

जब तक नाटक कविता की अभिव्यक्ति करता रहता है तब तक वह एक प्रिज़्म और कई पहलुओं वाले दर्पण की भाँति होता है—वह मानव-स्वभाव की उज्ज्वलतम किरणों को ग्रहण करता है, उसका विश्लेषण करता है और इन प्राथमिक रूपों की सरलता से उसकी पुनर्व्यंजना करता है, उसमें श्री और सुषमा का पुट दे देता है; जिसे वह प्रतिबिम्बित करता है उसकी संवृद्धि करता है और उसे ऐसी शक्ति से मण्डित कर देता है कि जो कुछ भी उसके सदृश हो उसका सर्वत्र प्रचार हो जाये।

परन्तु सामाजिक जीवन के ह्रास-काल में नाटक उस ह्रास के अनुरूप हो जाता है। त्रासदी प्राचीन काल की महान् कृतियों के रूप की प्राणहीन अनुभूति बनकर रह जाती है—सदृश कलाओं के समस्त सामंजस्यपूर्ण उपकरणों से वंचित। और प्रायः उसके बाह्य रूप को ही गलत समझा जाता है, या कुछ सिद्धान्तों की—जिन्हें लेखक नैतिक सत्य समझता है—शिक्षा का क्षीण प्रयत्न किया जाता है और वस्तुतः वे सिद्धान्त बहुधा किसी घोर दुर्बलता या बुराई के ही व्याज-रूप होते हैं जिन्होंने लेखक और उनके भावक दोनों को ही जकड़ लिया होता है।

नाटक वह रूप है जिसमें काव्य-अभिव्यंजना की विविध रीतियाँ अन्य किसी भी (साहित्य-) रूप की अपेक्षा अधिक संख्या में संयुक्त की जा सकती हैं—नाटक में किसी भी अन्य रूप की अपेक्षा काव्य और समाज-हित का सम्बन्ध अधिक सुव्यक्त होता है। यह निर्विवाद है कि नाटक का चरम उत्कर्ष

और मानव-समाज की परम पूर्णता सदैव साथ-साथ घटित हुए हैं और किसी भी राष्ट्र में, जहाँ कभी नाटक का उत्कर्ष रहा हो, उसका ह्रास अथवा विलोप आचार-व्यवहार की भ्रष्टता का एवं सामाजिक जीवन की प्राणस्वरूपा शक्तियों के विलोप का द्योतक है। परन्तु जैसा मेकियावेली^{१४७} ने राजनीतिक संस्थाओं के विषय में कहा है, जीवन की रक्षा हो सकती है और उसमें नई स्फूर्ति का संचार हो सकता है वशर्ते कि ऐसे लोग उत्पन्न हों जो नाटक को फिर से उसके सिद्धान्तों के धरातल पर ले आयें। यही बात कविता के विषय में—अत्यन्त व्यापक अर्थ में—सत्य है। भाषा, संस्था और रूप को जन्म देना भर पर्याप्त नहीं, उनका अनुरक्षण भी होना चाहिए। कवि-कर्म और कवि का स्वरूप केवल सृजन के क्षेत्र में ही भगवान् के समान नहीं, रक्षा करने में भी उसका स्वरूप वैसा ही है।

कवित्व-शक्ति के कार्य दो प्रकार के हैं—एक में वह ज्ञान, शक्ति और आनन्द के नये उपादानों की सर्जना करती है; दूसरे में वह इन सबको एक विशेष लय के अनुकूल अभिव्यक्त और विन्यस्त करने की इच्छा तथा 'शिव' एवं 'सुन्दर' की प्रेरणा मन में जगाती है। जब स्वार्थ और स्वहित-आयोजन के सिद्धान्त की अतिशयता से बाह्य जीवन के उपादानों का इतना प्रभूत संचय हो जाये कि वह मानव-स्वभाव के आन्तरिक नियमों के अनुकूल ढालने की शक्ति के परे हो, तब कविता का परिष्कार जितना बांछनीय होता है उतना और कभी नहीं। उस समय शरीर-तत्त्व का विस्तार होता है और वही उसकी प्रेरणा बन जाता है।

कविता सचमुच एक दिव्य शक्ति है। वह ज्ञान का केन्द्र-बिन्दु भी है, परिधि भी; उसमें समस्त विज्ञान का अन्तर्भाव है—वे सब उसी के अधीन होने चाहिए। चिन्तन की अन्य समस्त प्रणालियों की वह मूल भी है, फूल भी; सबका उद्भव उसी से होता है और सब उसीसे सुशोभित हैं; यदि उसका क्षय हो जाये तो यह बन्ध्य जगत जीवन-वृक्ष के अंकुर के उत्तराधिकार और पोषण से वंचित हो जाये—उसके बीज और फल का तिरोभाव हो जाये। वह प्रत्येक वस्तु के लिए अनवद्य एवं उत्कृष्ट भूमि है और उसका चरम विकास; वह गुलाब का रंग, उसकी महक और उसका निर्माण करने वाले तत्त्वों का विन्यास—सभी कुछ है; अक्षय सौन्दर्य के रूप एवं भव्यता से लेकर शरीर एवं विकार के रहस्यों तक उसका विस्तार है। यदि कविता उस अमर देश से आलोक और सत्त्व विकीर्ण करने न आती जहाँ उलूक-वाहिनी लक्ष्मी (स्वार्थ-वृत्ति) की गति नहीं, तो साधुता, प्रेम, देश-भक्ति, मैत्री का क्या अर्थ होता? इस सुन्दर सृष्टि

के—जिसमें हम निवास करते हैं—सुषमामय दृश्यों की क्या सार्थकता होती ? मरण-सरिता के इस पार हमें क्या चीज शान्ति देती और उस पार के लिए ही हमारी क्या उमंगें होती ? कविता तर्क की भाँति नहीं, वह ऐसी शक्ति नहीं जिसका उपयोग संकल्प-शक्ति के निश्चय के अनुसार हो । कोई भी आदमी यह नहीं कह सकता कि “मैं कविता रचूँगा ।” बड़े-से-बड़ा कवि भी यह नहीं कह सकता क्योंकि स्रष्टा मन बुझते हुए कोयले की तरह होता है जिसे कभी-कभी आने वाले हवा के झोंके की भाँति कोई अदृश्य प्रभाव क्षणिक दीप्ति से मंडित कर जाता है, यह शक्ति अन्तर से उद्भूत होती है—जैसे फूल का रंग जो उसके विकास में कभी मद्धिम पड़ता है और कभी बदलता है—और हमारे स्वभाव के चेतन अंशों द्वारा न उसके आविर्भाव के सम्बन्ध में पहले से कुछ कहा जा सकता है, न तिरोभाव के । यदि यह प्रभाव अपनी मूल शक्तिमत्ता और शुचिता में स्थायी हो जाये तो परिणाम कितने महान् हों—कहा नहीं जा सकता । परन्तु जब रचना आरम्भ होती है तो प्रेरणा का हास शुरू हो चुका होता है, संसार के सामने जो उत्कृष्ट-से-उत्कृष्ट कविता आज तक आई है वह भी कदाचित् कवि के मूल भावन की क्षीण छाया मात्र ही है । मैं युग के महान्तम कवियों से पूछता हूँ—क्या यह कहना गलत नहीं कि कविता के श्रेष्ठतम अंश अध्यवसाय एवं अध्ययन के फलस्वरूप अस्तित्व में आये हैं ? समालोचक जिस अध्यवसाय एवं अध्ययन की सिफारिश करते हैं वह इससे अधिक और क्या है कि प्रेरणा के क्षणों का सतर्क पर्यालोचन किया जाये और उनकी उद्भावनाओं के बीच में जो अन्तराल रह जाएँ उनमें परम्परागत अभिव्यंजनाओं को सजाकर एक कृत्रिम सम्बन्ध पैदा कर दिया जाये—इसकी आवश्यकता कवित्व-शक्ति की अपनी सीमाओं के कारण ही पैदा होती है ।

कविता सर्वाधिक सुखी एवं श्रेष्ठतम मनो के श्रेष्ठतम और सबसे अधिक सुखी क्षणों का लेखा-जोखा है । हम जानते हैं विचारों और भावों की क्षणिक उद्भावना होती है—कभी वे किसी स्थान अथवा व्यक्ति से सम्पृक्त होते हैं, कभी अपने ही मन से सम्बद्ध । वे अनायास आते हैं और सहसा विलीन हो जाते हैं परन्तु अनिर्वचनीय रूप से उन्नयनकारी और आह्लाददायक होते हैं : अतः वे जो उद्वेग और अतृप्ति छोड़ जाते हैं उसमें भी आनन्द ही होता है क्योंकि वह अपने विषय की प्रकृति से तादाम्य कर लेती है । यह प्रक्रिया कुछ ऐसी है मानो हमारी अपनी प्रकृति में किसी दिव्यतर प्रकृति का प्रवेश हो गया हो परन्तु उसके पदचिह्न समुद्र पर बहकर जाने वाली हवा की भाँति होते हैं जो शान्ति छा जाने पर लुप्त हो जाते हैं और जिसके अवशेष तट-सिकता की

लहरियों के रूप में ही रह जाते हैं। ये और अस्तित्व की इससे जनित परिस्थितियों का अनुभव मुख्यतः उन्हीं को होता है जो अत्यन्त सूक्ष्म संवेदनशीलता एवं व्यापक अनुभव से सम्पन्न होते हैं। इनसे उत्पन्न मनःस्थिति निम्न इच्छाओं की शत्रु होती है। साधुता, प्रेम, देशभक्ति और मैत्री का उत्साह मूलतः इन्हीं भावनाओं से सम्बद्ध होता है, और जब तक इनका सद्भाव रहता है आत्म जो है वही लगता है—मृष्टि में एक परमाणु के समान। अत्यन्त संस्कृत आत्मा होने के नाते कवि को केवल यही अनुभूतियाँ नहीं होतीं वरन् इस भंगुर जगत की क्षणिक छाया से वे जिसे संयुक्त करें उसे भी रंजित कर सकते हैं। किसी दृश्य या राग के निरूपण का कोई शब्द या वृत्ति, जिन्होंने कभी भी इन भावनाओं की अनुभूति की है उनमें, मोहित तन्त्री का स्पर्श करके अतीत की सुषुप्त, निष्प्राण और निश्चेष्ट प्रतिमा को पुनः जीवन्त कर देगा।

इस प्रकार संसार में जो श्रेष्ठतम और सुन्दरतम है कविता उसे अमर कर देती है, जीवन-चक्र के बीच-बीच में जो अदृश्यमान छवियाँ आ जाती हैं उन्हें वह पकड़ लेती है और उन्हें भाषा अथवा आकार का आवरण देकर मानव के समक्ष प्रस्तुत कर देती है और वे उन व्यक्तियों के प्रति सदृश आह्लाद का मधुर संवाद वहन करती हैं जिनमें वैसी ही दिव्य प्रेरणाओं का निवास तो होता है परन्तु जिनकी आत्मा के गह्वरों में से उन्हें वस्तु-जगत में अभिव्यक्ति पाने का कोई मार्ग नहीं होता। कविता मानवात्मा द्वारा अनुभूत दिव्य संस्पर्शों को क्षय से बचाती है।

कविता प्रत्येक वस्तु को सचिरता प्रदान करती है। जो परम सुन्दर है उसके सौन्दर्य की वह अभिवृद्धि करती है और जो अत्यन्त कुरूप है उसमें सौन्दर्य का समावेश करती है। वह भय और उल्लास, शोक एवं आह्लाद, चिरन्तनता और परिवर्तनशीलता का संयोग कराती है। अपने कोमल भार से वह विरोधी तत्त्वों का भी एकान्वय सम्भव कर देती है। वह जिसका स्पर्श करती है उसी में परिवर्तन ला देती है, उसकी आभा की परिधि में आने वाली प्रत्येक वस्तु आश्चर्यजनक सहानुभव के द्वारा कविता के सहज आत्म-तत्त्व से सम्पन्न हो जाती है; मृत्यु के स्रोत से निकलकर जीवन के माध्यम से प्रवाहित होने वाले विषैले पानी को कविता की रहस्यमय रसायन-प्रक्रिया पेय स्वर्ण में परिवर्तित कर देती है। वह जगत पर से परिचितता का अवगुंठन हटा देती है और अनावृत एवं सुषुप्त सौन्दर्य का उद्घाटन करती है जो उसके रूपों का प्राण है।

प्रत्येक वस्तु का अस्तित्व वैसा ही होता है जैसी वह देखी जाती है—

कम-से-कम ग्रहणकर्ता के निकट उसका अस्तित्व वैसा ही होता है। 'मन स्वयं अपना आधान है और वह अपने आप ही नरक का स्वर्ग और स्वर्ग का नरक बना सकता है।' परन्तु कविता उस अभिशाप को पराभूत करती है जो हमें दैव-योग से प्राप्त परिवेश के प्रभावों की अधीनता में बाँधता है। चाहे वह वस्तु-जगत पर तरह-तरह की आकृतियों वाला अपना पट डाल दे या उस पर से जीवन का अंधेरा पर्दा हटा दे, दोनों तरह से वह हमारे अन्दर एक नई सत्ता को जन्म देती है। वह हमें एक ऐसे जगत का वासी बना देती है जहाँ से हमारा परिचित जगत एक अव्यवस्था मात्र लगता है। वह उस जगत की प्रत्युत्पत्ति करती है जिसके हम अंग और बोधकर्ता हैं, वह हमारी अन्तर्दृष्टि के सामने से परिचितता का आवरण हटा देती है जो हमारे अस्तित्व के आश्चर्य को आच्छादित किये रहता है। जो कुछ हम देखते हैं उसका अनुभव करने के लिए और जो कुछ हम जानते हैं उसकी कल्पना करने के लिए वह हमें विवश करती है। पुनर्वचन से कृण्वित प्रभावों के प्रतिवर्तन से जब हमारे मन में सृष्टि का विनाश हो जाता है, तब वह नये सिरे से उसकी रचना करती है।

कवि जैसे दूसरों के लिए परम बुद्धिमत्ता, आह्लाद, साधुता, एवं कीर्ति का जन्मदाता है, वैसे ही स्वयं भी उसे सबसे सुखी, श्रेष्ठ, परम बुद्धिमान एवं विश्रुत होना चाहिए। जहाँ तक कीर्ति का प्रश्न है, काल साक्षी है कि मानव-जीवन के किसी भी अन्य नियामक की ख्याति की तुलना कवि से नहीं की जा सकती। कवि होने के नाते वह परम बुद्धिमान, सबसे सुखी और श्रेष्ठ होता है—यह भी अतर्क्य है। बड़े-बड़े कवि अनवद्य साधुता तथा उत्कृष्ट मनीषा वाले व्यक्ति हुए हैं और यदि हम उनके जीवन के अन्तरंग पक्ष को देखें तो वे सबसे अधिक भाग्यशाली भी रहे हैं। अपवादों पर विचार करें तो उनसे नियम सीमित अवश्य हो जायेगा परन्तु नष्ट नहीं होगा—क्योंकि इनका सम्बन्ध उन लोगों से है जिनमें कवित्व-शक्ति बहुत मात्रा में परन्तु निकृष्ट कोटि की होती है। एक क्षण के लिए हम जनसाधारण की विवाचन-पद्धति अपनायें और अभियोक्ता, साक्षी, निर्णायक तथा दंड-निष्पादक सभी विसंवादी भूमिकाओं को अपने में ही समाहित करते हुए बिना मुकदमे की सुनवाई, बिना साक्ष्य अथवा उपचार के यह निर्णय करें कि जहाँ हम पहुँचने का साहस भी नहीं कर सकते वहाँ बैठे हुए लोगों के कुछ मन्तव्य सदोष हैं।

जैसा कि कहा गया है कविता का तर्कशास्त्र से यह भेद है कि वह मन की सक्रिय शक्तियों के नियंत्रण में नहीं होती और उसके जन्म अथवा पुनर्वर्तन का चेतना या संकल्प-शक्ति से कोई आवश्यक सम्बन्ध नहीं होता। यह सोचना

वृथा है कि ये समस्त मानसिक प्रभाव-निष्पत्ति की आवश्यक परिस्थितियाँ हैं जबकि ऐसे भी मानसिक प्रभावों का अनुभव होता है जिनका इनसे कोई सम्बन्ध नहीं होता। यह स्पष्ट ही माना जा सकता है कि कवित्व-शक्ति का प्रायः पुनर्वर्तन होने से मन में व्यवस्था एवं सामंजस्य की एक आदत-सी पैदा हो सकती है और यह एक तो उसकी अपनी प्रकृति और दूसरे अन्य मनो पर उसके प्रभावों से परस्पर सम्बद्ध होगी। परन्तु प्रेरणा के बीच में जो अन्तराल पड़ते हैं—और हो सकता है वे प्रायः पड़ें तथा स्थायी न हों—उनमें कवि मनुष्य हो जाता है और उस पर वे सभी प्रभाव सहसा फिर क्रियाशील हो जाते हैं जिनके अधीन अन्य लोग स्वभावतः रहते हैं। परन्तु उसका रचना-विधान अन्यो की अपेक्षा अधिक कोमल होता है और अपने तथा दूसरों के सुख-दुख के प्रति वह उनकी अपेक्षा कहीं अधिक संवेदनशील होता है—अतः वह इस अन्तर के अनुपात में ही उत्साहपूर्वक एक स्थिति से वचेगा और दूसरी का अनुसरण करेगा। किन् परिस्थितियों में इन विषयों ने—जिनकी ओर और जिनसे दूर सारी दुनिया भागती है—अपने-आपको एक-दूसरे के बाने में छिपा लिया है : जो कवि यह नहीं देख पाता वह अपने आपको अव्यव बना लेता है।

परन्तु इस गलती में आवश्यक रूप से कोई बुराई नहीं—इसीलिए कवियों के जीवन के सम्बन्ध में जनसाधारण की ओर से जो आक्षेप होते हैं उनमें निर्ममता, ईर्ष्या, प्रतिशोध, लोभ तथा विशुद्धतः दुष्ट वासनाओं का कभी कोई अंश नहीं रहा।

कवि अज्ञात प्रेरणा के उद्गाता होते हैं, भविष्य वर्तमान पर जो विराट् छायाएँ डालता है उसके वे दर्पण होते हैं, वे उन पदों की भाँति हैं जो अध्याहार से अधिक की व्यंजना करते हैं, उस भेरी की तरह हैं जो युद्ध के लिए आह्वान करती है परन्तु अनुभव नहीं करती कि वह किस बात की प्रेरणा दे रही है, उस प्रभाव की तरह हैं जो स्वयं अस्पृष्ट रहकर मर्म को छूता है। कवि संसार के अविहित विधाता होते हैं।

(‘इन डिफेंस ऑफ़ पोयट्री’)

अनुवादक : श्री महेन्द्र चतुर्वेदी

सैन्त ब्यव

(सन् १८०४-१८६६ ई०)

[फ्रांसीसी आलोचक सैन्त ब्यव की ख्याति अपने साहित्य और देश तक ही सीमित न रहकर समस्त यूरोप में व्याप्त है। विद्यार्थी-जीवन से ही उनकी तीव्र मेधा और प्रतिभा का प्रभाव उनके सहयोगियों और प्राध्यापकों पर पड़ने लगा था। ब्यव का महान् ग्रन्थ 'व्यक्ति-चित्र'* सन् १८६२ से ७१ तक नौ भागों में प्रकाशित हुआ था। इस ग्रन्थ की मूल प्रेरणा थी उनकी यह प्रतीति कि साहित्य-साधना के लिए साहित्य-स्रष्टाओं के व्यक्तित्व का अध्ययन करना आवश्यक है।

सैन्त ब्यव ने स्वयं लिखा है कि उनकी आलोचना की दस विभिन्न धाराएँ हैं और उनका स्वतन्त्र रूप से मूल्यांकन अपेक्षित है। उनकी आलोचना के विकास के तीन मुख्य सोपान हैं—(१) १८२४-१८३१ : उग्र स्वच्छन्दतावादी; (२) १८३१-१८४८ : प्रभाववादी; (३) १८४६-१८६६ : निर्णयात्मक।

प्रारम्भ में वे साहित्य के प्रवक्ता-रूप में अवतरित हुए किन्तु जीवन के सांध्यकाल में उन्होंने निर्णायक का रूप धारण कर लिया। उनके निर्णयों का मूल आधार सत्य था। उनका सत्य विज्ञान और प्रकृति से सम्बद्ध है, धार्मिक या मानवतावादी विचारों से नहीं। बैबिट ने लिखा है कि सैन्त ब्यव मानवतावादी की अपेक्षा प्रकृतिवादी के रूप में अधिक प्रसिद्ध रहे हैं। स्वयं सैन्त ब्यव ने एक स्थान पर स्वीकार किया है : “अब मेरे पास केवल एक विनोद है, मैं विश्लेषण करता हूँ, मेरा दृष्टिकोण वनस्पतिशास्त्रवेत्ता का दृष्टिकोण है; मैं मन का विश्लेषण प्रकृतिवादी के रूप में करता हूँ।”

(व्यक्ति-चित्र—३. ५४६)

ब्यव की विशिष्ट मौलिकता इस बात में है कि उन्होंने आलोचना को पत्रों के निर्जीव विवेचन से हटाकर मनुष्यों की संप्राण जीवनियों में परिवर्तित कर दिया। परन्तु वे इस तथ्य से भी परिचित थे कि इस प्रवृत्ति की प्रबलता

* पोर्ट्रेट्स।

आलोचना की उद्देश्य-प्राप्ति के लिए घातक भी सिद्ध हो सकती है। वे उन्नीसवीं सदी के प्रतिनिधि आलोचक हैं।]

×

×

×

अभिजात साहित्य और उसका स्रष्टा

सामान्य परिभाषा के अनुसार, अभिजात साहित्यकार वह प्राचीन लेखक है जो प्रशंसा का पात्र होने के कारण सम्मान्य श्रेणी में प्रतिष्ठित हो चुका हो और जिसे अपनी विशिष्ट शैली में प्रमाण-स्वरूप स्वीकार किया जाता हो। इस अर्थ में 'अभिजात*' शब्द का प्रयोग पहले-पहल रोमियों ने किया। परन्तु उनके अनुसार विभिन्न श्रेणियों के सभी नागरिकों को अभिजात विशेषण से विभूषित नहीं किया जा सकता था : केवल उन्हीं के लिए यह प्रयुक्त होता था जो प्रमुख वर्ग के होते थे, जिनकी एक निर्धारित निश्चित आय होती थी। जिनकी आय कम होती थी उन्हें 'अधोवर्गी' कहा जाता था अर्थात् प्रमुख वर्ग से निम्न। श्रीलस जेलियस^{१४८} ने अभिजात शब्द का प्रयोग आलंकारिक अर्थों में लेखक के लिए किया, महत्वपूर्ण और उत्कृष्ट लेखक के लिए, जिसमें सार हो, जिसमें यथार्थ गुण हो, जो यथार्थ सम्पत्ति का स्वामी हो, और जो जनसाधारण के मध्य अपनी विशिष्टता खो न बैठे। इस अर्थ में उक्त विशेषण के प्रयोग से यह ध्वनित होता है कि वह युग इतना विकसित तो अवश्य था कि उसमें साहित्य का किसी-न-किसी प्रकार का मूल्यांकन और वर्गीकरण हो चुका हो।

पहले-पहल आधुनिकों की दृष्टि में एकमात्र सच्चे अभिजात साहित्यकार प्राचीन लेखक ही थे। अपने सौभाग्य और मन के सहज ज्ञान के कारण यूनानियों के निकट अपने अतिरिक्त और कोई अभिजात साहित्यकार न था। रोमियों के लिए वे ही एकमात्र अभिजात कृतिकार थे और वे उन्हीं का अनुकरण करने का प्रयत्न किया करते थे। रोमी साहित्य के महान् युगों के बाद, अर्थात् सिसरो और वर्जिल के बाद, रोमियों के भी अपने अभिजात साहित्यकार हो गए और उसके पश्चात् कई शताब्दियों तक उन्हीं ही अभिजात साहित्यकार माना जाता रहा। मध्ययुग लातीनी साहित्य की प्राचीन परम्परा से उतना अपरिचित न था जितना प्रायः माना जाता है, परन्तु उसमें संतुलन और रुचि का विकास यथेष्ट न हो पाया था, अतः उसने तारतम्य निर्धारित करने में भूल की। ओविद को होमर से श्रेष्ठतर और बोएतियस^{१४९} को प्लेटो के समकक्ष

* क्लासिक

अभिजात कृतिकार बताया गया। १५वीं और १६वीं शताब्दी में ज्ञान के पुनर्स्थान के फलस्वरूप उक्त अराजकता के स्थान पर व्यवस्था आई और तभी जिसको जितना उचित था, उतना आदर मिला। उसके बाद ही प्राचीन काल के सच्चे ग्रीक और लेटिन अभिजात कृतिकार आलोचित पृष्ठभूमि पर अवतरित हुए, और दोनों भाषाओं में अपने तारतमिक उत्कर्ष के अनुसार सामंजस्यपूर्ण रीति से वर्गीकृत किए गए।

परन्तु वर्तमान शताब्दी के आरम्भ में और 'साम्राज्य' के अधीन जब निश्चित रूप से एक नए और कुछ-कुछ साहसपूर्ण साहित्य के आरम्भिक प्रयत्न दृष्टिगोचर हुए, तो कुछ विरोधी हृदयों में—जिनके विरोध में दुःख अधिक था और कठोरता कम—अभिजात कृति की धारणा ने विचित्र ढंग से सीमित और संकुचित रूप धारण किया। अकादमी के पहले शब्दकोश (१६६४) में अभिजात साहित्य के स्रष्टा की परिभाषा केवल यही की गई : 'एक बहु-प्रशंसित प्राचीन लेखक, जो अपने वर्ण्य विषय पर प्रमाण-स्वरूप हो।' उक्त शब्दकोश के १८३५ के संस्करण में यह परिभाषा और भी संकीर्ण कर दी गई है और उसके प्रायः अस्पष्ट रूप को एक अन्वर्थता दे दी गई, बल्कि सीमा में आवद्ध कर दिया गया। इसके अनुसार अभिजात कृतिकार वे हैं 'जो किसी भी भाषा में आदर्श बन गए हों।' और इसके बाद जो भी लेख लिखे गए उनमें 'आदर्श', 'रचना और शैली के निश्चित नियम', 'कला के वे कठोर नियम जिनका अनुसरण होना ही चाहिए'—इस प्रकार की शब्दावली की निरंतर आवृत्ति होती रही। अभिजात साहित्यकार की यह परिभाषा स्पष्टतः हमारे पूर्ववर्ती सम्माननीय अकादमी-सदस्यों के द्वारा की गई थी। और यह परिभाषा करते समय उस प्रतिपक्षी का ध्यान रखा गया था, जिसे उस समय स्वच्छन्दतावादी के नाम से अभिहित किया जाता था। मुझे लगता है कि अब वह समय आ गया है कि उन संकुचित और संकीर्ण परिभाषाओं का तिरस्कार किया जाए और अपने मस्तिष्क को उनसे मुक्त कर लिया जाए।

मैं तो चाहूँगा कि एक सच्चे अभिजात साहित्यकार की परिभाषा इस प्रकार की जाए : वह एक ऐसा कृतिकार है जिसने मानव-मन को समृद्ध किया हो, उसके ज्ञान-भंडार की अभिवृद्धि की हो और उसे एक पग अग्रसर किया हो; जिसने किसी संदिग्ध सत्य का नहीं, नैतिक सत्य का अन्वेषण किया हो; अथवा उस हृदय में, जहाँ सब-कुछ अभिज्ञात और अनावृत प्रतीत होता था, किसी शाश्वत भावना का दिग्दर्शन कराया हो; जिसने अपने विचार, पर्यवेक्षण या आविष्कार व्यक्त किए हों। यह अभिव्यक्ति किसी भी रूप में हुई हो, पर वह

अपने आप में उदार और महान्, परिष्कृत और युक्तियुक्त, स्वस्थ और सुन्दर होनी चाहिए ; जिसने अपनी विशिष्ट शैली में सब को सम्बोधित किया हो— एक ऐसी शैली में, जो सम्पूर्ण विश्व की शैली प्रतीत होती हो, और जो नई शब्दावली के बिना भी हो; जो नई भी हो पुरानी भी; और जो किसी एक युग की शैली भी हो, और युग-युग की भी ।

हो सकता है इस प्रकार की अभिजात कृति कुछ समय के लिए क्रान्तिकारी रही हो । कम-से-कम वैसा प्रतीत तो हो ही सकता है, पर बात वैसी नहीं है । सत्य इतना ही है कि व्यवस्था और सौन्दर्य के सन्तुलन की पुनः-स्थापना के मार्ग में जो भी बाधाएँ थीं उन्हें दूर हटा दिया गया ।

मैं यह बात छिपाना न चाहूँगा कि मैंने ऊपर अभिजात कृति की जो परिभाषा दी है वह उक्त शब्द के सामान्यतः स्वीकृत अर्थ से कुछ अधिक की अभिव्यक्ति करती है । उसके अन्तर्गत अन्य बातों के साथ-साथ एकरूपता, मनीषा, संयम और विवेक का होना आवश्यक है क्योंकि इन गुणों में अन्य सभी गुणों का समावेश है और वे उनसे अधिक महत्वपूर्ण हैं । मोशिए रोये कोलार^{१५०} की प्रशंसा करते हुए मोशिए द रेमुसा^{१५१} ने लिखा है, 'यदि हमारी अभिजात कृतियों से वे रुचि की विशुद्धता, शब्द-प्रयोग का औचित्य, अभिव्यक्ति की विविधता, विचार और कार्य के सामंजस्य के प्रति सावधान चिन्तन—इन सभी गुणों को ग्रहण करते हैं तो इन सब को वे जो एक विशिष्ट रूप प्रदान करते हैं उसका श्रेय केवल उन्हीं को है ।' यहाँ यह स्पष्ट है कि अभिजात गुणों की विशिष्टताएँ मुख्यतः अभिव्यक्ति के सामंजस्य और सूक्ष्म प्रभेद, और सुष्ठु एवं संयमित शैली पर निर्भर करती हैं । सामान्य मत भी यही है । इस अर्थ में प्रमुख अभिजात साहित्यकार वे होंगे जिनमें संयम, निश्चितता, विवेकशीलता, शालीनता, प्रसादत्व के साथ ही उदात्त भावना एवं भीने आवरण में आवृत शक्ति हो । मारी जोजैफ शेनिए^{१५२} ने निम्नलिखित पंक्तियों में ऐसे संयत एवं सिद्ध लेखकों की काव्य-विषयक मान्यताओं की चर्चा करते हुए अपने आपको उनका शिष्य बताया है :—

'सद्बृत्ति अर्थात् विवेक ही मूल गुण है जिससे अन्य सभी गुण—साधुता, प्रतिभा, अन्तःशक्ति, मेधा और सुरुचि—प्राप्त हो जाते हैं । साधुता क्या है ? क्रियात्मक विवेक । मेधा क्या है ? विवेक की दीप्त अभिव्यक्ति । अन्तःशक्ति क्या है ?—विवेक का सूक्ष्म प्रतिपादन । उदात्त विवेक ही का नाम है प्रतिभा ।'

उपरोक्त पंक्तियाँ लिखते हुए स्पष्टतः वह पोप, बुअलो और उन सब में अग्रणी होरेस के विषय में सोच रहा था । यह सिद्धान्त, जिसका विशेष लक्षण

यह है कि इसके अनुसार कल्पना और भावना को भी विवेक के अधीन माना गया और आधुनिकों में जिसका प्रथम संकेत स्कैलजर में मिलता है, वस्तुतः लातीनी सिद्धान्त है और फ्रांस में भी इसको बहुत समय तक अधिमन्यता दी जाती रही थी। यदि विवेक शब्द का उचित प्रयोग किया जाये और उसका दुरुपयोग न हो तो इस सिद्धान्त में कुछ सत्य है। पर स्पष्ट है कि इसका दुरुपयोग किया जाता है और उदाहरणार्थ यदि विवेक को काव्य-प्रतिभा का पर्याय मान लिया जाए और इसी अर्थ में इसका प्रयोग किसी नैतिक लेखन में किया जाए तो विवेक वही नहीं हो जाएगा जो प्रतिभा है क्योंकि प्रतिभा तो नाटक, या महाकाव्य के मनोवेगों की अभिव्यक्ति में अत्यन्त वैविध्यपूर्ण और नाना दिशाओं में सृजनात्मक होती है।

व्युफों^{१५३} ने अपने 'डिस्कोर्स ऑन स्टाइल' (शैली-विवेचन) में कल्पना, अंग-विन्यास और प्रतिपादन की अन्विति पर, जो सच्ची अभिजात कृतियों के गुण हैं, बल देते हुए कहा था, "प्रत्येक विषय एक ही है और वह चाहे कितना ही व्यापक हो, एक ही प्रबन्ध में समाहित किया जा सकता है। व्यतिक्रम, विराम, उप-विभाजन,—इनका प्रयोग तभी किया जाना चाहिए जब कई विषयों पर लिखा जा रहा हो; जब महान्, जटिल और असमान विषयों की चर्चा करने के कारण प्रतिभा को विविध बाधाओं के फलस्वरूप प्रतिबन्धित होना पड़े, और परिस्थितिवश संकुचित होना पड़े। अन्यथा अनेक विभाग होने से कृति के अंगों की एकता नष्ट होती है, उसमें ठोसपन आना तो दूर की बात है। वह कृति तो दृष्टि के सम्मुख आलोकित हो उठती है, पर लेखक की कल्पना आच्छन्न ही रह जाती है।" और मॉन्टेस्क्यू^{१५४} के 'स्पिट आफ लॉज' को, जो कि मूलतः एक उत्कृष्ट ग्रन्थ होते हुए भी कई खण्डों में विभाजित है, ध्यान में रखते हुए उन्होंने अपनी आलोचना जारी रखी है : "उसका विख्यात लेखक कृति के अन्त तक पहुँचने से पहले ही थक-सा गया है और अपने सभी विचारों में प्राण फूँकने में और समस्त विषय को व्यवस्थित करने में असमर्थ रहा है।" पर मुझे विश्वास नहीं होता कि व्युफों उपरोक्त विवेचना करते हुए तुलना की दृष्टि से बोस्वू^{१५५} के ग्रन्थ 'डिस्कोर्स ऑन यूनिवर्सल हिस्ट्री' (विश्व-इतिहास का विवेचन) के विषय में भी नहीं सोच रहा हो। उक्त ग्रन्थ का विषय विशद है, तथापि सुग्रथित है और इतना अन्वित है कि वह महान् वक्ता उसे एक ही ग्रन्थ में प्रस्तुत कर सका है। जब हम प्रथम संस्करण देखते हैं, जो सन् १६८१ में छपा था, और जिसमें कृति को अध्यायों में विभाजित नहीं किया गया था, (पहले यह विभाजन पृष्ठों के उपांत में किया गया था, बाद में मूलपाठ में

इसका समावेश कर दिया गया) तो हम पाते हैं कि सम्पूर्ण विषय का विवेचन एक अविच्छिन्न धारा के समान चलता है मानो सब कुछ एक साँस में कह दिया गया हो। यह कहा जा सकता है कि यहाँ इस महान् वक्ता ने उस प्रकृति की भाँति आचरण किया है, जिसके सम्बन्ध में व्युक्तों के ये शब्द हैं : “उसने एक अनन्त योजना को क्रियान्वित किया है और उससे वह कहीं भी विलग नहीं हुआ।” सचमुच ही विधाता के विधान और उसकी प्रेरणाओं में उसका प्रवेश बहुत गहरा है।

क्या ‘अथाली’^{१५६} और ‘विश्व इतिहास का विवेचन’ विशुद्ध अभिजात्य सिद्धान्त के अनुसार ऐसी महान्तम कृतियाँ हैं, जिन्हें वह अपने पक्षधर और प्रतिपक्षियों दोनों के सम्मुख कर सके ? ऐसे अद्वितीय ग्रन्थों की प्रशंसनीय सरलता और गरिमा के बावजूद कला के हित की दृष्टि से, हम उक्त सिद्धान्त को थोड़ा और विस्तार देना चाहेंगे और दिखाएँगे कि उसमें किसी प्रकार की शिथिलता लाये बिना उसे व्यापकता प्रदान की जा सकती है। इस विषय पर मैं गोइटे (गेटे) को उद्धृत करना चाहूँगा जिसने लिखा है :

“मैं अभिजात को स्वस्थ, और स्वच्छन्द को रुग्ण मानता हूँ। मेरी राय में ‘निबेलुंगेलिद’ उतनी ही अभिजात कृति है जितनी ईलिअद क्योंकि दोनों ही स्वस्थ एवं ओजपूर्ण हैं। अधिकांश आधुनिक रचनाएँ स्वच्छन्द होती हैं—नई होने के कारण नहीं बल्कि इसलिए कि वे दुर्बल, विकृत तथा रुग्ण होती हैं और पुरातन कृतियाँ अभिजात होती हैं इसलिए कि वे प्राणवान्, चिरनवीन, आह्लाददायिनी एवं स्वस्थ होती हैं। यदि हम इन गुणों के आधार पर ‘अभिजात’ तथा ‘स्वच्छन्द’ का भेद करें तो सुविधापूर्वक और निश्चिन्त रूप से अपना विवेचन कर सकेंगे।”

वस्तुतः इस विषय में कोई राय बनाने और निश्चित करने से पहले, मैं चाहूँगा कि प्रत्येक पूर्वाग्रह-मुक्त व्यक्ति संसार-भर का भ्रमण करे और विभिन्न साहित्यों का उनकी आदिम प्राणवत्ता और अनन्त विविधता में सर्वेक्षण करे। तब उसे क्या देखने को मिलेगा ? उसका ध्यान सबसे अधिक आकर्षित होगा अभिजात-जगत के आदिपुरुष होमर की ओर, जो व्यष्टि-मानव कम तथा एक सम्पूर्ण युग और अर्ध-वर्षर सभ्यता की व्यापक जीवन्त अभिव्यक्ति अधिक है। उन्हें एक सच्चा अभिजात साहित्यकार बनाने के लिए बाद में उनकी कृतियों को कल्पना, योजना, साहित्यिक सूक्ष्म, सौष्ठव और नागरिकता के गुणों से मण्डित करना आवश्यक समझा गया, यद्यपि अपनी सहज आकांक्षाओं के उन्मुक्त विकास के मध्य स्वयं होमर ने निश्चय ही उक्त बातों के

विषय में स्वप्न में भी न सोचा होगा। और उसके निकटवर्ती अन्य कौन हैं? वे हैं महान् सम्मान्य प्राचीन लेखक ऐस्कुलस और सोफोक्लेस आदि जिनका वास्तविक रूप विकृत हो गया है और जिनके केवल ध्वंसावशेष ही हमारे सामने आते हैं। उन बहुत से प्राचीन लेखकों में से केवल ये ही बच रहे हैं परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि वे जो काल-कवलित हो गए इनसे किसी प्रकार कम महत्वपूर्ण न रहे होंगे। इस एक विचार से ही निष्पक्ष व्यक्ति को यह शिक्षा मिलेगी कि तटस्थ विचारक को यह सोचना पड़ेगा कि सम्पूर्ण अभिजात साहित्य को भी बहुत अधिक संकीर्ण एवं सीमित दृष्टि से न देखा जाए। वह समझेगा कि प्राचीन साहित्य का मूल्यांकन करने में जो इतनी अधिक परिशुद्धता तथा सुसंगत व्यवस्था चली आ रही है, केवल कृत्रिम परिस्थितियों का परिणाम है।

और आधुनिक काल तक पहुँचते-पहुँचते स्थिति क्या हो जाती है? साहित्य के आरम्भिक काल के महान्तम नाम भी ऐसे हैं जो, कविता में उपयुक्त और सुन्दर क्या है, इसके सम्बन्ध में हमारी कुछ दृढ़ धारणाओं को हिलाने वाले और उनके विरुद्ध जाने वाले हैं। उदाहरणार्थ, क्या शेक्सपियर अभिजात साहित्य का रचयिता है? हाँ, आज इंग्लैण्ड और विश्व के लिए वह अभिजात साहित्यकार ही है, पर पोप के समय में उसे ऐसा नहीं समझा जाता था। पोप और उसके मित्र ही प्रमुख अभिजात साहित्यकार थे, उनकी मृत्यु के बाद ऐसा लगा कि वे ही हमेशा अभिजात साहित्यकार रहेंगे। आज भी अपनी पात्रता के अनुसार वे अभिजात साहित्यकार हैं, परन्तु वे दूसरी श्रेणी के हैं और जिसे उनकी तुलना में उच्चतर स्थान मिलना चाहिए था, उसने साहित्य-क्षितिज में अपना उचित स्थान ग्रहण कर लिया है और पोप आदि सदा के लिए उसकी अपेक्षा गौण स्थानों पर अवस्थित हो गए हैं।

अभिजात साहित्यकार बनाने का कोई नुस्खा नहीं होता, यह बात भली भाँति समझ लेना आवश्यक है। यह मान लेना कि यदि कोई लेखक विशुद्धता, संयम, अन्वर्थता और प्रांजलता आदि गुणों का अनुकरण करके और शैली तथा प्रेरणा से निरपेक्ष होकर अभिजात साहित्यकार बन जाएगा तो वैसी ही बात होगी जैसे यह मान लेना कि रासिने^{१५७} के बाद उसका स्थान उसका पुत्र ले लेगा। उसकी भूमिका निर्जीव होगी, आदरास्पद भले ही हो और यह कविता के लिए सबसे कम उपयुक्त है। इसके अतिरिक्त अपने समसामयिकों के समक्ष बिना किसी विरोध के अत्यन्त शीघ्रतापूर्वक किसी अभिजात साहित्यकार का स्थान ग्रहण कर लेना खतरा से खाली नहीं है, उस अवस्था में सम्भावना इसी बात की है कि आने वाली पीढ़ियाँ उसे उस स्थान पर नहीं रहने देंगी

लेकिन हमेशा लेखकों और लेखन की चर्चा ही क्यों की जाए ? संभव है कोई ऐसा युग आए, जिसमें लेखन हो ही नहीं। कितने भाग्यशाली हैं वे लोग, जो बार-बार पढ़ते रहते हैं और जो अपने अध्ययन को अपनी उन्मुक्त चित्तवृत्तियों के अनुकूल पाते हैं ! जीवन में एक ऐसा समय भी आता है जब हमारी सारी यात्राओं का अन्त हो जाता है और अनुभव करना शेष नहीं रह जाता, और जिन बातों को हम जानते हैं उनके विषय में पढ़ने तथा उनका विवेचन करने से बढ़कर और कोई सुख हमें नहीं प्रतीत होता, जब हम अपनी भावनाओं में रम कर उल्लसित होते हैं और जिन्हें हम प्यार करते हैं उन्हें फिर-फिर देखने की कामना करते हैं। ये सब हमारी प्रौढ़ता के विशुद्ध आनन्द हैं। तब उस समय 'अभिजात कृति' शब्द अपना सच्चा अर्थ ग्रहण करता है, और तभी प्रत्येक सुरुचिवान् व्यक्ति अपनी अदम्य रुचि के अनुकूल उसकी परिभाषा स्थिर करता है ; तभी अभिरुचि का निर्माण होता है, उसे सुनिश्चित रूप मिलता है; तभी हमारे मन में सद्वृत्ति, यदि हमें उसका अधिकारी होना है तो, पूर्णता को प्राप्त होती है। तब नये प्रयोगों के लिए हमारे पास न अधिक समय बच रहता है न यह इच्छा कि हम नई दिशाओं की खोज में प्रवृत्त हों। हम अपने मित्रों में रम जाते हैं। हम वाल्तेयर^{१५८} के इन आह्लादपूर्ण शब्दों में कह उठते हैं, "प्रिय होरेस ! आओ, हम उल्लसित हों, हम जिएँ। मैं तुमसे अधिक काल तक जी चुका हूँ। मेरी कविता इतने काल तक जीवित न रहेगी। परन्तु जीवन के अन्तिम समय में तुम्हारे जीवन-दर्शन के अनुकरण के लिए मैं सबसे अधिक प्रयत्नशील रहूँगा—प्रयत्न करूँगा जीवन का आनन्द लेते हुए मृत्यु के प्रति वितृष्णा बनाए रखूँ और आकर्षण एवं सद्-विचारों से ओतप्रोत तुम्हारी कृतियों को उसी प्रकार पढ़ता रहूँ जैसे हम पुरानी शराब पीकर स्फूर्ति प्राप्त करते हैं।"

वस्तुतः चाहे होरेस हो चाहे कोई अन्य अभिमत लेखक, जो प्रौढ़ता की पूर्ण समृद्धि के साथ हमारे विचारों को प्रतिबिम्बित करता हो—उन प्राचीन और उत्कृष्ट प्रतिभाओं में से किसी-न-किसी के साथ हमें प्रतिपल साक्षात्कार करते रहना चाहिए : उनमें से किसी के हम ऐसे मित्र होना चाहेंगे, जो हमें कभी प्रवंचित न करे, कभी भी हमें निराश न करे। उनमें से किसी से हम ऐसी शान्ति एवं रम्यता की संवेदना की (जिसकी हमें प्रायः आवश्यकता रहती है) आकांक्षा करेंगे, जो हमें अपने आपसे और समस्त मानवता से समंजन की ओर ले जाती है।

(व्हाट इज ए क्लासिक)

अनुवादक : श्री प्रयागनारायण त्रिपाठी

मैथ्यू आर्नल्ड

(सन् १८२२-१८८८ ई०)

[मैथ्यू आर्नल्ड स्वभाव और कर्म दोनों से पहले आलोचक थे और बाद में कवि । साहित्यिक जीवन के आरम्भ काल से ही उनकी मेधा और प्रतिभा को मान्यता प्राप्त होने लगी थी । शिक्षा और साहित्य दोनों के क्षेत्र में उन्हें विशिष्ट स्थान प्राप्त था । आर्नल्ड ने समाज, शिक्षा, धर्म और साहित्य-संस्कृति के विभिन्न पहलुओं से सम्बद्ध समस्याओं को अपने साहित्य का विषय बनाया है । उनकी कृतियों को पढ़ते हुए ऐसा अनुभव होता है कि साहित्य और उसकी समस्याएँ जीवन की समस्याओं से अविच्छिन्न हैं । वे साहित्य को 'जीवन की आलोचना' मानते हैं । उनका विश्वास है कि जीवन से असम्बद्ध साहित्यिक सौन्दर्य की मीमांसा निराधार होती है । उन्होंने जीवन में राग-तत्त्व और बुद्धि-तत्त्व को समान महत्त्व दिया है । यही कारण है कि उनकी दृष्टि में आलोचना का महत्त्व कविता के महत्त्व से किसी प्रकार कम नहीं था ।

आर्नल्ड के युगजीवन-सम्बन्धी विचारों का सबसे बड़ा महत्त्व यह है कि उन्होंने द्रुत गति से विकसित होते हुए समाज में 'संस्कृति' को विशेष गौरव प्रदान किया है । अपनी पुस्तक 'संस्कृति और अराजकता' के प्रथम अध्याय में उन्होंने संस्कृति की परिभाषा इस प्रकार की है : 'संस्कृति पूर्णता का अध्ययन है और उसका उद्देश्य है बुद्धि और ईश्वर की इच्छा को सफल बनाना । माधुर्य और आलोक उसके विशिष्ट गुण हैं । मानव मात्र के प्रति प्रेम और उसकी समस्याओं को समझना संस्कृति के मुख्य अंग हैं । संस्कृति का उद्देश्य है जीवन में उदात्त मूल्यों तथा उद्देश्यों की सम्यक् प्रतिष्ठा करना । जीवन में साध्य और साधन, स्थायी और अस्थायी, पूर्ण और अपूर्ण के भेदाभेद की व्याख्या संस्कृति का मुख्य प्रयोजन है ।

आर्नल्ड की चिन्ताधारा लोक-कल्याण के आदर्श से इतनी आक्रान्त थी कि उनकी दृष्टि में काव्य का प्रयोजन आनन्द न रहकर मानव का आत्म-विकास और सामाजिक उत्थान बन गया था । प्राचीन यूनानी आलोचकों के

समान उनका साहित्य-निर्णय कलागत नहीं वरन् सामाजिक एवं नैतिक प्रतिमानों पर निर्भर है। प्राचीन काल में धर्म मानव का पथ-प्रदर्शक था—निकट-भविष्य में उसका स्थान काव्य ग्रहण कर लेगा। जीवन-संघर्ष के अन्धकार-क्षणों में काव्य का आलोक ही उसका एकमात्र सम्बल होगा। उनकी दृष्टि में कवि का अपना स्वतःपूर्ण निरपेक्ष मूल्य कुछ भी नहीं—प्रत्येक कवि का मूल्यांकन किसी भी युग में उसी युग की साहित्यिक एवं सामाजिक आवश्यकताओं के अनुसार होना चाहिए। उन्होंने अपने युग के कवियों को परामर्श दिया कि वे शेक्सपियर का आदर्श ग्रहण न करें—शेक्सपियर महान् कवि था किन्तु उनके अपने युग के साहित्यकार का वह आर्ग-दर्शक नहीं हो सकता था। उस युग के साहित्यकार की आवश्यकताएँ पूर्ण करने में शेक्सपियर की अपेक्षा प्राचीन यूनानी साहित्यकारों की क्षमता अधिक थी।

एक प्रमुख आलोचक के शब्दों में 'आर्नल्ड की आलोचना-शैली में वैज्ञानिक, भाषा-वैज्ञानिक या मनोवैज्ञानिक दृष्टि का अभाव है किन्तु फिर भी वह प्रभाववादी आलोचना से बहुत भिन्न है।' आर्नल्ड अपने निजी आदर्शों के निकष पर कृतियों की आलोचना करते हैं। उसमें सांस्कृतिक दृष्टि का उन्मेष रहता है इसलिए वह प्रभाववादी आलोचना से भिन्न है। उनकी शैली में दृढ़ता और प्रौढ़ता है। पाश्चात्य आलोचना के क्षेत्र में उनकी गम्भीर और स्थिर सान्ध्यताओं का स्थान अमर है।]

×

×

×

काव्य में विषय-चयन

अरस्तू की उक्ति है कि अनुकरण अथवा चित्रण से हमें स्वभावतः ही आनन्द की उपलब्धि होती है—हमारे काव्य-प्रेम का यही आधार है और हमें यह आनन्द इसलिए मिलता है कि किसी भी प्रकार का ज्ञान सहज रूप से हमारे अनुकूल होता है—केवल दार्शनिक के ही नहीं, प्रत्युत मानव मात्र के। अतः हम यह मान सकते हैं कि कोई भी संगत-सामंजस्यपूर्ण चित्रण रोचक होगा क्योंकि वह ज्ञान मात्र के प्रति इस सहज रुचि को परितृप्त करता है। यदि कुछ रोचक नहीं होगा तो वह जिससे हमारे किसी भी प्रकार के ज्ञान का संवर्धन न हो, जिसका भावन अस्फुट हो और अभिव्यंजन असम्बद्ध—ऐसा चित्रण जो विशिष्ट अनुगुण और दृढ़ होने के बजाय सामान्य, अस्फुट एवं अनियमित हो।

अतः हम किसी भी यथार्थ चित्रण के रोचक होने की आशा कर सकते हैं परन्तु यदि वह काव्यात्मक हो तो इससे भी अधिक की माँग की जा सकती

है। वह मनोरंजन करे इतना ही पर्याप्त नहीं, उससे यह भी अपेक्षा की जायेगी कि वह पाठक को स्फूर्ति और आनन्द दे, कि उसमें मोहकता हो और वह मन को आल्लास से भर दे। हेसिओद^{१५६} का कथन है कि कलाओं (की अधिष्ठात्री देवियों) का जन्म इसलिए हुआ कि वे “दुर्बृत्तियों के विस्मरण और चिन्ताओं से तात्कालिक मुक्ति” का साधन बनें। कवि के लिए यही पर्याप्त नहीं कि वह मानव के ज्ञान की वृद्धि करे, उससे यह भी अपेक्षित है कि वह मानव के आनन्द की वृद्धि करे। शिलर ने कहा है: “सम्पूर्ण कला आनन्द के चरणों पर समर्पित है। मानव को कैसे सुखी बनाया जाये—इससे महत्तर एवं गम्भीरतर और कोई भी समस्या नहीं। उपयुक्त कला वही है जो परम आनन्द की सृष्टि करे।”

अतः किसी काव्य-कृति के समर्थन में इतना सिद्ध कर देना ही पर्याप्त नहीं कि उसमें यथार्थ—फलतः रोचक—चित्रण हुआ है। उसके साथ ही यह भी सिद्ध करना होगा कि वह चित्रण ऐसा है जिससे मानव आनन्द-लाभ कर सकता है। सर्वविदित है कि किसी कलाकृति में चित्रित अत्यन्त कष्ट परिस्थितियों में भी आनन्द की भावना अधुण्य रह सकती है, अत्यन्त भीषण विपदा एवं दारुण वेदना के जीवन्त चित्रण भी उसे नष्ट नहीं कर सकते—स्थिति जितनी अधिक कष्टाजनक होगी, उतने ही गहनतर आनन्द की सृष्टि करेगी और स्थिति जितनी अधिक भयावह होती है उतनी ही अधिक कष्टाजनक।

अब प्रश्न यह उठता है कि ऐसी स्थितियाँ कौन-सी होती हैं जिनके यथार्थ चित्रण से भी काव्यानन्द की उपलब्धि न हो?—वे जिनमें वेदना की परिणति किसी क्रिया में न होती हो; वे जिनमें मानसिक कष्ट की सतत अवस्था को दूर तक खींचा गया हो और बीच में किसी ऐसी घटना, आशा या संघर्ष का भी विधान न हो जिससे उसका कुछ प्रतिकार हो; वे जिनमें सब-कुछ सहना ही हो, करना कुछ भी न हो। ऐसी स्थितियों में अनिवार्यतः कुछ विकृति रहती है, उनके वर्णन में एक प्रकार की विरसता होती है। वास्तविक जीवन में जब कभी ऐसी स्थितियाँ आती हैं, तो वे कष्टकर होती हैं, कारुणिक नहीं। काव्य में उनका चित्रण भी कष्टप्रद ही होता है।

×

×

×

एक समझदार आलोचक ने कहा है: “जो कवि वास्तव में जनता का ध्यान आकर्षित करना चाहता हो, उसे चाहिए कि प्राणहीन अतीत का पल्ला छोड़ दे और वर्तमान महत्त्व के तथ्यों से—और वर्तमान महत्त्व के नाते वे नूतन भी होंगे तथा रोचक भी—अपने विषयों का चयन करे।”

परन्तु मैं इस मत को नितान्त भ्रान्तिपूर्ण मानता हूँ। इसकी परीक्षा की जानी चाहिए। आज सर्वत्र कुछ ऐसी आलोचनात्मक उक्तियाँ प्रचलित हैं जिनमें दार्शनिकता की ध्वनि और आभास मिलता है परन्तु वास्तव में जिनका कोई ठोस आधार नहीं होता। उपर्युक्त वाक्य ऐसी उक्तियों का एक अच्छा-खासा उदाहरण है। इनका उद्देश्य काव्य-पाठकों के निर्णय को दूषित करना होता है और उधर—जिस सीमा तक इनका परिपालन किया जाये उस सीमा तक—काव्य-रचयिताओं की प्रवृत्ति पर भ्रामक प्रभाव डालना।

समस्त राष्ट्रों में सदा-सर्वदा काव्य के शाश्वत विषय क्या रहे हैं?—कार्य-व्यापार, मानव के कार्य-व्यापार। उनमें एक निहित रोचकता होती है, कवि की कला द्वारा रोचक रीति से ही उनका संप्रेषण होना चाहिए। यदि कवि समझता है कि सब-कुछ उसी की शक्ति में है, कि वह अपनी प्रतिपादन-कला से किसी मूलतः निकृष्ट कार्य-व्यापार को उत्कृष्ट कार्य-व्यापार के समान आनन्ददायक बना सकता है तो उसका यह विचार मिथ्या है। निश्चय ही वह हमें अपने कौशल की प्रशंसा करने पर विवश कर सकता है परन्तु उसकी कृति में एक असाध्य दोष तो विद्यमान रहेगा ही। अतः सर्वप्रथम तो कवि को उत्कृष्ट कार्य-व्यापार का चयन कर लेना चाहिए और सबसे उत्कृष्ट कार्य-व्यापार कौन-से होते हैं? निश्चय ही वे जो मानव के सहज संस्कारों को सबसे अधिक आन्दोलित करें—उन मूलवर्ती भावनाओं को (आन्दोलित करें) जिनका जातीय मानस में स्थायी वास होता है और जो काल-निरपेक्ष होती हैं। ये भावनाएँ स्थायी और अपरिवर्तनशील होती हैं और इनके अनुरंजन के साधन भी स्थायी और अपरिवर्तनशील होते हैं।

अतः किसी कार्य का काव्यगत चित्रण के लिए उपयुक्त होना उसकी प्राचीनता या अर्वाचीनता पर बिलकुल निर्भर नहीं होता, यह तो उसके निहित गुणों पर निर्भर है। हमारे स्वभाव के मूलवर्ती अंश के सम्मुख, हमारी वासनाओं के सम्मुख जो कुछ महान् और रागात्मक होता है वह शाश्वत रोचकता से सम्पन्न होता है—और उसकी रोचकता ठीक उसकी महानता और रागात्मकता के अनुपात में होती है। एक हजार वर्ष पुराना कोई महान् कार्य आज के किसी लघुतर कार्य की अपेक्षा अधिक रोचक होगा, भले ही इस लघुतर कार्य के चित्रण में अत्यन्त सूक्ष्म कौशल का परिचय दिया गया हो और भले ही अपनी आधुनिक भाषा, परिचित आचार-व्यवहार और समसामयिक निर्देशों के कारण वह हमारी क्षणिक भावनाओं और रुचियों को अपनी ओर आकर्षित करने की अधिक क्षमता रखता हो। परन्तु वे किसी काव्य-कृति से यह माँग नहीं कर

सकतीं कि वह उनकी परितृप्ति करे; उनके दावे दूसरी दिशा में उन्मुख हो सकते हैं। काव्य-कृतियों का सम्बन्ध हमारी शाश्वत वासनाओं के साम्राज्य से होता है—यदि वे इन्हें आकर्षित करती हैं तो और सब छोटे-मोटे दावों का स्वर स्वयं ही मौन हो जाता है।

यहाँ यह युक्ति प्रस्तुत की जा सकती है कि सम्भव है अतीत के कार्य अपने आप में रोचक हों परन्तु आधुनिक कवि को उन्हें ग्रहण नहीं करना चाहिए क्योंकि अपने मन में उनका स्पष्ट भावन वह नहीं कर सकता—अतः वह न तो उनकी तीव्र अनुभूति कर सकेगा और न सशक्त अभिव्यंजना। परन्तु ऐसा होना आवश्यक नहीं। अतीत-कार्य के समस्त बाह्य विवरणों का ज्ञान तो उसे निश्चय ही उतना सही और प्रामाणिक नहीं हो सकता जितना किसी सम-सामयिक को परन्तु उसका सरोकार तो केवल मूल तत्त्वों से होता है। ओएदिपुस या मैकबेथ देखने में कैसे लगते थे; उनके घर, उनकी राज-सभाओं की रीति-नीति कैसी-क्या थी?—इन सबका यथार्थ चित्र वह अपने मन में नहीं जगा सकता पर इनसे उसका कोई अनिवार्य सरोकार भी नहीं। उसे तो प्रयोजन होता है आन्तरिक मानव से, मानव के रूप में उनकी वासनाओं को आन्दोलित करने वाली किन्हीं करुण परिस्थितियों में व्यक्त उनकी भावनाओं और व्यवहार से—इनमें न तो कोई स्थानीयता होती है, न अनित्यता : आधुनिक कवि की पहुँच भी उन तक वैसी ही हो सकती है जैसी किसी समसामयिक की।

अतः निष्कर्ष यह निकला कि इस बात का विशेष महत्व नहीं कि कोई कार्य किस समय सम्पन्न हुआ—सारा महत्व कार्य का, उसके चयन और निर्माण का है। यह बात जितनी अच्छी तरह यूनानियों ने समझी थी, हम आज भी नहीं समझते। मेरे विचार में उनके और हमारे काव्य-सिद्धान्त में मौलिक भेद यह है : उनके यहाँ प्रथम महत्व कार्य के निज के काव्यमय स्वरूप और उसकी क्रियान्विति को दिया जाता था, हमारे यहाँ कार्य के काव्यानुबन्धन में जो पृथक्-पृथक् विचार और बिम्ब जागते हैं, मुख्यतः, उनके मूल्य पर ध्यान केन्द्रित रहता है। उनका ध्यान सम्पूर्ण की ओर होता है, हमारा अंगों की ओर। उनके निकट कार्य की महत्ता उसकी अभिव्यंजना से अधिक थी, हमारे यहाँ कार्य की अपेक्षा अभिव्यंजना को अधिक महत्व दिया जाता है। मेरे कहने का तात्पर्य यह नहीं कि अभिव्यंजना के क्षेत्र में वे असफल थे या उसकी उपेक्षा करते थे, बल्कि इसके विपरीत, उनमें अभिव्यंजना का सर्वोच्च उत्कर्ष दृष्टिगोचर होता है; वे भव्य शैली के बेजोड़ एवं निष्णात कलाकार हैं परन्तु उनकी अभिव्यंजना इतनी

उत्कृष्ट इसीलिए है कि उन्होंने बड़े प्रशंसनीय ढंग से उसकी महत्ता को समुचित मर्यादा में बाँधकर रखा है, क्योंकि वह अत्यन्त सरल और संयत है, क्योंकि उसकी शक्ति का स्रोत उसके सम्प्रेषणीय विषय की सारगर्भितता ही होती है। क्या कारण है कि यूनानी त्रासदी-कवि का विषय-क्षेत्र इतना सीमित था ? बात यह है कि बहुत कम ऐसे कार्य-व्यापार होते हैं जिनमें उत्कर्ष की परिस्थितियाँ अपने सर्वोच्च रूप में समन्वित हों और उनका विचार था कि उत्कृष्ट विषय को आधार रूप में ग्रहण करके ही उत्कृष्ट काव्य की रचना सम्भव है। अतः यूनानी त्रासदीय रंगमंच पर कुछ कार्यों का, जो त्रासदी के एकान्त अनुकूल बना लिए गये थे, प्रायः एकलव्र अधिकार बना रहा। उनका महत्व अक्षुण्ण प्रतीत होता था—वे चिरन्तन समस्याएँ लगती थीं और निरन्तर प्रत्येक नये कवि की प्रतिभा को चुनौती देती थीं। हम आधुनिकों को यूनानी त्रासदी की अभिव्यंजना में जो एक तरह का सपाटपन-सा लगता है, जिस तिरस्कार से हम वृन्दगायक की—जहाँ वह कथोपकथन में भाग लेता है—उक्तियों की निन्दा करते हैं उसका यह भी कारण है। होना यह चाहिए कि स्वयं कार्य—ओरेस्तेस या मेरोपे^{१६०} अथवा आल्कमाएओन^{१६१} की स्थिति—बराबर हमारे आकर्षण का केन्द्र-बिन्दु रहे, उसमें हमारी चित्तवृत्तियाँ रमी रहें; कि किसी गौण उपादान द्वारा दर्शक का ध्यान एक क्षण के लिए भी उससे विरत न हो; कि अंशों का स्वर निरन्तर दबा-हुआ रखा जाये ताकि पूर्ण (कृति) के भव्य प्रभाव को किसी प्रकार की क्षति न पहुँचे। रंगशाला में प्रवेश करने से पूर्व दर्शक के मानस-पट पर वह भ्रूषण प्राचीन पुराण-कथा—जिस पर नाटक आधृत होता था—अपनी स्थूल रेखाओं में अंकित रहती थी, वह उसकी स्मृति में उसी प्रकार विद्यमान रहती थी जैसे किसी लम्बी, अँधेरी गली के छोर पर धूमिलता के आवरण में देखी हुई कोई प्रतिमा-समष्टि। फिर कवि का आगमन हुआ—उसने रेखाओं में रूप की प्रतिष्ठा की, स्थितियों का विकास किया : ध्यान रखा कि एक भी शब्द का वृथा प्रयोग न हो, चंचलतावश किसी भावना का उसमें समावेश न किया जाये। उसकी लेखनी के एक-एक स्पर्श से नाटक गतिमान होता गया, उस प्रतिमा-समष्टि पर आलोक तीव्रतर होता गया—दर्शक की केन्द्रीभूत दृष्टि के सम्मुख उसका अधिकाधिक उन्मेष होता गया। यहाँ तक कि अन्तिम शब्दों का उच्चारण होते-होते—मानो सूर्य के प्रखर आलोक से अँधेरे का आवरण छिन्न-भिन्न हो जाने पर—वह प्रतिमा-समष्टि अपने स्वर्गिक सौन्दर्य में उद्भासित हो उठती थी।

... यही यूनानी समालोचक की माँग थी और इसी की सिद्धि का प्रयत्न

यूनानी कवि करता था। कार्य-विशेष किस काल में सम्पन्न हुआ इसकी कोई महत्ता न थी। हम देखते हैं कि ऐस्ख्युलस के नाटकों में पेरसाए^{१६२} का कोई विशेष महत्त्व नहीं क्योंकि उसका सम्बन्ध केवल सामयिक महत्त्व के प्रश्न से था। किसी भी संस्कृत एथेनी को इसकी आवश्यकता न थी—वह चाहता था कि उसकी प्रकृति के स्थायी तत्त्वों को आन्दोलित किया जाये। फलतः वे नाटक उसके निकट अधिक स्पृहणीय होते थे जिनके कार्यों में पेरसाए की अपेक्षा इस लक्ष्य की अधिक मात्रा में सिद्धि की आशा हो—चाहे भले ही वे सुदूर अतीत के पुराण-काल से ग्रहण किये गये हों। इसमें सन्देह नहीं कि अपनी उत्कृष्ट एवं सूक्ष्म रुचि से यूनानियों ने यह अनुभव कर लिया था कि वर्तमान काल का कार्य उनके अत्यन्त निकट होने के कारण और जो कुछ सांयोगिक और क्षण-स्थायी है उससे नितान्त अभिन्न होने के कारण त्रासदी-कविता के लिए पर्याप्त भव्य, तटस्थ एवं स्वतःपूर्ण विषय नहीं बन सकता। ऐसे विषय कामदी-कविता और अपेक्षाकृत अगम्भीर कविता-प्रकारों के लिए उपयुक्त हो सकते हैं। गम्भीरतर कविता-प्रकारों के—पोल्युवियस^{१६३} की सुष्ठु शब्दावली का प्रयोग करें तो 'व्यावहारिक' कविता के—क्षेत्र में विषयों की संख्या अत्यन्त सीमित थी और इस सीमा का पालन दृढ़तापूर्वक होता था। उनके सिद्धान्त और व्यवहार, अरस्तू का स्तुत्य प्रबन्ध (काव्शास्त्र), उनके कवियों की अद्वितीय कृतियाँ सभी सहस्र स्वरों में एक ही घोषणा करते हैं: "सब-कुछ विषय पर निर्भर है, उपयुक्त कार्य का चयन कर लो, उसकी स्थितियों के मूल में निहित भावना से तादात्म्य स्थापित कर लो—यदि यह हो गया तो फिर सब अपने आप हो जायेगा।"

परन्तु सभी प्रकार की कविता के सम्बन्ध में एक बात पर वे समान रूप से दृढ़ थे: विषय ऐसा हो जो अभीष्ट कविता-प्रकार के अनुकूल बनाया जा सके और कविता का निर्माण सावधानी से किया जाये।

हमारी विचार-पद्धति इससे कितनी भिन्न है! एक व्यक्ति ने मेनान्दर^{१६४} से पूछा कि उसकी कामदी की क्या प्रगति है तो उसने उत्तर दिया था कि मैंने वह समाप्त कर ली है। वस्तुस्थिति यह थी कि उसने लिखी एक पंक्ति भी नहीं थी परन्तु उसका सम्पूर्ण कार्य-व्यापार अपने मन में स्थिर कर लिया था। हम आज भी उसके उत्तर का तात्पर्य नहीं समझ सकते। आधुनिक आलोचक उससे कहता कि लिखते-लिखते उसकी लेखनी से जो कमाल की चीजें निकली हैं, उसकी कृति की खूबी तो उन्हीं में है। ऐसी भी कविताएँ हैं जिनका अस्तित्व मानो कुछ पंक्तियों और बन्दों पर ही निर्भर है,

वे कोई प्रभाव-समष्टि उत्पन्न करने के लिए नहीं होतीं। हमारे यहां ऐसे समालोचक हैं जो स्वयं कार्य के बजाय कार्य की भाषा पर—असंलग्न पदावली पर—अपना ध्यान केन्द्रित करते हैं। मैं तो समझता हूँ कि इनमें से अधिकतर हृदय से यह बात मानते ही नहीं कि प्रभाव-समष्टि जैसी कोई चीज़ भी कविता से उत्पन्न हो सकती है या कवि से वैसी भी कोई माँग की जा सकती है—वे तो इसे अधिमानसिक आलोचना का एक साधारण विषय मात्र समझते हैं। उनकी ओर से कवि चाहे जिस कार्य का चयन करे और वह कार्य चाहे जिस प्रकार से अग्रसर हो—अगर कवि यत्र-तत्र ललित अंशों के उद्भावन और विविक्त विचारों और विम्बों के वर्णन द्वारा उनका परितोष कर दे तो उनके लिए वही पर्याप्त है। कहने का तात्पर्य यह है कि उनकी अलंकार-बुद्धि और जिज्ञासा की तृप्ति हो जाये और काव्य-बुद्धि अपरितुष्ट भी रह जाये तो उनके जाने कोई बात नहीं। (सच यह है) यदि वह इनके परितोष की उपेक्षा भी कर जाये तो कोई खतरा नहीं परन्तु उसे यह चेतावनी देना आवश्यक है कि वह इनके परितोष के प्रयास में ही उलझ कर न रह जाये—उसे निरन्तर यह स्मरण कराते रहना चाहिए कि वह कार्य को सबसे अधिक महत्व दे, उसका ऐसे ढंग से उपयोग करे कि उसकी आन्तरिक खूबियाँ स्वयं ही विकसित होती जायँ, उसे अपनी व्यक्तित्वगत विशेषताओं से बाधित न होने दे। सबसे अधिक सौभाग्य की बात उसके लिए यह है कि वह अपने व्यक्तित्व की छाया से उसे सर्वथा मुक्त करने में सफल हो और किसी उत्कृष्ट कार्य को उसके प्राकृतिक स्वरूप में ही रहने दे।

परन्तु आधुनिक समालोचक केवल मिथ्या आचार की स्वीकृति ही नहीं देता, वह मिथ्या उद्देश्यों का दृढ़तापूर्वक विधान भी कर देता है। कवि से कहा जाता है : “काव्य-रचना की दिशा में किसी का भी सर्वोत्कृष्ट प्रयत्न शायद यही है कि वह किसी प्रतिनिधि कथा में अपनी मनोदशा की सच्ची प्रतीकाभिव्यक्ति प्रस्तुत करे।”—और यही वह करता है। अपनी मनोदशा की प्रतीकाभिव्यक्ति—कार्यों का अनुकरण करने वाली कला की सबसे बड़ी समस्या ! निश्चय ही नहीं, ऐसा कभी हो नहीं सकता। यह लक्ष्य सम्मुख रखकर आज तक किसी महान् काव्यकृति की सर्जना नहीं हुई। ‘फ्राउस्ट’^{१६५} में कुछ ऐसा ही प्रयास किया गया है—और यद्यपि उसके कुछ बन्द बेजोड़ हैं, यद्यपि मार्गरे^{१६६} से सम्बन्ध रखने वाले दृश्यों का सौन्दर्य अनुपम है तथापि सम्पूर्ण कृति को देखें और विशुद्ध काव्य-कृति के रूप में परखें तो वह सदोष है। उसका यशस्वी प्रणेता, आधुनिक काल का महान्तम कवि, आज तक का सबसे महान् आलोचक सबसे पहले यह दोष स्वीकार कर लेता, उसने तो अपनी कृति के

पक्ष में केवल इतना ही कहा है—और दृढ़तापूर्वक कहा है—कि वह अपरिमेय-सी है ।

आज के युग में असीम विभ्रम फैला हुआ है । विविध परामर्श देने वाले असंख्य स्वर सम्भ्रम में डाल देते हैं । युवक लेखक का ध्यान आकृष्ट करने वाली और उसका आदर्श बन सकने वाली कृतियों की संख्या अपार है । उसे आवश्यकता इस बात की है कि किसी का हाथ इस विभ्रम में उसका दिशा-निर्देश करे, कोई स्वर ऐसा लक्ष्य नियत कर दे जिसका वह ध्यान रख सके और उसे यह समझाये कि इस लक्ष्य की ओर अग्रसर करने की जिस साहित्यिक कृति में जितनी शक्ति हो उसका उतना ही मूल्य आंकना चाहिए । अंग्रेजी लेखक को आज ऐसा पथ-प्रदर्शक कहीं नहीं मिल सकता । जब यह सम्भव नहीं तो फिर यही अपेक्षा—और यही बांछा—की जा सकती है कि उसका ध्यान उत्कृष्ट आदर्शों (आदर्श कृतियों) पर केन्द्रित हो, यदि स्वतन्त्र रूप से उसे उत्कृष्ट कृति का सृजन करना नहीं सिखाया जा सकता तो वह उनका (आदर्श कृतियों का) गहन अवगाहन करके और उनकी भावना को आत्मसात् करके कम-से-कम उनकी थोड़ी-बहुत उत्कृष्टता तो अपनी कृति में ला ही सकता है ।

प्रश्न किया जा सकता है कि तब क्या प्राचीनों को ही अपना एकमात्र आदर्श बना लिया जाये ?—उन प्राचीनों को जिनके अनुभव का क्षेत्र अपेक्षाकृत संकीर्ण था और जिनकी परिस्थितियाँ हमसे नितान्त भिन्न थीं ! निश्चय ही नहीं, प्राचीनों में जो कुछ संकीर्ण है अथवा जिससे अब हमारी सहानुभूति नहीं हो सकती वह हमारा आदर्श नहीं हो सकता । सोफोक्लेस के अन्तिगोने जैसे कार्य-व्यापार के प्रति हमारे मन में कोई गम्भीर रुचि जागृत होना आज सम्भव नहीं है—जिसमें भाई के शव और देश के विधान के प्रति नायिका के कर्तव्यों के द्वन्द्व का अवलम्ब ग्रहण किया गया है । स्मरण रहे मैं सामान्य पाठक के लिए बौद्धिक उत्तेजन के सर्वश्रेष्ठ स्रोतों की ही नहीं, वरन् व्यक्ति-लेखक के शिक्षण के श्रेष्ठ आदर्शों की भी बात कर रहा हूँ । और व्यक्ति-लेखक तीन बातें निश्चय ही कहीं अन्यत्र की अपेक्षा प्राचीनों से अधिक अच्छी तरह सीख सकता है, जिनका जानना उसके लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण है : विषय-चयन का सर्वोपरि महत्व, सही निर्माण की आवश्यकता और अभिव्यंजना की गौरवता । उनसे वह यह सीख सकता है कि किसी महान् कार्य को उसकी सम्पूर्णता में ग्रहण करने से मन पर जो नैतिक छाप पड़ती है उसका प्रभाव किसी एक असाधारण-से-असाधारण विचार या सुखद-से-सुखद बिम्ब के प्रभाव की अपेक्षा कहीं अधिक उत्कृष्ट होता है । जैसे-जैसे वह महान् अभिजात काव्य-

कृतियों की अन्तरात्मा में प्रवेश करेगा, जैसे-जैसे वह क्रमशः उनकी गहन-गम्भीर अर्थवत्ता, उनकी भव्य सरलता एवं शान्त कारुणिकता से अवगत होता जायेगा, वैसे-वैसे उसे यह प्रतीति होती जायेगी कि नैतिक प्रभाव की यही एकता और गहनता प्राचीन कवियों का लक्ष्य हुआ करती थी—उनकी कृतियों का यही वैभव है, इसी के बल पर वे अमर हैं। तब उसके अपने प्रयत्न भी यही प्रभाव उत्पन्न करने की ओर उन्मुख होंगे। सबसे बड़ी बात तो यह है कि वह आधुनिक आलोचना के वाग्जाल से अपने को मुक्त कर लेगा और काल की अस्थिरता की भावना से अनुप्राणित काव्य-कृतियों की—जिनमें स्वयं भी वही क्षणिकता आ जाती है—सर्जना करने से बच जायेगा। वर्तमान युग हमसे बहुत-कुछ माँगता है—युग की सेवा हमारा कर्तव्य है, हमसे आदर प्राप्त किये बिना उसका परितोष न होगा। मुझे तो लगता है जो प्राचीनों से निरन्तर संसर्ग बनाये रहते हैं उनकी—केवल साहित्यिक कृतियों को ही नहीं, वरन् सामान्यतः मनुष्यों और घटनाओं सभी को—परखने की शक्ति में एक प्रकार का स्थैर्य और दृढ़ता आ जाती है : कैसे, यह नहीं कहा जा सकता ! वे उन लोगों जैसे होते हैं जिनका बड़ा गुरु-गम्भीर और प्रभावोत्पादक अनुभव रहा हो, अन्यो की अपेक्षा वे सच्चे अर्थ में तथ्यों के साम्राज्य में निवास करते हैं और जिनके बीच रहते हैं उनमें प्रचलित भाषा से वे अपेक्षाकृत अधिक स्वतन्त्र और निरपेक्ष होते हैं। वे अपने युग का न तिरस्कार करना चाहते हैं, न उसके गुण गाते हैं—वे तो जानना चाहते हैं कि वह है क्या, उन्हें क्या दे सकता है और वे वही चाहते हैं या कुछ और ! उन्हें क्या चाहिए, यह वे भली भाँति जानते हैं : उनमें जो कुछ श्रेष्ठ और उत्कृष्ट होता है उसे वे अंकुरित एवं विकसित करना चाहते हैं और वे यह भी जानते हैं कि यह कोई आसान कार्य नहीं। यदि वे किसी कला का अभ्यास कर रहे हों तो वे पुराने कलाकारों की सहज-सरल क्रियाविधि का स्मरण रखते हैं—वे किसी उदार एवं अर्थवान् कार्य को हृदयंगम करके सुफल-लाभ करते हैं, अपने युग की विशिष्ट महत्ता और अर्थवत्ता के विश्वास में फूले नहीं फिरते। वे यह नहीं कहते कि वे एक उद्देश्य लेकर जन्मे हैं, न वे युग के व्याख्याता होने का दावा करते हैं और न भावी पीढ़ी के कवि की बातें करते हैं—वे जानते हैं यह सब तो अहंकारजन्य उन्माद होता है। उनका काम युग के गीत गाना नहीं होता—वरन् अपने समकालीनों को वह सर्वोपरि आनन्द प्रदान करना होता है जिसकी अनुभूति स्वयं करने में वे समर्थ हों। यदि उनसे कहा जाये कि वे युगीन विषयों के माध्यम से ही इस आनन्द की उपलब्धि करायें तो वे पृच्छते हैं कि इस युग में

ही ऐसी क्या विशेष बात है कि उससे विषय ग्रहण किये जायें। उत्तर मिलता है कि यह प्रगति का युग है, ऐसा युग है जिस पर औद्योगिक विकास और सामाजिक उन्नयन के महान् विचारों की कार्यान्विति का दायित्व है। वे कहते हैं कि इस सबसे उनका कोई काम नहीं बनता, उनकी कला के प्रयोग के लिए जो तत्त्व आवश्यक हैं वे हैं महान् कार्य—मानवात्मा के शाश्वत तत्त्वों को अभिभूत करने के लिए सशक्त और आह्लाददायक रूप से संयोजित महान् कार्य। वर्तमान युग जहाँ तक ऐसे कार्य उपलब्ध करा सकता है, वे सहर्ष उनका उपयोग करेंगे परन्तु जिस युग में नैतिक भव्यता नहीं उसमें इनका मिलना भी कठिन है और आध्यात्मिक उद्वेग के युग में इनका कोई प्रबल प्रभाव पड़ना एवं इनसे आह्लाद की सिद्धि होना भी कठिन है।

इसके उत्तर में अनेक रोष-भरे स्वर एक साथ गूँज उठेंगे कि वर्तमान युग अतीत से न तो नैतिक भव्यता की दृष्टि से किसी प्रकार हेय है, न आध्यात्मिक स्वस्थता की दृष्टि से। जिसमें अनुशासन-भावना है वह तो इस युग के सम्बन्ध में दो युग-विभूतियों के निर्णयों का स्मरण करके ही शान्त हो जायगा—इनमें से एक सर्वाधिक बुद्धिशाली व्यक्ति है, दूसरा व्यापकतम संस्कृति का प्रतीक: एक गेटे, दूसरा नीबुर^{१६७}। वर्तमान युग और साहित्य के सम्बन्ध में इन दोनों महान् व्यक्तियों की क्या सम्मति थी—यही जानना उसके लिए पर्याप्त है, वह अपने मन में इस विषय में भी आश्वस्त रहता है कि उनके लक्ष्य और जीवन से उनकी माँगें ऐसी रही होंगी जैसी वह चाहेगा कि उसकी भी हों और बाधाकारी एवं अवरोधक तत्त्वों के सम्बन्ध में उनके निर्णयों का अनुसरण भी वह निस्संकोच कर सकता है। परन्तु अपने युग के मिथ्या अहंकार के प्रति विरोध-भाव भी वह नहीं रखेगा, वह तो इसी में सन्तोष कर लेगा कि वह उससे अभिभूत न हो। यदि वह अपने मन से प्रतिकूलता, उत्तेजन और अधैर्य की सब भावनाएँ निकालने में सफल हो जाये—जिससे कि वह वीर-काल के किसी भव्य कार्य के भावन का आह्लाद ग्रहण कर सके और उसके चित्रण द्वारा दूसरों को भी आह्लादित कर सके—तो वह अपने को सौभाग्यशाली समझेगा।

गेटे ने कहा है—पल्लवग्राही (कला-रसिक) दो प्रकार के होते हैं: एक वह जो अनिवार्य यांत्रिक अंश की उपेक्षा करता है और यदि आध्यात्मिकता एवं भावात्मकता का दिग्दर्शन करा दे तो समझता है उसने बहुत-कुछ कर लिया है; दूसरा वह जो यांत्रिकता के माध्यम से ही काव्य तक पहुँचना चाहता है—जहाँ वह शिल्पी का लाघव अर्जित कर सकता है पर जहाँ भूत-तत्त्व और आत्म-तत्त्व दोनों का विलोप हो जाता है। गेटे के अनुसार पहला कला को अपार

क्षति पहुँचाता है, दूसरा अपने आपको । यदि पल्लवग्राही (कला-रसिक) ही हमें होना है, यदि जिन परिस्थितियों में हम रहते हैं उनमें निःश्रान्त विचार, भव्य अनुभूति और दृढ़ निरूपण हमारे लिए असम्भव हो, यदि हम महान् कलाकारों जैसी पारंगति प्राप्त नहीं कर सकते—तो कम-से-कम कला के प्रति इतना आदर तो हम में होना ही चाहिए कि उसे अपने आपसे उच्चतर समझें । हमें अपने परवर्तियों को सम्भ्रम में तो नहीं डालना चाहिए, हमें समस्त सीमाओं और सुष्ठु नियामक विधानों से संयुक्त काव्याभ्यास तो उन्हें उत्तराधिकार में देना ही चाहिए जिनके अधीन शायद कभी भविष्य में उत्कृष्ट कृतियों की सर्जना हो सके । कहीं ऐसा न हो हमारी उपेक्षा से वे विस्मृति के गर्त में जा पड़ें, अपने शाश्वत शत्रु चांचल्य के प्रभाव से सदा-सर्वदा के लिए निन्दित और विलुप्त हो जायें ।

कुछ लोगों ने कहा है कि मैं चाहता हूँ कवि विषय-चयन में अपने-आपको यूनान और रोम के पुरातन युग तक सीमित रखे परन्तु यह सत्य नहीं । मेरी सम्पत्ति तो केवल यह है कि वह महान् कार्यों को अपना विषय बनाये : वे कौन-से काल के हैं, इसका कोई विचार नहीं । मैं इस बात से भी इनकार नहीं करता कि अत्यन्त तुच्छ कार्य, अत्यन्त निकृष्ट विषय पर रचना करने में कार्य-प्रतिभा चमक सकती है । परन्तु शक्ति को व्यर्थ खोना भी तो अच्छा नहीं, अपने विषय से रुचि और शक्ति ग्रहण करके अपनी प्रभावात्मकता को द्विगुणित करने के बजाय कवि को स्वयं उसमें रोचकता और शक्ति का सन्निवेश करने के लिए विवश होना पड़े तो वह बड़ी दयनीय स्थिति होगी । किसी ने बहुत ठीक कहा है कि महान् कार्यों पर आश्रित कथाओं में अक्षय बल होता है । अस्तु, अत्यन्त प्रतिभाशाली कवि भी मर्त्यों की उस दुर्बलता के साथ—जिसे जीवन और संसार के इस विशाल रंगमंच पर वह सदा अपना व्यक्तिगत भाग समझता आया है और समझता रहेगा—इसका संयोग करके हर्षित ही होगा ।

अब प्राचीन काल के आभिजात्यवादी लेखकों के अध्ययन की बात आती है । कहा गया है कि हमें उन जैसा बनने का प्रयत्न करना चाहिए, उनके अनुकरण का नहीं । मैं इस बात पर कोई आपत्ति नहीं करता, मैं तो बस यही कहता हूँ कि हम उनका अध्ययन करें । मेरे विचार में हमारी बुद्धि का एक बहुत बड़ा दोष है जो साहित्य, कला, धर्म और नीति के क्षेत्रों में हमारी अविश्वसनीय सनकों में व्यक्त होता है—और वह है हमारी बुद्धि की अत्यधिक कल्पना-प्रवणता ; उसमें अभाव है, सन्तुलन का । इस दोष से वे हमें मुक्त कर

सकते हैं। संतुलन ही प्राचीन साहित्य का बहुत बड़ा गुण है, और अपनी समस्त विविधता एवं शक्ति के बावजूद इसका अभाव ही आधुनिक साहित्य का बहुत बड़ा दोष। अपनी थोड़ी-बहुत सनक और बहक खोये बिना महान् प्राचीनों को सावधानी से पढ़ा ही नहीं जा सकता और उनके जैसा बनने के लिए कम-से-कम उन्हें पढ़ना अवश्य पड़ेगा।

(‘फ्रन्कशन्स ऑफ़ क्रिटिसिज्म’ तथा ‘स्टडी ऑफ़ पोयट्री’)

अनुवादक : श्री महेन्द्र चतुर्वेदी

तॉल्सताय

(सन् १८२८-१९१० ई०)

[लियो तॉल्सताय की प्रतिभा बहुमुखी थी। वे विश्व के श्रेष्ठ कथाकारों में अग्रणी हैं। उनका प्रखर और सत्यान्वेषी व्यक्तित्व जीवन की स्थूल विषमताओं के साथ कभी सामंजस्य न कर सका। फ्रांस के क्रान्तिकारी दार्शनिक रूसो का उनके ऊपर बहुत प्रभाव था और मानसिक संघर्ष मानो उनके जीवन का एक अंग बन गया था। १८४७ में उन्होंने डायरी लिखना आरम्भ किया तथा १८५२ में उनकी पहली कहानी 'शैशव' प्रकाशित हुई। चौतीस वर्ष की आयु में उन्होंने विवाह किया जिससे कुछ समय के लिए उनका मानसिक संघर्ष दब गया। उस समय उनका मुख्य सिद्धान्त यह बन गया कि व्यक्ति को अपने तथा अपने परिवार के लिए अधिक-से-अधिक मात्रा में सुख अर्जित करना चाहिए। उनके प्रसिद्ध उपन्यास 'युद्ध और शान्ति' का मूल दर्शन यही है। १८७३ में 'एन्ना कैरेनिना' की रचना आरम्भ हुई। इस कृति की समाप्ति तक आते-आते उनका मानसिक संघर्ष फिर बढ़ गया था। १८७६ तक उनके मन के असन्तोष ने विराट् रूप धारण कर लिया और वे जीवन की समस्याओं का स्थायी समाधान प्राप्त करने के लिए व्यग्र हो उठे। उन्हें यह अनुभव हुआ कि ईसा के समस्त उपदेशों का मूल वाक्य एक है, 'तुम विरोध न करो' और विरोध न करना—अर्थात् अहिंसा—ही उनका सिद्धान्त बन गया। उनके धार्मिक विश्वासों का मूलभूत आधार है, 'मानव की अन्तरात्मा का प्रकाश'। इस मानसिक परिवर्तन के कारण कला के प्रति भी उनका दृष्टिकोण बदल गया। वे बहुत सादा जीवन व्यतीत करने लगे। अपने समस्त कार्य वे अपने ही हाथों करते। उन्होंने जूता बनाना सीखा। इस परिवर्तन से उनकी छोटी पुत्री को छोड़कर परिवार के अन्य सब व्यक्ति बड़े असन्तुष्ट थे। वे स्वयं भी बड़े दुःखी रहते थे। अन्ततोगत्वा अपनी छोटी पुत्री अलैकजेन्द्रा को साथ लेकर वे निकल पड़े, और इस अमर कलाकार की मृत्यु 'आस्तापोवो' के स्टेशन मास्टर के कमरे में हुई। सत्य के जिज्ञासु इस

महात्मा की ऐसी उपेक्षित मृत्यु में विधि का न जाने कौन-सा व्यंग्य निहित था !

उनके कला सम्बन्धी विचार 'कला क्या है ?' नामक निबन्ध में मिलते हैं, जिनका हिन्दी अनुवाद भी हो चुका है। ताँल्सताँय के अनुसार कला वह माध्यम है जिससे कलाकार अपनी अनुभूत भावनाओं के द्वारा दूसरों को प्रभावित करता है। जो रचना यह प्रभाव डालने में असमर्थ रहती है उसे कला की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता। जो कृति केवल कलाकार के युग और वर्ग को प्रभावित करती है वह हीन कोटि की कला है, यदि उसमें मानव मात्र को प्रभावित करने की शक्ति है पर वह उदात्त भावना से रहित है तो वह कला का यथार्थ परन्तु विकृत रूप है, यदि उसमें व्यक्त भावनाएँ शुभ हैं तो उसे कला का शुद्ध रूप कहा जा सकता है, परन्तु यदि कृति का लक्ष्य धर्म, कष्टा और प्रेम का प्रतिपादन करना है तो उसे सर्वश्रेष्ठ कला के अन्तर्गत स्थान प्राप्त हो सकता है।]

×

×

×

कलात्मक सृजन की प्रक्रिया

कलात्मक सृजन—और वैज्ञानिक सृजन भी—ऐसी मानसिक क्रिया है जो अस्पष्ट भावनाओं (अथवा विचारों) को इतना स्पष्ट रूप प्रदान कर देती है जिससे ये भावनाएँ (अथवा विचार) दूसरों तक पहुँच जाते हैं।

कलात्मक सृजन की प्रक्रिया—जो मानव मात्र में पाई जाती है और इसीलिए जिसे हम आन्तरिक अनुभव से जानते हैं—बहुत-कुछ इस प्रकार होती है: कोई व्यक्ति किसी ऐसी वस्तु का—जो उसके लिए सर्वथा नवीन और अश्रुतपूर्व है—एक धुँधला-सा आभास पाता है या भावन करता है। यह नवीन वस्तु उसके मन पर प्रभाव डालती है और वह अपना उक्त अनुभव सामान्य बातचीत में दूसरों को बताता है। किन्तु उसे आश्चर्य होता है कि जो कुछ उसके सम्मुख प्रत्यक्ष है उससे अन्य व्यक्ति सर्वथा अनभिज्ञ हैं, वह जो उन्हें बतलाता है उसे वे न तो देख ही पाते हैं और न उसका अनुभव ही कर पाते हैं। अन्य व्यक्तियों से अपना यह पार्थक्य, वैषम्य और अनैक्य उसे पहले तो उद्विग्न करता है और वह अपने अनुभव का पुनः विवेचन करता हुआ जो कुछ उसने देखा, अनुभव किया अथवा समझा है उसे विभिन्न ढंगों से दूसरों तक पहुँचाने का प्रयत्न करता है। किन्तु वे लोग या तो उसके संवेद्य अनुभव को समझने में असफल रहते हैं अथवा उसे वैसा ही नहीं समझ पाते जैसा उसने स्वयं समझा या अनुभव किया है। और तब उस व्यक्ति को यह सन्देह होने

लगता है कि कहीं वह किसी ऐसी वस्तु की कल्पना या अस्पष्ट भावना तो नहीं कर रहा जिसका वास्तव में अस्तित्व ही न हो या दूसरे व्यक्ति उस वस्तु को देखने अथवा अनुभव करने में असमर्थ हैं जो वास्तव में विद्यमान है? और अपने इस सन्देह के निराकरण के लिए वह अपनी समस्त शक्ति अपने अन्वेषण को इतना निभ्रान्त बनाने में लगा देता है कि अपने अनुभूत तथ्य की सत्ता के विषय में न उसे स्वयं और न दूसरों को ही कोई सन्देह रह जाये। जैसे ही स्पष्टीकरण की यह क्रिया पूर्ण हो जाती है और उस व्यक्ति को जो कुछ उसने देखा-समझा अथवा अनुभव किया है उसके अस्तित्व के विषय में सन्देह नहीं रह जाता वैसे ही अन्य भी उस तथ्य को उसी की भाँति देखने-समझने और अनुभव करने लगते हैं। यही प्रयास, जिसके द्वारा स्वयं उसको तथा अन्य व्यक्तियों को धुँधली एवं अस्पष्ट लगने वाली वस्तु उसके अपने और अन्य लोगों के निकट स्पष्ट एवं निभ्रान्त रूप ग्रहण करती है, सामान्यतः उस समस्त आध्यात्मिक क्रियाकलाप अथवा कलाकृतियों के सृजन का स्रोत है। इसी से मनुष्य के मानसिक क्षितिज का विस्तार होता है और पहले वह जो कुछ नहीं देख पाता था उसका अनुभव करने लगता है। कलाकार के क्रियाकलाप का रहस्य उपर्युक्त तथ्य में ही निहित है और इसी से सामाजिक की भावना का सम्बन्ध होता है। इस भावना का उद्गम मनुष्य की अनुकरणशीलता में, बल्कि दूसरों की भावनाओं से प्रभावित होने की क्षमता में, और एक प्रकार के सम्मोहन में है अर्थात् इस सत्य में है कि कलाकार की आत्म-शक्ति सन्दिग्ध विषय को उसके लिए सुव्यक्त बनाती हुई कलाकृतियों के माध्यम से सामाजिकों तक प्रेषित होती है। अतः कलाकृति तभी पूर्ण कही जा सकती है जब वह स्पष्ट होकर परसंवेद्य हो जाये तथा सामाजिकों के मन में उसी भाव को जागृत कर सके जिसका अनुभव कलाकार ने सृजन-प्रक्रिया में किया था।

अस्तु, जो कुछ पहले अप्रत्यक्ष, अननुभूत और अगम्य था वह भावना की गहराई से इतना मूर्तिमन्त हो उठता है कि सभी को ग्राह्य हो जाय और इस प्रकार की रचना ही कलाकृति है।

इस प्रकार सफल कलाकार को अपनी उत्कट भावना के परितोष द्वारा आनन्द का अनुभव होता है। कलाकृति को हृदयंगम करने वालों को भावना की वैसी ही उत्कृष्टता और उसके परितोष का, उस भावना के प्रति समर्पण का, उसके अनुकरण का एवं उससे प्रभाव ग्रहण करने का और इस सृजन-प्रक्रिया में कलाकार को जो अनुभूति हुई हो उससे क्षणिक तादात्म्य का आनन्द उपलब्ध होता है।

मेरे विचार से यही विशेषता कला को अन्य क्रियाओं से पृथक् करती है।

इस वर्गीकरण के अनुसार जो कुछ भी कलाकार की भावना और विचार की तीव्रता द्वारा मानवता को कुछ नवीनता प्रदान करे वह कलाकृति है। किन्तु मनुष्य इसे जो महत्व प्रदान करते हैं वह वस्तुतः इस मानसिक क्रिया में प्रतिष्ठित हो, इसके लिए यह अनिवार्य है कि इसकी देन मानवता के लिए हितकर हो क्योंकि यह स्पष्ट है कि किसी भी नई बुराई को, मनुष्य को बुराई की ओर अग्रसर करने वाले किसी नए लोभ को, हम वह मूल्य प्रदान नहीं कर सकते जो हम कला को मानवता के लिए कल्याणकारी होने के नाते देते हैं। कला का महत्व एवं उसका मूल्य मनुष्य के दृष्टिकोण को व्यापक बनाने में, आत्म-विभूति की वृद्धि करने में है जो कि मानवता की सम्पत्ति है।

अतः यद्यपि कलाकृति में कुछ नवीनता अवश्य होनी चाहिए, फिर भी नवीनता का प्रकाशन सदैव कलाकृति नहीं होगी। वह कलाकृति हो इसके लिए उसमें ये तत्त्व आवश्यक हैं :

(१) नया विचार—कृति का वस्तु-तत्त्व मानवता के लिए महत्वपूर्ण हो।

(२) यह वस्तु-तत्त्व इतनी स्पष्टता के साथ व्यक्त किया जाए कि मनुष्य उसे समझ सकें।

(३) रचनाकार को अपनी रचना में प्रवृत्त करने वाला प्रेरक तत्त्व कोई बाह्य प्रयोजन न होकर आन्तरिक आवश्यकता होनी चाहिए।

और इसलिए वह (रचना) जिसमें किसी नई वस्तु का प्रकाशन नहीं किया गया कलाकृति नहीं हो सकती और वह भी जिसका वस्तु-तत्त्व मनुष्य के लिए नगण्य—अतः महत्वहीन—है कलाकृति नहीं कहलाएगी चाहे उसकी अभिव्यक्ति कितनी ही सुबोध क्यों न हो और भले ही रचनाकार ने आन्तरिक प्रेरणा से उस पर निष्ठापूर्वक कार्य किया हो और न वह कलाकृति होगी जिसकी अभिव्यक्ति दुर्बोध हो, चाहे रचनाकार का उससे कितना ही सहज-सच्चा सम्बन्ध क्यों न हो, और वह भी कलाकृति नहीं है जो रचनाकार ने किसी आन्तरिक प्रेरणा से नहीं वरन् किसी बाह्य उद्देश्य के लिए रची है, चाहे उसका वस्तु-तत्त्व कितना ही महत्वपूर्ण हो और उसकी अभिव्यक्ति कितनी ही बोधगम्य हो।

कलाकृति वह है जो कुछ नवीनता का प्रकाशन करती है और साथ ही कुछ सीमा तक इन तीनों शर्तों को भी पूरा करती है : वस्तु-तत्त्व, रूप-विधान और ईमानदारी।

और यहाँ हम इस समस्या पर आते हैं कि वस्तु-तत्त्व, सौन्दर्य और ईमानदारी की वह निम्नतम सीमा कौन-सी है जिसका कलाकृति कहलाने के लिए प्रत्येक रचना को स्पर्श करना ही चाहिए।

कलाकृति होने के लिए सबसे पहले तो उसे ऐसा होना चाहिए जिसका वस्तु-तत्त्व इस रचना से पूर्व अज्ञात हो किन्तु जिसकी मनुष्य को आवश्यकता हो; दूसरे, वह इसको इतनी सुबोधता के साथ प्रदर्शित करे कि वह सामान्यतः ग्रह्य हो सके, और तीसरे, वह रचनाकार के किसी आन्तरिक संशय के समाधान की आवश्यकता से प्रसूत हो।

जो कृति इन तीनों शर्तों को कुछ सीमा तक भी पूरा करे वह कलाकृति होगी, किन्तु जिस रचना में इन तीनों में से एक का भी अभाव है, कलाकृति नहीं होगी।

किन्तु यह कहा जायगा कि प्रत्येक कृति में कुछ ऐसा होता है जिसकी मनुष्य को आवश्यकता होती है, और हरेक रचना कुछ हद तक बोधगम्य होती है और रचनाकार का अपनी कृति के साथ थोड़ा बहुत ईमानदारी का सम्बन्ध भी होता ही है। आवश्यक वस्तु-तत्त्व, बोधगम्य अभिव्यक्ति एवं सृजन की ईमानदारी की सीमा क्या है? हमें इस प्रश्न का उत्तर उस उच्चतम सीमा के स्पष्ट ज्ञान द्वारा प्राप्त होगा जहाँ तक कला पहुँच सकती है; उस उच्चतम सीमा के विपर्यय में निम्नतम सीमा प्रतिभासित होगी और इस प्रकार कला और कला से इतर तत्त्वों के बीच एक स्पष्ट सीमा-रेखा अंकित हो जाएगी। विषय की उच्चतम सीमा तो ऐसी है जो सदैव सब मनुष्यों के लिए आवश्यक है और जो सदैव सब मनुष्यों के लिए आवश्यक है वही सत् अथवा नैतिक है।* फल-

* आधी शताब्दी पूर्व 'महत्वपूर्ण', 'सत्' और 'नैतिक' शब्दों की किसी भी व्याख्या की आवश्यकता नहीं रही होगी, लेकिन हमारे युग में दस शिक्षित व्यक्तियों में से नौ व्यक्ति यह मानकर कि ये शब्द किसी ऐसी चीज की अभिव्यक्ति करते हैं जो सापेक्ष और परिभाषा से अतीत है इन शब्दों को लेकर विजय-गर्व से पूछेंगे, 'महत्वपूर्ण, सत् अथवा नैतिक क्या है?' और इसलिए मुझे इस प्रत्याशित आपत्ति का उत्तर दे देना चाहिए।

जो मानव को हिंसा से नहीं प्रेम से परस्पर संगठित करे, जो मनुष्यों की पारस्परिक एकता के आनन्द को प्रकाशित करने में सहयोग दे, वही 'महत्वपूर्ण', 'सत्' या 'नैतिक' है। 'असत्' और 'अनैतिक' वह है जो मनुष्यों में फूट डालता है और मनुष्यों को इस फूट से उत्पन्न दुख की

स्वरूप वस्तु की निम्नतम सीमा ऐसी होगी जिसकी मनुष्य को आवश्यकता नहीं है, और वह असत् तथा अनैतिक है। अभिव्यक्ति की उच्चतम सीमा वह है जो सदैव सब मनुष्यों के लिए बोधगम्य हो। जो इस प्रकार बोधगम्य है वह ऐसी है जिसमें कुछ भी दुरुह, अनावश्यक और अनिश्चित नहीं वरन् स्पष्ट, संक्षिप्त और निश्चित है अर्थात् सुन्दर है। इसके विपरीत अभिव्यक्ति की निम्नतम सीमा ऐसी होगी जो दुरुह, असम्बद्ध और अनिश्चित है—या, कह सकते हैं, जो विरूप है। अपने विषय से कलाकार के सम्बन्ध की उच्चतम सीमा ऐसी होगी जो सब व्यक्तियों की आत्मा में यथार्थता का प्रभाव उत्पन्न करती है—इस यथार्थता से अभिप्राय कलाकार की आत्मगत प्रक्रिया से ही अधिक है, स्थूल यथार्थ से उतना नहीं है। यथार्थता का यह प्रभाव केवल सत्य के द्वारा ही उत्पन्न होता है और इसलिए कलाकार का अपने विषय से अधिकतम ईमानदारी का सम्बन्ध है। इसके विपरीत निम्नतम सीमा वह होगी जिसमें कलाकार का अपने विषय से सम्बन्ध सच्चा नहीं वरन् मिथ्या है। कला की सब रचनाएँ इन्हीं दो सीमाओं के भीतर आती हैं।

पूर्ण कलाकृति वह होगी जिसमें वस्तु-तत्त्व सब व्यक्तियों के लिए महत्वपूर्ण और सार्थक होगा और इसलिए वह नैतिक होगा। अभिव्यक्ति सबके लिए बिल्कुल स्पष्ट एवं बोधगम्य होगी और इसलिए सुन्दर होगी; अपनी रचना के साथ कलाकार का सम्बन्ध पूर्णतः निष्ठापूर्ण और मार्मिक होगा और इसलिए सत्य भी। अपूर्ण होने पर भी जो कलाकृतियाँ ही हों, वे ऐसी रचनाएँ होंगी जो इन तीनों शर्तों को पूरा करें, यद्यपि यह पूर्ति असमान मात्रा में ही होगी। कलाकृति वह नहीं हो सकती जिसमें वस्तु-तत्त्व मनुष्य के लिए बिल्कुल महत्वहीन और अनावश्यक हो, या अभिव्यक्ति सर्वथा अगम्य हो, या कलाकार का रचना से सम्बन्ध बिल्कुल निष्ठाहीन हो। सच्ची कलाकृतियों का उत्कर्ष-भेद इसी बात पर निर्भर है कि वे इन पक्षों में से प्रत्येक की सिद्धि किस सीमा तक कर पाती हैं। कभी पहले पक्ष की प्रधानता होती है, कभी दूसरे की और कभी तीसरे की।

शेष सब अपूर्ण रचनाएँ कला की तीन मूलभूत शर्तों के अनुसार स्वभावतः तीन प्रधान वर्गों में विभक्त की जा सकती हैं—

(१) वे जो अपनी विषय-वस्तु के महत्व के कारण अन्य कृतियों से

ओर ले जाता है। 'महत्वपूर्ण' वह है जो मनुष्यों के उसे समझने और उससे प्रेम करने का कारण बनता है जिसे वे पहले नहीं समझते थे या जिससे प्रेम नहीं करते थे।

भिन्न हैं, (२) वे जो अपने रूप-विधान के सौन्दर्य के कारण अन्य कृतियों से भिन्न हैं, और (३) वे जो अपनी आन्तरिक निष्ठा के कारण अन्य कृतियों से भिन्न हैं। उक्त तीनों वर्ग पूर्ण कला की सीमा का स्पर्श करते हैं, और जहाँ कला है वहाँ अनिवार्यतः इन तीनों वर्गों की कृतियों की सृष्टि होती है।

अस्तु, युवक कलाकारों में मुख्यतः आन्तरिक निष्ठा ही प्रधान रहती है, उसके साथ वस्तु-तत्त्व की महत्वहीनता और न्यूनाधिक रूप-सौन्दर्य का भी समावेश रहता है। इसके विपरीत प्रौढ़ कलाकारों में वस्तु-तत्त्व का महत्व रूप-विधान के सौन्दर्य एवं निष्ठा पर हावी रहता है। अभ्यासशील कलाकारों में वस्तु-तत्त्व एवं निष्ठा की अपेक्षा रूप-सौन्दर्य प्रधान होता है।

कला का मूल्यांकन

पहले, दूसरे या तीसरे गुण की प्रधानता के आधार पर सब कला-कृतियों का मूल्यांकन किया जा सकता है और उन सबका इस प्रकार विभाजन किया जा सकता है : (१) वे जिनमें वस्तु-तत्त्व और सौन्दर्य का सद्भाव और निष्ठा का अभाव है, (२) वे जिनमें वस्तु-तत्त्व का सद्भाव है किन्तु सौन्दर्य एवं निष्ठा का अभाव है, (३) वे जिनमें वस्तु-तत्त्व का अभाव है किन्तु जो सुन्दर और निष्ठापूर्ण हैं, और इसी प्रकार उक्त गुणों को भिन्न-भिन्न प्रकार से संयुक्त और संश्लिष्ट करने पर अन्य अनेक वर्ग भी बनाए जा सकते हैं।

इन मूलभूत गुणों के आधार पर सब कलाकृतियों का—और कला-कृतियों का ही क्या मानव के समस्त क्रियाकलाप का—मूल्यांकन किया जा सकता है, किया गया है और किया जा रहा है।

विशेष व्यक्तियों द्वारा विशेष काल में इन तीनों शतों को जिस सीमा तक पूरा करने की माँग रखी गई है उसी सीमा तक मूल्यांकन में विभिन्नताओं का जन्म हुआ है और होता है। उदाहरण के लिए प्राचीन काल में परवर्ती युग की अपेक्षा और विशेषतः हमारे युग की तुलना में वस्तु-तत्त्व के महत्वपूर्ण होने की माँग बहुत अधिक थी और स्पष्टता एवं निष्ठा की माँग बहुत कम थी। मध्यकाल में सौन्दर्य की माँग अपेक्षतया बढ़ गई, किन्तु दूसरी ओर सार्थकता एवं निष्ठा की माँग कम हो गई, और हमारे युग में निष्ठा और सत्यता की माँग बहुत बढ़ गई है, किन्तु दूसरी ओर सौन्दर्य और विशेषतः सार्थकता की माँग कम हो गई है।

जब इन तीनों शतों का ध्यान रखा जाता है तब कलाकृतियों का मूल्यांकन अनिवार्यतः सही होता है, और जब कृतियों का मूल्यांकन तीनों शतों

पर नहीं वरन् उनमें से केवल एक या दो के आधार पर किया जाता है तब वह सदैव गलत होता है ।

और फिर भी इन तीनों शर्तों में से केवल एक के आधार पर किया गया कलाकृतियों का ऐसा मूल्यांकन एक दोष है, जो विशेष रूप से हमारे युग में प्रधान है । फलतः कला से जो माँग की जाती है उसका सामान्य स्तर इतना गिर जाता है कि वहाँ तक केवल अनुकरण द्वारा पहुँचा जा सकता है, तथा यह आलोचकों, जनता और कलाकारों के अपने मन में इस विषय में भ्रम उत्पन्न कर देता है कि कला वास्तव में क्या है—और उसकी सीमा कहाँ है—वह सीमा जो कला को शिल्प और मात्र मनोरंजन से पृथक् करती है ।

यह भ्रम इस तथ्य से उत्पन्न होता है कि जो व्यक्ति सच्ची कला को समझने में असमर्थ होते हैं वे केवल एक पक्ष से ही कलाकृतियों का मूल्यांकन करते हैं, और अपनी वैयक्तिक विशेषताओं एवं शिक्षा के अनुसार उनमें केवल पहला, दूसरा या तीसरा पक्ष देखते हैं । वे यह समझते एवं मानते हैं कि उन्हें दिखाई देने वाला यह एक पक्ष कला की सम्पूर्णता की व्याख्या करता है और इस एक शर्त पर ही कला की महत्ता निर्भर है । कुछ लोग केवल वस्तु-तत्त्व का महत्त्व देखते हैं, अन्य केवल रूप-विधान का सौन्दर्य देखते हैं, और कुछ केवल कलाकार की ईमानदारी और (इसलिए) सच्चाई देखते हैं । और जो वे देखते हैं उसके अनुरूप ही कला की प्रकृति की परिभाषा करते हैं, अपने सिद्धान्त बनाते हैं, और उनकी प्रशंसा करते एवं उन्हें प्रेरणा देते हैं, जो उनके समान ही यह न जानते हुए कि कला का रहस्य क्या है रोटियों के समान कलाकृति तैयार कर डालते हैं और साहित्य-जगत को कलाकृतियों के नाम पर तरह-तरह की मूर्खतापूर्ण और कुत्सित रचनाओं की दूषित बाढ़ से आप्लावित कर देते हैं ।

अधिकतर लोग ऐसे ही हैं और उस बहुमत के प्रतिनिधि होने के नाते उनके विचारों और माँगों की पूर्ति करने वाले पूर्वोक्त तीनों सौन्दर्य-सिद्धान्तों के जन्मदाता भी ऐसे ही थे ।

ये सब सिद्धान्त कला के समग्र महत्त्व के भ्रान्तिपूर्ण परिबोध पर और उसकी तीन मूलभूत विशेषताओं के परस्पर विच्छेद पर आधारित हैं और इस सत्य के परिणामस्वरूप कि यथार्थ कला की तीन मूलभूत विशेषताएँ हैं जिनमें से उन सिद्धान्तों में से प्रत्येक (सिद्धान्त) केवल एक को स्वीकार करता है, ये तीनों मिथ्या सिद्धान्त परस्पर विरोध करते हैं ।

तथाकथित 'ध्येयवादी' कला का प्रथम सिद्धान्त उस रचना को ही

कलाकृति के रूप में स्वीकार करता है जो ऐसा विषय ग्रहण करती है जिसमें यद्यपि नया कुछ नहीं है, तथापि जो सौन्दर्य और आत्मिक गम्भीरता से पृथक् अपनी नैतिक विषय-वस्तु के कारण सब मनुष्यों के लिए महत्त्वपूर्ण है।

द्वितीय सिद्धान्त (कला कला के लिए) केवल उसी को कलाकृति के रूप में मानता है जिसमें नवीनता, विषय-वस्तु के महत्त्व और रचनाकार की ईमानदारी से निरपेक्ष रूप-विधान का सौन्दर्य विद्यमान होता है।

तीसरा सिद्धान्त, 'यथार्थवादी' सिद्धान्त, केवल उसी को कलाकृति मानता है जिसमें कलाकार का विषय से निष्ठापूर्ण सम्बन्ध है, और इसलिए जो सत्यपूर्ण है। अन्तिम सिद्धान्त कहता है कि वस्तु-तत्त्व चाहे कितना ही महत्त्वहीन, यहाँ तक कि भले ही अनुचित, हो परन्तु जो वह चित्रित करता है उससे कलाकार का सम्बन्ध निष्ठापूर्ण, और फलतः सत्यपूर्ण है, तो वह कृति अच्छी होगी—रूप-विधान का सौन्दर्य उसमें कम हो या अधिक।

X

X

X

ये सब सिद्धान्त एक मुख्य बात भूल जाते हैं कि महत्त्व, सौन्दर्य अथवा निष्ठा कलाकृतियों को अपेक्षित तत्त्व प्रदान नहीं करते, किन्तु ऐसी कृति के निर्माण की मूलभूत शर्त यह है कि कलाकार किसी नई और महत्त्वपूर्ण बात के प्रति सचेत हो और इसलिए सच्चे कलाकार के लिए सदा ही यह आवश्यक रहा है और रहेगा कि वह किसी नितान्त नवीन और महत्त्वपूर्ण तत्त्व का दर्शन कर सके। जो नवीन है उसे देखने के लिए यह अनिवार्य है कि कलाकार देखे और सोचे, अपने जीवन को तुच्छ बातों में न उलझाए क्योंकि उनसे जीवन के व्यापारों में उसकी सचेष्ट पैठ और मनन में बाधा पहुँचती है। और इसके लिए कि नई चीजें जो वह देखता है महत्त्वपूर्ण हों, कलाकार को नैतिक दृष्टि से प्रबुद्ध व्यक्ति होना चाहिए और उसे स्वार्थमय जीवन व्यतीत नहीं करना चाहिए, बल्कि मानवता के सामान्य जीवन में सम्मिलित होना चाहिए।

यदि वह नवीन और महत्त्वपूर्ण को देख ले तो वह निश्चित रूप से ऐसा रूप-विधान पा लेगा जिसमें उसकी अभिव्यंजना हो जाये और निष्ठा भी विद्यमान होगी जो कलात्मक रचना का अनिवार्य उपादान है। उसे नए विषय को व्यक्त करने में समर्थ होना चाहिए ताकि सब उसे समझ सकें। इसके लिए उसे अपने शिल्प पर ऐसा अधिकार होना चाहिए कि रचना के समय वह उस शिल्प के नियमों के विषय में इतना कम सोचे जितना कि व्यक्ति चलते समय गति के नियमों के बारे में सोचता है। और इसकी सिद्धि के लिए कलाकार

को अपनी रचना पर ध्यान केन्द्रित करके उसकी सराहना नहीं करते रहना चाहिए, रचना-शिल्प को अपना उद्देश्य नहीं बना लेना चाहिए—जैसे किसी रास्ता चलते आदमी को अपनी चाल पर विचार नहीं करना चाहिए और उसकी प्रशंसा नहीं करनी चाहिए—किन्तु उसे तो केवल अपने विषय को स्पष्ट-तया व्यक्त करने से सरोकार रखना चाहिए, और इस रूप में कि वह सबके लिए बोधगम्य हो।

अन्त में, बाह्य उद्देश्यों के लिए नहीं वरन् आन्तरिक आवश्यकता के परिपोष के लिए विषय-प्रतिपादन के उद्देश्य से कलाकार को लोभ और अहं-कार के प्रेरक हेतुओं से ऊपर उठना चाहिए। उसे अपने हृदय से प्रेम करना चाहिए, किसी और के से नहीं, और उसे उस वस्तु से प्रेम का स्वाँग नहीं करना चाहिए जिसे अन्य प्रेम करते हैं या प्रेम के योग्य समझते हैं।

कला क्या है

कला की सही परिभाषा करने के लिए सबसे पहले यह आवश्यक है कि उसे आनन्द का साधन समझना छोड़ दिया जाए और उसे मानव-जीवन के तत्त्वों में से एक समझा जाए। यह दृष्टिकोण स्वीकार कर लेने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे बिना नहीं रह सकते कि कला मानव-मानव के पारस्परिक सम्पर्क का एक साधन है।

जिसने कला का निर्माण किया है या कर रहा है उसके साथ तथा जो उसी समय या उससे पूर्व या उसके बाद उस कलात्मक प्रभाव को ग्रहण करते हैं उन सामाजिकों के साथ प्रत्येक कलाकृति सामाजिक का विशेष प्रकार का सम्बन्ध स्थापित कराती है।

भाषा मनुष्यों के विचारों और अनुभवों का प्रेषण करती हुई उनके संगठन के माध्यम का कार्य करती है, और कला भी ऐसे ही उद्देश्य की पूर्ति करती है। पारस्परिक सम्पर्क के इस दूसरे साधन, अर्थात् कला और शब्दों के द्वारा साधित सम्पर्क में भेद यह है कि जहाँ शब्दों के द्वारा मनुष्य अपने विचारों की अभिव्यक्ति करता है, वहीं कला के द्वारा वह अपनी भावनाओं का प्रेषण करता है।

कला की क्रिया इस तथ्य पर आधारित है कि एक मनुष्य अपने कान या आँख के द्वारा अन्य व्यक्ति की भावाभिव्यक्ति को ग्रहण करता हुआ उस भाव की अनुभूति करने में समर्थ है जिसने उसे व्यक्त करने वाले व्यक्ति को आन्दोलित किया था। सबसे सरल उदाहरण लें : एक व्यक्ति हँसता है और

दूसरा जो सुनता है प्रसन्न हो जाता है, एक व्यक्ति रोता है और जो सुनता है दुख का अनुभव करता है। एक व्यक्ति उत्तेजित है या क्षुब्ध है और उसे देखने पर अन्य व्यक्ति भी उसी मनोदशा को प्राप्त कर लेता है। अपनी भंगिमाओं द्वारा या आवाज के उतार-चढ़ाव द्वारा आदमी उत्साह और हृदयता या उदासी और शांतचित्तता व्यक्त करता है और यह मानसिक अवस्था दूसरों में संचरण कर जाती है। एक व्यक्ति पीड़ित है और अपनी पीड़ा को आह या कराह द्वारा प्रदर्शित करता है और यह पीड़ा अन्य व्यक्तियों की पीड़ा बन जाती है; एक व्यक्ति कुछ वस्तुओं, व्यक्तियों या व्यापारों के लिए प्रशंसा, श्रद्धा, भय, आदर या प्रेम की भावनाएँ प्रकट करता है और अन्य लोगों में भी इसी प्रकार की भावनाएँ संक्रमण कर जाती हैं।

और अन्य व्यक्ति की भावनाओं की अभिव्यक्ति को ग्रहण करने और स्वयं भी उन्हीं भावनाओं को अनुभव करने की सामर्थ्य पर ही कला की प्रक्रिया आधारित है।

जब कोई व्यक्ति सीधे अपनी साक्षात् उपस्थिति द्वारा या भावना की अनुभूति के समय उत्पन्न की गई ध्वनियों द्वारा दूसरे व्यक्ति या व्यक्तियों में वैसी ही भावना उद्बुद्ध करे, जब वह स्वयं उदासी लेना रोक नहीं पाए और अपनी देखादेखी दूसरों को भी उदासी लेने पर विवश कर दे, या स्वयं हँसने या रोने के लिए विवश होने पर दूसरों को भी हँसाए, रुलाए या जब वह स्वयं पीड़ित हो तो दूसरे को भी दुखी कर दे तो ये सब क्रियाएँ कला के अन्तर्गत नहीं आयेंगी।

कला का सूत्रपात तब होता है जब एक व्यक्ति अन्य व्यक्ति या व्यक्तियों को अपने साथ एक भावना में मग्न करने के लिए उस भावना को कुछ बाह्य संकेतों द्वारा व्यक्त करता है। सबसे सरल उदाहरण लें—मान लीजिए एक लड़का किसी भेड़िए को देखने पर भय का अनुभव करने के बाद, उस मुठभेड़ का वर्णन करता है और अपनी अनुभूत भावना को दूसरों में उत्पन्न करने के लिए वह अपना, उससे मिलने की पूर्व की अपनी अवस्था का, वातावरण का, जंगल का, अपने उत्साह का और फिर भेड़िए के दिखाई देने का, उसकी गतियों का, अपने और भेड़िए के बीच अन्तर आदि का वर्णन करता है। यदि कहानी सुनाते समय वह लड़का फिर उन्हीं पूर्वानुभूत भावनाओं का अनुभव करता है और सुनने वालों को भी उसी मानसिक अवस्था में ले जाता है तथा जो उसने अनुभव किया है उसका भावन करने के लिए उन्हें विवश कर देता है—तभी यह सब कला कहलाएगी। यदि लड़के ने भेड़िया नहीं भी देखा है बल्कि भेड़िए

से प्रायः भयभीत हुआ है, अगर स्वानुभूत भय को दूसरों में जगाने के लिए उसने भेड़िए से सामना होने का किस्सा गढ़ लिया है और इस प्रकार उसका वर्णन किया है कि उसने सुनने वालों को उन्हीं भावनाओं में मग्न कर दिया है जिन्हें भय के क्षणों में उसने अनुभव किया हो, तो वह भी कला होगी। और उसी प्रकार जब कोई मनुष्य (यथार्थ में या कल्पना में) दुख का, भय या मनोरंजन का आकर्षण अनुभव करने के बाद उन भावनाओं को चित्रपट पर या संगमरमर में अंकित करता है ताकि दूसरों में वही भावनाएँ उद्बुद्ध हों तो यह भी कला है। और अगर कोई व्यक्ति आनन्द, सुख, दुख, निराशा, उत्साह या अवसाद की भावनाओं का और इनमें से किसी एक भावना की अवस्था से दूसरी में संक्रमण कर जाने का अनुभव करता है या उनकी कल्पना करता है और उन्हें ध्वनियों द्वारा व्यक्त करता है जिससे सुनने वालों में भी वही भावनाएँ जागृत हो जायें और वे उनका उसी प्रकार अनुभव करें जैसे कि रचनाकार ने किया था, तो यह भी कला ही है।

जिन भावनाओं से कलाकार दूसरों को प्रभावित करता है उनमें बड़ी विविधता हो सकती है—बहुत प्रबल या बहुत अशक्त, बहुत महत्वपूर्ण या बहुत निरर्थक, बहुत बुरी या बहुत अच्छी; किसी नाटक में अभिव्यक्त देश-प्रेम, आत्म-भक्ति और भाग्य या ईश्वर के प्रति समर्पण की भावनाएँ, उपन्यास में वर्णित प्रेमियों का हर्षोन्माद, चित्र में अंकित कामोद्दीपकता की भावनाएँ, विजयाभिमान में व्यक्त साहस, नृत्य से उत्पन्न उल्लास, विनोदपूर्ण कहानी द्वारा उत्पन्न हास्य, सन्ध्या के समय किसी प्राकृतिक दृश्य या किसी लोरी द्वारा संवेदित शान्त निस्तब्धता की भावना, या सुन्दर पच्चीकारी द्वारा जागृत प्रशंसा की भावना : ये सब कला के अन्तर्गत हैं। जब दर्शक या श्रोता रचनाकार द्वारा अनुभूत भावना से प्रभावित होते हैं, तभी वह कला है।

जो भावना किसी ने पहले अनुभव की है उसे अपने में जगाना और अपने में जगाकर भंगिमाओं, रेखाओं, रंगों, ध्वनियों या शब्दों में व्यंजित विधाओं द्वारा इस प्रकार उस भावना को व्यक्त करना कि दूसरे भी उसी का अनुभव करें—यही कला की प्रक्रिया है।

कला एक मानवीय क्रिया है जिसका स्वरूप यह है, कि एक व्यक्ति सचेतन रूप से कुछ बाह्य संकेतों से स्वानुभूत भावनाओं को दूसरों के प्रति संप्रेषित करता है और दूसरों में भी वे ही भावनाएँ जागृत होती हैं और वे उनका अनुभव करते हैं।

जैसा अधिमानस-शास्त्रियों का कथन है कला ईश्वर या सौंदर्य की किसी

रहस्यमयी भावना की अभिव्यक्ति नहीं है और जैसा कि सौन्दर्यवादी शरीर-रचना-वेक्ता कहते हैं, कला वह क्रीड़ा भी नहीं है जिसमें मनुष्य अपनी संचित शक्ति के अतिरेक का उत्सर्ग करता है; वह बाह्य संकेतों द्वारा भावों की अभिव्यक्ति भी नहीं है; वह सुखकर वस्तुओं की रचना भी नहीं है और सब से बड़ी बात यह कि वह आनन्द नहीं है, किन्तु यह मनुष्यों के बीच एकता का साधन है जो उन सब को समान भावनाओं में बाँध देती है, और व्यक्ति तथा मानवता के कल्याण की ओर प्रगति के लिए तथा जीवन के लिए अनिवार्य है।

आज से पूर्व मानव-जाति ने विचारों के क्षेत्र में व्यक्ति के लिए जो कुछ किया है, प्रत्येक व्यक्ति जैसे उससे अवगत हो सकता है—और इसका श्रेय विचारों को शब्द द्वारा अभिव्यक्त करने की मानव की सामर्थ्य को है—और जैसे दूसरों के विचार समझने की शक्ति के कारण आज वह उनके कार्यकलाप का भागीदार भी बन सकता है, और इसके साथ ही उसने दूसरों से ग्रहण करके जो विचार आत्मसात् कर लिए हैं तथा जो विचार उसके अपने मन में उद्बुद्ध हुए हैं उन सब को वह अपने समसामयिकों और वंशजों के प्रति संवेदित कर सकता है। इसी प्रकार कला के माध्यम से दूसरों की भावनाओं से प्रभावित होने की मानवीय क्षमता के बल पर उसके समसामयिकों की जितनी भी अनुभूतियाँ हैं तथा हजारों वर्ष पूर्व व्यक्तियों ने जिन भावनाओं की अनुभूति की वे सब उसके लिए उपगम्य हैं, और अपनी भावनाओं को दूसरों तक पहुँचाना भी उसके लिए सम्भव है।

यदि मनुष्य अपने पूर्ववर्तियों के विचारों को ग्रहण करने तथा अपने विचारों को दूसरों तक पहुँचाने की सामर्थ्य से रहित होता, तो आज वह वन्य पशुओं की भाँति होता।

और यदि व्यक्ति कला से प्रभावित होने की इस दूसरी सामर्थ्य से भी रहित होता तो मनुष्य आज और भी अधिक बर्बर होता और सबसे बड़ी बात तो यह है कि वे एक-दूसरे से अधिक असम्बद्ध होते और उनमें एक-दूसरे के लिए अधिक वैर-भाव होता।

और इसीलिए कला की साधना सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है, उतनी ही जितनी कि वाणी की क्रिया महत्त्वपूर्ण है और प्रायः उतनी ही व्यापक।

जिस प्रकार वाणी केवल उपदेशों, वक्तृताओं या पुस्तकों के रूप में ही हम पर प्रभाव नहीं डालती बल्कि उन सब उक्तियों के रूप में भी हमें प्रभावित करती है जिनसे हमारे विचारों और अनुभवों का पारस्परिक आदान-प्रदान होता है। उसी प्रकार व्यापक अर्थों में कला भी हमारे सारे जीवन में

व्याप्त है, किन्तु संकुचित अर्थ में हम केवल उसकी कुछ अभिव्यक्तियों को ही कला नाम देते हैं ।

हमें भवनों, मूर्तियों, कविताओं और उपन्यासों को और इनके साथ ही जो-कुछ हम रंगशालाओं, संगीत-सम्मेलनों और प्रदर्शनियों आदि में सुनते तथा देखते हैं, केवल उन्हें ही कला समझने की आदत पड़ गई है । लेकिन यह सब तो उस कला का अल्पतम अंश है जिसके द्वारा जीवन में हमारा पारस्परिक व्यवहार चलता है । सम्पूर्ण मानव-जीवन विविध प्रकार की कलाओं से ओतप्रोत है—लोरी, हास्य, स्वांग, घरों की सजावट, वेश-भूषा और वरतनों से लेकर गिर्जे की प्रार्थनाओं, भवनों, स्मारकों तथा विजय-यात्राओं तक । यह सब कलात्मक क्रियाएँ हैं । अतः संकुचित अर्थ में कला द्वारा हम भावनाओं का संप्रेषण करने वाली समस्त मानवीय क्रियाओं का अर्थ नहीं लेते, किन्तु केवल उसी अंश का अर्थ लेते हैं किसे हम किसी कारण से उसमें से चुन लेते हैं और जिसे हम विशिष्ट महत्त्व प्रदान करते हैं ।

यह विशिष्ट महत्त्व मनुष्यों द्वारा इस सारी क्रिया के उस भाग को दिया जाता रहा है जो उनके विचारों, धर्मबोध से उत्पन्न होने वाली भावनाओं का संचार करता है, और उन्होंने इस स्वल्प अंश को शब्द के पूर्ण अर्थ से मण्डित करते हुए उसे विशेष रूप से कला नाम से अभिहित किया है ।

प्राचीन मनीषियों—सोक्रेतेस (सुकरात), प्लेटोन (प्लेटो) और अरिस्तो-तेलेस (अरस्तू)—का कला के प्रति यही दृष्टिकोण था । हिब्रू पैगम्बर और पुराने ईसाइयों की भी कला के सम्बन्ध में यही धारणा थी । मुसलमान भी उसे ऐसा ही समझते थे और अब भी समझते हैं । और हमारे अपने किसानों की धार्मिक जनता में आज भी वह इसी रूप में ग्रहण की जाती है ।

मानवता के कुछ शिक्षक—जैसे 'गणतन्त्र' में प्लेटो, आदिम ईसाई, कट्टर मुसलमान और बौद्ध आदि—तो यहाँ तक आगे बढ़ गए कि उन्होंने कला को सर्वथा अस्वीकार कर दिया ।

जिन लोगों की कला के प्रति यह धारणा है, (और यह धारणा प्रचलित मत से भिन्न है क्योंकि यह मत कला को तभी अच्छा मानता है जब वह आनन्द प्रदान करे) वे मानते थे और अब भी मानते हैं कि कला (यहाँ वाणी से उसका अन्तर स्पष्ट है, क्योंकि वह अनिवार्यतः श्रव्य नहीं है) मनुष्यों को अपनी इच्छा के विरुद्ध प्रभावित करने की सामर्थ्य के कारण इतनी अधिक खतरनाक है कि प्रत्येक कला को सहन करने की अपेक्षा उसका सम्पूर्णतः बहिष्कार कर देने से मानव जाति की कहीं कम क्षति होगी ।

स्पष्टतः कला मात्र को अस्वीकार करना इन लोगों की शक्ती थी, क्योंकि उन्होंने जिसका निषेध किया उसका निषेध नहीं जा सकता था—वह पारस्परिक व्यवहार का अनिवार्य साधन है, और उसके बिना मानवता का अस्तित्व ही सम्भव नहीं है। किन्तु हमारे वर्ग और युग के यूरोपीय सभ्य समाज के वे लोग भी किसी तरह कम भ्रम में नहीं जिन्होंने सौन्दर्य की साधक अर्थात् लोगों को आनन्द देने वाली किसी भी कला का समर्थन किया है।

पहले लोगों को भय था कि कलाकृतियों में कोई ऐसा तत्त्व न हो जिससे भ्रष्टाचार फैले; और उन्होंने कला का पूर्णतः निषेध कर दिया। और आज के लोगों को केवल यह भय है कि कला में जो आनन्द प्रदान करने की शक्ति है उससे कहीं वे वंचित न रह जायें अतः वे प्रत्येक कला का संरक्षण करते हैं। और मेरी समझ से यह पिछली भूल पहली से अधिक भीषण है, और इसके परिणाम कहीं अधिक हानिकर हैं।

(‘कला क्या है’ शीर्षक निबन्ध-संग्रह से)

अनुवादक : श्री तारकनाथ बाली

वाल्टर पेटर

(सन् १८३६-१८६४ ई०)

[कला की स्वतंत्र सत्ता की प्रतिष्ठा करने वाले आलोचकों में आंग्ल विचारक वाल्टर पेटर का स्थान अग्रगण्य है। उन्होंने अपनी योग्यता के बल पर सम्मान सहित उच्च शिक्षा प्राप्त की तथा सन् १८६४ में उनकी नियुक्ति ब्रैसनोज में 'फ़ेलो' के रूप में हुई। तभी उनकी साहित्य-साधना आरम्भ हुई। उनके प्रारम्भिक निबंध 'पुनरुत्थानवाद का इतिहास' (हिस्ट्री ऑफ़ रिनैसाँ) में संकलित हैं। पेटर की अन्य महत्वपूर्ण रचनाएँ हैं : 'काल्पनिक व्यक्ति-चित्र' (इमेजिनरी पोर्ट्रेट्स); सरस समीक्षा (एप्रिसिएशन्स); प्लेटो और प्लेटोवाद (प्लेटो एण्ड प्लेटोनिज्म) आदि।

पेटर स्वभाव से ही चिन्तनशील थे और अपने विचारों में इतने निमग्न रहते थे कि अपने को पूर्ण रूप से स्पष्ट करना उनके लिए कठिन हो जाता था। उनके लिए लिखना कोई आसान काम नहीं था क्योंकि वे अपने लिखे हुए निबन्धों का शोधन बार-बार करते थे। फलतः उनकी शैली अत्यन्त रमणीय और उत्कृष्ट बन गई है। उनकी विचारधारा का केन्द्रबिन्दु था सौन्दर्य—अपने सभी ग्रंथों में उन्होंने जीवन में सौन्दर्य के गम्भीर प्रभाव की व्याख्या की है। सौन्दर्य को चरम मूल्य मानने के कारण, आनन्दवादी होने के नाते पेटर ने मनःप्रसादन को साहित्य का मुख्य प्रयोजन माना है। सेन्ट्सबरी ने कॉलरिज और आर्नल्ड के साथ उनकी तुलना करते हुए लिखा है 'उनकी अभिव्यंजना-शक्ति दोनों से श्रेष्ठ है। साहित्यिक मूल्यांकन की क्षमता उनमें दोनों के बराबर ही है']

×

×

×

शैली

यहाँ मैं ललित कला की दृष्टि से साहित्य के कतिपय गुणों को निर्देशित करना चाहता हूँ। यदि ये गुण तथ्यात्मक साहित्य में मिलते हैं, तो निश्चय ही वे उस साहित्य से संपृक्त हैं जहाँ तथ्य का कल्पनात्मक प्रयोग होता है। साहित्य

में, जैसे कि मानवीय कौशल के अन्य किसी उत्पाद्य में—उदाहरण के लिए घण्टे अथवा तश्तरी का रूप देने की प्रक्रिया में—जहाँ भी तथ्य का कल्पनात्मक प्रयोग मिलता है, जहाँ भी प्रणेता अपनी वस्तु में इस प्रकार रूपान्तर करता है कि उससे कृति के प्राथमिक उपयोग अथवा उद्देश्य से परे आनन्द का बोध हो, वहाँ 'ललित कला' का—जो कोरी उपयोगी कला से भिन्न है—अस्तित्व होता है। यह आनन्द निःसन्देह सर्वप्रथम प्रणेता के लिए होता है। अन्य कलाओं की भाँति जो तथ्य—रूप, रंग, अथवा घटना—की किसी-न-किसी प्रकार अनुकृति या पुनरावृत्ति होती है, साहित्यिक कला ऐसे तथ्य का प्रतिनिधान करती है जो आत्मा से सम्बद्ध है, ऐसे विशिष्ट व्यक्तित्व का अभिव्यंजन जो अपनी राग-रुचि, इच्छा, संकल्प में निष्ठ है।

यह हुई कल्पनात्मक अथवा कलात्मक साहित्य की आघेय वस्तु—यह तथ्य मात्र का प्रतिलेख नहीं, यह उस तथ्य का प्रतिलेख है जो अनन्त वैविध्य में समाहित है, जो मानव की अभिरुचि से अनन्त रूपों में संपरिवर्तित होता है। साहित्यिक कला श्रेष्ठ इसलिए नहीं होती कि वह दीप्तियुक्त अथवा गम्भीर, समृद्ध, अथवा आवेगपूर्ण, अथवा परुष है, किन्तु इसलिए कि वह इस कल्पनात्मक भाव की, इस आत्म-तथ्य की व्यंजना करती है। यह व्यंजना जितनी सच्ची होगी, कला उतनी ही श्रेष्ठ होगी। पद्य ऐसे साहित्य का केवल एक अंग है। कल्पनात्मक गद्य आधुनिक जगत की एक विशिष्ट कला है। इसकी विशिष्टता एवं उपयुक्तता दो मुख्य कारणों से है। पहला कारण है युग की अभिरुचियों में अव्यवस्थित वैविध्य और जटिलता, जिसके परिणामस्वरूप आधुनिक काल के बौद्धिक प्रश्नों और यथार्थतः प्रमुख विचार-धाराओं को सम्यक् रूप से नहीं आँका जा सकता। इससे मन की एक ऐसी अवस्था व्यक्त होती है जिसमें उस नियमन का अभाव होता है जो कविता के लिए उपयुक्त है—इस आत्म-नियमन के अभाव के कारण उन्नीसवीं शताब्दी की अधिकांश कविता उच्छृङ्खल है। गद्य की विशिष्टता का दूसरा कारण है सर्वव्यापी प्रकृतवाद—एक ऐसी जिज्ञासा जो वस्तु को उसके यथार्थ रूप में देखना चाहती है। इस प्रकृतवाद में मनोवृत्ति की एक ऐसी दीनता होती है जिसका अन्ततः साहित्य के कम महत्वाकांक्षी रूप से निकट सम्बन्ध होता है।

साहित्यिक कलाकार अनिवार्यतः पण्डित होता है, और जो-कुछ भी वह लिखता है उसका ध्यान सर्वप्रथम पण्डित और पण्डित की अन्तरात्मा पर स्थिर होता है। यहाँ पण्डित की अन्तरात्मा से पुरुष प्रवृत्ति का ही अभिप्राय लेना चाहिए, कारण शिक्षा की प्रणाली यथार्थ पाण्डित्य अभी भी अधिकांशतः पुरुषों

तक ही सीमित रखती है। वह अपनी आत्म-समीक्षा में सतत उस पाठक का अनुमान करता है जो सतर्क होकर, सावधानी के साथ, बिना उसकी परवाह किये, साहित्य का अध्ययन करता है। इसके विपरीत स्त्री की अन्तरात्मा साहित्य को अधिक सौजन्य, अधिक उत्फुल्ल भाव से ग्रहण करती है।

जिस शब्द-सामग्री के माध्यम से लेखक काम करता है, वह उसकी अपनी सृष्टि नहीं होती, जिस प्रकार संगमरमर मूर्तिकार की सृष्टि नहीं। भाषा असंख्य विभिन्न मस्तिष्कों और संघर्षरत वाणियों की उपज है, वह प्रच्छन्न एवं सूक्ष्म सम्बन्धों से संपृक्त होती है, उसके अपने प्रचुर और प्रायः गूढ़, नियम होते हैं। इन नियमों के सहज, सद्यः अभिज्ञान में ही पाण्डित्य है। जो लेखक विषय से समृद्ध होता है, और उसकी व्यंजना के लिए व्यग्र होता है वह इन नियमों, शब्द-विधान एवं वाक्य-विन्यास आदि की परिसीमाओं को बन्धन के रूप में देखता है, किन्तु सच्चा कलाकार उसमें अपनी अभिव्यक्ति का अवसर पाता है। वह अपने माध्यम की विशिष्टताओं को ईमानदारी से ग्रहण करता है, उसके नियमों का सतर्क पालन करता है। अतः वह जो कुछ लिखता है उसमें संवेदन-शीलता के व्यापक पुट और प्रयोगों का समन्वय रहता है। प्रकृति की मांग है निषेध, बहिष्कार। बेकन से हमें मालूम होता है कि प्रकृति के क्षेत्र में, उसके विधान में, इन बहिष्कारों का कितना अधिक महत्व है। बेकन की उक्ति में थोड़ा परिवर्तन कर हम कह सकते हैं कि एक विद्वान् की कला इसमें निहित है कि वह अपने माध्यम की प्रकृति के अनुरूप बहिष्कार-नियम का पालन करे। वह उस वातावरण के मूल्य के प्रति सजग रहता है जिसमें प्रत्येक शब्द अभिव्यक्ति का उत्कर्ष पाता है, और एक शब्द-प्रेमी की सम्पूर्णा ईर्ष्या के साथ वह उन लोगों की उस सतत प्रवृत्ति का विरोध करता है जो भाषा की बारीकियों को विनष्ट करने में दत्तचित्त हैं, जिनका निर्बाध कृतित्व सामान्य स्तर के साहित्य को पुष्टि देता है। सच्चा साहित्यिक केवल नियमों के दायित्व को ही नहीं समझता किन्तु अपनी भाषा के उन सम्बन्धों, निराकरणों, अभिरुचियों के दायित्व को भी समझता है जो साहित्यिक इतिहास से सम्बद्ध होने के कारण भाषा की प्रकृति के अंग हो जाते हैं। वह भाषा के उस निर्देशन को समझता है जिसके अनुसार बहुत-से नये शब्दों अथवा शब्दों के नये अर्थों, कई स्वेच्छाचारी प्रयोगों, बहुत से धूमते-फिरते अटनशील पदोच्चय जिनमें वस्तुतः अभिव्यंजना की शक्ति रहती है, अग्राह्य स्थिर कर दिये जाते हैं। फिर वह उस विद्वान् के प्रति अपील करता है जिसका साहित्य के क्षेत्र में गहन अनुभव है, जो त्वरा-साधनों, धिसे-पिटे दृष्टान्तों, अथवा अनधीत लोगों के सामने विद्वत्ता का दिखावा करने में विश्वास

नहीं रखता। अतः उसमें एक निग्रह, एक आत्म-नियन्त्रण एवं परित्याग की प्रवृत्ति मिलती है, जो संवेदनशील पाठक की सूक्ष्म विचारणा के लिए चुनौती का कार्य करती है। सूक्ष्म-से-सूक्ष्म विवरण में लेखक का मनोयोग इस बात का प्रमाण है कि कृति पाठक के ध्यान देने योग्य भी है, चूँकि लेखक अपने माध्यम के प्रति ईमानदार है। जिस यन्त्र का वह प्रयोग करता है उसके विज्ञान को वह समझता है, और इसलिए उसके प्रयोग में कदाचित् वही स्वतन्त्रता होती है जो ऐसी अवस्था में एक निष्णात यन्त्रविद् में मिलती है।

इन नियन्त्रणों से शक्ति ग्रहण कर लेखक वस्तुतः अपने शब्द-भंडार के निर्माण में अपनी स्वतंत्रता का प्रतिपादन करता है, वह रचना का एक संपूर्ण विधान प्रस्तुत करता है, वही उसकी वास्तविक पद्धति है। जब हम एक सच्चे कलाकार की पद्धति का उल्लेख करते हैं तो हमारा अभिप्राय उसी से है जो उसकी कला का सार है। पांडित्य-प्रदर्शन एक विद्वान् की विद्वत्ता है, किंतु यह कलाकार दिखावा नहीं करता। जिस स्वतंत्रता के साथ वह भाषा का प्रयोग करता है, उसमें योग देता है अथवा विस्तार लाता है, उससे बस यही प्रकट होता है कि वह भाषा के नियमों को जानता है। उसका यह स्वतंत्र प्रयोग कुलीन व्यक्ति के सहज आचरण की तरह उसकी सुरुचि ही प्रदर्शित करता है—उपयुक्त शब्द-भंडार। अनुवादक, जो अधिकतर शब्द की खोज में तथा शब्द-संगठन में लगे रहते हैं, अभी अनिवार्यतः यह नहीं ग्रहण कर पाए हैं कि अनुवाद-कार्य में यह शब्द-भंडार कितना महत्वपूर्ण होता है। यदि मूल कृति प्रथम कोटि की है तो प्रथम आवश्यकता है उसके मूल अवयवों पर ध्यान देना। उदाहरण के लिए प्लेटो का अनुवाद प्रायः शब्द-प्रति-शब्द किया जा सकता है, वाक्य-विन्यास में परिवर्तन आवश्यक नहीं। जिस प्रकार एक रेखा-चित्र पर पतला कागज रखकर पेंसिल से उसकी प्रतिलिपि तैयार की जा सकती है, उसी प्रकार वहाँ मूल कृति का अनुवाद संभव है। आवश्यकता इसी बात की है कि प्रत्येक शब्द अथवा मात्रा का 'रंग' सच्चा हो।

अस्तु ! कोई भी लेखक जो तनिक भी अनुवाद के योग्य है, अपने शब्दों का सम्यक् अन्वेषण और चयन करता है, वह इस सम्बन्ध में सचेष्ट रहता है कि उसे किन शब्दों को ग्रहण करना है, और इससे भी अधिक सजग इस सम्बन्ध में कि उसे किन शब्दों का ग्रहण नहीं करना। संसार के प्रति उसका जो विशिष्ट भाव है, इस प्रक्रिया में वह सदैव उसकी दृष्टि में रहता है। इस भाव की सम्यक् अभिव्यक्ति के लिए वह जिस माध्यम की खोज में रहता है, उसके फलस्वरूप वह एक ऐसे शब्द-भंडार का निर्माण करता है जो उसकी आत्मा के

अनुरूप, एवं सर्वथा मौलिक है। भाषा को जिस प्राणवान् सत्ता की आवश्यकता होती है, वह सच पूछा जाय तो उसके पंडितों में विद्यमान होती है। वे सदैव इस बात को जानते हैं कि प्रत्येक भाषा की अपनी प्रकृति होती है। वे भाषा की दुस्तोष प्रकृति को जानते हैं, और सदैव उसके तत्त्वों में विस्तार और शोध संस्कार लाते रहते हैं, कारण जीवित मनुष्यों के विचारों में जिस प्रकार परिवर्तन आता रहता है, उसी प्रकार भाषा में परिवर्तन भी अपेक्षित है।

अच्छी शैली के लिए प्रमुख उद्दीपन यह है कि प्रतिपाद्य विषय की सामग्री पूर्ण, समृद्ध और जटिल हो। अतः साहित्यिक कलाकार भौतिक विज्ञान से भली भाँति परिचित होगा और विज्ञान को भी एक सच्चा साहित्यिक आदर्श प्राप्त होगा। और फिर एक विद्वान् में इतिहास-चेतना का होना भी अत्यावश्यक है, जो शब्द सर्वथा अप्रचलित हो गए हैं या सचमुच घिस-पिट गए हैं, उनके स्थान पर वह उन शब्दों की सूक्ष्मताओं को उभारेगा जो अभी भी प्रचलन में हैं।

विद्वान्—जनता के लिए लिखने वाला विद्वान्—लेखक पाठक की जिज्ञासु बुद्धि के लिए भी कुछ गुंजाइश रहने देता है। मानटेन^{१६८} कहता है कि उसे इस बात से घृणा है कि जो राहगीर पहले मिल गया उसे उपदेश देना, उसके अज्ञान को दूर करना गुरुकर दिया जाय। यह स्थिति सचमुच विद्वान् के स्वभाव के लिए कष्टप्रद होती है, पाठक की बुद्धि को अयाचित सहायता देते वह भिन्नता है, लजाता है। जिन पाठकों में यथार्थतः लगन होती है, उन्हें सतत प्रयत्न की चुनौती में सुखद उत्तेजना मिलती है, उनका पारितोषिक होता है लेखक के भाव की अधिक मजबूत पकड़, उसका अधिक अंतरंग ज्ञान। आत्म-नियंत्रण, अपने साधनों में कुशल मितव्ययिता, निग्रह—इनका भी अपना सौन्दर्य है, और पाठक के लिए सौन्दर्यात्मक परितोष होगा शैली के उस कसाव में जहाँ प्रत्येक शब्द अपनी पूर्ण शक्ति के साथ संयोजित है। प्रत्येक वाक्य से वह एक उपयुक्त अनुतोष ग्रहण करेगा—वहाँ शब्द और विचार में सामंजस्य है, उनकी एक तर्कयुक्त शृंखला है, प्रत्येक कड़ी से वही आनन्द मिलता है जो कठिनाइयों पर विजय पाने में निहित रहता है।

शिलर का कथन है कि कलाकार की परख इससे हो सकती है कि वह अपनी रचना में कितना अनकहा छोड़ देता है, और साहित्य में भी सच्चे कलाकार को उसकी बहिष्कार-कुशलता से जाना जा सकता है। गंभीर पाठक के लिए शब्द भी गंभीर होते हैं, आलंकारिक शब्द, आभूषण, सहायक रूप, रंग अथवा प्रसंग ठीक समय पर विचार में पर्यवसित नहीं हो जाते, किन्तु

अनिवार्यतः कुछ समय तक उनकी स्थिति बनी रहती है—वे अपने पीछे एक ऐसी दीर्घ विचार-तरंग छोड़ जाते हैं जिनके परस्पर-सम्बन्ध स्वजातीय नहीं होते ।

विद्वान् के जिस मनोयोग का मैं समर्थन-स्तवन कर रहा हूँ उसकी हानिकारक प्रवृत्ति भी संभवतः इसी स्थान पर प्रकट होने लगती है । किन्तु एक सच्चा कलाकार उससे हतप्रभ नहीं होता । उसे स्मरण रहता है कि अलंकार शब्द ही उस वस्तु का द्योतक है जो आवश्यक नहीं, साहित्यिक शैली का 'सौन्दर्य' उसका अपना सार तत्त्व है जो गद्य और पद्य दोनों में एक समान परिहार्य अलंकरण से मुक्त होता है । वह अपनी पूर्ण कांति के साथ उस कृति में भी स्थित होता है जहाँ किसी प्रकार की सजावट नहीं होती—उदाहरण के लिए प्लावेयर की 'मदाम बोवरी'—जहाँ दृश्यमान सौन्दर्य का एक भी संकेत नहीं मिलता । समानान्तर संकेत, प्रसंग, प्रसंगजटित पद्धति, अलंकार—वह जानता है कि पाठक का असावधान मस्तिष्क किसी भी विषयांतर का, विचरणाशील आगंतुक का स्वागत करता है, क्योंकि वह स्वयं साम्प्रतिक विषय से हटकर उसके साथ विचरण कर सकता है ।

जो बात बाह्य अलंकार, सज-सजावट पर घटित होती है, वही साहित्य के उन सभी अलंकारों पर जो या तो प्रासंगिक हैं अथवा जिन्हें रचना से पृथक् किया जा सकता है । यहाँ मैं केवल कुछ विशिष्ट अलंकारों की ही बात नहीं करता, बल्कि उस सारे अन्तर्हित रंग और विव-विधान की बात कर रहा हूँ जो भाषा में अविच्छिन्न रूप से रहता है । जो लेखक शब्दों से शब्दों की खातिर प्रेम करता है और जिसकी दृष्टि में उनको लेकर कुछ भी महत्वहीन नहीं, वह उनकी रूपाकृति का सतत और सूक्ष्म निरीक्षण करता है, वह केवल उन रूपकों के प्रति ही सजग नहीं रहता जो स्पष्टतः अव्यवस्थित और परस्पर-मिश्रित हैं, किन्तु उन के प्रति भी जो हमारी बोलचाल में घुलमिल गए हैं और जिनका साधारणतः विशिष्ट रूप में ज्ञान नहीं हो पाता । सम्प्रति वह शब्दों में व्याप्त घटना, रंग, भौतिक तत्त्व अथवा परमाणु को पहचानता है और उनसे लाभ उठाता है, अभिव्यंजना को समृद्ध बनाता है । चित्र के हल्के-गहरे रूप-रंग और प्रकाश की तरह वह अपने ज्ञान के बल पर पूर्ण साक्षात्कार करके भाषा के अणु-परमाणु को सर्वांगतः हृदयंगम कर लेता है । जो लेखक अपने असावधान प्रयोग के द्वारा भाषा का सतत अधःपतन करते हैं, वह उनका सदैव विरोध करता है, वह रंगीन शीशे को उज्ज्वल मानकर प्रयोग नहीं करता । जहाँ आधी दुनिया अलंकार का अनजाने प्रयोग करती है, वहाँ वह उन्हें अच्छी तरह पहचानता है ।

उसे न केवल वारणी में छिपे झिलमिल अलंकार-विधान का ही ज्ञान होता है, बल्कि वह उस अस्पष्ट, सुस्त, अधिकचरे मानवीकरण का मूल्य भी जानता है, जो एक ऐसा गया-बीता, अवसादजनक अलंकार है जिसमें वस्तुतः कोई आलंकारिक हेतु नहीं होता। इनके अतिरिक्त वह अधिक गर्वीले, आडम्बरपूर्ण अलंकारों की शक्ति-सीमा भी जानता है, और अत्यंत ईमानदारी के साथ उनकी एक-एक मात्रा से यथार्थ मूल्य वसूल करता है।

अब तक साहित्यिक कला की जिन स्थितियों की मैं चर्चा कर रहा था वे उस माध्यम अथवा वस्तु से निःसृत होती हैं जिनके आधार पर कला अपना काम करती है। भाषा के मूल गुण और उसकी प्रासंगिक अलंकार-प्रवणता का भी हमने उल्लेख किया। ये ऐसे विषय हैं जो पांडित्य को या तो विज्ञान, या सुरुचि के रूप में देखते हैं। ये दोनों अच्छी शैली के एक अन्य अधिक अन्तरंग गुण से गौण हैं—यह गुण अधिक अन्तरंग इसलिए है कि वह स्वयं कलाकार के अधिक निकट है। सच्चा साहित्यिक कलाकार मन्द, विमूढ़, आतिशय्य अथवा अलंकार को घृणा की दृष्टि से देखता है। अन्य कलाओं की तरह साहित्य में भी संघटन का सर्वाधिक महत्व होता है। संघटन का अस्तित्व कृति को मूल्यवान बनाता है, अतः उसका अभाव बुरी तरह खलता है। यह संघटन कृति की वास्तुपरक अवधारणाएँ हैं, वह इति को आरम्भ में ही पूर्व-लक्षित कर लेता है और फिर उसे दृष्टि से ओझल नहीं होने देता, प्रत्येक अवयव में वह शेष अवयवों के प्रति जागरूक होता है। उस समय तक जब तक कि अन्तिम वाक्य उसी अक्षय उत्साह के साथ, प्रथम वाक्य का समर्थन और औचित्य साधन न करे। यह साहित्यिक कला की एक ऐसी शर्त है जिसे मैं शैली में मनस् तत्त्व की आवश्यकता कहकर अभिहित करूँगा। इसके विपरीत कलाकार में एक दूसरा गुण भी होता है जिसके सम्बन्ध में आगे चर्चा की जाएगी।

जहाँ प्रत्येक पदोच्चय, वाक्य, संघटन का अंग, समग्र रचना, गीत अथवा निबन्ध में अन्विति तथा विषय की एकता होती है, जहाँ शैली उन्हें इस एकता की ओर प्रेरित करती है, वहाँ वह (शैली) ठीक दिशा में निर्दिष्ट होती है। सब कुछ आरम्भिक अनुभूति अथवा दृष्टि की इस मूल एकता, इस प्राणमय समग्रता एवं तद्गुणता पर निर्भर है। यह बात सभी कलाओं पर लागू होती है, अतः उनमें अपना तर्क, अपना व्यापक विवेक, सारी क्रिया में अन्तर्दृष्टि, दूरदृष्टि, पर्यवेक्षण सदैव अपेक्षित हैं। जो बात अन्य कलाओं पर लागू होती है, वह साहित्यिक कला पर और भी अधिक घटित होती है, कारण अन्य

कलाओं की अपेक्षा वह सूक्ष्म बुद्धि के अधिक निकट होती है। इस तर्कपूर्ण संगति को न केवल सम्पूर्ण रचना की पंक्तियों में ही देखा जा सकता है, किन्तु वह शब्द के चयन में भी देखी जा सकती है—वाक्य की गठन में, अथवा सम्पूर्ण संघटन के अंग-विशेष की योजना में, उसके विचारात्मक, वर्णनात्मक अथवा तर्कात्मक रूप में, अथवा अन्य किसी पद्धति-नियोजन में, व्यवधान उपस्थित करने की अपेक्षा वह विविधता ही उपस्थित करती है। एक वाक्य आता है जो गूढ़ और विवादयुक्त है, उसमें विजय का दर्प है, उसका अनुगमन करता हुआ दूसरा वाक्य आता है जिसमें हल्का उल्लास और कसाव है, बच्चे की माँग की अभिव्यक्ति की तरह सुनिश्चित। फिर एक ऐसा वाक्य हो सकता है जिसमें एक उच्चाहृत विषय को सीमित परिधि में बाँधने के लिए बहुत प्रयत्न, बहुत समंजन मिलता है, उस वाक्य की गम्भीरता को विराम देता हुआ फिर एक ऐसा वाक्य आता है जो प्रत्येक शब्द की ईसानदारी को लेकर प्रकट हुआ है। साहित्य की स्थापत्य-कला यदि सम्पन्न और व्यंजनापूर्ण होती है तो उसमें केवल अन्त को आदि में देखने की पूर्वदृष्टि ही नहीं होती, किन्तु रचना-तन्त्र का वह विकास भी होता है, जो संघटन की प्रक्रिया में निहित है और जिसमें कितनी ही अनियमितताएँ, विलक्षणताएँ और पश्चाद्वर्ती विचार होते हैं। वहाँ प्रासंगिक और आवश्यक दोनों कृति की समग्र एकता में अन्तर्भूत हो जाते हैं। जहाँ यह स्थापत्य-संघटन है, वहाँ प्रत्येक बिम्ब—लगभग चाक्षुस बिम्ब—प्रत्येक कृति का, जटिल-से-जटिल कृति का भी, सशक्त रूप-निर्माण करता है। भले ही यह कृति गम्भीर, अलंकृत, विवादात्मक अथवा कल्पनात्मक हो, किन्तु वह आदि से अन्त तक उस अन्तर्दृष्टि के प्रति ईमानदार होगी। इस संघटन के अभाव में शब्द, पदोच्चय, उद्देश्य, अथवा सम्पूर्ण विषय के किसी भी अवयव में त्रुटि आ जाती है, चेतन या अचेतन पुनरावृत्ति का दोष आ जाता है, जो यह सूचित करता है कि मन में जिस मूल संघटन की कल्पना की गई थी उसमें आन्तरिक अपूर्णता है, उसके अवयव परस्पर-संश्लिष्ट नहीं। किन्तु जहाँ संघटन-सम्बन्धी दूरदृष्टि होती है वहाँ रचना तो मानो बाद में समाप्त होती है, उसका वास्तविक उपसंहार पहले ही प्रस्तुत हो जाता है। साहित्यिक कलाकार की दुनिया की पकड़ मजबूत और विशिष्ट होती है, जो उसकी रचना में एक सच्ची संगति लाती है; न कि शिथिल संकलन। इस दृढ़ चेतना के साथ, मैं समझता हूँ, वह सावधान होकर आगे बढ़ता है—अपनी प्रथम रूपरेखा की असावधानियों को दूर करता हुआ, रचनात्मक लगन से, जो अभी भी पद-पद पर उसे नियन्त्रित रखती है, बल ग्रहण करता हुआ, वह एक-

एक संधि को जोड़ता हुआ चलता है। वह यदि कोई पुनरावृत्ति करता है तो इसलिए कि पाठक को अपनी निश्चित और निश्चित प्रगति का भाव-बोध करा सके, स्वर-साम्य में भी वह संयोजन इसलिए लाता है कि पाठक को शान्ति मिले, अथवा कम-से-कम उसके मार्ग में कोई व्यवधान उपस्थित न हो। और तब, समाप्ति से पूर्व कहीं किसी बिन्दु पर, वह अपने उपसंहार के भार से दब उठता है, प्रेरित हो उठता है, और यथासमय उस भार से मुक्त हो जाता है—यह मुक्ति वह इसलिए नहीं अर्जित करता कि अपने आपको रचना के अन्त पर पाता है, मानो उपसंहार अनिवार्य हो उठा हो; उसमें संकल्प की ताजगी अन्त तक बनी रहती है। उसकी कृति अब संघटन की दृष्टि से पूर्ण है, अर्थ के गौण स्पर्शों के संगृहीत प्रभाव से वह युक्त है, पूर्वलक्षित, निकटवर्ती अन्त के अनुपात में वह अपनी कृति को समाप्त करता है, और समग्र रचना व्यंजना से पूर्ण हो जाती है। जिस भवन का उसने निर्माण किया है, वह मानो एक शरीर है जिसमें उसने प्राण डाले हैं। यह देखने में आता है कि जब कृति द्वारा पढ़ी जाती है, भले ही वह कोई वर्णन हो अथवा कहानी, तो उसमें प्रायः अधिक दिलचस्पी होती है—इससे रचना की श्रेष्ठता ही सिद्ध होती है। और यद्यपि महान् लेखकों के हमारे पास उदाहरण हैं जो कलाकार नहीं थे, जिनकी कृति को निर्देशन देता हुआ एक ऐसा कौशल दिखाई पड़ेगा जिसमें चेतन कला के कई प्रभाव लक्षित कर हम खुश होंगे, तथापि वस्तुतः श्रेष्ठ गद्य-साहित्य का एक सबसे बड़ा गुण यह है कि वहाँ हम एक चेतन कलात्मक संघटन सर्वत्र व्याप्त पाते हैं, जब हम सजग हो उसे कृति में खोजते हैं और पाते हैं तो एक महत् आनन्द मिलता है। यह कविता के सम्बन्ध में भी सत्य है, कारण यहाँ जिस रचनात्मक बुद्धि के अस्तित्व का हम अनुमान करते हैं वह कल्पना का ही एक रूप होता है।

शैली में मनस् का यही विशिष्ट कार्य-व्यापार है। मनस् और आत्म—दर्शनशास्त्र की दृष्टि से इनमें विभेद करना कठिन है; किन्तु व्यवहार में इनका अन्तर स्पष्ट है, कारण वे प्रायः एक-दूसरे का रास्ता काटते हुए, एक-दूसरे का कभी-कभी विरोध करते हुए दिखाई पड़ते हैं। पिछली शताब्दी में ब्लेक का उदाहरण हमारे सामने है जिसमें आत्म-तत्त्व की प्रबलता है : प्रबल मनस्-तत्त्व के युग में प्रबल आत्म-तत्त्व-सम्पन्न ब्लेक उद्विग्न, व्यग्र दिखाई पड़ता है। कुछ लेखकों के अन्दर प्रत्येक दशा में, शैली के गुण के रूप में, आत्म-तत्त्व तथ्य होता है—उनके अन्दर जो आत्म-तत्त्व है उसका अन्तर्भाव वे भाषा में करते हैं, भाषा को उस ओर आकर्षित कर वे उसे उसमें तल्लीन करते हैं—

यह सब इतने सूक्ष्म रूप में होता है कि यथार्थ परिणाम एक अनिर्वचनीय प्रेरणा-सा प्रतीत होता है। मनस् साहित्यिक कलाकार को हम तक पहुँचाता है—रचना-विधान के उन निश्चल एवं वस्तुनिष्ठ संकेतों द्वारा जो सबके लिए स्पष्ट हैं। आत्म उसे हम तक पहुँचाता है, विचरणाशील समवेदना एवं एक प्रकार के प्रत्यक्ष संपर्क द्वारा—कलाकार की यह पहुँच शायद कुछ मन की तरंग पर आश्रित होती है और यह आवश्यक नहीं कि वह सब तक हो। जहाँ हम मनस् का अभिज्ञान करते हैं, वहाँ उसका अनुमोदन करना ही पड़ता है, किन्तु आत्म से हमें विकर्षण भी हो सकता है, इसलिए नहीं कि उसे हम गलत समझते हैं। जिस रीति से धर्म-शास्त्रीय विषय भाषा का कभी-कभी प्रयोग करते हैं, वह उस शक्ति का शायद सबसे अच्छा उदाहरण है जिसे मैं साहित्य में सामान्यतः आत्म शब्द से व्यक्त करना चाहता हूँ। भाषा में तदनुरूप ऊष्मा लाए बिना भी प्रबल धार्मिक मत अपना अस्तित्व रख सकता है, और आगे बढ़ सकता है, अथवा वह विभिन्न मात्रा में शब्दों को अर्थगर्भित बना सकता है और जब सचमुच वह उन्हें अभिभूत कर लेता है तब उसकी शक्ति द्विगुणित हो उठती है।

असंख्य शब्दों के बीच एक वस्तु को, एक विचार को व्यक्त करने के लिए एक ही शब्द होता है—अन्य शब्दों से काम चल सकता है, पर उपयुक्त शब्द एक ही होता है। शैली की समस्या यही है—मानसिक उपस्थापना अथवा अन्तर्ज्ञान की अभिव्यक्ति के सर्वथा उपयुक्त जो अद्वितीय शब्द, पदोच्चय, वाक्य, प्रकरण, निबन्ध अथवा गीत है उसकी साधना। शैली का प्रासंगिक और बाह्य सौन्दर्य हमें आनन्द दे सकता है, किन्तु शैली का अस्तित्व उसके बिना भी हो सकता है, वह बाह्य उपकरणों से स्वतन्त्र होती है, फिर भी उनका कुशल प्रयोग करती है। श्रेष्ठ रचना में वह सर्वव्यापी होती है, एक विशेषण से लेकर सम्पूर्ण पुस्तक की लय तक हर बिन्दु में उसकी गति होती है। अनावश्यक उपकरणों के परे जहाँ यह अखण्ड संगति है, वहीं साहित्य का विशिष्ट, अनिवार्य, अत्यंत बौद्धिक सौन्दर्य है—इसी सौन्दर्य की सम्भावना साहित्य को ललित कला बनाती है।

जो मस्तिष्क 'रूप-विधान' के प्रति संवेदनशील होता है, उसमें बाह्य जगत् से, बिना किसी व्यवस्था के, ध्वनियों, रंगों, घटनाओं का अनवरत प्रवाह बना रहता है। मनस् उस राशि-प्रवाह में से सहानुभूतिपूर्वक चयन करता है और उसे अपने संघटन का अंग बना लेता है। जिस बाह्य जगत् का मनस ने प्रत्यक्षीकरण किया है, यह राशि उसका प्रत्यक्ष रूप-परिधान और

अभिव्यक्ति होती है। मनस् के साथ उसका आशिक सामंजस्य हो चुका होता है, फिर भी शत-शत बिन्दुओं पर वह परिष्कार, विस्तार, शोध-संस्कार ग्रहण करती है। यहीं, इन्हीं संशयपूर्ण बिन्दुओं पर, शैली का कार्य कौशल अथवा सुरुचि के रूप में प्रकट होता है। यह अप्रतिम शब्द एक व्यक्ति को शीघ्र सूझता है, दूसरे को देर से, एक बार वह अनायास मिल जाता है, दूसरी बार बहुत प्रयत्न के बाद—निःसन्देह विषय-वस्तु की प्रकृति के अनुसार भी वह शब्द जल्दी अथवा देर से सूझता है। त्वरित अथवा मंद गति का, सहजता अथवा प्रयास का, यथार्थ शब्द की कलात्मक प्रकृति से कोई सम्बन्ध नहीं होता। जिस प्रकार सहजता में अपना आकर्षण है, उसी प्रकार अध्यवसाय, प्रयास, अन्वेषण में भी अपना विशिष्ट आकर्षण होता है—वे सब शैली के निर्दिष्ट लक्ष्य की ओर गतिशील होते हैं, और शैली वहाँ, उस अनस्य टिकाऊ धातु की तरह किसी क्लिष्ट विचार में अन्तर्हित जटिलताओं एवं गूढ़ताओं के सामने, विनत हो जाती है।

अस्तु, उच्च-से-उच्च तथा निम्न-से-निम्न साहित्य का एक अनिवार्य सौन्दर्य सत्य है : निम्न साहित्य में यह सत्य तथ्य की सच्चाई है, उच्च साहित्य में यह उस सामान्य सच्चाई से कुछ विशिष्ट सत्य है। एक अवस्था में वह तथ्य की यथावत् सच्चाई है, दूसरे में वह एक अभिव्यक्ति है—सत्य का सबसे सुन्दर एवं अंतरंग रूप। इस सिद्धान्त का एक निश्चित उद्देश्य है—अभिव्यक्ति का भाव के साथ पूर्ण सामंजस्य। और सचमुच इस सिद्धान्त में चयन की, ग्रहण की अपूर्व क्षमता है, अन्य साहित्यिक सुन्दरताओं और गुणों को वह इसी उद्देश्य के निमित्त उपयोग करता है। शैली के विविध प्रकारों को वह अपनी परिवृत्ति में लाता है, उनकी व्याख्या करता है, उन्हें न्याय-संगत ठहराता है, और साथ-ही-साथ उनकी सुरक्षा करता है। स्काट^{१७६} की सहजता, फ़्लावेयर^{१७०} का प्रत्येक पदोच्चय के लिए अध्यवसाय, दोनों अच्छी कला हैं। जो आपको कहना है, जिसके लिए आप में संकल्प है, उसे अत्यन्त सरल, एकदम सीधे और यथातथ्य रीति से, बिना अनावश्यक उपकरणों के, कहिए—सुरुप वाक्य की यही न्याय-संगति है, वह 'सम्पूर्ण', समरस और अखण्ड है, उसे विराम-चिह्नों की आवश्यकता नहीं, और यदि उसका विस्तार उचित है तो उसके विशद वाक्य-खण्ड भी यथावत् हैं (यह महत्वपूर्ण है।) अलंकार का स्थान यहीं है, और यहीं अलंकार में संयम की सार्थकता है। सत्य के प्रतिष्ठापक के रूप में आत्म-संयम (साहित्य में जिसके सौन्दर्य और कार्य से फ़्लावेयर भली भाँति अवगत था) निरे पण्डित की मनोवृत्ति या शुद्धिवाद नहीं है, वह मंदता के

विरुद्ध एक प्रतिभूति है। जीवन में उल्लास और भावाभिव्यक्ति में ओज की साधना में जिससे भोग नहीं मिलता उसे यह स्पर्द्धापूर्वक बहिष्कृत कर देता है, लेखक कभी-कभी नियम का अतिक्रमण करता है। यदि वह स्वच्छन्दता सचमुच प्रतिभा का स्वभाव है, जैसा कि लोग मानते हैं, और यदि यह उन सबका परित्याग अथवा रूपांतर करती है जो रचना-कार्य की स्वतन्त्रता में अवरोध डालते हैं, तो निश्चय ही वह लेखक की अपने अभिप्राय के प्रति निष्ठा होगी।

सुप्रसिद्ध उक्ति के अनुसार 'शैली व्यक्ति है', यह उस व्यक्ति की अभिव्यक्ति है जिसका व्यक्तित्व, जिसका विषय-सम्बन्धी ज्ञान, जिसकी संसार-विषयक धारणा, जटिल अथवा सरल है। शैली के सम्बन्ध में जो सावधानियाँ बरतनी पड़ती हैं वह इस कारण कि माध्यम के सम्बन्ध में कुछ स्वाभाविक संशय हो सकते हैं, वह माध्यम जिसका द्वारा लेखक अपनी अनुभूति, दृश्य जगत् के प्रति अपना भाव, व्यक्त करता है, जिसकी विशुद्धता पर वह बल देता है, जिसके नियमों का वह पालन करता है और कभी उनका अतिक्रमण भी करता है। वहाँ ऐसा कोई भी उपकरण नहीं होता जो अभीष्ट वस्तु-सामग्री के अतिरिक्त और कुछ व्यक्त करे। शैली के विविध प्रकार—भले ही वे निग्रहात्मक, उन्मुक्त, समस्त, सम्पन्न, संगीतपूर्ण, उद्दीपक, अथवा शास्त्रीय हों—जब अपनी विशिष्टता और अभिव्यंजना-शक्ति को लिये हुए होते हैं, तभी शैली सार्थक होती है।

आप शायद कहेंगे कि यह तो शैली को आत्मपरक, व्यक्ति के मन की तरंग के साथ संश्लिष्ट करना हुआ; इस प्रकार तो शैली शीघ्र ही एक ढर्रा बन जायगी। किन्तु आपका अनुमान ठीक नहीं, कारण जिन अवस्थाओं की हमने कल्पना की है उनमें मनुष्य के प्रत्येक भाव के लिए, उसके अन्तर्ज्ञान की प्रत्येक रेखा के लिए, एक ही ग्राह्य शब्द होता है। जो व्यक्ति संवेदनशील होते हैं, अथवा जिनकी इस विषय में कुछ भी गति होती है, वे जानते हैं कि मनुष्य की भाषा के नाजुक और बदलते हुए क्षेत्र में यह शब्द अनिवार्यतः एक ही होता है। शैली व्यक्ति है, किन्तु वह व्यक्ति नहीं जिसके मन की तरंग मनमानी और अतर्कित, असहज और कृत्रिम है, किन्तु वह व्यक्ति जिसकी अनुभूति उस वस्तु के सम्बन्ध में पूर्णतः ईमानदारी की है जो उसके लिए सबसे बड़ा यथार्थ है।

संगीत और गद्य-साहित्य एक दृष्टि से कला के परस्पर-विरोधी शब्द हैं। साहित्य की कला अपने विषय को बुद्धि के माध्यम से कल्पना तक पहुँचाती है, इस विषय में उतनी ही स्वतन्त्रता और विविधता होती है जितनी उस विषय में जिसे संगीत इन्द्रिय के माध्यम से कल्पना तक पहुँचाता है। हमने

यहाँ जो कुछ कहा है उसका एक लक्ष्य निश्चय ही यह रहा है कि साहित्य भी उन अवस्थाओं का अनुवर्ती हो, जिनके साथ सामंजस्य पाने से संगीत को पूर्ण कला का आदर्श माना जाता है। यदि संगीत सचमुच कला का आदर्श है तो इसी कारण कि उसमें रूप-विधान का वस्तु अथवा सामग्री के साथ, विषय का अभिव्यक्ति के साथ, विभेद करना असम्भव है। साहित्य भी जब अपना विशिष्ट उत्कर्ष शब्द और भाव की पूर्ण अनुरूपता में प्राप्त करता है, तब वह अच्छी कला की माँग को, वस्तु की कलात्मक प्रकृति की माँग को ही सर्वत्र पूरा करता है।

यह कला अच्छी कला होगी, पर यह आवश्यक नहीं कि वह महान् कला भी हो, महान् कला और अच्छी कला में अन्तर सम्प्रति रूप-विधान पर नहीं, वस्तु पर निर्भर करता है—कम-से-कम साहित्य के क्षेत्र में तो यह सभी स्थितियों में सत्य है। कला की महानता इस पर निर्भर करती है कि वह जिस वस्तु को अनुप्राणित अथवा नियमित करती है वह किस कोटि की वस्तु है : उसकी विविधता, महत् उद्देश्यों से उसकी सन्धि, उसमें विद्रोह की गहराई अथवा आशा का सन्देश—ये सब उसकी महानता को निर्धारित करते हैं।

जिन अवस्थाओं में मैंने अच्छी कला की स्थिति मानी है उनमें यदि कला अवस्थित हो और फिर यदि उसे मानवता की कल्याण-साधना में, पीड़ित-दमित के परित्राण में, अथवा हमारी सहानुभूति के विस्तार में लगाया जाय, तो वह कला महान् होगी, अथवा यदि कला हमारे विषय में तथा हमारे और विश्व के सम्बन्धों के विषय में ऐसे नये या पुराने सत्य का उद्घाटन करे जिससे हमारे ऐहिक जीवन को शक्ति और उन्नयन मिले, अथवा दांते^{१७१} की तरह वह ईश्वर की महिमा को प्रकाशित करे, तो वह कला महान् होगी। कला के जिन गुणों को मैंने सार रूप में मनस् और आत्म द्वारा व्यक्त किया है, उस न्यायोचित संघटन एवं रंग और रहस्यमय गन्ध के परे यदि कला में मानव-जाति की आत्मा का कुछ भी अंश है, तो मानव-जीवन के विशाल प्रासाद में उसका तर्कसंगत और वास्तुविहित स्थान होगा। (‘ऐप्रिशिएन्स’ से)

अनुवादक : डॉ० मोहनलाल

ब्रैडले

(सन् १८५१-१९३५ ई०)

[ब्रैडले का जन्म चैल्टनहम में २६ मार्च, सन् १८५१ में हुआ था । १८६९ में वे वेलियल कॉलेज, ऑक्सफोर्ड में प्रविष्ट हुए । यहाँ उन्हें अपने घर के कठोर धार्मिक अनुशासन और वातावरण से मुक्ति मिली और वे साहित्य-साधना में तत्परता के साथ लग गए । मेज़िनी के सिद्धान्तों का उनके ऊपर बड़ा प्रभाव था । कुछ वर्षों के उपरान्त वे सर्वसम्मति से ऑक्सफोर्ड में प्रोफ़ेसर नियुक्त हो गये ।

आरम्भ में तो प्राध्यापक तथा चिन्तक के रूप में उन्हें विशेष सफलता नहीं प्राप्त हुई पर १९०४ में उनकी पुस्तक 'शेक्सपीरियन ट्रेज़ेडी' प्रकाशित हुई । इस कृति ने उन्हें अमर बना दिया । प्रस्तुत निबन्ध 'काव्य काव्य के लिये' उनका अत्यन्त प्रसिद्ध सैद्धान्तिक निबन्ध है ।

प्रथम विश्व-युद्ध का उनके मस्तिष्क पर बहुत विषम प्रभाव पड़ा । उनका मानसिक संतुलन बिगड़ गया, फलस्वरूप उनकी एकाग्र चिन्तन-शक्ति का ह्रास होने लगा और उसके बाद शनैः शनैः उनकी सम्पूर्ण जीवनशक्ति का ही ह्रास होता गया । वे जन्म भर अविवाहित रहे । उनकी देख-रेख का समस्त भार उनकी बहन पर था । २ सितम्बर १९३५ को ब्रैडले की मृत्यु हुई ।

ब्रैडले की आलोचना-पद्धति बड़ी विशद और अन्तःप्रवेशिनी है । उन्होंने शेक्सपियर के नाटकों की आत्मा में पँठकर उनके मर्म का उद्घाटन किया है—जिसके फलस्वरूप उनका ग्रन्थ शेक्सपियर के अध्ययन के लिए अमर आलोक-स्तम्भ बन गया है । काव्य-सम्प्रदाय की दृष्टि से वे पेटर, द्विसलर आदि के वर्ग के अन्तर्गत आते हैं जो कला का उद्देश्य कला को ही मानते हैं ।]

काव्य काव्य के लिए

‘काव्य काव्य के लिए’—ये शब्द प्रसिद्ध पदोच्चय ‘कला कला के लिए’ का स्मरण कराते हैं। यहाँ मेरा यह उद्देश्य नहीं है कि इस पदोच्चय के सम्भाव्य अर्थों अथवा इससे संपृक्त सभी प्रश्नों पर विचार करूँ। मैं तो संक्षेप में यही कहना चाहता हूँ कि ‘काव्य काव्य के लिए’ से मेरा क्या अभिप्राय है, और फिर इस सूत्र के सम्बन्ध में एक-दो भ्रातियों का निराकरण करते हुए मैं इस विषय से सम्बद्ध केवल एक समस्या पर अधिक विस्तारपूर्वक विचार करूँगा। इस सम्बन्ध में मैं कुछ व्याख्याएँ भी प्रस्तुत करूँगा, यद्यपि मेरा यह प्रयत्न नहीं होगा कि मैं उन्हें सत्य भी सिद्ध करूँ। हमें काव्य को उसके सार-रूप में; और उन दोषों से, जो बहुत-सी कविताओं में काव्यत्व के साथ विद्यमान रहते हैं, विमुक्त करके देखना है। काव्य की धारणा में हमें छन्द-विधान को भी अन्तर्हित मानना है, और उसे कोई संयोग अथवा वाहन मात्र नहीं मानना है। और अन्त में, जबकि काव्य कविता है, हमें कविता को उसी रूप में देखना है, जो उसकी वस्तु-स्थिति है, और यदि बहुत अधिक अन्वर्थता हमें अभिप्रेत न हो तो हम कह सकते हैं कि वस्तुतः कविता उन अनुभवों—ध्वनियों, बिम्बों, विचारों, भावों—का तारतम्य है जिनसे होकर हमें उस समय गुजरना पड़ता है जबकि किसी कविता को हम अधिक-से-अधिक काव्योचित रूप में पढ़ते हैं। यदि मैं एक पदोच्चय का उसकी संक्षिप्तता के कारण प्रयोग करूँ तो कह सकता हूँ कि यह कल्पनात्मक अनुभव वस्तुतः प्रत्येक पाठक एवं प्रत्येक पाठ के साथ भिन्न होता है : प्रत्येक कविता अनेक मात्रा-भेदों के साथ विद्यमान होती है। किन्तु यह दुनिवार तथ्य वस्तु की प्रकृति से संश्लिष्ट है, और यहाँ हमारा वह विवेच्य विषय नहीं।

अस्तु, इस अनुभव के सम्बन्ध में ‘काव्य काव्य के लिए’ सूत्र क्या कहता है ? जहाँ तक मैं समझता हूँ उससे निम्न बातें व्यक्त होती हैं : एक तो यह कि यह अनुभव स्वयं अपना साध्य है, वह अपने ही कारण ग्राह्य है, उसका अन्तरंग मूल्य है। दूसरे यह कि इसका काव्य-मूल्य यह अन्तरंग गुण ही है। संस्कृति अथवा धर्म का साधन होने के नाते काव्य का बहिरंग मूल्य भी हो सकता है, उससे शिक्षा मिलती है, वासनाओं का संस्कार होता है, किसी श्रेयस्कर प्रयोजन को प्रोत्साहन मिलता है, क्योंकि उससे कवि को यश, अर्थ या निर्विकार अन्तःकरण की उपलब्धि होती है। इन सबका महत्त्व है : इन कारणों से भी काव्य की प्रतिष्ठा होने दीजिए। किन्तु यह बहिरंग मूल्य काव्य-मूल्य नहीं है, और

न यह प्रत्यक्षतः उसका निर्धारण ही कर सकता है। काव्य-मूल्य तो परितोष-कारी कल्पनात्मक अनुभव है, और इसका मूल्यांकन पूर्णतः आभ्यन्तरिक ही हो सकता है। इन दो बातों के अतिरिक्त यह सूत्र एक तीसरी बात भी कहता है, यद्यपि वह आवश्यक नहीं। काव्य-मृजन की प्रक्रिया में कवि द्वारा अथवा अनुभव की प्रक्रिया में पाठक द्वारा वहिरंग मूल्यों की ओर ध्यान देने से काव्य-मूल्य के क्षय की आशंका रहती है। वहिरंग मूल्य काव्य को अपने वातावरण से दूर हटाकर काव्य की प्रकृति में ही परिवर्तन लाने की ओर उन्मुख होते हैं। काव्य की प्रकृति वस्तु-जगत (जैसा कि इस पदोच्चय से हम सामान्यतः समझते हैं) का अंश-रूप या उसकी प्रतिकृति होना नहीं है, वह तो अपने आप में एक निरपेक्ष, सम्पूर्ण एवं स्वायत्त जगत होता है। इस जगत पर प्रभुत्व पाने के लिए इसमें प्रवेश करना, इसके नियमों का पालन करना, और उन विश्वासों, लक्ष्य-प्रयोजनों एवं विशिष्ट स्थितियों की सम्प्रति उपेक्षा करना आवश्यक है, जिनसे वस्तु-जगत् में हम बँधे रहते हैं।

इन वक्तव्यों से कई गम्भीर आंतियाँ पैदा हो सकती हैं—इनमें से एक-दो का मैं उल्लेख करूँगा। 'कला कला के लिए' सूत्र से जो गहि़त परिणाम प्रायः निकाले जाते हैं उनका सम्बन्ध इस सिद्धान्त से नहीं होता कि कला स्वयं अपना साध्य है, वरन् इस सिद्धान्त से होता है कि कला मानव-जीवन का सम्पूर्ण अथवा सर्वोच्च साध्य है। यह दूसरा सिद्धान्त मेरी समझ में तो निरर्थक है, और पहले सिद्धान्त से तो वह सर्वथा भिन्न है। अतः इसके परिणाम मेरे विषय के अन्तर्गत नहीं आते। 'काव्य स्वयं अपना साध्य है'—यह सूत्र उन विविध नैतिक प्रश्नों के सम्बन्ध में कुछ नहीं कहता जो इस तथ्य से उद्भूत होते हैं कि काव्य का बहुमुखी जीवन में अपना स्थान है। यदि इन प्रश्नों पर वह कुछ कहने लगे तो काव्य का अन्तरंग मूल्य इतना निम्न होगा और उसके बाह्य प्रभाव इतने उच्छृंखल कि हम यही चाहेंगे कि सूत्र का अस्तित्व ही न रहे। यह सूत्र वास्तव में यही कहता है कि हमें काव्य और मानव-हित को परस्पर-विरोधी नहीं समझना चाहिए, क्योंकि काव्य भी मानव-हित का ही एक प्रकार है और इस प्रकार के हित के अन्तरंग मूल्य का निर्धारण दूसरे का प्रत्यक्ष निर्देश करके नहीं करना चाहिए।

×

×

×

इसके अतिरिक्त इस सिद्धान्त पर यह आक्षेप भी किया जा सकता है कि वह काव्य को जीवन से विच्छिन्न कर देता है। और इस आक्षेप से एक ऐसी विकट समस्या पैदा हो जाती है कि मैं एक संक्षिप्त और रूढ़-अनुदार उत्तर

देने की अनुमति चाहूँगा। जीवन और काव्य में पर्याप्त सम्बन्ध है, किन्तु यह सम्बन्ध एक प्रकार का प्रच्छन्न सम्बन्ध है। इनको एक ही वस्तु के दो भिन्न रूप कहा जा सकता है : एक के पास यथार्थता (प्रचलित अर्थ में) है, किन्तु कल्पना को उससे शायद ही पूर्ण परितोष मिलता है, दूसरे के पास कल्पना को परितोष देने की सामग्री है, किन्तु पूर्ण यथार्थता नहीं। ये समानान्तर विकसित रूप हैं, जो परस्पर मिलते कहीं नहीं। यदि मोटे तौर पर एक शब्द का प्रयोग करूँ, जो आगे काम आएगा, तो यह कह सकता हूँ कि वे समानधर्मी हैं। अतः एक को हम दूसरे की सहायता से समझते हैं, और एक दृष्टि से एक की दूसरे के कारण परवाह भी करते हैं, किन्तु इसी कारण काव्य न तो जीवन है, और न वस्तुतः जीवन की प्रतिकृति ही। उनमें अन्तर इसलिए नहीं है कि एक के पास अधिक द्रव्य है और दूसरे के पास अधिक पूर्ण आकृति, किन्तु इसलिए कि उनके अस्तित्व की कोटियाँ भिन्न हैं। एक का हमारे साथ इस स्तर पर सम्बन्ध है कि हम प्राणी हैं—देश, काल की सीमा में अवस्थित हैं, और उस नाते भाव, इच्छा, और प्रयोजनों से युक्त हैं, उसमें हमारी कल्पना के लिए आकर्षण है, किन्तु उसमें और भी बहुत-कुछ है। काव्य में हमें जो मिलता है वह देश, काल की ऐसी सीमा-रेखाओं में अवस्थित नहीं है, और उसकी यदि ऐसी अवस्थिति हो भी तो वहाँ हमें जो प्राप्त होता है उसमें बहुत-कुछ बाहर से गृहीत होता है। अतः उन भावों, इच्छाओं और प्रयोजनों का वह सीधे संस्पर्श नहीं करता, वह तो चिन्तनात्मक कल्पना को ही केवल छूता है—यह कल्पना रिक्त अथवा भाववृत्ति-शून्य नहीं होती, यह 'यथार्थ' अनुभव की सिद्धियों से ओत-प्रोत होती है यद्यपि यह फिर भी चिन्तनात्मक ही रहती है। अतः इसमें सन्देह नहीं कि काव्य में काव्य-मूल्य होने का एक प्रमुख कारण यह है कि वह अपने ढंग से हमें कोई ऐसी वस्तु प्रदान करता है, जो दूसरे रूप में हमें प्रकृति अथवा जीवन में प्राप्त होती है, किन्तु फिर भी काव्य-मूल्य की कसौटी यही होगी : क्या काव्य हमारी कल्पना को परितोष देता है ? इसके परे हमारे ज्ञान, हमारे अन्तःकरण आदि का मूल्यांकन उसी सीमा तक होता है जहाँ तक वे हमारी कल्पना में अन्तर्भूत हो जाते हैं। इसी प्रकार शेक्सपियर का अपनी नैतिक अन्तर्दृष्टि का ज्ञान, मिल्टन की आत्मा की महत्ता, शैले की 'घृणा से घृणा' और 'प्रेम से प्रेम', और कवि की वह आकांक्षा—जिसने चिन्तन के क्षणों में उसे प्रभावित किया हो—कि मानव की सहायता की जाये, उसे अधिक सुखी बनाया जाये—इन सब वस्तुओं का अपने आप में कोई काव्य-महत्त्व नहीं है। उन्हें यह महत्त्व तब मिलता है जब कवि के जीवन से एकात्म होकर उसमें

लयमान हो, वे उसकी कल्पना के गुण-रूप हो जाती हैं, और तब निस्सन्देह वे काव्य-जगत में महान शक्तियाँ होती हैं ।

अब मैं तीसरी भ्रान्ति को लेता हूँ, और यही मेरा मुख्य विषय है । यह कहा जाता है कि यह सूत्र काव्य को अर्थहीन कर देता है : “यह वस्तुतः ‘रूप-विधान रूप-विधानके लिए’ का सिद्धान्त है । कवि क्या कहता है, यह महत्वपूर्ण नहीं, उसकी अभिव्यंजना सुन्दर होनी चाहिए । ‘क्या’ का विशेष काव्यात्मक मूल्य नहीं, ‘कैसे’ महत्वपूर्ण है । सामग्री, आधेय विषय, सार-वस्तु से कुछ भी निर्दिष्ट नहीं होता, ऐसा कोई भी विषय नहीं है जो काव्य में प्रयुक्त न हो सके । रूप-विधान, प्रतिपादन-शैली ही सब-कुछ है । इतना ही नहीं, सामग्री महत्वहीन ही नहीं होती किन्तु कला का रहस्य ही यह है कि वह रूप-विधान के द्वारा सामग्री को क्षीण करे ।” इस प्रकार की उक्तियाँ और वक्तव्य साहित्य एवं अन्य कलाओं की आधुनिक समीक्षा में सर्वत्र मिलेंगे । ये उन लेखकों की सामान्य उक्तियाँ हैं जो उनके सम्बन्ध में विशेष तो कुछ जानते नहीं; हाँ, इतना उन्हें अवश्य मालूम होता है कि ये उक्तियाँ किसी प्रकार वणिक्-वृत्ति की द्योतक नहीं ।

×

×

×

विषय, सामग्री, सार-वस्तु, एक ओर; रूप-विधान, प्रतिपादन-शैली, विषय-निर्वाह दूसरी ओर : इस विरोध-संघटन के मध्य से कोई मार्ग निर्देशित करना मैं विशेष रूप से चाहूँगा । यह विरोध-संघटन भी एक युद्ध-क्षेत्र है, और इस युद्ध के छिड़ने का कोई मामूली कारण नहीं है । किन्तु विरोधी पक्षों की आवाजें अत्यन्त अस्पष्ट हैं । जो अपने आपको रूपवादी कहते हैं उनकी उक्तियों के पाँच-पाँच, छह-छह भिन्न अर्थ हो सकते हैं । एक दृष्टि से देखें तो उनमें बहुत-कुछ सत्य भी है, किन्तु सामान्य पाठक स्वभावतः उन्हें जिस दृष्टि से देखता है, उस तरह देखा जाये तो वे असत्य और अनर्थकारी हैं । मैं यदि यह कहूँ कि इस विवाद की—जो अन्ततः कला की प्रकृति से सम्बद्ध है और जो ऐसी समस्याएँ खड़ी करता है जिनका अभी हमारे पास कोई समाधान नहीं है—मैं कुछ क्षणों में ही इति कर सकता हूँ तो यह बेहूदा बात होगी । किन्तु कुछ स्पष्ट अन्तरों की ओर तो हम संकेत कर सकते हैं जो इस विवाद में प्रायः आच्छन्न हो जाते हैं ।

सर्वप्रथम हम विषय को एक विशेष अर्थ में लें : एक बिना पढ़ी कविता का शीर्षक देख हम प्रायः कहते हैं कि कवि ने अपनी कविता के लिए अमुक विषय चुना है । यहाँ विषय से अभिप्राय, जहाँ तक मैं समझता हूँ, उस वास्तविक

अथवा काल्पनिक वस्तु से होता है जो औसत दर्जे के संस्कृत व्यक्तियों के मन में स्थित होती है। एतदर्थ 'पैराडाइज लॉस्ट' का विषय आदम के पतन की वह कहानी है जो बाइबिल के पाठकों की कल्पना में साधारणतः बसी होती है। शैले के 'दू ए स्काइलार्क' का विषय वे विचार होंगे जो उक्त कविता के पढ़ने से पूर्व, स्काइलार्क शब्द सुनने पर एक शिक्षित व्यक्ति के मन में उठने लगेंगे। यदि किसी कविता के शीर्षक से अर्थबोध न हो, या कम अर्थबोध हो, तो शब्द-कोष अथवा इसी प्रकार के किसी अन्य ग्रन्थ की सहायता से हम जान सकें वही उस कविता का 'विषय' होना चाहिए। यदि किसी व्यक्ति ने कविता पढ़ रखी हो और वह हमें थोड़ा-सा संकेत दे तो वह भी कविता का विषय माना जा सकता है, जैसे कि कोई कहे कि 'एनशिअंट मैरीनर' का विषय वह नाविक है जो पहले एक पक्षी की हत्या करता है और फिर अपने किये का दण्ड भोगता है।

अब हम देखते हैं कि इस अर्थ में 'विषय' (और दूसरे अर्थ में इस शब्द का प्रयोग मैं करना भी नहीं चाहता) कविता के अन्दर नहीं, अपितु उसके बाहर है। 'दू ए स्काइलार्क' का आशय 'स्काइलार्क' शब्द से सामान्य व्यक्ति के मन में उद्बुद्ध विचार नहीं, उनकी भाषा जितनी शैले की अपनी है उतने ही उनमें व्यक्त विचार उसके अपने होंगे। अतः विषय कविता की सामग्री नहीं, और विषय का विपरीत तत्त्व कविता का रूप-विधान नहीं, वह तो सम्पूर्ण कविता है। विषय एक चीज है; कविता आशय और रूप-विधान यह दूसरी चीज है तो स्पष्टतः काव्य-मूल्य विषय में निहित नहीं है, अपितु उसके विपरीत रूप कविता में निहित है। विषय मूल्य का निर्धारण किस प्रकार कर सकता है जब कि एक ही विषय पर अच्छी-बुरी कितनी ही कविताएँ लिखी जा सकती हैं, अथवा जब कि एक पालतू चिड़िया जैसे तुच्छ विषय पर सुन्दर कविता लिखी जा सकती है, या यदि मैकॉले का विश्वास किया जाये, तो ईश्वर की सर्वव्यापकता जैसे बृहद विषय पर एक रद्दी-सी कविता लिखी जा सकती है? 'रूपवादी' की मान्यता यहाँ एकदम ठीक है। वह किसी महत्वहीन चीज पर बल नहीं दे रहा है। हमारी यह प्रवृत्ति होती है कि हम किसी कला-कृति को अपनी मनःस्थित वस्तु की प्रतिकृति अथवा निर्देशिका मात्र मानने लगते हैं, या अधिक-से-अधिक किसी ऐसे विचार का संकेत जो परिचित वस्तु के यथासाध्य निकट होती है—और इस प्रवृत्ति का 'रूपवादी' विरोध करता है। जो दर्शक चित्र-मन्दिर में विहरण करता हुआ यह सम्मति प्रकट करता है कि अमुक चित्र उसके अमुक सम्बन्धी से मिलता-जुलता है, अमुक दृश्य उसके

जन्म-स्थान का प्रतिरूप है, अमुक चित्र एलिज़ा का चित्र है, और जो इस प्रकार एक विषय से दूसरे विषय का उद्घाटन करता चलता है, वह वास्तव में हमारी इसी प्रवृत्ति का चरम दृष्टान्त है।

×

×

×

निस्सन्देह हम यह पूर्व-निर्धारण नहीं कर सकते कि कौन-सा विषय कला के लिए संगत है और न हम यह कह सकते हैं कि किस विषय पर अच्छी कविता लिखी जा सकती है और किस विषय पर नहीं। विषयों को सुन्दर अथवा उत्कृष्ट और असुन्दर अथवा निकृष्ट, इन वर्गों में बाँटना और फिर इन वर्गों में समाविष्ट विषयों के अनुरूप कविताओं का मूल्यांकन करना, कवि की अर्थ-सम्बन्धी पूर्व-धारणाओं में उलभना है, एक गर्त में गिरना है। कविता में क्या वस्तु है, इस आधार पर कवि का मूल्यांकन होना चाहिए, न कि इस आधार पर कि काव्य-कृति के पूर्व वस्तु का क्या रूप था। और यह कहने का साहस भी हम कैसे कर सकते हैं कि जो वस्तु हमारे लिए आकर्षक, विकर्षक या नीरस है वह कवि के लिए सच्ची कविता का आधार नहीं हो सकती? कविता लिखने के बाद उसे प्रकाशित कराना चाहिए या नहीं?—कविता में जो वस्तु है वह अनधिकारी शुद्धतावादी या अनधिकारी भोगवादी द्वारा उसकी मनःस्थित वस्तु से फिर उलभेगी या नहीं?—ये प्रश्न नीति के हैं, कला के नहीं। इसमें सन्देह नहीं कि 'कला कला के लिए' के समर्थक प्रायः साहसिक मार्ग अपनाने के पक्ष में होंगे। वे जनता के अशक्त और निम्न भाग की खातिर उसके सशक्त और श्रेष्ठ भाग की भेंट चढ़ाना स्वीकार नहीं करेंगे। किन्तु उनका सिद्धान्त उन्हें किसी भी अवस्था में इस धारणा से बाँधता नहीं है। रोज़ेटी^{१७२} ने अपनी एक सर्वश्रेष्ठ चतुर्दशपदी को दबा लिया था, और इस चतुर्दशपदी की टेनीसन ने प्रशंसा की थी। कौन नहीं जानता कि काव्य के नैतिक प्रभाव के सम्बन्ध में टेनीसन स्वयं अत्यन्त संकोची था। मेरी धारणा है कि रोज़ेटी ने उस चतुर्दशपदी को इसलिए दबा लिया था कि वह उसे मांसल समझता था। हम रोज़ेटी के निर्णय पर खेद प्रकट कर सकते हैं और साथ ही उसकी ईमानदारी का आदर भी, किन्तु कुछ भी हो उसका निर्णय नागरिक की हैसियत से था, कलाकार की हैसियत से नहीं।

इस सीमा तक तो 'रूपवादी' ठीक प्रतीत होता है। किन्तु जब वह यह मानता है कि विषय महत्त्वपूर्ण नहीं, सारे विषय काव्य के लिए एक-से हैं, तो मैं समझता हूँ कि वह सीमा का अतिक्रमण करता है। और यह कहने से उसका अभिमत सिद्ध भी नहीं होता कि पिन के सिरे पर एक सुन्दर कविता लिखी

जा सकती है और मानव के पतन पर एक निकृष्ट कविता । इस तथ्य से सिद्ध है कि विषय से भले ही कुछ निर्धारित न हो, किन्तु उसका महत्त्व नगण्य नहीं । मानव का पतन वस्तुतः पिन के सिर से अधिक सम्पन्न विषय है, अर्थात् उसमें काव्य-प्रभाव की अधिक क्षमता एवं मर्मस्पर्श की अधिक सम्भावनाएँ हैं । और यह भी सत्य है कि इस प्रकार का विषय साधारण जनता की कल्पना में स्थित होने के कारण कवि के संस्पर्श से पूर्व ही कुछ रसात्मक मूल्य लिये रहता है । यदि आप चाहें तो ऐसे विषय को अपरिपक्व कविता या कविता का 'मलबा' कह सकते हैं । वह कोई अमूर्त विचार या विविक्त तथ्य नहीं है, किन्तु उन चरित्रों, दृश्यों, कार्य-व्यापारों तथा घटनाओं का संकलन है जो पहले से ही भावात्मक कल्पना को उद्बुद्ध करते हैं । कुछ अंश में यह विषय पहले से ही संगठित और संयोजित होता है । इतना होने पर भी इस विषय पर एक निम्न कोटि का कवि निम्नकोटि की कविता ही लिखेगा, किन्तु तब हम यही कहेंगे कि उसमें विषय के अनुरूप प्रतिभा नहीं थी । पर पिन के सिर पर यदि वह एक रद्दी कविता लिखता है तो हमारा यह मत नहीं होगा । इसके विपरीत यदि पिन के सिर पर कोई सुन्दर कविता लिखी जाए तो मानव के पतन पर लिखी गई सुन्दर कविता की अपेक्षा उसके विषय में ही महान् परिवर्तन उपस्थित हो जायगा । उसके विषय में ऐसा क्रान्तिकारी परिवर्तन आ जायगा कि हम कह सकते हैं : "इस कविता का विषय पिन का सिरा भले ही हो, किन्तु इसकी सार-वस्तु का उससे बहुत कम सम्बन्ध है ।"

अब हमारे सामने एक और विरोध-संघटन उपस्थित हो गया है । वे चरित्र, दृश्य और घटनाएँ जो मानव के पतन नामक विषय के अंग हैं 'पैराडाइज़ लॉस्ट' की सार-वस्तु नहीं, किन्तु 'पैराडाइज़ लॉस्ट' में ऐसे चरित्र, दृश्य और घटनाएँ हैं जो उनसे कुछ हद तक मिलती-जुलती हैं । यही, तथा इसी प्रकार का कुछ और आधेय इस काव्य की सार-वस्तु माना जा सकता है । इस सार-वस्तु के विपरीत काव्य की छन्दोबद्ध भाषा होगी जिसे काव्य का रूप-विधान कहा जा सकता है । विषय रूप-विधान का नहीं, किन्तु सम्पूर्ण कविता का विपर्याय है । सार-वस्तु कविता में ही अन्तर्भूत होती है और इसका विपर्याय, रूप-विधान, भी कविता के अन्तर्गत है । मैं इस विरोध-संघटन की यहाँ आलोचना नहीं कर रहा हूँ, किन्तु स्पष्टतः यह विरोध-संघटन पहले से भिन्न है । यह लगभग उसी प्रकार का विभेद है जो पुरानी परिपाटी की आलोचना में महाकाव्य और नाटक के बीच किया गया है, और इसकी परम्परा, विकृत रूप में ही सही, अरस्तू से चली आ रही है । उदाहरण के लिए एडीसन जब

‘पैराडाइज़ लॉस्ट’ की आलोचना करता है तब क्रम से कहानी, चरित्र और भावना को लेता है—ये सब चीज़ें तो सार-वस्तु हुईं। फिर वह भाषा का विवेचन करता है, अर्थात् शैली और छन्द का—यह रूप-विधान हुआ। इसी प्रकार किसी गीत की सार-वस्तु अथवा अर्थ, तथा उसके रूप-विधान में अन्तर किया जा सकता है।

अब मैं समझता हूँ कि यह स्पष्ट होगा कि जिस विवाद पर हम विचार कर रहे हैं उसका बहुत बड़ा अंश सार-वस्तु एवं रूप-विधान, तथा विषय एवं कविता के विभेद-विवर्त में उलझा हुआ है। अतिशय रूपवादी अपना पूरा बल रूप-विधान पर लगा देता है, क्योंकि वह यही समझता है कि रूप-विधान का विपर्याय विषय है। सामान्य पाठक इससे क्रुद्ध होता है, पर वह स्वयं यही भूल करता है : विषय को वह जो महत्व देता है वह वास्तव में सार-वस्तु को मिलना चाहिए।* मैं अपना आशय समझाने के लिए एक दृष्टान्त दूँ। एक अच्छे आलोचक के निम्न शब्दों के विषय में मैं यही कह सकता हूँ कि वे भी कुछ समय के लिए इसी भ्रम में पड़ गए हैं : “काव्य-मात्र की सामग्री—प्रकृति के दृश्य रूप तथा मनुष्य के भाव और विचार—तो अपरिवर्तनीय होती है, अतः एक कवि और दूसरे कवि में अन्तर इस बात पर निर्भर करेगा कि इस अपरिवर्तनीय सामग्री का भाषा, छन्द, लय, स्वर-संक्रम आदि में कौन किस प्रकार प्रयोग करता है।” प्रश्न है, ‘पैराडाइज़ लॉस्ट’ की सार-वस्तु का—काव्य में वर्तमान कथा, दृश्य, चरित्र, भाव का क्या हुआ ? यह सब तो अदृश्य ही हो गया। रहा ही क्या, एक ओर केवल रूप-विधान, और दूसरी ओर विषय भी नहीं, केवल एक अनुमानित अपरिवर्तनीय सामग्री—प्रकृति के दृश्य-रूप तथा मनुष्य के भाव और विचार। फिर क्या यह आश्चर्य की बात होगी कि रूप-विधान में ही मूल्य देखा जाये ?

* जिसको हमने यहाँ सार-वस्तु (substance) कहा है, उसे ही लोग सामान्यतः विषय (subject) के नाम से अभिहित करते हैं। जब वे विषय के मूल्य को लेकर आग्रह करते हैं तब भी उनका अभिप्राय ‘सार-वस्तु’ से होता है। मैं प्रचलित प्रयोग के विपक्ष में अथवा अपने प्रयोग के पक्ष में, जिसको मैंने स्पष्टता के कारण अपनाया है, तर्क नहीं करना चाहता। कौन-से शब्द का प्रयोग हम कर रहे हैं, यह महत्वपूर्ण नहीं है—परन्तु हमें यह ज्ञात रहना चाहिए कि हमारा अभिप्राय क्या है। (मैंने सार-वस्तु (substance) और आधेय (content) का बिना किसी विशेष भेद-भाव के प्रयोग किया है।)

अब तक हमने यही माना है कि सार-वस्तु और रूप-विधान का विरोध-संघटन संगत है, और उसका सदैव एक ही अर्थ होता है। वास्तव में उसके कई अर्थ हैं, किन्तु अर्थ-विवेचन की अपेक्षा हम उसकी संगति के प्रश्न को ही लेंगे। इस प्रश्न को उठाने पर हम विवश भी हैं, क्योंकि हमारे सामने दो मान्यताएँ हैं : काव्य-मूल्य पूर्णतः या अधिकांशतः सार-वस्तु में निहित है, अथवा रूप-विधान में। ये मान्यताएँ सत्य हों या असत्य, स्पष्ट तो कम-से-कम ये दिखाई ही पड़ती हैं। किन्तु हम देखेंगे कि ये दोनों असत्य हैं अथवा अर्थहीन हैं—असत्य तब जब कि वे काव्य से बाहर किसी वस्तु से सम्बद्ध हों, और अर्थहीन तब जब कि वे काव्य के अन्दर किसी वस्तु से संपृक्त हों। आखिर उनका उपलक्ष्य क्या है ? उनका उपलक्ष्य, उनका अभिप्राय यही है कि एक कविता के दो भाग अथवा अंग होते हैं, एक सार-वस्तु और दूसरा रूप-विधान, और उन्हें पृथक्-पृथक् समझा जा सकता है। जब आप एक की चर्चा करते हैं तो दूसरा उससे सम्पृक्त नहीं होता। यदि यह बात नहीं होती तो इस प्रश्न के पूछने का अर्थ ही क्या हुआ कि काव्य-मूल्य किसमें निहित है ? किन्तु वास्तव में किसी कविता में ऐसे भाग अथवा अंग नहीं होते। हाँ, दोष हो सकते हैं। अतएव सच पूछा जाय तो इस प्रश्न का कोई अर्थ नहीं कि काव्य-मूल्य किसमें निहित है। और फिर यदि सार-वस्तु और रूप-विधान काव्य के अन्तर्गत नहीं है, तो दोनों मान्यताएँ असत्य हैं, क्योंकि काव्य-मूल्य काव्य में ही निहित होता है।

मैं जो कुछ कह रहा हूँ उसमें कोई नवीनता या रहस्यमयता नहीं है, और मेरा विश्वास है कि जो भी व्यक्ति काव्य को काव्योचित रूप में पढ़ेगा और अपने अनुभव का सूक्ष्म परीक्षण करेगा, वह मेरे अभिप्राय को स्पष्टतः समझ सकेगा। मैं पूछना चाहूँगा कि जब आप कोई कविता पढ़ रहे हों—उसका विश्लेषण अथवा समीक्षण न कर रहे हों वरन् अपनी सृजनात्मक कल्पना के द्वारा उसके प्रभाव-संवेदनों को ग्रहण कर रहे हों—तब क्या आप अर्थ अथवा सार-वस्तु का एक ओर तथा कुछ सार्थक ध्वनियों का दूसरी ओर, पृथक्-पृथक् अनुभव और रसास्वाद करते हैं, और फिर इन दोनों चीजों को किसी प्रकार संयुक्त करते हैं ? निश्चय ही आप ऐसा नहीं करते। उसी प्रकार जैसे किसी व्यक्ति को मुस्कराते हुए देख उसके मुँह पर अंकित रेखाओं तथा उन रेखाओं द्वारा व्यक्त भाव को आप अलग-अलग नहीं देखते। जिस प्रकार वे रेखाएँ और उनके द्वारा व्यक्त भाव आपके लिए एक ही चीज हैं, उसी प्रकार काव्य में अर्थ और ध्वनि एकात्म हैं : या यों कहिए कि वहाँ एक नादमय अर्थ,

अथवा अर्थ-नाद होता है। जब आप यह पंक्ति पढ़ते हैं कि 'सूर्य में उष्मा है, आकाश शुभ्र है', तब आप सूर्य और आकाश के पृथक्-पृथक् प्रतीकों का एक ओर, तथा कुछ दुर्वोध लययुक्त ध्वनियों का दूसरी ओर अनुभव नहीं करते, न आप इन दोनों का साथ-साथ अनुभव करते हैं, किन्तु एक का अनुभव दूसरे में होता है। इसी प्रकार जब आप 'हैमलेट' पढ़ते हैं, तो कार्य-व्यापार और चरित्रों को शब्दों से पृथक् करके नहीं देखते, आप शब्दों में ही उनका बोध करते हैं और शब्द ही उनकी अभिव्यक्ति हैं। बाद में जब आप काव्यानुभूति की परिधि से बाहर होते हैं और उस अनुभव का स्मरण करने लगते हैं, तब आप निस्सन्देह विश्लेषण द्वारा इस एकता को विच्छिन्न कर सकते हैं, और सार-वस्तु तथा रूप-विधान पर प्रायः पृथक्-पृथक् करके विचार कर सकते हैं। किन्तु यह पृथक्त्व आपके मस्तिष्क की उपज है। वह काव्य में निहित नहीं है। काव्य से अभिप्राय तो काव्यानुभूति से है। यदि आप कविता का पुनः अस्तित्व चाहते हैं तो विश्लेषण द्वारा पृथक्कृत अवयवों को जोड़ने से उसकी उपलब्धि नहीं हो सकती, यह तभी सम्भव है जब आप पुनः उसी काव्यगत अनुभव से गुजरें। आपकी तब जो पुनरुपलब्धि होती है वह अनेक खण्डों का योगफल मात्र नहीं, वह तो एक इकाई है जिसमें सार-वस्तु और रूप-विधान को उसी प्रकार पृथक् नहीं किया जा सकता जिस प्रकार रक्त में व्यास जीवन को जीवनमय रक्त से पृथक् नहीं किया जा सकता। यदि आप चाहें तो कह सकते हैं कि इस इकाई के कई पक्ष अथवा पहलू हैं किन्तु वे विभिन्न 'खण्ड' या 'भाग' नहीं। जो आप एक के परीक्षण में पायेंगे वही दूसरे के परीक्षण में भी। उन्हें आप सार-वस्तु और रूप-विधान कहना चाहें तो कह सकते हैं, किन्तु वे ऐसे अन्योन्य बहिष्कृत नहीं कि उन्हें लेकर विवाद खड़े किए जायें। वे 'सम-तुल्य' नहीं, क्योंकि वे पृथक् नहीं : विभिन्न दृष्टिकोणों से देखिए, वे एक ही चीज हैं, और उस अर्थ में वे एकात्म हैं। आधेय और रूप-विधान की यह अभिन्नता कोई आकस्मिक संयोग नहीं है : जहाँ तक काव्य काव्य है और कला कला है यह एकात्मता उनका सार-तत्त्व है। जिस प्रकार संगीत में ध्वनि और अर्थ अलग-अलग नहीं होते, वहाँ केवल एक व्यंजक ध्वनि होती है, और यदि आप संगीत का अर्थ पूछें तो ध्वनि की ओर ही संकेत करना पड़ता है, जिस प्रकार चित्र में अर्थ + वर्ण नहीं होते किन्तु, वहाँ वर्ण में ही अर्थ होता है, अथवा वहाँ अर्थव्यंजक वर्ण होता है, और कोई भी व्यक्ति चित्र का अर्थ बिना वर्ण के नहीं बता सकता, इसी प्रकार कविता में यथार्थ आधेय और यथार्थ रूप-विधान का न तो पृथक् अस्तित्व होता है, और न उनके पृथक् अस्तित्व की

कल्पना ही की जा सकती है। अतः जब आपसे पूछा जाये कि काव्य का मूल्य काव्य के विखण्डन द्वारा प्राप्त सार-वस्तु में, और एतदर्थ चिन्तनात्मक विश्लेषण में निहित है, अथवा इस विखण्डन-प्रणाली से उपलब्ध रूप-विधान में, तो आपका उत्तर होगा, यह मूल्य न तो सार-वस्तु में है और न रूप-विधान में और न उनके संयोजन में, वह तो काव्य में सन्निहित है जहाँ उनका पृथक्त्व नहीं।

अब हम देखते हैं कि पहला विरोध-संघटन है विषय और कविता का। यह स्पष्ट और संगत है, और यह प्रश्न कि मूल्य किसमें निहित है समझ में आता है : और इसका उत्तर है, कविता में। दूसरा विभेद है सार-वस्तु और रूप-विधान का। यदि सार-वस्तु से तात्पर्य केवल विचार, बिम्ब आदि से, तथा रूप-विधान से तात्पर्य केवल छन्दोबद्ध भाषा से है, तो यह एक प्रकार का विभेद माना जा सकता है, किन्तु यह विभेद उन चीजों का है जो काव्य में नहीं हैं। अतः मूल्य उनमें से किसी में भी निहित नहीं। यदि सार-वस्तु और रूप-विधान का काव्य में कोई अर्थ है तो तभी जब ये दोनों एक-दूसरे से संयुक्त देखे जाएँ, और तब यह प्रश्न कि काव्य-मूल्य किसमें है कोई अर्थ नहीं रखता। इसमें सन्देह नहीं कि मोटे तौर पर आप यह कह सकते हैं कि अमुक कवि या कविता में सार-वस्तु पक्ष और अमुक कवि या कविता में रूप-विधान पक्ष अधिक द्रष्टव्य है, और इस आधार पर कुछ रोचक विचार-विमर्श भी हो सकता है। किन्तु यहाँ मूल्य-सम्बन्धी कोई सिद्धान्त अथवा प्रश्न नहीं उठता। इस प्रश्न की बात दूसरी है, यों इस विभेद की उपयोगिता और आवश्यकता को मैं अस्वीकार नहीं करता। इसके बिना काम नहीं चल सकता। नाटक के कार्य-व्यापार तथा चरित्रों का, एवं उसकी शैली तथा छन्द-विधान का पृथक्-पृथक् विवेचन विधि-विहित और मुख्यवान् दोनों हैं, किन्तु उसी समय तक जब तक कि हम स्मरण रखें कि हम क्या कर रहे हैं। एक सच्चा आलोचक उनकी पृथक्-पृथक् चर्चा कर सकता है, पर वास्तव में वह उन्हें पृथक् नहीं मानता, उसे सदैव इस बात का ध्यान रहता है कि वे एक इकाई, काव्यानुभूति के पक्ष मात्र हैं, और उस अनुभूति की अधिक सम्पन्न, अधिक सच्ची, अधिक गहरी प्रतीति ही उसका सतत लक्ष्य होता है। जब काव्य-मूल्य का, सिद्धान्त का, प्रश्न खड़ा किया जाता है और ये पक्ष पृथक्-पृथक् खण्डों में विभक्त हो जाते हैं, तब दो वितंडावाद उत्पन्न होते हैं। दोनों ही असत्य होते हैं, दोनों कहते हैं कि काव्य-मूल्य उनमें से एक में ही सन्निहित है। दोनों काव्य से विलग हैं, अतः काव्य-मूल्य उनमें निहित नहीं हो सकता।

अब हम तथाकथित रूप-विधान, शैली और छन्द-योजना की ओर ध्यान दें। काव्य में केवल रूप-विधान जैसी कोई चीज नहीं होती। सारा रूप-विधान अभिव्यंजना है। शैली आधेय का वहन करती है, आधेय से अंशतः विलग करने पर भी उसमें सौन्दर्य-बोध का कुछ मूल्य हो सकता है, उसी प्रकार जैसे एक सु-संघटित वाक्य में अर्थ से पृथक् संघटन में भी कुछ रस लिया जा सकता है। अस्तु, शैली अभिव्यंजक है; उदाहरण के लिए, वह लेखक के मस्तिष्क में गतिमान विचारों को संतुलन, सहजता और गतिमत्ता के साथ प्रस्तुत करती है। किन्तु शैली अभिव्यंजक होने पर भी वाक्य-विशेष के अर्थ की व्यंजक नहीं होती। और यह सम्भव है कि काव्यानुभूति में व्यवधान उपस्थित कर इसे विखण्डित किया जाय और पृथक् विवेचन के लिए इस प्रायः रूपात्मक अंश को विच्छिन्न कर लिया जाय। किन्तु इस प्रकार की शैली का कोई विशेष सौन्दर्य-परक मूल्य नहीं होता।* यदि किसी कृति में और कोई गुण न हो तो आप उसे आनन्द के साथ एक घण्टे से अधिक नहीं पढ़ सकते। काव्यानुभूति में इस मूल्य का आप पृथक् बोध नहीं करते, शैली यहाँ एक अर्थ-विशेष की व्यंजक भी होती है, या यों कहिए कि यह उस अन्विति का एक पक्ष है जिसका दूसरा पक्ष अर्थ है। अतः आप जो बोध करते हैं उसे अभिव्यक्त अर्थ अथवा अर्थ-व्यंजक रूप-विधान कुछ भी कह सकते हैं। इस सम्बन्ध में मैं यहाँ ऑक्सफोर्ड में मैथ्यू आर्नल्ड और वाल्टर पेटर को प्रमाण के रूप में प्रस्तुत कर सकता हूँ; वाल्टर पेटर तो कम-से-कम ऐसे अधिकारी व्यक्ति हैं जिनकी अवमानना रूपवादी नहीं करेगा। शैली के सम्बन्ध में पेटर की शिक्षा का क्या सार है?—यही न कि अंततः शैली का एक गुण सत्य अथवा संगति है; शब्द, पदोच्चय, वाक्य को लेखक के प्रत्यक्ष बोध, भाव-वृत्ति, विम्ब, विचार आदि अच्छी प्रकार व्यक्त करना चाहिए ताकि जब हम किसी लेखक की कोई पंक्ति पढ़ें—उदाहरण के लिए कीट्स का कोई वर्णनात्मक पदोच्चय—तो कह उठें, 'यह तो साक्षात् वही वस्तु है।' आर्नल्ड का उद्धरण दें तो शब्द 'वे प्रतीक हैं जो मूल वस्तु के सम-तुल्य हैं', अथवा हमारी पारिभाषिक शब्दावली में, ऐसे रूप-विधान जो आधेय से अभिन्न हैं। अतः यदि सच कहा जाय तो वास्तविक काव्य के अर्थ को उसके अपने शब्दों में ही व्यक्त किया जा सकता है; शब्दों में हेर-फेर करने से अर्थ में ही परिवर्तन आ जाता है। ऐसे काव्य का अनुवाद वास्तव में नए परिधान में पुराना अर्थ नहीं है, वह तो एक नया सृजन है, मौलिक रचना से कुछ मिलता-जुलता—यदि आप चाहें तो कह सकते हैं कि रूप-विधान की अपेक्षा

* दूसरी ओर, शैली की अनुपस्थिति, इस दृष्टि से, एक गम्भीर बात है।

अर्थ-पक्ष में उसका मौलिक रचना से अधिक साम्य है ।

जो व्यक्ति काव्य को समझता है, मेरे विचार में, वह इस सम्बन्ध में मतभेद नहीं रखेगा । यह बात दूसरी है कि वह अपने अनुभव से हटकर या सिद्धान्तों से भ्रान्त होकर 'अर्थ' शब्द का ऐसा आशय ले जो काव्य-प्रयोग के लिए प्रायः उपाहासास्पद ही हो । उदाहरण के लिए, लोग कह सकते हैं कि Steed (अश्व, युद्ध-अश्व) और horse (घोड़ा) एक ही अर्थ के द्योतक हैं ; बुरी कविता में वे अवश्य एक ही अर्थ के द्योतक हो सकते हैं, किन्तु सच्ची कविता में नहीं ।

×

×

×

इस विषय में कविता अन्य कलाओं से भिन्न नहीं है । इस अभिन्नता पर चित्र-कला एवं संगीत के विशेषज्ञ प्रायः बल देते रहते हैं—इन सब में आधेय का रूप-विधान के साथ तादात्म्य होता है । ध्वनि-सामंजस्य से वीथो-वन^{१७३} का क्या अभिप्राय था, चित्र से टर्नर^{१७४} का क्या अभिप्राय था ?—ये अभिप्राय ऐसी चीजें नहीं हैं जिन्हें कोई नाम दिया जा सके, वे तो ध्वनि-सामंजस्य या 'चित्र' से ही समझे जा सकते हैं । उनमें अर्थ है, किन्तु वह अर्थ उनकी भाषा में ही—अन्य किसी भाषा में नहीं—व्यक्त हो सकता है । इस तथ्य को हम जानते हैं, फिर भी किसी विचित्र भ्रम के वश हम सोचने लगते हैं कि अर्थ का मूल्य वहाँ कम है, क्योंकि वह अर्थ शब्दों में नहीं भरा जा सकता । ठीक यही बात काव्य के सम्बन्ध में घटित होती है । पर काव्य शब्द-समूह है, अतः हम यह मिथ्या कल्पना करते हैं कि काव्य का अर्थ उसके अपने शब्दों के अतिरिक्त अन्य शब्दों में व्यक्त किया जा सकता है । अन्य शब्द काव्य के अर्थ को प्रकट करने में उतने ही असमर्थ हैं—या आप चाहें तो मोटे तौर पर कह सकते हैं, उससे कुछ ही कम असमर्थ हैं—जितने कि ड्रेसडेन मेडोना^{१७५} के अर्थ को व्यक्त करने में शब्द असमर्थ हैं । इस अर्थ से कुछ मिलते-जुलते भाव का वे थोड़ा-सा बोध अवश्य करा सकते हैं । काव्य से बाहर उसके अर्थ के समतुल्य कुछ मिल सकता है, उससे काव्य के समझने में कुछ सहायता मिल सकती है । अन्य कलाएँ, दर्शन के श्रेष्ठतम विचार, धर्म, प्रकृति तथा जीवन से जो कुछ हमें मिलता है अथवा हठात् जो हमें ग्रहण करना पड़ता है उसका बहुत कुछ अंश—ये सब इसके सजातीय हैं, किन्तु बस सजातीय ही हैं । यह उनकी अभिव्यक्ति नहीं है । काव्य हमारे सर्वोच्च ज्ञान अथवा विश्वास को कल्पना के सामने नहीं रखता, हमारे स्वप्नों और अभिमतों को तो और भी कम, किन्तु वह, आधेय एवं रूप-विधान की अन्विति में, वस्तु-

विशेष को विशिष्ट रूप में साकार करता है। यह वस्तु अन्य विशिष्ट रूपों में भी साकार हो सकती है, जैसे दर्शन अथवा धर्म में; इनमें से प्रत्येक एक ऐसा परितोष देता है जो दूसरा सम्भवतः नहीं दे सकता। अतः काव्य में जो है वह उन आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर सकता जो दूसरे करते हैं, किन्तु इसी कारण अन्य स्वभावतः काव्य का देय नहीं दे सकते। किन्तु इस देय को हम पूर्णतः नहीं पा सकते यदि हम उससे किसी दूसरी वस्तु की आशा रखें।

(ऑक्सफोर्ड लैक्चर्ज ऑन पोयट्री)

अनुवादक : डॉ० मोहनलाल

बेनेदेतो क्रोचे

(सन् १८६६-१९५२ ई०)

[बेनेदेतो क्रोचे आधुनिक युग के प्रसिद्ध दार्शनिक थे। इटली के सम्य समाज में उनका बड़ा सम्मान था। सन् १९२०-२१ में वे वहाँ के शिक्षा-मंत्री भी रहे थे। उन्होंने इतिहास के स्वरूप, सौन्दर्यशास्त्र, मार्क्सवादी अर्थ-व्यवस्था, आत्म-दर्शन आदि अनेक विषयों का, अपने विशेष सिद्धान्तों के आलोक में, गंभीर विवेचन किया है। सन् १९०३ में उन्होंने एक आलोचना-पत्रिका का भी प्रकाशन किया जिसमें इतालवी साहित्य के अनेक पक्षों की समीक्षा रहती थी।

क्रोचे मूलतः आत्मवादी दार्शनिक थे जिन्होंने आधुनिक युग के भौतिक-वाद के विरुद्ध अपने ढंग से आत्मा की अंतःसत्ता की प्रतिष्ठा की है। काव्य-शास्त्र उनका विषय नहीं था, उन्होंने तो आत्मा की एक विशिष्ट क्रिया के रूप में सौन्दर्य के सिद्धान्त की विवेचना की है। किन्तु उनके सौन्दर्य-सिद्धान्त के प्रभाव ने कला और साहित्य के सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक दोनों क्षेत्रों में इतना व्यापक रूप धारण कर लिया कि उनके दर्शन की अपेक्षा सौन्दर्य-शास्त्र का ही प्रचार और प्रसार अधिक हुआ।

उनके अनुसार आत्मा की दो क्रियाएँ हैं : (१) विचारात्मक^१ (२) व्यवहारात्मक।^२ “विचारात्मक क्रिया अथवा ज्ञान के दो रूप हैं : ज्ञान स्वयं प्रकाश्य होता है अथवा प्रमेय, कल्पना द्वारा प्राप्त ज्ञान अथवा प्रमा (बुद्धि) द्वारा प्राप्त ज्ञान, व्यष्टि (विशेष) का ज्ञान अथवा समष्टि (सामान्य) का ज्ञान, विशिष्ट वस्तुओं का ज्ञान अथवा उनके परस्पर सम्बन्ध का ज्ञान : वास्तव में ज्ञान या तो बिम्ब का उत्पादक होता है या धारणा का।” व्यवहारात्मक क्रिया

१. थियोरिटिकल एक्टिविटी।

२. प्रैक्टिकल एक्टिविटी—एस्थेटिक, पृ० १४।

का आधार है संकल्प जिसका फल ज्ञान में नहीं वरन् कर्म में प्रकट होता है। व्यवहारात्मक क्रिया के दो भेद हैं : (१) आर्थिक^१ अर्थात् सांसारिक योगक्षेम से सम्बद्ध, और (२) नैतिक अर्थात् सत्-असत् से सम्बद्ध। विचार और व्यवहार में संगीत की स्थापना करते हुए क्रोचे ने आर्थिक क्रिया को व्यवहार का सौन्दर्य-शास्त्र और नैतिक क्रिया को उसका तर्कशास्त्र कहा है।

१—कला का सम्बन्ध ज्ञान के प्रथम भेद अर्थात् स्वयंप्रकाश्य ज्ञान से है—इसी का नाम सहजानुभूति भी है। कला, क्रोचे के मत से, सहजानुभूति ही है। सहजानुभूति पदार्थ-बोध से भिन्न है : पदार्थ-बोध के लिए पदार्थ की स्थिति अनिवार्य है, किन्तु सहजानुभूति उसके अभाव में भी होती है—उसके लिए वास्तविक और सम्भाव्य में भेद नहीं है। सहजानुभूति संवेदन से भी भिन्न है : संवेदन एक प्रकार का अरूप स्पन्दन है : आत्मा इसका अनुभव तो करती है, पर इसे अभिव्यक्त नहीं कर सकती। यह एक प्रकार का अमूर्त विषय है जो जड़ है—निष्क्रिय है। इसका केवल इतना ही महत्व है कि इसके आधार पर सहजानुभूतियों में परस्पर भेद हो जाता है। किन्तु सहजानुभूति अनिवार्यतः अभिव्यंजना रूप ही होती है—अतएव वह अभिव्यंजना से अभिन्न है—प्रत्येक सच्ची सहजानुभूति अभिव्यंजना भी होती है। जो अभिव्यंजना में मूर्त नहीं होती, वह सहजानुभूति न होकर संवेदन मात्र है। आत्मा निर्माण, सृजन तथा अभिव्यक्ति के रूप में ही सहजानुभूति करती है।^२

सारांश यह है कि सहजानुभूतिमय ज्ञान अभिव्यंजनात्मक होता है। बौद्धिक क्रिया से स्वतंत्र, वास्तव, अवास्तव तथा देशकाल के बोध से निरपेक्ष। सहजानुभूति प्रकृत अनुभूति से—संवेदन की तरंगों से अथवा चेतना के विषय से अपने 'रूप' के कारण भिन्न है, और यह 'रूप' ही अभिव्यंजना है। अतएव सहजानुभूति का अर्थ है अभिव्यक्ति : केवल अभिव्यक्ति, न कम न अधिक।^३ यही कला है।]

१—आर्थिक शब्द का प्रयोग यहाँ प्राचीन शास्त्रीय अर्थ में किया गया है—सांसारिक जीवन के लिए उपयोगी।

२—एस्थेटिक, पृ० ८।

३—पृ० ११।

सहजानुभूति और अभिव्यंजना

सहजानुभूत ज्ञान

ज्ञान के दो रूप हैं : सहजानुभूत ज्ञान अथवा तर्कमूलक ज्ञान, कल्पना के द्वारा उपलब्ध ज्ञान अथवा बुद्धि के द्वारा उपलब्ध ज्ञान, वैयष्टिक ज्ञान अथवा सार्वत्रिक ज्ञान, वह ज्ञान जो वस्तुओं की इकाई से संपृक्त है अथवा वह जो वस्तुओं के परस्पर सम्बन्धों से संपृक्त है, वस्तुतः ज्ञान या तो बिम्बों या अवधारणाओं को उत्पन्न करता है ।

बौद्धिक ज्ञान से इसकी स्वतन्त्रता

पहली बात जो मस्तिष्क में अच्छी तरह बिठा लेनी चाहिए वह यह है कि सहजानुभूत ज्ञान को किसी स्वामी (बौद्धिक ज्ञान) की आवश्यकता नहीं होती । उसे किसी का सहारा नहीं चाहिए, उसके लिए यह आवश्यक नहीं कि वह दूसरे की आँखें उधार ले, कारण उसकी आँखें स्वयं काफ़ी तेज़ हैं । इसमें सन्देह नहीं कि अवधारणाएँ सहजानुभूति के साथ घुली-मिली हो सकती हैं । किन्तु ऐसी सहजानुभूतियाँ भी होती हैं जिनमें इस प्रकार का सम्मिश्रण नहीं होता । इससे यह सिद्ध है कि यह सम्मिश्रण आवश्यक नहीं । चित्रकार के द्वारा चाँदनी रात का चित्रण, किसी मान-चित्तेरे द्वारा खिंची हुई ग्राम्य-दृश्य की रूपरेखा, संगीत की कोमल अथवा ओजपूर्ण अभिप्रेरणा, उच्छ्वासपूर्ण गीत के शब्द, अथवा वे वस्तुएँ जिनमें साधारणतः हम अपने जीवन में चाहते हैं, जिन पर अधिकार रखते हैं, जिनके लिए दुःखित होते हैं—ये सब ऐसे सहजानुभूत तथ्य हो सकते हैं, जिनमें बुद्धि का मिश्रण न हो । इन दृष्टान्तों के सम्बन्ध में आप जो चाहें सोचें, और यदि यह भी मान लें कि सभ्य मनुष्य की सहजानुभूतियों का एक बहुत बड़ा अंश अवधारणाओं से युक्त होता है, तो भी एक अत्यधिक महत्त्वपूर्ण और विचारणीय बात रह जाती है । जो अवधारणाएँ सहजानुभूतियों में घुल-मिल जाती हैं, उनमें अन्तर्भूत हो जाती हैं, वे फिर अवधारणाएँ नहीं रहती—यदि उनका सम्मिश्रण यथार्थ है । कारण यह है कि उनकी स्वतन्त्रता, स्वायत्तता जाती रहती है । किसी समय वे अवधारणाएँ थीं, किन्तु अब वे सहजानुभूति के साधारण तत्त्व-मात्र हैं । त्रासदी अथवा कामदी के किसी पात्र के मुख से यदि दार्शनिक सूत्रों का कथन कराया जाय तो वहाँ वे सूत्र अवधारणाओं का कार्य नहीं करते, किन्तु वे उस पात्र की विशेषताओं को व्यक्त करते हैं । उदाहरण के लिए एक व्यक्ति का मुँह छवि-

चित्र में लाल रंग से रंगा हुआ है, किन्तु वह लाल रंग वहाँ भौतिक-शास्त्र-वेत्ताओं के रंग को सूचित नहीं करता, वह तो उस छवि-चित्र का विशेष तत्त्व है। पूर्ण से ही अंशों का गुण-निर्धारण होता है। एक कला-कृति दार्शनिक अवधारणाओं से परिपूर्ण हो सकती है, दार्शनिक ग्रन्थ में ये अवधारणाएँ जितनी गम्भीर होती हैं उनसे भी अधिक गम्भीर वे कलाकृति में हो सकती हैं, और दार्शनिक ग्रन्थ वर्णनों और सहजानुभूतियों से ओतप्रोत हो सकता है। किन्तु अवधारणाओं के बावजूद भी कलाकृति की सहजानुभूति सहजानुभूति ही है, और सहजानुभूति के होते हुए भी दार्शनिक कृति में प्रभाव की समग्रता अवधारणाओं के कारण है। एक वैज्ञानिक कृति और एक कलाकृति में, अर्थात् एक बौद्धिक तथ्य तथा एक सहजानुभूत तथ्य में अन्तर प्रभाव की समग्रता पर निर्भर रहता है। इन कृतियों के विभिन्न अंगों को यही प्रभाव-समग्रता निर्दिष्ट और नियमित करती है, इन अंगों पर समग्रता से विलग, पृथक्-पृथक् विचार नहीं किया जाता।

सहजानुभूति और प्रत्यक्षीकरण

किन्तु अवधारणा से परे सहजानुभूति की स्वतन्त्रता को स्वीकार कर लेने से ही सहजानुभूति का वास्तविक और यथार्थ ज्ञान नहीं हो जाता। जो लोग इस तथ्य को स्वीकार करते हैं, अथवा जो कम-से-कम व्यक्त रूप में सहजानुभूति को बुद्धि के आश्रित नहीं मानते, वे भी एक भूल कर जाते हैं—वे सहजानुभूति की यथार्थ प्रकृति पर आवरण डाल देते हैं, उसे अस्पष्ट कर देते हैं। सहजानुभूति से प्रायः प्रत्यक्षीकरण का अर्थ लिया जाता है, अथवा उससे वास्तविक सत्ता के ज्ञान का बोध माना जाता है—वस्तु का यथार्थ के रूप में बोध।

निःसन्देह प्रत्यक्षीकरण सहजानुभूति है, जिस कमरे में मैं लिख रहा हूँ, जो दवात और कागज मेरे सामने हैं, जिस कलम का मैं प्रयोग कर रहा हूँ, जिन वस्तुओं का मैं स्पर्श करता हूँ और जिन्हें मैं अपना माध्यम बनाकर प्रयोग में लाता हूँ, वे सब सहजानुभूतियाँ हैं। किन्तु वह प्रतिमा जो इस समय मेरे मस्तिष्क में घूम रही है—मैं दूसरे कमरे में हूँ, दूसरे नगर में हूँ, मसि, कागज, कलम भिन्न हैं—यह भी सहजानुभूति है। इसका अर्थ यह हुआ कि यथार्थ और अयथार्थ का अन्तर गौण है, वह सहजानुभूति की वास्तविक प्रकृति के बहिर्गत है। यदि हम एक ऐसे मानव-मन की कल्पना करें जिसे पहली बार सहजानुभूति होती है, तो ऐसा प्रतीत होगा कि उसे केवल वास्तविक सत्ता की ही सहजानु-

भूति हो सकती है, अर्थात् उसे यथार्थ के अतिरिक्त और किसी भी वस्तु की सहजानुभूति नहीं हो सकती। किन्तु चूँकि यथार्थ का ज्ञान यथार्थ एवं अयथार्थ की प्रतिमाओं के भेद पर निर्भर करता है, और चूँकि इस भेद का अस्तित्व पहले-पहल नहीं प्रकट होता, अतः यह सहजानुभूति वास्तव में यथार्थ अथवा अयथार्थ की सहजानुभूति नहीं होती, वह प्रत्यक्षीकरण भी नहीं होती, वह तो शुद्ध सहजानुभूति होती है। जहाँ सब यथार्थ है वहाँ कुछ भी यथार्थ नहीं है। इस सहज-सरल स्थिति का थोड़ा-सा—यद्यपि दूरस्थ—अनुमान बच्चे के दृष्टान्त से हो सकता है, बच्चे के लिए सत्य और असत्य, इतिहास और कहानी में अन्तर करना कठिन है। सहजानुभूति यथार्थ के प्रत्यक्षीकरण एवं सम्भाव्य की सरल प्रतिमा के प्रत्यक्षीकरण की अभिन्न एकता है। अपनी सहजानुभूतियों में हम अपने आपको अनुभवाश्रित व्यक्तियों के रूप में बाह्य सत्ता का विरोधी नहीं मानते, किन्तु हम तो अपने प्रभावों को, जो भी वे हों, सिर्फ अपने से निरपेक्ष करने का प्रयत्न करते हैं।

सहजानुभूतियाँ एवं स्थान व काल की धारणा

अतः जो लोग सहजानुभूति को स्थान और काल की कोटियों के अनुसार संगठित और अभियोजित मानते हैं, वे सत्य के अधिक निकट आते हुए प्रतीत होते हैं। उनके अनुसार स्थान और काल सहजानुभूति के रूप हैं, सहजानुभूति का होना सहजानुभूति को स्थान और काल की परिसीमा में रखना है। सहजानुभूत प्रक्रिया तब स्थान और काल के दूसरे और समवर्ती कार्य-व्यापार में निहित होगी। किन्तु इन दोनों कोटियों के सम्बन्ध में भी वही बात दुहरानी चाहिए, जो सहजानुभूतियों में सम्मिश्रित बौद्धिक धारणाओं के सम्बन्ध में कही गई थी। ऐसी सहजानुभूतियाँ हैं, जो स्थान और काल से परे हैं। आकाश का वर्ण, भावना का रंग, दर्द की आवाज़, इच्छा-शक्ति का प्रयास जिसका चेतना में निरपेक्षीकरण हो जाता है—ये भी हमारी सहजानुभूतियाँ हैं, और उनकी निर्मिति में स्थान और काल का कोई योग नहीं होता। कुछ सहजानुभूतियों में काल-तत्त्व के बिना भी स्थान-तत्त्व मिल सकता है, और कुछ में स्थान-तत्त्व के बिना काल-तत्त्व, और जहाँ ये दोनों एक साथ भी हों वहाँ उनका बोध बाद में विचार करने पर होता है। ये दोनों तत्त्व सहजानुभूति में अन्य तत्त्वों की तरह अन्तर्भूत हो सकते हैं, अर्थात् वे सहजानुभूति में उसके तत्त्वों के रूप में, और न कि उसके अभियोजन के रूप में, स्थित होते हैं। बिना विचार की क्रिया के, जो कि क्षण भर के लिए हमारे चिन्तन में स्फुटित होती है, कौन ऐसा व्यक्ति होगा, जो किसी रेखा-चित्र अथवा दृश्य को

देखते समय स्थान के सम्बन्ध में सोच सकता है ? कहानी या संगीत सुनते समय कौन ऐसा व्यक्ति है जो समय की कोटि का ज्ञान रखता है, जब तक कि विचार की क्रिया का हस्तक्षेप न हो ? कलाकृति में सहजानुभूति जो-कुछ प्रकाशित करती है वह स्थान और काल नहीं है, किन्तु वे हैं चरित्र, वैयक्तिक रूपाकृति । जिस मत का यहाँ प्रतिपादन किया गया है उसकी पुष्टि आधुनिक दर्शन के अनेकों क्षेत्रों में होती है । स्थान और काल, जो किसी समय सरल, साधारण, आदिम कार्य-व्यापार माने जाते थे, अब अत्यन्त जटिल बौद्धिक रूप-संघटन हो गए हैं । और उन क्षेत्रों में भी जहाँ स्थान एवं काल को रूप-संघटनात्मक नियमों, कोटियों और कार्य-व्यापारों के गुण से सर्वथा मुक्त नहीं माना जाता है, उन्हें संश्लिष्ट रूप में देखने का प्रयत्न मिलता है, वहाँ भी यह कोशिश की जाती है कि इन कोटियों को साधारणतः जिस रूप में देखा जाता है उससे भिन्न रूप में देखा जाये । कुछ लोग सहजानुभूति को केवल स्थान की ही कोटि में सीमित मानते हैं, उनकी धारणा है कि काल भी केवल स्थान के ही रूप में अनुभूत किया जा सकता है । कुछ अन्य लोग स्थान के तीन आयामों का परित्याग कर देते हैं, कारण वे दर्शन-शास्त्र की दृष्टि से आवश्यक नहीं, स्थान के कार्य-व्यापार को वे इस रूप में देखते हैं जैसे वह किसी विशिष्ट स्थानत्व के निर्धारण में असमर्थ हो । किन्तु इस प्रकार का स्थान-व्यापार क्या होगा—एक साधारण विन्यास जिसे काल का भी विन्यास करना चाहिए ? इससे केवल एक ही वस्तु प्रकट होती है, जो आलोचना और प्रत्यालोचना के वाद शेष रहती है—सामान्य रूप में किसी सहजानुभूतिमूलक क्रिया की अभि-स्थापना की माँग । क्या इस क्रिया का निर्धारण वस्तुतः उस समय नहीं हो जाता जब कि उसे केवल एक कार्य-व्यापार से संलग्न माना जाता है, स्थान व काल का व्यापार नहीं, किन्तु चरित्र का व्यापार ? अथवा, जब वह स्वयं एक ऐसी कोटि अथवा व्यापार के रूप में स्वीकार की जाती है, जो हमें वस्तुओं का उनके व्यष्टिपरक और मूर्त रूप में ज्ञान कराती है, तब क्या इस क्रिया का निर्धारण नहीं हो जाता ?

सहजानुभूति और संवेदन

सहजानुभूत ज्ञान को हमने इस प्रकार बौद्धिक तत्त्व से तथा परवर्ती एवं बाह्य संकलनों से मुक्त किया है, अब यह आवश्यक है कि हम इसकी व्याख्या करें, इसकी सीमाओं को निर्दिष्ट करें और एक अन्य प्रकार की आलोचना तथा आन्ति से इसकी रक्षा करें । निचले छोर पर एक ओर संवेदन

है, रूपहीन वस्तु, जिसे आत्मा कभी भी सरल वस्तु की तरह अनुभूत नहीं कर सकती। यह अनुभूति रूप के साथ, केवल रूप में, होती है, किन्तु जहाँ तक सीमा की धारणा का प्रश्न है वह स्वीकृत है। वस्तु अपनी अमूर्तता में यन्त्र-न्यास, निष्क्रियता है, आत्मा उसे स्वीकृति देती है, किन्तु उसे उत्पन्न नहीं करती। इसके बिना कोई भी मानवीय ज्ञान अथवा क्रिया सम्भव नहीं, किन्तु केवल वस्तु पशुता उत्पन्न करती है, वह जो मनुष्य में पाशविक और आवेगपूर्ण है। वह उस आध्यात्मिक अधिराज्य का निर्माण नहीं करती जो मानवता है। कितनी बार हम यह प्रयत्न करते हैं कि जो हमारे अन्दर गुजर रहा है उसे भली प्रकार समझ सकें। हमें थोड़ा-सा आभास अवश्य होता है, किन्तु वह मन को संगठित और निरपेक्ष नहीं प्रतीत होता। ऐसे ही क्षणों में हम वस्तु और रूप के गहन अन्तर को अच्छी तरह समझ पाते हैं। ये दोनों एक-दूसरे के विरोधी तत्त्व नहीं हैं, किन्तु एक वहिर्गत तत्त्व है—वह हम पर प्रहार करता है और हमारे पाँव उखाड़ देता है, दूसरा हमारे अन्दर वर्तमान है, वह उस वहिर्गत वस्तु को अन्तर्लीन करना चाहता है, उसके साथ तादात्म्य स्थापित करना चाहता है। वस्तु जब रूप-वेष्टित, रूप-विजित होती है, तब वह मूर्त रूप को उत्पन्न करती है। एक सहजानुभूति और दूसरी सहजानुभूति में क्या अन्तर है—यह वस्तु से, आघेय से ही प्रकट होता है; रूप स्थिर है, वह आत्मिक क्रिया है। इसके विपरीत वस्तु परिवर्तनशील है। वस्तु के बिना आत्मिक क्रिया अपनी अमूर्तता त्याग मूर्त और वास्तविक क्रिया नहीं हो सकती, वस्तु ही उसके विशिष्ट आघेय, उसकी विशिष्ट सहजानुभूति को प्रकट करती है।

यह एक विचित्र बात है, हमारे युग की अजीब विशेषता है कि इस रूप को, आत्म की इस क्रिया को, जो मूलतः हमारा सार तत्त्व है, उपेक्षित और अनादृत किया जाता है। कुछ लोग मनुष्य की इस आत्मिक क्रिया को तथाकथित प्रकृति की रूपकात्मक और पौराणिक क्रिया के साथ उलझा देते हैं। किन्तु यह दूसरी क्रिया तो यन्त्रन्यास है और उसका मानवीय क्रिया के साथ कोई सादृश्य नहीं, जब तक कि हम ईसप की तरह यह कल्पना न करें कि 'पशु ही नहीं, वृक्ष भी बोलते हैं'। कुछ लोग इस बात पर बल देते हैं कि अपने अन्दर उन्होंने कभी भी इस 'विस्मयकारी क्रिया' के दर्शन नहीं किए हैं, मानो वे पसीना चूने में और सोचने में, सदी अनुभव करने में और संकल्प की शक्ति में कोई भेद नहीं पाते, और यदि कोई भेद पाते भी हैं तो केवल परिमाण का। और कुछ लोग ऐसे हैं जो इस क्रिया और यन्त्रन्यास को, यद्यपि वे परस्पर विभिन्न हैं, एक व्यापक धारणा के अन्तर्गत संश्लिष्ट करना चाहते

हैं : उनके प्रयत्न में फिर भी कुछ तर्क है । कुछ देर के लिए हम यह परीक्षण न करें कि क्या इस प्रकार का अन्तिम संश्लेषण सम्भव है और किस अर्थ में वह सम्भव है, किन्तु यह मानकर आगे बढ़ें कि इस प्रकार का प्रयत्न किया जा सकता है । यह स्पष्ट हो जायेगा कि दो अवधारणाओं को एक तीसरी धारणा में एकान्वित करने का अर्थ है प्रथम दो के तात्त्विक अन्तर को स्वीकार करना । यही अन्तर हमें यहाँ अभीष्ट है और हम उसको स्पष्ट करेंगे ।

सहजानुभूति और साहचर्य

सहजानुभूति और सरल संवेदन के बीच कभी-कभी भ्रांति पैदा हो जाती है । चूँकि यह भ्रांति सामान्य बुद्धि पर आघात करती है, उसे प्रायः एक ऐसे शब्द-जाल में लपेटा जाता है जिसका स्पष्टतः लक्ष्य यही होता है कि सहजानुभूति और सरल संवेदन का अन्तर प्रकट हो, परन्तु अन्तर प्रकट होने के स्थान पर वहाँ और उलझन पैदा हो जाती है । बलपूर्वक यह कहा जाता है कि सहजानुभूति संवेदन है, किन्तु सरल संवेदन की अपेक्षा वह संवेदनों का साहचर्य है । यहाँ 'साहचर्य' शब्द में दुहरा अर्थ निहित है । साहचर्य से एक तो स्मृति, परास्मृत साहचर्य, चेतन अनुस्मरण का अर्थ लिया जाता है, और इस स्थिति में स्मृति में उन तत्त्वों को एकान्वित करना, जो सहजानुभूत नहीं हैं, जिनका पारस्परिक अन्तर प्रकट नहीं है, जो आत्म से किसी-न-किसी रूप में अधिकृत नहीं हैं, समझ में नहीं आता । साहचर्य का दूसरा अर्थ अचेतन तत्त्वों का साहचर्य कहा जाता है, इस स्थिति में हम संवेदन तथा प्रकृति के जगत में अवस्थित रहते हैं । किन्तु यदि कुछ साहचर्यवादियों के साथ हम एक ऐसे साहचर्य की बात करें जो न तो स्मृति है और न संवेदनों का प्रवाह है, किन्तु एक उत्पादक (रूपात्मक, रचनात्मक, प्रभेदक) साहचर्य है, तो हमारी स्थापना स्वीकृत हो जाती है यद्यपि जिस नाम से हम उसे अभिहित करते हैं उसका निषेध किया जाता है । यह उत्पादक साहचर्य संवेदनवादियों के अर्थ में साहचर्य नहीं रहता, वह तो संश्लेषण है, अर्थात् आत्मिक क्रिया । संश्लेषण को साहचर्य कहा जा सकता है, किन्तु उत्पादिका की अवधारणा के साथ पहले ही निष्क्रियता और क्रिया, संवेदन और सहजानुभूति का अन्तर लगा रहता है ।

सहजानुभूति और प्रतिनिधान

कुछ मनोवैज्ञानिकों में यह प्रवृत्ति मिलती है कि वे संवेदन से उस

वस्तु को पृथक् करना चाहते हैं जो संवेदन नहीं है, किन्तु जो बौद्धिक अवधारणा भी नहीं। वह प्रतिनिधान अथवा प्रतिमा है। इन मनोवैज्ञानिकों के प्रतिनिधान अथवा प्रतिमा, और हमारे सहजानुभूत ज्ञान में क्या अन्तर है? सारा ही अन्तर है और कुछ भी नहीं, कारण प्रतिनिधान एक अत्यन्त भ्रामक शब्द है। यदि प्रतिनिधान से आशय उस चीज से हो जो संवेदन के मानसिक आधार से विलग, पृथक् है, तो प्रतिनिधान सहजानुभूति है। इसके विपरीत यदि प्रतिनिधान से जटिल संवेदन का अर्थ लिया जाये तो एक बार फिर हमें स्थूल संवेदन का सामना करना पड़ता है। स्थूल संवेदन के गुण में कोई परिवर्तन नहीं आता, भले ही वह सम्पन्न हो अथवा असम्पन्न, भले ही जिस जीव में वह प्रकट हो वह विकास की आरम्भिक अवस्था में हो अथवा समृद्ध अवस्था में जहाँ पिछले संवेदनों के चिह्न भी वर्तमान हों। न इस भ्रामक शब्द की भ्रामकता का परिहार प्रतिनिधान की दूसरी परिभाषा करने से ही हो सकता है, जैसे कि प्रतिनिधान संवेदन की तुलना में गौण कोटि का मानसिक उत्पाद्य है। गौण कोटि, गौण मात्रा, से यहाँ क्या अभिप्राय है? क्या उससे कोई गुणात्मक, औपचारिक अन्तर अभीष्ट है? यदि हाँ, तो प्रतिनिधान संवेदन का विशदीकरण है—अतः वह सहजानुभूति है। अथवा क्या वह किसी प्रकार की अधिक जटिलता को सूचित करता है, अर्थात् किसी परिमाणात्मक, तात्त्विक अन्तर को प्रकट करता है? इस स्थिति में एक बार फिर सहजानुभूति को सरल संवेदन के साथ उलझा दिया जाता है।

सहजानुभूति और अभिव्यक्ति

इन सब कठिनाइयों के होते हुए भी एक ऐसा निश्चित तरीका है जिसके द्वारा वास्तविक सहजानुभूति का, वास्तविक प्रतिनिधान का उससे विभेद किया जा सकता है जो इससे निम्न है: आत्मिक तथ्य का यान्त्रिक, निष्क्रिय प्राकृतिक तथ्य से विभेद सम्भव है। प्रत्येक वास्तविक सहजानुभूति अथवा प्रतिनिधान अभिव्यंजना भी है। अभिव्यंजना में जो तत्त्व व्यक्ति-निरपेक्ष नहीं रहता, यह सहजानुभूति अथवा प्रतिनिधान नहीं है, वह तो संवेदन और सिर्फ प्राकृतिक तथ्य है। आत्म-सृजन में, रूप-निर्माण में, अभिव्यक्ति में वह स्वयं-प्रकाशित होती है। जो सहजानुभूति को अभिव्यंजना से पृथक् करता है वह उनके पुनः संश्लेषण में कभी सफल नहीं होता।

सहजानुभूति की क्रिया में उस अंश तक सहजानुभूति होती है जिस अंश तक वह उसे अभिव्यक्त करती है। यदि इस उक्ति में विरोधाभास प्रतीत हो

तो इसका कारण यह है कि साधारणतः 'अभिव्यंजना' का एक अत्यन्त सीमित अर्थ में प्रयोग किया गया है। इसे प्रायः उस तक सीमित रखा जाता है जिसे शाब्दिक अभिव्यंजना कहते हैं। किन्तु अ-शाब्दिक अभिव्यंजनाएँ भी होती हैं, जैसे रेखा, रंग और ध्वनि की अभिव्यंजनाएँ। इन सब तक हमारी मान्यता का विस्तार होना चाहिए। अतः हमारी मान्यता व्यक्ति की सभी प्रकार की अभिव्यंजना को अपनी परिधि में समेट लेती है—यह व्यक्ति वक्ता भी है, संगीतज्ञ भी है, चित्रकार भी है, और उसके अन्य रूप भी हैं। व्यक्ति का प्रकाशन चित्र, शब्द, संगीत, या अन्य किसी भी रूप में क्यों न हों, सहजानुभूति अभिव्यंजना का कोई-न-कोई रूप ढूँढ़ ही लेती है; वस्तुतः अभिव्यंजना सहजानुभूति का एक अभिन्न अंग है। रेखागणित की एक आकृति की सहजानुभूति वस्तुतः हमें कैसे हो सकती है, जब तक कि हमारे अन्दर उसकी एक ऐसी सही प्रतिमा न हो जिसे हम शीघ्र ही कागज पर अथवा कृष्ण-पट पर अंकित न कर सकें? किसी प्रदेश की रूपरेखा, उदाहरण के लिए सिसिली द्वीप की रूपरेखा की सहजानुभूति हमें सचमुच कैसे हो सकती है जब तक कि उसकी सारी सर्पाकार आकृति को हम चित्रित न कर सकें? प्रत्येक व्यक्ति उस आन्तरिक प्रकाश की अनुभूति कर सकता है जो उस समय प्रकट होता है जब वह अपने भाव और प्रभाव को रूपाकार देने में सफल होता है। अतः यह आन्तरिक प्रकाश रूपकार की क्रिया से सम्बद्ध है। ये भाव अथवा प्रभाव शब्दों के द्वारा आत्म के अज्ञात प्रदेश से चिन्तन के स्पष्ट स्तर पर उतर जाते हैं। अभिज्ञान की इस प्रक्रिया में सहजानुभूति का अभिव्यंजना से विभेद करना असम्भव है। जब एक उत्पन्न होती है तो उसी क्षण उसके साथ दूसरी भी उत्पन्न होती है, कारण वे दो नहीं, एक हैं।

हमारे अभिमत में जो विरोधाभास दिखाई पड़ता है उसका मुख्य कारण हमारी भ्रांति अथवा पूर्वाग्रह है : हम यह समझते हैं कि हमें सत्ता की पूर्ण सहजानुभूति होती है, जितनी वास्तव में होती नहीं। कई लोगों के मुँह से हम प्रायः यह सुनते हैं कि उनके मस्तिष्क में बड़े-बड़े विचार उठते हैं, किन्तु वे उन्हें व्यक्त नहीं कर पाते। यदि उनके मस्तिष्क में सचमुच वे विचार उठते, तो वे निश्चय ही सुन्दर शब्दों का निर्माण कर लेते, और इस तरह उन्हें अभिव्यक्त कर देते। अभिव्यंजना की क्रिया में यदि ऐसा प्रतीत हो कि विचार अदृश्य हो रहे हैं अथवा न्यून एवं क्षीण हो रहे हैं, तो सच यह है कि या तो वे विचार थे ही नहीं अथवा वे वस्तुतः न्यून एवं क्षीण ही थे। लोगों का यह विचार है कि हम साधारण मानव चित्रकार की तरह भूमि-खण्डों, आकृतियों

तथा दृश्यों की कल्पना एवं सहजानुभूति करते हैं, और मूर्तिकार की तरह मन में उनको रूपाकार देते हैं। हममें और उनमें अन्तर सिर्फ इतना ही है, वे जानते हैं कि इन प्रतिमाओं को किस प्रकार चित्रित अथवा अंकित किया जाता है, जबकि वे प्रतिमाएँ हमारे मन में ही बनी रहती हैं, उन्हें बाह्य अभिव्यक्ति नहीं मिल पाती। इन लोगों का विश्वास है कि कोई भी व्यक्ति राफ़ेल की 'मेडोना' ^{१७६} की कल्पना कर सकता था, किन्तु राफ़ेल इसलिए राफ़ेल था कि उसके पास मेडोना को रूप देने की प्राविधिक योग्यता थी। इस मत से अधिक ग़लत और कोई मत नहीं हो सकता। सामान्यतः जिस जगत् को हम अनुभूत करते हैं वह एक छोटी-सी वस्तु है। यह जगत् उन छोटी-छोटी अभिव्यंजनाओं से संपृक्त है जो आत्मिक एकाग्रता के साथ-साथ क्रमशः विशदतर और महत्तर होती जाती हैं। 'हम क्षुद्र से महत्तर और महत्तर से महत्तम सहजानुभूतियों की ओर बढ़ते हैं। यह गति सदैव आसान नहीं होती। जिन लोगों ने कलाकारों के मनोविज्ञान का अच्छा अध्ययन किया है वे जानते हैं कि जब कलाकार किसी व्यक्ति पर सरसरी निगाह डाल चुके होते हैं, और फिर उसका छवि-चित्र चित्रित करने के लिए उसकी वास्तविक अनुभूति ग्रहण करने का प्रयत्न करते हैं, तो वह सरसरी निगाह जो आरंभ में इतनी यथार्थ और सजीव प्रतीत होती थी अब बहुत ही असंतोषजनक हो जाती है। कलाकार की सरसरी दृष्टि ने जो ग्रहण किया था वह व्यक्ति की अधिक-से-अधिक ऊपरी सतह की विशेषता थी, किन्तु वह व्यंग-चित्र के लिए भी पर्याप्त नहीं। जिस व्यक्ति की छवि कलाकार को चित्रित करनी है वह उसके सामने मानो एक जगत् है, जिसका उसे आविष्कार करना है। माइकेल एन्जेलो ^{१७७} ने कहा था कि 'कलाकार हाथ से नहीं, मस्तिष्क से चित्र खींचता है।' 'कलाकार इसलिए कलाकार है कि वह उन वस्तुओं को देखता है जिनका अन्य लोग केवल अनुभव करते हैं अथवा जिनकी थोड़ी-सी झलक मात्र पाते हैं, पर जिन्हें वे देख नहीं पाते। हम सोचते हैं कि हम एक मुस्कराहट देखते हैं, किन्तु वास्तव में हमें उसका एक धुंधला-सा संवेदन-मात्र होता है, हम उन सारी विशेषताओं को ग्रहण नहीं कर पाते जिनका पूर्ण योग वह मुस्कराहट है। चित्रकार जैसे-जैसे उस मुस्कराहट पर अपनी तूलिका का स्पर्श करता है, वह उसकी विशेषताओं का आविष्कार करता है, और उन्हें चित्रित करने में सफल होता है। हम अपनी सहजानुभूति द्वारा अपने उस अंतरंग मित्र के बारे में भी, जो हमेशा, हर घड़ी, हमारे साथ रहता है, अधिक नहीं जानते; साधारणतः हमारा ज्ञान उसकी रूपाकृति की उन विशेषताओं तक ही सीमित रहता है जिनके द्वारा हम

उसे अन्य लोगों से पृथक् कर सकते हैं ।

सत्य तो यह है कि हममें से प्रत्येक व्यक्ति के अंदर कवि, मूर्तिकार, संगीतज्ञ, चित्रकार, गद्य-लेखक का थोड़ा-सा अंश विद्यमान रहता है, किन्तु इन कलाकारों की तुलना में यह अंश कितना न्यून होता है, यह स्पष्ट है । इसका कारण यही है कि इन कलाकारों के अंदर मानव-प्रकृति की शाश्वत और सार्वभौमिक प्रवृत्तियाँ और शक्तियाँ महत् राशि में वर्तमान होती हैं । एक चित्रकार के पास एक कवि की सहजानुभूति का कितना थोड़ा अंश होता है ! और एक चित्रकार के पास दूसरे चित्रकार की सहजानुभूति का अंश भी कितना कम होता है ! इतना होने पर भी वह थोड़ा-सा अंश ही हमारी सहजानुभूतियों अथवा प्रतिनिधानों की वास्तविक पैतृक सम्पत्ति है । इनके परे जो है वह केवल प्रभाव, संवेदन, भाव, वृत्तियाँ, आवेग, अथवा वह जिसे आप जो चाहें संज्ञा दीजिए किन्तु वह आत्म-तत्त्व से रिक्त है, और जिसे मनुष्य ने आत्मसात् नहीं किया है, व्याख्या की सुविधा के लिए उसे धारित किया जाता है, किन्तु वह वस्तुतः अस्तित्वहीन है, कारण अस्तित्व भी आत्म का ही तथ्य है ।

सहजानुभूति और अभिव्यंजना का तादात्म्य

आरम्भ में हमने सहजानुभूति का जो विविध शाब्दिक वर्णन किया है उसमें यह जोड़ सकते हैं : सहजानुभूत ज्ञान अभिव्यंजनात्मक ज्ञान है । वह बौद्धिक क्रिया से स्वतंत्र और स्वायत्त है, परवर्ती अनुभवाश्रित प्रभेदों, यथार्थ और अयथार्थ, स्थान एवं काल के रूप-संघटनों तथा अवबोधनों के प्रति वह उदासीन है । सहजानुभूति अथवा प्रतिनिधान रूप है और इसीलिए उससे भिन्न जो अनुभव है, वह संवेदन के प्रवाह अथवा तरंग से भिन्न है, वह मानसिक वस्तु, द्रव्य, से भिन्न है—यह रूप, यह अधिकृति, अभिव्यंजना है । सहजानुभूति का होना अभिव्यंजित होना है, और सिर्फ अभिव्यंजित होना है (इससे न कुछ अधिक, न कम) ।

सहजानुभूति और कला

कला और सहजानुभूत ज्ञान का तादात्म्य

हमने स्पष्ट रूप में सहजानुभूत अथवा अभिव्यंजनात्मक ज्ञान का सौन्दर्यात्मक अथवा कलात्मक तथ्य के साथ तादात्म्य किया है । कलाकृतियों को हमने सहजानुभूत ज्ञान का उदाहरण माना है, और उन पर सहजानुभूति की विशेषताएँ आरोपित की हैं । किन्तु इस तादात्म्य का विरोध कई लोगों ने

किया है जिनमें बहुत-से दार्शनिक भी हैं : इन लोगों की मान्यता है कि कला एक अत्यंत ही विशिष्ट प्रकार की सहजानुभूति है। वे कहते हैं, 'हमने माना कि कला सहजानुभूति है, किन्तु सहजानुभूति सदैव कला नहीं होती। कलात्मक सहजानुभूति एक विशिष्ट प्रजाति है जो सहजानुभूति से साधारणतः कुछ अन्य तत्त्वों के कारण भिन्न होती है।'

किन्तु कोई भी व्यक्ति अभी तक यह निर्देशित नहीं कर सका है कि ये अन्य तत्त्व क्या हैं। कभी-कभी यह सोचा जाता है कि कला सरल सहजानुभूति नहीं है, वह सहजानुभूति की सहजानुभूति है, उसी प्रकार जैसे विज्ञान की अवधारणा को साधारण अवधारणा के रूप में नहीं किन्तु अवधारणा की अवधारणा के रूप में परिभाषित किया जाये; अतः व्यक्ति कला को साध सकता है, अपने संवेदनों के निरपेक्षीकरण द्वारा नहीं जैसा कि साधारण सहजानुभूति में होता है, किन्तु स्वयं सहजानुभूति के निरपेक्षीकरण द्वारा। किन्तु वस्तुतः यह दूर की कौड़ी अस्तित्व नहीं रखती, और इस प्रकार सहजानुभूति की साधारण एवं वैज्ञानिक अवधारणा के साथ तुलना करने से अभीष्ट की सिद्धि भी नहीं होती, कारण यह सत्य नहीं कि वैज्ञानिक अवधारणा 'अवधारणा की अवधारणा' है। इस तुलना से यदि कोई बात सिद्ध होती है तो ठीक इसकी विरोधी बात। साधारण अवधारणा यदि वस्तुतः कोई अवधारणा है और सरल प्रतिनिधान नहीं, तो वह एक पूर्ण अवधारणा है, भले ही वह छोटी और सीमित हो। विज्ञान प्रतिनिधानों के स्थान पर अवधारणाओं को प्रतिस्थापित करता है, जो अवधारणाएँ छोटी और सीमित होती हैं उनके स्थान पर वह विशद और व्यापक अवधारणाओं को प्रतिस्थापित करता है, वह सदैव नवीन सम्बन्धों का आविष्कार करता रहता है। किन्तु इसकी पद्धति उस पद्धति से भिन्न नहीं होती जिसके द्वारा साधारण-से-साधारण व्यक्ति के मस्तिष्क में छोटे-से-छोटे जगत् का रूप-निर्माण होता है। जिसे साधारणतः हम असन्दिग्ध रूप में श्रेष्ठ कला कहते हैं वह उन सहजानुभूतियों का संकलन करती है, जो सामान्य सहजानुभूतियों से अधिक जटिल और अधिक व्यापक होती हैं, किन्तु ये सहजानुभूतियाँ हमेशा संवेदनों एवं प्रभावों से सम्बद्ध होती हैं। कला प्रभावों की अभिव्यंजना है, न कि अभिव्यंजना की अभिव्यंजना।

तीव्रता में कोई अन्तर नहीं

इसी कारण इस बात पर भी बल नहीं दिया जा सकता कि वह सहजानुभूति, जिसे सामान्यतः कलात्मक कहा जाता है, साधारण सहजानुभूति से

तीव्रता में भिन्न होती है। यह उस स्थिति में सम्भव है जबकि वह एक ही वस्तु पर भिन्न प्रकार के कार्य करे। कलात्मक सहजानुभूति का व्यापार-क्षेत्र अधिक विस्तार रखता है। किन्तु अपनी कार्य-पद्धति में वह साधारण सहजानुभूति से भिन्न नहीं होता। अतः उनका अन्तर तीव्रता में नहीं, विस्तार में है। एक सरलतम लोकप्रिय प्रेम-गीत की सहजानुभूति, जिसमें प्रेम की वही घोषणा, अथवा लगभग वही घोषणा मिलती है, जो सहस्र-सहस्र साधारण व्यक्तियों के अधरों से प्रति क्षण फूटती रहती है, अपनी सरलता में तीव्रता की दृष्टि से पूर्ण हो सकती है, भले ही विस्तार की दृष्टि से वह लियोपार्डी^{१७८} के प्रेम-गीत की जटिल सहजानुभूति की अपेक्षा कहीं अधिक सीमित हो।

अन्तर विस्तार और अनुभव में है

अतः यह सारा अन्तर परिमाणात्मक है, और इस कारण वह दर्शन-शास्त्र (गुणात्मक विज्ञान) के प्रति उदासीन है। कुछ व्यक्तियों में आत्म की जटिल अवस्थाओं को प्रकट करने की अधिक अभिरुचि, विशेष प्रवृत्ति परिलक्षित होती है। इन व्यक्तियों को साधारण भाषा में कलाकार कहा गया है। कुछ कठिन और जटिल अभिव्यंजनाएँ बहुधा सध नहीं पातीं, और इन्हें कलाकृतियाँ कहा जाता है। अभिव्यंजन-सहजानुभूति की सीमाएँ, जिन्हें कला कहते हैं (उनके विपरीत जिन्हें साधारणतः अ-कला कहते हैं), अनुभवाश्रित हैं और उनकी परिभाषा करना कठिन है। यदि एक दोहा कला है तो एक सरल शब्द कला क्यों नहीं? यदि एक कहानी कला है तो पत्रकार का समाचार-संकलन कला क्यों नहीं? यदि एक दृश्य-चित्रण कला है तो भू-खण्ड का आरेखण कला क्यों नहीं?

हमें इस तादात्म्य पर पूरा बल देना चाहिए। यदि सौन्दर्य-शास्त्र, जो कला का शास्त्र है, कला की वास्तविक प्रकृति प्रकट नहीं कर पाता, मानव-प्रकृति में प्रविष्ट इसकी जड़ों को नहीं दिखा पाता, तो इसका प्रमुख कारण सामान्य आध्यात्मिक जीवन से इसका पृथक्करण है। सौन्दर्य-शास्त्र को एक विशिष्ट अथवा अभिजात रूप में देखने का यह परिणाम है। शरीर-क्रिया-विज्ञान से जब हमें यह मालूम होता है कि प्रत्येक कोश जीव है और प्रत्येक जीव एक कोश अथवा कोशों का संश्लेषण है, तो कोई आश्चर्य नहीं होता। किसी को यह जानकर अचरज नहीं होता कि पत्थर का एक टुकड़ा जिन रासायनिक तत्त्वों से निर्मित है, वे ही एक उन्नत पर्वत में भी वर्तमान हैं। छोटे-छोटे जानवरों की एक शरीर-क्रिया और बड़े-बड़े जानवरों की दूसरी शरीर-क्रिया नहीं होती,

और न पत्थरों के लिए, पर्वतों से भिन्न, कोई विशिष्ट रासायनिक सिद्धान्त होता है। इसी प्रकार यह बात नहीं है कि एक तो छोटी सहजानुभूति का शास्त्र है, और दूसरा बड़ी सहजानुभूति का, कि एक शास्त्र सामान्य सहजानुभूति का है और दूसरा कलात्मक सहजानुभूति का। सौन्दर्य-शास्त्र केवल एक है, वह सहजानुभूत अथवा अभिव्यंजनात्मक ज्ञान का (जो सौन्दर्यात्मक अथवा कलात्मक तथ्य है) शास्त्र है। और यही सौन्दर्य-शास्त्र तर्क-शास्त्र का सच्चा समान-धर्मा है; तर्क-शास्त्र में, एक ही प्रकृति के तथ्य होने के कारण, लघुतम और सामान्यतम अवधारणा तथा जटिलतम वैज्ञानिक एवं दार्शनिक पद्धति सन्निहित है।

कलात्मक प्रतिभा

न हम यह मानने के लिए तैयार हैं कि साधारण व्यक्ति की 'अ-प्रतिभा' से भिन्न 'प्रतिभा' अथवा 'कलात्मक प्रतिभा' शब्द में परिमाणात्मक सार्थकता से अधिक और कोई सार्थकता है। यह कहा जाता है कि महान् कलाकार हमारी आत्मा का हमें दर्शन कराते हैं। किन्तु यह कैसे सम्भव हो सकता है यदि उनकी और हमारी कल्पना में प्रकृति-सादृश्य न हो, और यदि कोई अन्तर हो तो केवल परिमाण का हो। 'कवि जन्मजात होता है' की अपेक्षा यह कहना अधिक संगत होगा कि 'मनुष्य जन्मना कवि होता है' : कुछ लोग जन्म से महान् कवि होते हैं, कुछ लोग छोटे कवि। अपने सारे अन्धविश्वासों के साथ प्रतिभा-पूजा का मत इसी परिमाणात्मक अन्तर से पैदा हुआ है, जिसे लोगों ने गुण का अन्तर मान लिया है। लोग यह भूल जाते हैं कि प्रतिभा कोई ऐसी वस्तु नहीं है, जो आसमान से टपकी है, वह मनुष्य से ही सम्बद्ध है। जो प्रतिभाशाली व्यक्ति अपने आपको मनुष्य जाति से परे मानता है, अथवा जिसे इस रूप में प्रस्तुत किया जाता है, उसे इस प्रवृत्ति का परिणाम भी भोगना पड़ता है, वह या तो उपहासास्पद हो जाता है या उपहासास्पद प्रतीत होने लगता है। इसके उदाहरण स्वच्छन्दतावादी काल के प्रतिभाशाली व्यक्ति तथा हमारे युग के अति-मानव हैं।

सौन्दर्य-शास्त्र में आधेय और रूप

वस्तु और रूप का, अथवा जैसा कि साधारणतः कहा जाता है आधेय और रूप का, सम्बन्ध सौन्दर्य-शास्त्र के अत्यधिक विवादास्पद प्रश्नों में से एक है। सौन्दर्यात्मक तथ्य में क्या केवल आधेय आता है, अथवा केवल रूप आता है, अथवा दोनों ही आते हैं, इस प्रश्न को कई प्रकार से समझाया गया है, जिनका

हम यथास्थान उल्लेख करेंगे। किन्तु जब इन शब्दों से वे अर्थ लिए जाते हैं जिनको हम ऊपर निर्दिष्ट कर चुके हैं, अर्थात् जब वस्तु से प्रभाव अथवा उस मनोवेग-तत्त्व का जो सौन्दर्यात्मक ढंग से विशद नहीं होता, अर्थ लिया जाता है, और रूप से बौद्धिक क्रिया एवं अभिव्यंजना का अभिप्राय निकलता है, तब हमारे मत में किसी प्रकार का सन्देह नहीं रह जाता। कहने का तात्पर्य यह है कि हम उन दोनों को अस्वीकार करते हैं जो सौन्दर्यात्मक तथ्य में या तो केवल आधेय (अर्थात् सरल संवेदन) पाते हैं, अथवा जो उसमें रूप और आधेय का सम्मिश्रण, अर्थात् प्रभाव एवं अभिव्यंजना का सम्मिश्रण, पाते हैं। सौन्दर्यात्मक तथ्य में अभिव्यंजनात्मक क्रिया को प्रभावों के साथ योग-संकलित नहीं किया जाता, किन्तु प्रभाव उसके द्वारा रूप-संघटित होते हैं, विस्तार पाते हैं। प्रभाव मानो अभिव्यंजना में फिर से प्रकट हो जाते हैं, जिस तरह छलनी में रखा हुआ जल छन-छनकर फिर से प्रकट हो जाता है : जल वही है, फिर भी कितना भिन्न ! अतः कलात्मक तथ्य रूप है, और रूप के अतिरिक्त कुछ नहीं।

इससे निष्कर्ष नहीं निकाला गया कि आधेय कोई अनावश्यक वस्तु है (सच तो यह है कि वह अभिव्यंजनात्मक तथ्य के लिए आवश्यक प्रस्थान-बिन्दु है), किन्तु यह कि आधेय के गुणों से रूप के गुणों तक जाने का कोई मार्ग नहीं है। कभी-कभी यह सोचा जाता है कि वस्तु-तत्त्व को सौन्दर्यात्मक होने के लिए, अर्थात् रूप में परिवर्तित होने के लिए, कुछ ऐसे गुणों से युक्त होना चाहिए जो निर्धारित अथवा निर्धारणीय हैं। किन्तु यदि ऐसा हो तो रूप और आधेय, अभिव्यंजना और प्रभाव एक ही चीज होंगे। यह सच है कि आधेय वह है जो रूप में परिवर्तित हो सकता है, किन्तु जब तक यह रूपान्तरण नहीं हो जाता उसके पास कोई निर्धारणीय गुण नहीं होते। इस सम्बन्ध में हम कुछ नहीं जानते। वह कलात्मक वस्तु-तत्त्व तभी बनता है जबकि वह सचमुच रूपान्तरित हो जाता है, इसके पूर्व नहीं।

प्रकृति की अनुकृति एवं कलात्मक भ्रान्ति की आलोचना

कला प्रकृति की अनुकृति है—इस स्थापना के भी कई अर्थ हैं। कभी-कभी इन शब्दों के द्वारा सत्य को व्यक्त, अथवा कम-से-कम उसे ध्वनित, किया गया है। कभी-कभी इनके द्वारा असत्य का प्रख्यापन हुआ है। अधिकतर तो यह होता है कि इनके द्वारा कोई भी निश्चित विचार व्यक्त नहीं हो पाता। वैज्ञानिक दृष्टि से एक वैध अर्थ उस समय प्रकट होता है जब अनुकृति की प्रकृति का प्रतिनिधान अथवा सहजानुभूति, ज्ञान का एक रूप, माना जाता है। और

जब यह पदोच्चय इस अभिप्राय के साथ प्रयुक्त होता है, और जब इसके द्वारा प्रक्रिया के आध्यात्मिक स्वभाव पर बल दिया जाता है, तब एक दूसरी स्थापना भी वैध हो जाती है, अर्थात् कला प्रकृति का आदर्शिकरण अथवा आदर्शकारी अनुकृति है। किन्तु यदि प्रकृति की अनुकृति से यह समझा जाय कि कला प्राकृतिक वस्तुओं की यान्त्रिक प्रतिकृतियाँ, लगभग पूर्ण प्रतिलिपियाँ उपस्थित करती है और उनके समक्ष उसी प्रकार का प्रभाव-उद्वेलन होता है जैसा प्राकृतिक वस्तुओं द्वारा, तो निःसन्देह यह स्थापना गलत है। मोम की रंगीन पुतलियाँ जो जीवन की नक़ल करती हैं, जिनके सामने संग्रहालयों में हम अवाक् खड़े रहते हैं, सौन्दर्यात्मक सहजानुभूतियाँ नहीं उत्पन्न करतीं। कलात्मक सहजानुभूति के शान्त क्षेत्र से भ्रान्ति और मतिभ्रम का कोई सम्बन्ध नहीं। किन्तु इसके विपरीत यदि एक कलाकार मोम की पुतलियों का संग्रहालय अन्दर से रंग दे, चित्रित कर दे, अथवा एक अभिनेता रंगमंच पर मानव-मूर्ति का हास्यपूर्ण अभिनय करे, तो वहाँ कलात्मक सहजानुभूति का, आत्मा का, व्यापार प्रकट होता है। यदि फ़ोटोग्राफी में कोई कलात्मक वस्तु है तो वह यही कि वह फ़ोटोग्राफ़र की सहजानुभूति, उसके दृष्टिकोण, मुद्रा, भाव-भंगिमा आदि के नियोजन में उसके प्रयत्न को हम तक प्रेषित करती है। और यदि फ़ोटोग्राफी सचमुच कला नहीं है तो इसका यथार्थ कारण यही है कि उसमें निहित प्रकृति का तत्त्व लगभग अविजित है और उसका उन्मूलन नहीं हो पाता। अच्छी-से-अच्छी फ़ोटो के सामने भी क्या हमें सचमुच कभी पूर्ण परितोष होता है? क्या एक कलाकार किसी चित्र (फ़ोटो) में थोड़ा-बहुत परिवर्तन अपनी तूलिका के स्पर्श द्वारा नहीं करता?

सैद्धान्तिक तथ्य की अपेक्षा भावात्मक तथ्य के रूप में कला : सौन्दर्यात्मक प्रतीति और भाव

कला के सम्बन्ध में कई प्रकार की उक्तियाँ प्रचलित हैं, जैसे कि कला ज्ञान नहीं है, वह सत्य को प्रकट नहीं करती, वह सिद्धान्त के जगत् से नहीं, भाव के जगत् से सम्बद्ध है। इन उक्तियों के प्रचलन का कारण यह है कि हम यथार्थतः सरल सहजानुभूति के सैद्धान्तिक स्वरूप को समझ नहीं सके हैं। यह सरल सहजानुभूति बौद्धिक ज्ञान से सर्वथा भिन्न होती है, उसी प्रकार जैसे वह यथार्थ के प्रत्यक्षीकरण से भिन्न होती है। और उपर्युक्त उक्तियाँ इस विश्वास पर आश्रित हैं कि केवल बौद्धिक ज्ञान ही ज्ञान है। हम यह देख चुके हैं कि सहजानुभूति ज्ञान है, वह धारणाओं से मुक्त है और यथार्थ के तथा-

कथित प्रत्यक्षीकरण से अधिक सरल है। अतः कला ज्ञान है, रूप है; वह मानस-वस्तु से अथवा भाव-जगत् से सम्बद्ध नहीं। बहुत से सौन्दर्यवादियों ने इस बात पर बल दिया है कि कला प्रतीति है। इसका कारण यही है कि वे यह आवश्यक मानते हैं कि कला को अधिक जटिल प्रत्यक्षीकरण-तथ्य से पृथक् रखा जाय, अतः वे कला की विशुद्ध सहजानुभूति पर आग्रह रखते हैं। इसके विपरीत दूसरी ओर यह दावा किया जाता है कि कला भाव है। वहाँ भी कारण वही है। क्योंकि यदि कला के क्षेत्र से धारणा (कला के आधेय की हैसियत से) और ऐतिहासिक यथार्थ को बहिष्कृत कर दिया जाय, तो वहाँ सत्ता के अतिरिक्त और कोई आधेय शेष नहीं रह जाता, और यह वह सत्ता होती है जिसका बोध भाव में, मूल वृत्ति में उसकी सम्पूर्ण सहजता और साम्प्रतिकता के साथ किया जाता है, दूसरे शब्दों में वह फिर विशुद्ध सहजानुभूति है।

सौन्दर्यात्मक संवेदनों के सिद्धान्त की आलोचना

सौन्दर्यात्मक संवेदनों का सिद्धान्त भी हमारी उसी असफलता से उत्पन्न होता है जब हम अभिव्यंजना का प्रभाव से, रूप का वस्तु से भेद नहीं कर पाते, अथवा जब वह भेद हमारी दृष्टि से ओभल हो जाता है।

यह सिद्धान्त उसी भूल को प्रकट करता है जिसका निर्देशन ऊपर किया जा चुका है, अर्थात् आधेय के गुणों से रूप के गुणों का मार्ग पाने की इच्छा करना। सौन्दर्यात्मक संवेदन कौन-से हैं? इस प्रश्न का अभिप्राय यही है कि कौन-से इन्द्रिय-ग्राह्य प्रभाव सौन्दर्यात्मक अभिव्यंजनाओं में प्रवेश कर सकते हैं, और किनके लिए यह प्रवेश पाना अत्यन्त आवश्यक है? इस प्रश्न का हमें तुरन्त उत्तर देना चाहिए कि सारे प्रभाव सौन्दर्यात्मक अभिव्यंजनाओं अथवा रूप-संघटनों में प्रवेश कर सकते हैं, किन्तु कोई भी अनिवार्यतः ऐसा करने के लिए बाध्य नहीं है। दांते ने 'प्राच्य नीलमणि के सुन्दर वर्ण' (चाक्षुष प्रभाव) को ही रूप का गौरव नहीं दिया, किन्तु स्पर्श तथा ऊष्म प्रभावों को भी वह गौरव दिया, जैसे 'सघन वायु' और 'सद्यः निर्मल सरिताएँ' तृप्ति कण्ठ को और सुखाती हैं। यह विश्वास कि एक चित्र केवल चाक्षुष प्रभाव उत्पन्न करता है विचित्र भ्रम है। कपोलों की लालिमा, यौवनपूर्ण शरीर की ऊष्मा, फल की मिठास और ताज़गी, तेज़ छुरी की धार—क्या ये प्रभाव चित्र से उत्पन्न नहीं होते? क्या ये चाक्षुष हैं? एक व्यक्ति की कल्पना कीजिए जो सभी अथवा बहुत-सी इन्द्रियों से वंचित है, सहसा उसकी आँखें ज्योति से भर उठती हैं। इस

व्यक्ति के लिए चित्र का क्या अर्थ होगा ? जो चित्र हम देख रहे हैं, और इस विश्वास के साथ कि केवल नेत्रों से हम देखते हैं, वह चित्र उस व्यक्ति के नेत्रों को केवल रंगों का आलेप प्रतीत होगा ।

जो लोग दृढ़ता के साथ यह मानते हैं कि प्रभावों के कतिपय वर्ग, जैसे चाक्षुष और श्रव्य प्रभाव, ही सौन्दर्यात्मक हैं, और अन्य वर्ग नहीं, वे भी यह स्वीकार करने के लिए तैयार हैं कि यदि सौन्दर्यात्मक तथ्य में चाक्षुष और श्रव्य प्रभाव सीधे, प्रत्यक्ष प्रवेश कर सकते हैं, तो अन्य इन्द्रियों के प्रभाव भी वहाँ गति रख सकते हैं, यद्यपि वह गति परोक्ष होगी । किन्तु यह अन्तर सर्वथा स्वैच्छिक है । सौन्दर्यात्मक अभिव्यंजना एक संश्लेषण है । उसमें प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष का भेद करना असम्भव है । जब प्रभावों का सौन्दर्योत्प्रेरण हो जाता है, तब अभिव्यंजना उन्हें एक ही स्तर पर रखती है । जब एक व्यक्ति किसी चित्र अथवा कविता के विषय को अन्तर्लीन करता है, तब उसके सामने वह विषय प्रभावों के क्रम के रूप में नहीं आता : वह यह नहीं सोचता कि कुछ प्रभाव परम अधिकार-सम्पन्न हैं और कुछ नहीं । वह यह नहीं जानता कि विषय के अन्तर्लीन होने के पूर्व क्या घटित हो चुका है, इसी प्रकार विचार की क्रिया के बाद जो प्रभेद बनते हैं, कला का उनके साथ कोई सम्बन्ध नहीं होता ।

सौन्दर्यात्मक संवेदनों के सिद्धान्त को एक दूसरे रूप में भी प्रस्तुत किया गया है : इस प्रयत्न-स्थापना के रूप में कि सौन्दर्यात्मक तथ्य के लिए कौन-से दैहिक अवयव आवश्यक हैं । एक दैहिक अवयव कोश-समूह के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है जो एक विशिष्ट प्रकार से प्रवृत्त और संघटित होता है, अर्थात् वह केवल एक शारीरिक और प्राकृतिक तथ्य अथवा अवधारणा है । किन्तु अभिव्यंजना दैहिक तथ्यों को नहीं जानती । अभिव्यंजना का निष्क्रमण-विन्दु प्रभाव है, जिस दैहिक पथ से प्रभाव मनस् में प्रवेश करता है उसके प्रति अभिव्यंजना सर्वथा उदासीन होती है । यह पथ हो अथवा वह पथ—वात एक ही है : इसके लिए इतना ही पर्याप्त है कि वे प्रभाव हैं ।

इसमें सन्देह नहीं कि कुछ अंगों, अर्थात् कुछ कोश-समूहों के अभाव में कतिपय प्रभावों का रूप-संगठन रुक जाता है (यदि ये प्रभाव प्रांगरिक क्षतिपूर्ति के सिद्धान्त के अनुसार अन्ततः उपलब्ध न हों) । जो जन्मांध है वह प्रकाश की सहजानुभूति अथवा अभिव्यक्ति नहीं कर सकता । किन्तु प्रभाव पूर्णतः अंग से ही निर्दिष्ट नहीं होते, वे उस उत्तेजना से भी निर्दिष्ट होते हैं जो अंग पर परचालित होती है । जिस पर कभी समुद्र का प्रभाव नहीं हुआ, वह कभी उस प्रभाव को व्यक्त नहीं कर सकता, उसी प्रकार जैसे यदि किसी ने उच्च

सामाजिक अथवा राजनीतिक जीवन का प्रभाव-बोध नहीं किया, तो वह उसे प्रकट नहीं कर सकता। किन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि अभिव्यंजनात्मक व्यापार उत्तेजना अथवा अंग पर आश्रित है। यह केवल उसी तथ्य की आवृत्ति है जिसे हम पहले से जानते हैं : अभिव्यंजना प्रभाव की पूर्व कल्पना करती है, और विशिष्ट अभिव्यंजनाएँ विशिष्ट प्रभावों की पूर्व कल्पना करती हैं। जिस क्षण जिस प्रभाव का जोर होता है, उस क्षण वह अन्य प्रभावों का दमन-अपवर्जन करता है, और यही बात अभिव्यंजना पर लागू होती है।

कलाकृति की एकता और अखण्डता

अभिव्यंजना की क्रिया का एक अन्य उपप्रमेय कलाकृति की अखण्डता है। प्रत्येक अभिव्यंजना इकाई अभिव्यंजना है। क्रिया आचर्यक समग्रता में प्रभावों का एकीकरण है। इस एकीकरण को व्यक्त करने की इच्छा ने सदैव यह प्रेरणा दी है कि कलाकृति की एकता को पुष्ट किया जाय, दूसरे शब्दों में विविधता में एकता स्थापित की जाये। अभिव्यंजना इस विविधता, इस नानात्व, का एक में संश्लेषण है।

कलाकृति को हम भागों में, कविता को दृश्यों, उपाख्यानों, उपमाओं, वाक्यों में, एक चित्र को अलग-अलग आकृतियों और वस्तुओं, पृष्ठभूमि, पुरो-भूमि, आदि में विभक्त करते हैं—यह क्रिया एकता का विरोध करती हुई प्रतीत होती है। इस प्रकार का वर्गीकरण कृति को नष्ट कर देता है, जिस प्रकार जीव को हृदय, मस्तिष्क, धमनियों, मांस-पेशियों में बाँट देना जीवित प्राणी को शव में बदल लेना है। यह सत्य है कि ऐसे भी जीव हैं जिनके टुकड़े करने से अन्य जीव पैदा हो पड़ते हैं, किन्तु इस स्थिति में, जीव और कलाकृति के सादृश्य को ध्यान में रखते हुए, हमें इसी निष्कर्ष पर पहुँचना चाहिए कि कलाकृति में भी ऐसे असंख्य जीव-कीटाणु हैं जिनमें प्रत्येक, प्रति क्षण एक पूर्ण अभिव्यंजना में विकास पाने के लिए तैयार है।

कला मुक्तिदात्री के रूप में

अपने प्रभावों का विस्तार कर मनुष्य अपने आपको उनसे मुक्त करता है। उनका निरपेक्षीकरण कर वह उन्हें अपने से दूर करता है, और अपने आपको उनसे श्रेष्ठ सिद्ध करता है। कला का यह मुक्तिदायक एवं शोधक व्यापार उसके क्रिया-स्वरूप का एक दूसरा पहलू, एक दूसरा सूत्र है। क्रिया मुक्ति देती है, कारण वह निष्क्रियता को भगाती है।

इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि कलाकारों पर अधिक-से-अधिक इन्द्रिय-ग्राह्यता अथवा आवेश और अधिक-से-अधिक असंवेद्यता अथवा दिव्य सौम्यता दोनों क्यों आरोपित की जाती हैं। दोनों स्वभाव संगत हैं, कारण वे एक ही वस्तु को निर्देशित नहीं करते। संवेद्यता अथवा आवेश का सम्बन्ध उस समृद्ध पदार्थ से है जिसे कलाकार अपने मानस-जीवन में अन्तर्लीन कर लेता है, असंवेद्यता अथवा सौम्यता का सम्बन्ध उस रूप से है जिसकी सहायता से वह संवेदनों एवं आवेशों की तुमुलता को शमित और पराभूत करता है।

(ऐस्थैटिक)

अनुवादक : डा० मोहनलाल

टी० एस० इलियट

(जन्म—सितम्बर २६, १८८८ ई०)

[इलियट वर्तमान अंग्रेजी साहित्य के युग-प्रवर्तक कवि और विचारक हैं। काव्य की एक नवीन धारा का प्रवर्तन करने के साथ ही उन्होंने काव्य-चेतना का गम्भीर विश्लेषण भी प्रस्तुत किया है। उनके साहित्य के रसात्मक तथा सैद्धान्तिक दोनों पक्षों का ही समान महत्त्व है।

इलियट जन्म से अमरीकी हैं। विद्यार्थी-जीवन में ही उन्होंने साहित्य-साधना आरम्भ कर दी थी। हार्वर्ड विश्वविद्यालय के साहित्यिक जीवन के विकास में उन्होंने प्रमुख भाग लिया। १९०७-१० तक वे 'हार्वर्ड एडवोकेट' में अपनी कविताएँ प्रकाशित करते रहे और दो वर्ष तक उन्होंने उस पत्रिका का सम्पादन भी किया। इसके पश्चात् तर्कशास्त्र, तत्त्वज्ञान, संस्कृत और पालि चारों विषयों को मिलाकर उन्होंने दर्शनशास्त्र में पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त की। १९२८ में उनकी प्रसिद्ध पत्रिका 'दि क्राइटीरियन' का प्रकाशन हुआ जिसने साहित्य तथा दर्शन दोनों के क्षेत्रों में गहरा प्रभाव डाला है। इलियट ने काव्य, नाटक, आलोचनात्मक निबन्ध आदि अनेक साहित्य-रूपों का सृजन किया है।

वर्तमान युग के सर्वश्रेष्ठ कवि होने के साथ ही, आलोचक के रूप में भी इलियट का अपना विशेष गौरव है। साहित्य के महत्त्व के विषय में उनके विचार अत्यन्त प्रबल हैं : 'जो जाति साहित्यिक दाय की उपेक्षा करती है वह बर्बर हो जाती है, जो साहित्य का निर्माण करना बन्द कर देती है, विचार-जगत् से उसका सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है।'।

साहित्य-चिन्तन के क्षेत्र में इलियट ने दो महत्त्वपूर्ण कार्य किये हैं : (१) सर्वग्रासी वैयक्तिकता का तिरस्कार करते हुए कला के निर्वैयक्तिक सृजनात्मक रूप की प्रतिष्ठा; (२) कला के क्षेत्र में साहित्येतर ज्ञान-विज्ञान के वर्धमान दुष्प्रभाव का अवरोध और कला की शुद्धता की पुनःस्थापना।

काव्य के स्रष्टा और आलोचक दोनों ही रूपों में आधुनिक अंग्रेजी

साहित्य के अन्तर्गत इलियट का अन्यतम स्थान है—उन्होंने साहित्य में रोमानी-भावगत मूल्यों के विरुद्ध प्राचीन-वस्तुगत एवं तटस्थ दृष्टिकोण का समर्थन किया है। काव्य में अव्यक्तिवाद का यही सिद्धान्त साहित्य-शास्त्र के प्रति उनका अत्यन्त विशिष्ट और महत्वपूर्ण योग है। जीवन और साहित्य दोनों में उनका दृष्टिकोण स्थिर परम्परावादी है—धर्म में वे एंग्लो-कैथोलिक हैं, राजनीति में राजभक्त, और साहित्य में आभिजात्यवादी। उनकी दृष्टि में किसी एक काल अथवा किसी एक व्यक्ति का साहित्य अपना पृथक् अस्तित्व नहीं रखता, सम्पूर्ण साहित्य अखंड रूप है जिसमें परम्परा की अविच्छिन्न धारा प्रवाहित होती रहती है। अतीत और वर्तमान इसी अखण्ड परम्परा में अनुस्यूत हैं—अतीत का तो वर्तमान पर प्रभाव पड़ता ही रहा है, वर्तमान भी अतीत को प्रभावित करता है। कवि के लिए अपनी चेतना का ज्ञान पर्याप्त नहीं है; उसको समाज, जाति और देश की अखंड चेतना का ज्ञान होना चाहिए। यह जातीय चेतना सतत विकासशील है, काव्य या कला के प्राचीन या नवीन सभी प्रस्फुटन इसके अन्तर्गत आ जाते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि कवि को अपने अतीत की निर्भ्रान्त चेतना होनी चाहिए। और उसे इस चेतना का जीवन भर विकास करना चाहिए। इस प्रकार उसे परम्परा के लिए अपनी वर्तमान स्थिति का उत्सर्ग करना पड़ता है।—कलाकार का विकास वास्तव में आत्मोत्सर्ग का, आत्म-निषेध का एक अनवरत प्रयत्न है। इस विवेचन के उपरान्त इलियट एक साथ अपने प्रसिद्ध अव्यक्तिवादी सिद्धान्त की स्थापना कर देते हैं—साहित्य (काव्य) आत्म की अभिव्यक्ति नहीं वरन् आत्म से पलायन है।]

×

×

×

अभिजात काव्य की परिभाषा

‘अभिजात कृति’* से मेरा तात्पर्य क्या है, यदि यह मैं एक शब्द में बतलाना चाहूँ तो मेरे मन्तव्य की सबसे अधिक व्यंजना जो शब्द करता है, वह है प्रौढ़ता। अपनी ही भाषा के अन्य साहित्य की सापेक्षता में अथवा युग-विशेष के दृष्टिकोण के अनुसार जो अभिजात हो तथा वर्जिल के समान सार्वभौम अभिजात रचना—इन दोनों में मैं भेद करता हूँ। जब कोई सभ्यता प्रौढ़ हो, जब भाषा और साहित्य प्रौढ़ हों तभी उसमें अभिजात कृति की रचना हो सकती है और वह प्रौढ़ मस्तिष्क का ही कृतित्व हो सकता है। किसी सभ्यता तथा भाषा की महत्ता और कवि-विशेष की ग्रहण-शक्ति की व्यापकता कृति को सार्व-

* क्लासिक

भौमता प्रदान करती है। बिना यह माने कि श्रोता पहले से ही जानता है कि प्रौढ़ता का अर्थ क्या है, उसकी परिभाषा करना प्रायः असम्भव है। तब हम यह कह सकते हैं कि यदि हम सम्यक् रूप से प्रौढ़ हैं, तथा शिक्षित भी हैं, तो किसी भी सभ्यता तथा साहित्य की प्रौढ़ता को हम पहचान सकते हैं—जैसे कि जिन लोगों से हम मिलते हैं उनकी प्रौढ़ता को जान जाते हैं। अप्रौढ़ के निकट प्रौढ़ता का अर्थ बोधगम्य बनाना—यहाँ तक कि स्वीकार्य बनाना भी—कदाचित् असम्भव है। परन्तु यदि हम प्रौढ़ हैं तो या तो हम प्रौढ़ता को तुरन्त ही पहचान जाते हैं अथवा अधिक घनिष्ठ परिचय होने पर उससे अवगत हो जाते हैं।

×

×

×

हम देखते हैं कि कुछ मस्तिष्क अन्यो की अपेक्षा जल्दी प्रौढ़ता प्राप्त कर लेते हैं और हम यह भी देखते हैं कि जो मस्तिष्क बहुत जल्दी प्रौढ़ हो जाते हैं उनका विकास सदा बहुत अधिक नहीं होता। मैंने यह बात इसलिए उठाई है कि इस सन्दर्भ में दो तथ्य स्मरण रखे जायें—एक तो यह कि प्रौढ़ता का मूल्य, जो प्रौढ़ता प्राप्त करता है उसके मूल्य पर निर्भर है; दूसरे हम इस बात से अवगत हों कि कब हम व्यष्टि-लेखकों की प्रौढ़ता पर विचार कर रहे हैं और कब साहित्यिक युगों की सापेक्षिक प्रौढ़ता पर। हो सकता है किसी एक लेखक का मस्तिष्क किसी अन्य लेखक की अपेक्षा अधिक प्रौढ़ हो पर उसका आविर्भाव अपेक्षाकृत कम प्रौढ़ युग में हुआ हो—अतः इस दृष्टि से उसकी कृति कम प्रौढ़ होगी। साहित्य की प्रौढ़ता जिस समाज में उसका सृजन होता है उसकी प्रौढ़ता का प्रतिबिम्ब होती है। व्यष्टि-लेखक—विशेषतः वर्जिल अथवा शेक्सपियर जैसा लेखक—अपनी भाषा को विकसित करने के लिए बहुत-कुछ कर सकता है परन्तु यदि उसके पूर्ववर्तियों ने ऐसी भूमिका तैयार नहीं कर दी कि उसके अन्तिम स्पर्श भर की आवश्यकता हो तो वह उसे प्रौढ़ता प्रदान नहीं कर सकता। अतः प्रौढ़ साहित्य के पीछे एक इतिहास होता है और यह इतिहास मात्र इतिवृत्त अथवा भाँति-भाँति की रचनाओं एवं पांडुलिपियों का संचय भर ही नहीं होता वरन् अपनी परिसीमाओं में अपनी क्षमताओं की सिद्धि के निमित्त एक भाषा की व्यवस्थित—यद्यपि अचेतन—प्रगति होती है।

यह बात ध्यान देने की है कि व्यक्ति की भाँति समाज और साहित्य भी हर दिशा में समान रूप से एक साथ ही प्रौढ़ता प्राप्त कर लें—यह आवश्यक नहीं। अकालपक्व बालक कुछ बातों में स्पष्ट ही अपनी आयु के देखे साधारण बालकों की तुलना में अधिक बालिश होता है। अंग्रेजी साहित्य का क्या कोई युग ऐसा है जिसे हम व्यापक एवं सन्तुलित रूप से पूर्णतः प्रौढ़ कह सकें? मैं

ऐसा नहीं समझता और, जैसा मैं बाद में फिर कहूँगा, मैं आशा करता हूँ कि ऐसा है भी नहीं। हम नहीं कह सकते कि अंग्रेजी में कोई भी कवि ऐसा हुआ है जो अपने जीवन-काल में शेक्सपियर से अधिक प्रौढ़ हो गया हो; हम यह भी नहीं कह सकते कि अत्यन्त सूक्ष्म विचार अथवा अनुभूति के हल्के-गहरे रंगों की अभिव्यंजना में अंग्रेजी भाषा को समर्थ बनाने की दिशा में किसी अन्य कवि ने शेक्सपियर से अधिक योग दिया है। परन्तु हम यह भी अनुभव किये बिना नहीं रह सकते कि कांग्रीव^{१७९} के 'दि वे आफ़ दि वर्ल्ड' जैसा कोई नाटक, एक दृष्टि से, शेक्सपियर के किसी भी नाटक की अपेक्षा अधिक प्रौढ़ है : केवल इस दृष्टि से कि उसमें प्रौढ़तर समाज का प्रतिबिम्ब है अर्थात् उसमें आचार-व्यवहार की अधिक प्रौढ़ता परिलक्षित होती है। कांग्रीव ने जिस समाज के लिए लिखा वह हमारे दृष्टिकोण से काफ़ी असंस्कृत और वर्बर था परन्तु वह द्यूडर^{१८०}-समाज की अपेक्षा हमारे अधिक समीप है। कदाचित् इसी कारण हम उसकी परख अधिक कठोरता से करते हैं। अस्तु, वह समाज संस्कृत अधिक था, प्रान्तीय कम; उसका मस्तिष्क अपेक्षाकृत उथला था और संवेदनाएँ सीमित। उसने प्रौढ़ता की एक आशा खो दी है परन्तु दूसरी की सिद्धि कर ली है। अतः मस्तिष्क की प्रौढ़ता में हमें आचार-व्यवहार की प्रौढ़ता भी जोड़ देनी चाहिए।

मैं समझता हूँ कि कविता की अपेक्षा गद्य के विकास में प्रौढ़ता की दिशा में भाषा की प्रगति आसानी से पहचानी जा सकती है और तुरन्त स्वीकार भी कर ली जाती है। गद्य पर विचार करते समय महानता के व्यक्तिगत भेदों से हमारा ध्यान उतना नहीं बँटता और हम एक समान स्तर, एक समान शब्दावली तथा एक समान वाक्य-रचना की अधिकाधिक सिद्धि की माँग करने लगते हैं। जो इन सामान्य मानों से बहुत दूर जा पड़ता है, जो अतिशय व्यक्ति-सापेक्ष होता है वह तो वास्तव में बहुधा वैसा गद्य होता है जिसे हम 'काव्यमय गद्य' नाम से अभिहित करेंगे।

×

×

×

यह देखा जा सकता है कि अभिजात गद्य का विकास सामान्य शैली की दिशा में होता है। इससे मेरा तात्पर्य यह नहीं कि श्रेष्ठ लेखक परस्पर अभिन्न होते हैं। आधारभूत एवं विशिष्ट भेद तो बने ही रहते हैं : पारस्परिक भेद कम नहीं होते पर वे अधिक सूक्ष्म एवं परिष्कृत होते हैं। संवेदनशील आस्वादयिता को एडीसन और स्विफ्ट के गद्य में उतना ही अन्तर लगेगा जितना किसी पारखी को दो अलग-अलग वर्षों में तैयार की हुई शराबों में। अभिजात गद्य के युग में हम एक सामान्य लेखन-परम्परा मात्र नहीं पाते—जैसे समाचार-

पत्रों के सम्पादकीय लेखकों की सामान्य शैली हुआ करती है—वर्तक एक रचि-साम्य हमें दिखाई पड़ता है। अभिजात युग के पूर्ववर्ती युग में एकरसता तथा विकेन्द्रता दोनों का ही दिग्दर्शन हो सकता है। एकरसता इसलिए कि भाषा के साधनों और शक्तियों का उस समय तक पूरा अन्वेषण नहीं हुआ होता और विकेन्द्रता—वशर्त कि जहाँ कोई केन्द्र न हो उसे हम विकेन्द्र कह सकें—इसलिए कि उस समय तक कोई सर्वतोस्वीकृत मानदंड नहीं होता। साथ ही उस युग की रचनाओं में पंडितमन्यता एवं उच्छृंखलता भी हो सकती है। अभिजात युग के परवर्ती युग में भी एकरसता तथा विकेन्द्रता के दर्शन हो सकते हैं—एकरसता इसलिए कि कम-से-कम कुछ समय के लिए भाषा के समस्त साधन क्षीण हो चुके होते हैं और विकेन्द्रता इसलिए कि शुद्धता की अपेक्षा मौलिकता का मूल्य अधिक माना जाने लगता है। परन्तु सामान्य शैली का युग वही होगा जब समाज व्यवस्था एवं स्थैर्य, सन्तुलन तथा सामंजस्य के क्षण पा गया हो, वैसे ही जैसे व्यक्तिगत शैलियों की अत्यधिक अतिवादिता के जिस युग में दर्शन होते हैं वह या तो विकास का युग होता है या ह्रास का।

स्वाभाविक है कि भाषा की प्रौढ़ता के साथ मस्तिष्क और आचार की प्रौढ़ता की भी आशा की जाये। जब अतीत के प्रति आलोचनात्मक भावना हो, वर्तमान में विश्वास हो और भविष्य के प्रति कोई चेतन सन्देह न हो तब हम सोच सकते हैं कि भाषा प्रौढ़ि पर पहुँच रही है। साहित्य में इसका अर्थ होता है कि कवि अपने पूर्ववर्तियों के प्रति सजग है और हम उसकी कृति की पृष्ठभूमि में जो पूर्ववर्ती हैं उनके प्रति सचेत हैं : जैसे हम किसी व्यक्ति की वंशागत वृत्तियों से अवगत हो सकते हैं जिसमें साथ ही साथ अपनी वैयक्तिकता और अनन्यसामान्यता भी होती है। पूर्ववर्ती स्वयं महान् एवं सम्मानित होने चाहिए—परन्तु उनकी उपलब्धियाँ ऐसी होनी चाहिए, जिनसे पता चले कि भाषा के सब साधन अभी पूरी तरह विकसित नहीं हुए हैं, उनकी उपलब्धियों से नये लेखकों में यह डर न बैठ जाये कि उनकी भाषा में जो कुछ भी कर पाना सम्भव था वह किया जा चुका है। निश्चय ही प्रौढ़ युग में कवि ऐसा कुछ करने की आशा से प्रेरणा पा सकता है, जो उसके पूर्ववर्तियों ने न किया हो; वह उनके प्रति विद्रोह भी कर सकता है जैसे कोई होनहार किशोर अपने माता-पिता के विश्वासों, आदतों एवं आचारों के प्रति विद्रोह कर सकता है, परन्तु अतीत-सापेक्ष दृष्टि से देखें तो हम पायेंगे कि वह उनकी परम्पराओं को आगे भी बढ़ाता है, कि वह परिवार की मूल विशेषताओं को अक्षुण्ण रखता है और उसके व्यवहार में जो अन्तर है वह एक युग और दूसरे युग की परि-

स्थितियों का अन्तर है। और, दूसरी ओर, जैसे हम कभी-कभी देखते हैं कि कुछ लोगों के चरित अपने पिता अथवा पितामह के यश से आच्छन्न हो जाते हैं, जिन उपलब्धियों की उनमें क्षमता होती है वे अपेक्षाकृत नगण्य-सी प्रतीत होने लगती हैं, इसी प्रकार कोई परवर्ती काव्य-युग अपने किसी विशिष्ट पूर्ववर्ती युग से प्रतिस्पर्धा करने में सचेत रूप से असमर्थ हो सकता है। इस प्रकार के कवि हम प्रायः किसी युगान्त में पाते हैं—इन कवियों में केवल अतीत की भावना होती है या फिर वे ऐसे होते हैं, जिनमें भविष्य की आशा अतीत के उत्सर्ग के प्रयत्नों पर अवलम्बित रहती है। अतः किसी भी राष्ट्र में साहित्यिक सृजनशीलता का बना रहना इस बात पर निर्भर है कि व्यापक अर्थ में परम्परा—अर्थात् अतीत के साहित्य में सिद्ध समष्टि-व्यक्तित्व—तथा वर्तमान पीढ़ी की मौलिकता के बीच अनजाने ही सन्तुलन बना रहे।

वाक्य-रचना की अधिकाधिक जटिलता की ओर प्रगति अभिजात शैली की ओर पहुँचने के लक्षण हैं। शेक्सपियर के आरम्भिक नाटकों से लेकर अन्तर्वर्ती नाटकों तक यदि अन्वेषण करें तो इस एक लेखक की कृतियों में ही यह विकास स्पष्ट हो जायेगा। हम कह सकते हैं नाटकीय पद्य की परिसीमाओं में रहते हुए वह जटिलता की दिशा में यथासम्भव अग्रसर हुए हैं—और नाटकीय पद्य की ये परिसीमाएँ अन्य पद्य-प्रकारों की अपेक्षा अधिक संकीर्ण हैं। परन्तु जटिलता के लिए ही जटिलता का होना उचित लक्ष्य नहीं, उसका उद्देश्य सर्वप्रथम तो अनुभूति एवं विचार की बारीकियों की यथातथ्य अभिव्यंजना होना चाहिए और दूसरे अधिकाधिक परिष्कृति एवं संगीत-वैविध्य का समावेश। जब विस्तारपूर्ण रचना-विधान के मोह में लेखक कोई बात सहज-सीधे ढंग से कहने की योग्यता खो बैठता है, जब प्रतिमान के प्रति उसकी आसक्ति इतनी हो जाती है कि जो बात सरल रीति से कहना उचित हो उसे भी वह विशदता से कहता है—और इस प्रकार अपना अभिव्यंजना-क्षेत्र सीमित कर लेता है—तब जटिलता की प्रक्रिया स्वस्थ नहीं रह जाती और लेखक बोल-चाल की भाषा से सम्पर्क खोने लगता है। अस्तु, ज्यों-ज्यों एक के पश्चात् दूसरे कवि की लेखनी के सहारे पद्य का विकास होता है, वह एकरसता से विविधता, सरलता से जटिलता की ओर उन्मुख होता है, ज्यों-ज्यों ह्रास होता है उसकी प्रवृत्ति पुनः एकरसता की ओर होती है यद्यपि वह रूप-विधान और गठन बनी रह सकती है जिसने किसी प्रतिभावान् की लेखनी के सहारे अस्तित्व एवं अर्थ-वत्ता पाई हो। वर्जिल के पूर्ववर्तियों एवं परवर्तियों पर यह व्यापक कथन किस सीमा तक लागू होता है, इसका निर्णय आप स्वयं करेंगे। १८वीं शती में

मिल्टन का अनुकरण करने वालों में यह आनुषंगिक एकरसता देखी जा सकती है यद्यपि स्वयं मिल्टन में कहीं भी एकरसता नहीं मिलेगी। एक समय ऐसा आ जाता है जब एक नूतन सरलता ही—चाहे उसमें अपेक्षाकृत भेदसपन ही क्यों न हो—एकमात्र विकल्प रह जाता है।

अभिजात काव्य के मैंने जो लक्षण निर्धारित किये हैं उनको विशेष रूप से वर्जिल पर—उसकी भाषा, उसकी सभ्यता तथा उस भाषा और सभ्यता के इतिहास में उस युग-विशेष पर जब कि वर्जिल का अभ्युदय हुआ—घटा कर सर्वप्रथम मैं उनकी परीक्षा करना चाहूँगा। मस्तिष्क की प्रौढ़ता—इसके लिए इतिहास और इतिहास की चेतना आवश्यक है। इतिहास की चेतना तब तक पूर्ण सजग नहीं हो सकती जब तक कि कवि के स्वजनों के अतिरिक्त किसी और का इतिहास न हो : इसकी आवश्यकता इतिहास में अपना स्थान देखने के लिए होती है। कम-से-कम एक और सुसभ्य राष्ट्र के इतिहास का ज्ञान होना चाहिए—ऐसे राष्ट्र के इतिहास का जिसकी सभ्यता का हमारी अपनी सभ्यता से इतना साम्य हो कि उसने उसे प्रभावित किया हो और उसमें अपने तत्त्वों का मिश्रण भी।

अब फिर मैं वही प्रश्न उठाऊँगा जिसकी ओर पहले इंगित कर चुका हूँ। प्रश्न यह है कि क्या अभिजात रचना की—जिस अर्थ में मैं निरन्तर इस शब्द का प्रयोग करता आ रहा हूँ—सिद्धि किसी भाषा-प्रदेश तथा उसकी जनता के लिए नितान्त अमिश्र वरदान है ? गर्व तो उस पर किया जा सकता है, इसमें सन्देह नहीं। मन में इस प्रश्न की उद्भावना के लिए वर्जिल के बाद की लेटिन कविता पर मनन कर लेना भर काफी है, इस बात पर विचार कर लेना काफी है कि परवर्ती कवि किस हद तक उसकी महानता से अभिभूत रहे। यहाँ तक कि हम उनकी प्रशंसा या अभिशंसा भी उसके द्वारा स्थापित मानों के अनुसार करते हैं। कभी-कभी यदि कोई ऐसी विविधता मिल जाती है, जो नई हो अथवा शब्द-प्रतिमानों का कोई ऐसा विन्यास मिल जाता है जिससे अतीतवर्ती मौलिक कृति की आह्लाददायी धूमिल स्मृति भी जाग उठे तो हम उसकी सराहना करते हैं। दांते के बाद की इतालवी कविता का सर्वेक्षण करने पर इससे भिन्न प्रश्न की उद्भावना होती है क्योंकि परवर्ती कवियों ने दांते का अनुकरण नहीं किया। उनको यह लाभ था कि वे अधिक द्रुत परिवर्तन-शील युग में पैदा हुए थे। स्पष्ट ही उनके पास करने को कुछ और भी था। दांते से उनकी प्रत्यक्ष तुलना करने की बात हमारे मन में नहीं उठती—वैसा होता तो वह इन कवियों का दुर्भाग्य ही होता। अंग्रेजी कविता—और फ्रेंच

कविता भी—इस दृष्टि से भाग्यशालिनी रही है कि उसके श्रेष्ठ कवियों ने एक-एक क्षेत्र पर ही अपना एकान्त साम्राज्य स्थापित किया। हम नहीं कह सकते कि शेक्सपियर अथवा रासिने के युग के बाद क्रमशः इंग्लैण्ड या फ्रान्स में सचमुच किसी प्रथम श्रेणी के काव्य-नाटक की सर्जना हुई है। मिल्टन के बाद कोई उत्कृष्ट महाकाव्य नहीं रचा गया; हाँ, कुछ अच्छी लम्बी कविताएँ अवश्य लिखी गयी हैं। यह सत्य है कि प्रत्येक श्रेष्ठ कवि—चाहे वह अभिजात हो या नहीं—जिस क्षेत्र को अपनाता है उसके किसी भी कोने को अछूता नहीं छोड़ना चाहता। इस प्रकार उस क्षेत्र से नई उद्भावनाएँ मिलना धीरे-धीरे कम होता जाता है—यहाँ तक कि अन्त में जाकर वह क्षेत्र कई पीढ़ियों तक नितान्त अनुर्वर होकर पड़ा रहता है।

यहाँ आप आपत्ति कर सकते हैं कि साहित्य पर अभिजात रचना का जो प्रभाव मैं बता रहा हूँ वह उस कृति के अभिजात स्वरूप का परिणाम नहीं होता, केवल उसकी महानता का होता है। 'अभिजात कृति' शब्द का प्रयोग मैं जिस अर्थ में बराबर करता आ रहा हूँ उसके अनुसार मैंने शेक्सपियर और मिल्टन की कृतियों को अभिजात नहीं माना—फिर भी मैंने यह माना है कि उनके बाद उस प्रकार की वैसी उत्कृष्ट रचनाएँ कोई नहीं हुईं। मैं जो भेद करूँगा उसे आप मान भी सकते हैं, नहीं भी मान सकते। प्रत्येक महान् कृति उसी प्रकार की उतनी ही महान् कृति की सर्जना असम्भव बना देती है—यह तो निर्विवाद है। इसका कारण कुछ हद तक सृष्टा का चेतन प्रयोजन होता है। कोई भी प्रथम श्रेणी का कवि, एक बार उसकी अपनी भाषा में जो सिद्धि पहले हो चुकी हो, उसके लिए पुनः प्रयत्न नहीं करेगा। युग और सामाजिक परिवर्तन के साथ जब भाषा का—उसकी शब्दावली, वाक्य-रचना और इनसे भी अधिक उसके स्वर का—स्वरूप बहुत-कुछ बदल जायेगा तभी शेक्सपियर जितने महान् किसी नाट्य-कवि अथवा मिल्टन जैसे उत्कृष्ट किसी महाकाव्यकार का आविर्भाव सम्भव हो सकता है। प्रत्येक महान् कवि ही नहीं, प्रत्येक सच्चा कवि भी—चाहे वह महान् न हो—भाषा की किसी-न-किसी सम्भावना की सिद्धि सदा-सर्वदा के लिए कर जाता है और इस प्रकार अपने परिवर्तियों के लिए एक सम्भावना कम छोड़ जाता है। जिस क्षेत्र में उसने पदार्पण किया है, हो सकता है वह बहुत छोटा-सा हो, परन्तु यह भी हो सकता है कि उसमें काव्य के किसी महत्त्वपूर्ण रूप—महाकाव्य या नाट्य-काव्य—का अन्तर्भाव हो। परन्तु महान् कवि एक काव्य-रूप की भावी सम्भावनाएँ ही निःशेष कर जाता है, सम्पूर्ण भाषा की नहीं। दूसरी ओर, अभिजात कवि किसी काव्य-

रूप की ही नहीं, युगीन भाषा की ही सम्भावनाएँ निःशेष कर देता है और यदि वह पूर्णतः अभिजात कृति है तो उसके युग की भाषा में उस भाषा का चरमोत्कर्ष लक्षित होगा। अतः हमें कवि पर ही विचार नहीं करना होता, जिस भाषा में वह लिखता है उस पर भी विचार करना होता है। अभिजात कवि भाषा की सम्भावनाओं को निःशेष कर देता है—इतनी ही बात नहीं वरन् यह भी सत्य है कि जब भाषा की सम्भावनाएँ निःशेष-प्राय हो जाती हैं तभी वह अभिजात कवि का आविर्भाव करती है।

अस्तु, यद्यपि साहित्य में स्वयं हम विद्यमान रहते हैं, यद्यपि हम वही भाषा बोलते हैं और मूलतः हमारी वही संस्कृति है जिसने अतीत के साहित्य को जन्म दिया तथापि हम दो बातें चाहते हैं—एक तो यह कि हमारे साहित्य ने जो-कुछ उपलब्धियाँ की हैं उन पर हमें गर्व रहे; दूसरे भविष्य में वह जो-कुछ उपलब्धियाँ कर सकता है उसमें विश्वास बना रहे। यदि भविष्य में हमारा विश्वास नहीं रहता तो अतीत पूर्णतः हमारा अतीत न रहेगा—वह एक मृत सभ्यता का अतीत हो जायेगा। इस विचार का उनके मन पर विशेष प्रभाव पड़ना चाहिए, जो अंग्रेजी साहित्य के भण्डार की समृद्धि के निमित्त प्रयत्नशील हैं। अंग्रेजी में कोई अभिजात रचना नहीं। अतः कोई भी जीवित कवि कह सकता है कि इस बात की अब भी आशा है कि मैं और मेरे परवर्ती—क्योंकि पूरी विवक्षाओं को समझते हुए कोई भी अन्तिम कवि होने के विचार को समभाव से ग्रहण नहीं कर सकता—कुछ ऐसा लिख जायें, जो सँजोकर रखने योग्य हो। परन्तु चिरन्तनता की दृष्टि से भविष्य में इस प्रकार की रुचि का कोई अर्थ नहीं। जब दो भाषाओं में दोनों ही मृत हों तो उनमें से किसी एक को इसलिए महत्तर नहीं बता सकते कि उसमें कवियों की संख्या या विविधता अधिक है अथवा दूसरी को इसलिए कि उसकी आत्मा की अभिव्यक्ति किसी एक कवि की कृतियों में अधिक पूर्णता से हुई है। मैं एक साथ ही जो-कुछ कहना चाहता हूँ वह यह है : चूँकि अंग्रेजी जीवित भाषा है—वह भाषा जिसमें हम विद्यमान हैं—अतः हम इस बात पर हर्षित हो सकते हैं कि उसने किसी एक अभिजात कवि की कृति में अपनी चरम सिद्धि नहीं की परन्तु दूसरी ओर, आभिजात्य की कसौटी हमारे लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। भिन्न-भिन्न कवियों का मूल्यांकन करने के लिए हमें उसकी आवश्यकता होती है यद्यपि हम अपने सम्पूर्ण साहित्य का उस साहित्य के समकक्ष रखकर मूल्य नहीं आँकेगे जिसमें अभिजात कृति की सर्जना हो चुकी हो। किसी साहित्य का परमोत्कर्ष अभिजात कृति में होता है या नहीं—यह भाग्य की बात है। मुझे लगता है

यह अधिकांश में उस भाषा के अन्तरंग तत्त्वों के परस्पर घुल-मिल जाने की मात्रा पर निर्भर है, अतः लेटिन भाषाएँ आभिजात्य के अधिक निकट पहुँच सकती हैं। इसलिए नहीं कि वे लेटिन भाषाएँ हैं बल्कि इसलिए कि उनमें अंग्रेजी की अपेक्षा एकविधता अधिक है, अतः वे अधिक स्वाभाविकता से सामान्य शैली की ओर उन्मुख होती हैं। अंग्रेजी अपने अवयवों की दृष्टि से महान् भाषाओं में सबसे अधिक वैविध्यपूर्ण है, वह पूर्णता की अपेक्षा विविधता की ओर उन्मुख रहती है। उसे अपनी चरम शक्ति की सिद्धि में सबसे अधिक समय चाहिए। शायद उसमें अब भी अपेक्षाकृत ऐसी अधिक सम्भावनाएँ हैं, जिनका अन्वेषण नहीं हुआ।

अब मैं सापेक्ष और निरपेक्ष अभिजात कृति के भेद की ओर आ रहा हूँ अर्थात् एक ओर ऐसा साहित्य है, जिसे अपनी भाषा की सापेक्षता में अभिजात कहा जा सकता है और दूसरी ओर ऐसा जिसे अन्य अनेक भाषाओं की सापेक्षता में अभिजात कह सकते हैं। परन्तु इससे पहले अभिजात रचना की जो विशेषताएँ मैं बता चुका हूँ उनके अतिरिक्त एक विशेषता और बता देना चाहता हूँ, जिससे यह भेद भली भाँति समझ में आ सकेगा और वर्जिल की अभिजात कृति तथा पोप की अभिजात कृति का अन्तर स्पष्ट हो जायेगा। पहले कुछ ऐसी स्थापनाएँ मैं कर चुका हूँ जिनका यहाँ पुनराख्यान कर लेने में सुविधा रहेगी।

आरम्भ में मैंने कहा था कि कुछ सम्भावनाओं को छोड़कर कुछ अन्य के विकास की चयन-प्रक्रिया (जो सर्वथा चेतन नहीं होती)—सर्वदा नहीं तो प्रायः—व्यक्तियों की प्रौढ़ि का लक्षण होती है। मैंने यह भी कहा था कि भाषा तथा साहित्य के विकास में भी यही बात देखी जाती है। यदि ऐसा है तो हमें यह आशा करनी चाहिए कि अवर अभिजात साहित्य में—जैसे १७वीं और अठारहवीं शती के हमारे अपने साहित्य में—प्रौढ़ि पर पहुँचने के लिए जिन तत्त्वों का निराकरण किया जायेगा वे अपेक्षाकृत अधिक संख्या में और अधिक गम्भीर होंगे तथा परिणाम के क्षेत्र में सन्तोष सदा उपेक्षित पूर्ववर्ती लेखकों की रचनाओं में प्रकट भाषागत सम्भावनाओं की चेतना से निर्धारित होगा। अंग्रेजी साहित्य का अभिजात युग जाति की समग्र प्रतिभा का प्रतिनिधित्व नहीं करता। जैसा मैंने पहले बताया है हम यह नहीं कह सकते कि किसी एक युग में प्रतिभा का पूर्ण प्रतिफलन हुआ है। फलतः हम अब भी अतीत के किसी-न-किसी युग को सन्दर्भ में रखकर भावी सम्भावनाओं की कल्पना कर सकते हैं।

×

×

×

अस्तु, हम इस परिणाम पर पहुँच सकते हैं कि पूर्ण अभिजात कृति वह होगी जिसमें किसी जाति की समग्र प्रतिभा, यदि सर्वथा व्यक्त नहीं तो, अन्तर्हित अवश्य होगी और वह ऐसी भाषा में ही प्रकट होगी कि उसकी समग्र प्रतिभा एक साथ पुंजीभूत हो। अतः अभिजात कृति की विशेषताओं में एक और हमें जोड़नी होगी—और वह है व्यापकता। अपनी रूपगत परिसीमाओं में रहते हुए अभिजात कृति को किसी विशेष भाषा-भाषी जाति के चरित्र को प्रतिबिम्बित करने वाले भावना-प्रसार के यथासम्भव अधिक-से-अधिक अंश की अभिव्यक्ति करनी चाहिए। उसमें जातीय चरित्र का उत्कृष्ट निदर्शन होगा और उसकी प्रभाव-शक्ति बहुत व्यापक होगी। जिस जाति की वह कृति होगी उसमें तो प्रत्येक वर्ग एवं परिस्थिति के व्यक्ति के मर्म का स्पर्श करने की उसमें शक्ति होगी।

निज भाषा-सापेक्ष व्यापकता से आगे जब कोई साहित्यिक कृति कई विदेशी साहित्यों की सापेक्षता में भी उतनी ही महत्त्वपूर्ण होती है तब हम कह सकते हैं कि उसमें सार्वभौमता भी है। उदाहरणार्थ जर्मन भाषा और साहित्य में गेटे के काव्य का जो स्थान है उसे देखते हुए हम उसके काव्य को अभिजात कहें तो अन्याय न होगा। परन्तु अपनी पक्षपातिता, अपने कुछ वस्तुगत अस्थायित्व तथा संवेदना के जर्मनपन के कारण और इसलिए कि विदेशी की दृष्टि में गेटे अपने युग, अपनी भाषा एवं संस्कृति में सीमित होने के नाते समूची यूरोपीय परम्परा का प्रतिनिधित्व नहीं करता और हमारे अपने १९वीं शताब्दी के लेखकों की भाँति उसमें कुछ प्रान्तीयता भी दृष्टिगोचर होती है, हम उसके काव्य को सार्वभौम अभिजात काव्य नहीं कह सकते। वह इस अर्थ में सार्वजनीन लेखक है कि उसकी कृतियों से प्रत्येक यूरोपीय को परिचित होना चाहिए—परन्तु वह और बात है। किसी आधुनिक भाषा को हम अभिजात्य के निकट पहुँचता नहीं पाते—कारण चाहे कोई-सा भी हो। इस विषय में हम दोनों मृत भाषाओं के ही मुखापेक्षी हो सकते हैं : महत्त्व इसी बात का है कि वे मृत हैं क्योंकि उनके अवसान के द्वारा ही हमें अपना रिक्थ मिला। वे मृत हैं केवल इस बात से उनका कोई मूल्य नहीं बढ़ता—सिवाय इसके कि यूरोप के समस्त जन उनसे लाभ उठाने का अधिकार भोग रहे हैं।

×

×

×

‘अभिजात’ मानदंड को बनाये रखने और प्रत्येक साहित्यिक कृति का मूल्यांकन उसी के आधार पर करने का अर्थ यह होगा कि हम पायेंगे कि समग्र रूप में हमारे साहित्य में चाहे सब-कुछ हो परन्तु अलग-अलग प्रत्येक कृति

किसी-न-किसी रूप में सदोष हो सकती है। हो सकता है यह दोष आवश्यक हो—ऐसा दोष हो जिसके न रहने पर किसी गुण का भी अभाव हो जाये परन्तु आवश्यकता के रूप में देखने के साथ-ही-साथ हमें उसे दोष-रूप में भी देखना चाहिए। मैंने जिस मानदंड का उल्लेख किया है उसके अभाव में—और यदि हम केवल अपने ही साहित्य पर निर्भर रहें तो हम यह मानदंड निभान्ति रूप से अपने सम्मुख नहीं रख सकते—पहले तो हम प्रतिभाजन्य कृतियों की गलत कारणों से सराहना करने लगते हैं, जैसे हम ब्लेक की उसके दर्शन के आधार पर और हापकिंस^{१५१} की उसकी शैली के लिए प्रशंसा करते हैं : और फिर उससे भी आगे बढ़कर और बड़ी गलती यह करते हैं कि द्वितीय श्रेणी की कृति को प्रथम श्रेणी की कृति के समकक्ष रखने लगते हैं। संक्षेप में कहें तो अभिजात मानदंड का निरन्तर उपयोग न करते रहने पर हम प्रान्तीय स्तर की ओर उन्मुख होने लगते हैं।

शब्दकोषों की परिभाषाओं के अनुसार 'प्रान्तीय' का जो अर्थ है, मेरा मन्तव्य उससे कुछ अधिक है। उदाहरणार्थ (प्रान्तीय की) एक व्याख्या लीजिए : 'जिसमें राजधानी के संस्कार और परिष्कृति का अभाव हो'—मेरा अभिप्राय इससे कुछ अधिक है यद्यपि निस्सन्देह वजिल इस हद तक राजधानी का था कि कोई भी समतुल्य परवर्ती कवि उसके सम्मुख कुछ-कुछ प्रान्तीय-सा लगने लगता है। प्रान्तीय की एक और परिभाषा देखिए : 'विचार, संस्कार, धर्म सबमें संकीर्ण'। मैं इससे भी कुछ अधिक कहना चाहता हूँ। यह परिभाषा एकदम अनवस्थित है क्योंकि यदि आधुनिक उदार दृष्टि से देखें तो दांते 'विचार, संस्कार, धर्म सबमें संकीर्ण' था तथापि हो सकता है कट्टर धार्मिक की अपेक्षा उदार धार्मिक अधिक प्रान्तीय हो। मेरा तात्पर्य मूल्यों को विकृत रूप देने से भी है—कुछ की अपवर्जना और कुछ की अतिशयता कर देने से। यह विकार विस्तृत भौगोलिक सर्वेक्षण के अभाव से जनित नहीं होता बल्कि एक सीमित क्षेत्र में उपलब्ध मानदंडों को मानव के समस्त अनुभव पर लागू करने से उत्पन्न होता है क्योंकि इसके फलस्वरूप आनुषंगिक एवं अनिवार्य के तथा शाश्वत एवं क्षणिक के बीच भ्रम पैदा हो जाता है। हमारे इस युग में, जब मानव बुद्धिमत्ता और ज्ञान तथा ज्ञान और बोध को एक मान लेने की गलती करने की ओर पहले से कहीं अधिक उन्मुख है और जीवन की समस्याओं का समाधान इंजीनियरी के आधार पर करने का प्रयत्न कर रहा है, एक नये प्रकार की प्रान्तीयता अस्तित्व में आ रही है जिसे शायद एक नया नाम देना उचित होगा। यह प्रान्तीयता देशाश्रित नहीं, कालाश्रित है। यह

ऐसी प्रान्तीयता है जिसके निकट इतिहास उन मानवीय युक्तियों का इतिवृत्त मात्र है जो अपनी-अपनी उपयोगिता पूरी करके विलीन हो गई हैं, जिसके अनुसार संसार केवल जीवितों की सम्पत्ति है और इस सम्पत्ति में मृतों का कोई भाग नहीं। इस प्रकार की प्रान्तीयता का खतरा यह है कि हम सब—भूमण्डल के समस्त प्राणी—एक साथ प्रान्तीय हो सकते हैं, और जिन्हें प्रान्तीय बनने में सन्तोष न हो वे केवल तपस्वी बन सकते हैं। यदि इस प्रकार की प्रान्तीयता का प्रतिफल अधिक धैर्य होता—सहिष्णुता के अर्थ में—तो उसके पक्ष में कहने को बहुत-कुछ होता परन्तु इससे इसी बात की सम्भावना अधिक प्रतीत होती है कि जिन मामलों में हमें एक निश्चित एवं स्पष्ट मत का पालन करना चाहिए वहाँ हम उदासीन हो जायँ और जो मामले स्थानीय अथवा व्यक्तिगत अभिरुचि पर छोड़े जा सकते हैं उनमें हम असहिष्णु हो जायँ। धर्म के जितने चाहें रूपान्तर कर लीजिए लेकिन शर्त यह है कि हम अपने बच्चों को उन्हीं स्कूलों में भेजते रहें जिनमें वे अब जाते हैं। परन्तु यहाँ तो मैं साहित्य में प्रान्तीयता के शोधन के सम्बन्ध में ही सोच रहा हूँ। हमें स्मरण रखना होगा कि जिस प्रकार यूरोप एक है (और यद्यपि उसके बराबर अधिकाधिक खण्ड होते जा रहे हैं और उसका रूप बदलता जा रहा है तथापि व्यापक विश्व-सामंजस्य का विकास इसी में से हो सकता है) उसी प्रकार यूरोपीय साहित्य भी एक है और रक्त की एक ही धारा यदि सम्पूर्ण शरीर में संचरित नहीं होगी तो विभिन्न अवयव पुष्ट एवं विकसित नहीं हो सकते। यूरोपीय साहित्य का रक्त-प्रवाह लेटिन और ग्रीक हैं—दो भिन्न संचार-प्रणालियों के रूप में नहीं बरन् एक ही संचार-प्रणाली के रूप में, क्योंकि यूनान में हमारा आदि उद्गम रोम के माध्यम से ही खोजा जा सकता है। अपनी कई भाषाओं के साहित्य में उत्कर्ष का वह कौन-सा सामान्य मानदंड है जो अभिजात मानदंड नहीं? इन दोनों भाषाओं में हमारी विचार एवं भावनागत सामान्य परम्परा में जो सर्वसुलभ बोधगम्यता है उसके अतिरिक्त हम कौन-सी सामान्य बोधगम्यता बनाये रखने की आशा कर सकते हैं जिसे समझने में कोई भी यूरोपीय जाति दूसरी की अपेक्षा लाभ की स्थिति में न हो? कोई भी आधुनिक भाषा लेटिन जैसी सार्वजनीनता पाने की आशा नहीं कर सकती—चाहे लेटिन की अपेक्षा लाखों-करोड़ों अधिक लोग उसे बोलने लगे और चाहे वह विभिन्न भाषा एवं संस्कृति वाले सभी राष्ट्रों के बीच सम्पर्क का सार्वभौम साधन बन जाये।

(‘ह्लाट इज ए क्लासिक’)

×

×

×

परम्परा और वैयक्तिक प्रज्ञा

प्रत्येक राष्ट्र की, प्रत्येक जाति की, न केवल अपनी एक विशेष सृजनात्मक मनोवृत्ति होती है बल्कि आलोचनात्मक मनोवृत्ति भी होती है और अपनी सृजन-प्रतिभा की कमियों और सीमाओं की अपेक्षा वह अपनी आलोचना-प्रकृति को और भी अधिक भूली रहती है। फ्रेंच भाषा में आलोचनात्मक साहित्य का जो अपार भण्डार है उसके बल पर हम उनकी आलोचना-प्रकृति या प्रकृति को जानते हैं, या समझते तो हैं ही कि हम जानते हैं। हम उससे केवल यह निष्कर्ष निकालते हैं कि फ्रान्सीसी हमसे अधिक आलोचनाशील हैं और कभी-कभी तो हम इस बात को लेकर कुछ शेखी भी बघारते हैं—मानो सहज स्फुरणा-शक्ति की दृष्टि से वे हमसे पीछे हों। शायद हैं भी; परन्तु एक बात हमें याद रखनी होगी कि आलोचना उतनी ही अनिवार्य है जितना साँस लेना। जब हम कोई पुस्तक पढ़ते हैं और हमारे मन में उसके सम्बन्ध में कोई बात उठती है, कोई भावना आती है तब उसे स्पष्ट कर लेने से, उनकी आलोचना के माध्यम से अपनी धारणाओं की समीक्षा करने से हमारा कुछ घटता नहीं। इस प्रक्रिया में, सम्भव है, एक बात जो उभर कर आये वह हमारी यह प्रवृत्ति हो कि जब हम किसी कवि की प्रशंसा करते हैं तो उन पक्षों पर हमारा विशेष आग्रह रहता है जिनमें उसका अन्य किसी भी कवि से कम-से-कम साम्य हो। इन पक्षों में अथवा उसकी कृति के इन अंशों में जो-कुछ वैयक्तिक है, जो उसका निज का सार-तत्त्व है उसे पाने की हम अपने मन में कल्पना करते हैं। हम उस कवि और उसके पूर्ववर्तियों के—विशेषतः निकटस्थ पूर्ववर्तियों के—पारस्परिक अन्तर का बड़े सन्तोष के साथ विवेचन करते हैं; हम कोई ऐसा तत्त्व पाने का प्रयास करते हैं जो सबसे अलग किया जा सके ताकि उसका आनन्द लिया जाये। यदि हम इस पूर्वाग्रह के बिना किसी कवि का अध्ययन करें तो हम प्रायः पायेंगे कि उसकी कृति के श्रेष्ठ ही नहीं, सर्वाधिक वैयक्तिक अंश भी शायद वे हैं जिनमें मृत कवि—उसके पूर्वज—बड़े उत्साह से अपने अमरत्व की प्रतिष्ठा कर गये हैं। और मेरा तात्पर्य किशोर-युग से नहीं—जब मन सहज ही प्रभाव ग्रहण कर लेता है—वरन् पूर्ण परिपक्वता के युग से है।

परन्तु यदि परम्परा का, दाय का, यही एकमात्र रूप है कि अपने से पहली पीढ़ी को मिलने वाली सफलताओं को देखते हुए आँखें बन्द करके अथवा कातरता से उसके तौर-तरीकों का अनुसरण किया जाये—तो निश्चय ही

‘परम्परा’ का प्रतिषेध होना चाहिए । हमने इस प्रकार की अनेक सीधी धाराओं को सिकता में खो जाते देखा है; और पुनरावृत्ति से नूतनता अच्छी होती है । परम्परा का कहीं अधिक व्यापक महत्त्व होता है । वह विरासत में नहीं मिल सकती, अगर हम चाहें तो उसे बड़े प्रयत्न से ही उपलब्ध कर सकते हैं । सबसे पहले तो उसमें इतिहास-भावना आती है—पच्चीस वर्ष की आयु के पश्चात् भी जो कवि बना रहना चाहे उसके लिए यह प्रायः अनिवार्य है । और इतिहास-भावना में अतीत की अतीतता का ही नहीं, उसकी वर्तमानता का भी अवबोध समाविष्ट है । इतिहास-भावना लेखक को अपनी अस्थियों में केवल अपनी ही पीढ़ी को लेकर लिखने पर बाध्य नहीं करती वरन् यह भाव लेकर लिखने पर बाध्य करती है कि होमर से लेकर अब तक के समस्त यूरोपीय साहित्य और उसके अपने देश के सम्पूर्ण साहित्य का युगपत् अस्तित्व है और उससे एक युगपत् अनुक्रम निर्मित होता है । यह इतिहास-भावना ही—जो काल-निरपेक्ष की एवं काल-सापेक्ष की पृथक्-पृथक् तथा समन्वित भावना है—लेखक को परम्परीय बनाती है । और यही भावना लेखक को काल-प्रवाह में अपने स्थान का, अपनी समसामयिकता का अत्यन्त तीव्र बोध कराती है ।

कोई भी कवि, किसी भी कला का कोई भी कलाकार, अकेले अपनी पूरी अर्थवत्ता सिद्ध नहीं कर पाता । उसकी महत्ता, उसका विवेचन मृत कवियों एवं कलाकारों के साथ उसके सम्बन्ध का विवेचन है । उसका अकेले का मूल्यांकन आप नहीं कर सकते—तुलना के लिए आपको उसे भी मृतों के साथ रखना होगा । यह बात मैं केवल ऐतिहासिक आलोचना के सिद्धान्त-रूप में नहीं कह रहा बल्कि सौन्दर्यशास्त्रीय आलोचना के सिद्धान्त के रूप में भी कह रहा हूँ । वह अनुरूप रहे, वह संगति बनाये रहे—इसकी आवश्यकता एकपक्षीय नहीं; जब किसी नयी कलाकृति का सृजन होता है तब जो कुछ होता है वह सभी पूर्ववर्ती कलाकृतियों के प्रति एक साथ होता है । इन पहले की कृतियों में परस्पर एक आदर्श अनुक्रम होता है, नयी (वास्तव में नयी) कलाकृति के समावेश से उस अनुक्रम में संशोधन होता है । नयी कृति की उद्भावना से पूर्व उक्त अनुक्रम अपने आप में पूर्ण होता है, परन्तु उस नयी कृति के आ जाने से सम्पूर्ण वर्तमान अनुक्रम को बदलना पड़ता है—चाहे परिवर्तन कितना ही थोड़ा क्यों न हो । इस प्रकार उस सम्पूर्ण भंडार के प्रति प्रत्येक कला-कृति का सम्बन्ध, समानुपात और मूल्य पुनःसमंजित होता है । यही पुराने और नये की परस्पर अनुरूपता है । जिस किसी ने अनुक्रम-सम्बन्धी इस विचार को, यूरोपीय और अंग्रेजी साहित्य के रूप-विधान को स्वीकार कर लिया है उसे यह असंगत प्रतीत

न होगा कि वर्तमान के कारण अतीत में परिवर्तन आये— वैसे ही जैसे वर्तमान अतीत से निर्देशित होता है। और जो कवि इससे अवगत होगा वह महान् कठिनाइयों एवं उत्तरदायित्वों के प्रति भी जागरूक होगा।*

एक विशिष्ट अर्थ में उसे इस बात की भी चेतना होगी कि उसे अनिवार्यतः अतीत की कसौटियों पर परखा जायेगा। मैंने 'परखा जायेगा' कहा है— यह नहीं कि उनके आधार पर उसका विश्लेषण किया जायेगा। परखा भी इस तरह न जायेगा कि वह मृत लेखकों के समकक्ष है या उनसे निकृष्टतर अथवा उत्कृष्टतर, और मृत आलोचकों के सिद्धान्तों के आधार पर तो निश्चय ही उसका मूल्यांकन नहीं होगा। यह एक ऐसी परीक्षा है, ऐसी तुलना है जिसमें दो चीजें एक दूसरी से नापी जायेंगी। केवल प्रतिष्ठित आदर्श के अनुरूप होना तो नयी कृति के लिए पर्याप्त नहीं, वह नयी न होगी—अतः कलाकृति भी न होगी। प्रतिष्ठित आदर्श के अनुरूप होने के कारण ही नयी कृति अधिक मूल्यवान् है—ऐसा हम नहीं कहते परन्तु उसकी वह अनुरूपता उसके मूल्य की कसौटी है। हाँ, वह ऐसी कसौटी है जिसका प्रयोग बड़ी सावधानी से और क्रमिक रूप से करना चाहिए क्योंकि हम अनुरूपता के कोई ऐसे पारखी नहीं कि कभी गलती कर ही न सकें। हम यह कहते हैं : यह अनुरूप प्रतीत होती है और शायद वैयक्तिक भी है अथवा यह वैयक्तिक प्रतीत होती है और शायद अनुरूप भी हो परन्तु ऐसा शायद ही हो कि उसमें इनमें से एक गुण हो और दूसरा नहीं।

अब अतीत के साथ कवि के सम्बन्ध की और बोधगम्य विवेचना की जाये। वह अतीत को न तो ज्यों-के-त्यों एक संकुल ढूँह की भाँति समग्रता में ग्रहण कर सकता है, न वह एक-दो व्यक्तिगत प्रशंसाओं पर ही पूर्णतः अपने आपको ढाल सकता है और न पूर्णतः किसी एक अधिमान्य युग के अनुकूल अपने आपको बना सकता है। प्रथम मार्ग अग्राह्य है, द्वितीय यौवन का एक महत्वपूर्ण अनुभव है और तीसरा एक अत्यन्त बांछनीय एवं सुखद पूरक है। कवि को मुख्य धारा के प्रति अत्यन्त सचेत रहना चाहिए—वह अत्यन्त विशिष्ट प्रशंसाओं के माध्यम से प्रायः एकदम प्रवाहित नहीं होती। उसे इस प्रत्यक्ष

* कविता में पूर्ण मौलिकता जैसी कोई चीज नहीं होती—जिसमें अतीत का कोई योगदान न हो। जब कभी वर्जिल, दांते, शेक्सपियर या गेटे-जैसा कोई कवि जन्म लेता है, यूरोपीय कविता का सम्पूर्ण भविष्य बदल जाता है। महान् कवि के अपने जीवन-काल में कुछ बातें ऐसी हो जाती हैं जो फिर नहीं हो सकतीं, परन्तु दूसरी ओर प्रत्येक महान् कवि उस जटिल सामग्री में कुछ-न-कुछ योग दे जाता है जिससे भावी कविता की सर्जना होती है।

तथ्य से भी सर्वथा अवगत रहना चाहिए कि कला का कभी उत्कर्ष नहीं होता परन्तु कला के उपादान कभी एक नहीं रहते । उसे जानना चाहिए कि यूरोप का, उसके अपने देश का, मन—और काल की गति के साथ उसे विदित हो जाता है कि वह उसके अपने मन से कहीं अधिक महत्वपूर्ण है—ऐसा मन है जो बदलता रहता है और यह परिवर्तन ऐसा है जो मार्ग में कुछ भी छोड़ता नहीं, जो शेक्सपियर अथवा होमर की कृतियों या मगदेलियाई मानचित्रकारों के शैल-आरेखण किसी को भी निःसार नहीं मानता । यह विकास—जो शायद परिष्कार और संकुलीकरण निश्चय ही है—कलाकार की दृष्टि से कोई उत्कर्ष नहीं । शायद मनोवैज्ञानिक की दृष्टि से भी यह कोई उत्कर्ष नहीं—या कम-से-कम उस हद तक नहीं जितना हम समझते हैं : शायद अन्ततः वह अर्थ-शास्त्र एवं यन्त्रों की जटिलता पर ही आधृत है । परन्तु वर्तमान और अतीत में अन्तर यह है कि जागरूक वर्तमान में इस प्रकार और इस हद तक अतीत की चेतना अन्तर्भूत होती है जो अपने सम्बन्ध में अतीत की चेतना में व्यक्त नहीं होती ।

किसी ने कहा है : 'मृत लेखक हमसे बहुत दूर हैं क्योंकि जितना वे जानते थे उससे कहीं अधिक हम जानते हैं ।' यह उक्ति एकदम ठीक है और जो हम जानते हैं वही वे हैं ।

कवि-कर्म में मेरे कार्यक्रम का स्पष्टतः जो अंग है उसके विरुद्ध सामान्यतः किये जाने वाले आक्षेप के प्रति मैं सचेत हूँ । आक्षेप यह है कि इस सिद्धान्त के अन्तर्गत पाण्डित्य (पाण्डित्य-प्रदर्शन) की अति मात्रा अपेक्षित होती है । किसी भी सम्प्रदाय के कवियों के जीवन को साक्ष्य-रूप में सम्मुख रख कर इस आक्षेप का निराकरण किया जा सकता है । यहाँ तक कहा जा सकता है कि अधिक विद्या से काव्य-संवेदनाएँ निष्प्राण अथवा विकृत हो जाती हैं । हमारा तो यह दृढ़ विश्वास है कि कवि को उतना जानना चाहिए जिससे उसकी आवश्यक ग्रहणशीलता अथवा आवश्यक अलसता का अतिक्रमण न हो, साथ ही परीक्षाओं, सज्जा-कक्षों अथवा प्रचार की और अधिक प्रगल्भ पद्धतियों के उपयोगी रूपों में जो कुछ ढाला जा सके उसी तक ज्ञान को सीमित रखना वांछनीय नहीं । कुछ लोग ज्ञान को सहज ही आत्मसात् कर सकते हैं, जो अपेक्षाकृत मंद हैं उन्हें पसीना बहाना पड़ता है । शेक्सपियर ने प्लुटार्ख^{१८२} से जितना आधारभूत इतिहास ग्रहण कर लिया उतना अधिकांश लोग पूरे ब्रिटिश संग्रहालय से भी नहीं कर सकते । आग्रह इस बात का होना चाहिए कि कवि को अतीत की चेतना का विकास अथवा अर्जन करना चाहिए और फिर जीवन भर इस चेतना

को निरन्तर विकसित करते रहना चाहिए ।

होता यह है कि जैसा कुछ वह उस क्षण होता है उसका—आत्मा का—सतत समर्पण उसे एक अधिक मूल्यवान् वस्तु के प्रति करना पड़ता है । कलाकार की प्रगति एक अनवरत आत्म-समर्पण की, व्यक्तित्व के सतत तिरो-भाव की, प्रक्रिया होती है । व्यक्तित्व-उत्सर्ग की इस प्रक्रिया तथा परम्परा की भावना के साथ इसके सम्बन्ध की परिभाषा शेष रह जाती है । इस व्यक्तित्व-उत्सर्ग में कला विज्ञान की स्थिति के निकट पहुँचती कही जा सकती है । अतः व्यंजनात्मक सादृश्य के तौर पर मैं कहूँगा आप देखें जब आवसीजन और सल्फ़र डाइ आक्साइड वाले प्रकोष्ठ में प्लेटिनम का टुकड़ा ले जाते हैं तो क्या क्रिया होती है !

×

×

×

सच्ची समालोचना और संवेदनात्मक अनुशीलन कवि की ओर नहीं, कविता की ओर दृष्टि केन्द्रित करते हैं । यदि हम समाचारपत्र-समालोचकों के संकुल आलाप और उसके पश्चात् लोक में होने वाली पुनरावृत्ति के मन्द स्वरों पर ध्यान दें तो हमें अनेकों की संख्या में कवियों के नाम सुनाई पड़ेंगे; यदि हम संसदीय ज्ञान नहीं, काव्यानन्द चाहें और कोई कविता माँगें तो पाना कठिन ही है । मैंने यह बताने का प्रयत्न किया है कि किसी एक कविता के अन्य लेखकों की अन्य कविताओं से सम्बन्ध का क्या महत्व है और यह विचार रखा है कि आज तक जितनी काव्य-रचना हुई है उस सबका एक जीवन्त काया के रूप में भावन किया जाये । कविता के इस निर्वैयक्तिक सिद्धान्त का दूसरा पक्ष है कविता का अपने स्रष्टा के साथ सम्बन्ध । एक दृष्टान्त द्वारा मैंने यह भी संकेत किया था कि प्रौढ़ और अप्रौढ़ कवि के मानस का अन्तर सर्वथा 'व्यक्तित्व' के मूल्यांकन में नहीं होता—न वह (प्रौढ़ कवि) आवश्यक रूप से अधिक रोचक होता है, न उसके पास आवश्यक रूप से 'अधिक कहने को होता है' : वस्तुतः वह ऐसा परिष्कृत-पूर्ण माध्यम होता है जिसमें विशेष अथवा अत्यन्त वैविध्यपूर्ण भावनाओं को नये संयोगों में ढलने की स्वतंत्रता होती है ।

मैंने जो दृष्टान्त दिया वह उत्प्रेरक* का था । उक्त दोनों गैसों को प्लेटिनम के एक टुकड़े के मौजूद रहने पर जब मिलाया जाता है तो उनसे सल्फ्यूरस एसिड बनता है । यह संयोग तभी होता है जब प्लेटिनम मौजूद हो तथापि नये बने हुए एसिड (अम्ल) में प्लेटिनम का लेशमात्र भी नहीं होता और प्लेटिनम पर भी कोई प्रभाव नहीं पड़ा प्रतीत होता—उसमें न कोई परिवर्तन आता

* Catalyzt.

है, न उस पर इस प्रक्रिया का प्रभाव पड़ता है और न वही कुछ प्रभाव डालता है। कवि का मन इस प्लेटिनम के टुकड़े की भाँति होता है। व्यक्ति के अनुभव को वह अंशतः अथवा पूर्णतः प्रभावित कर सकता है परन्तु कलाकार जितना सिद्धहस्त होगा उतने ही उसमें भोक्ता मानव और स्रष्टा मन परस्पर पृथक् रहेंगे, और उतनी ही सुष्ठु रीति से मन अपनी उपादान-रूप वासनाओं को आत्मसात् और रूपान्तरित करेगा।

ध्यान देने की बात है कि अनुभव—परिवर्तनकारी उत्प्रेरक की मौजूदगी में संयुक्त होने वाले तत्त्व—दो प्रकार के हैं : भाव एवं भावना। कलाकृति के रसास्वादन का अनुभव सहृदय के निकट कला से इतर किसी अन्य सूत्र से प्राप्त होने वाले अनुभव से भिन्न होता है। वह किसी एक भाव से अथवा कई भावों के संयोग से निर्मित हो सकता है, और निष्पन्न कृति में विशेष शब्दों, पदावलियों अथवा बिम्बों के रूप में स्थित लेखक की भावनाओं का योग भी हो सकता है। या फिर महान् कविता की सर्जना बिना किसी भाव के प्रत्यक्ष उपयोग के हो सकती है—केवल भावनाओं से उसका निर्माण हो सकता है। वस्तुतः कवि का मन असंख्य भावनाओं, पदावलियों, बिम्बों के ग्रहण एवं संचयन के निमित्त एक आधान-पात्र की भाँति होता है और वे तब तक वहाँ रहते हैं जब तक वे सब घटक, जिनके संयोग से कोई नया यौगिक पदार्थ बन सकता हो, एक साथ एकत्र नहीं हो जाते।

यदि महान्तम काव्य के कुछ प्रतिनिधि पद्यों की तुलना करें तो आप देखेंगे कि संयोग के प्रकारों में कितना वैविध्य होता है और यह भी पायेंगे कि उदात्तता की कोई अर्थनैतिक कसौटी सर्वथा ठीक नहीं बैठती। बात यह है कि महत्व भावों, घटक तत्त्वों की 'महानता' या तीव्रता का नहीं बल्कि कलात्मक प्रक्रिया की तीव्रता का है, यानी उस दबाव का है जिसके कारण ये तत्त्व घुल-मिल कर एकात्म हो जाते हैं। भाव के रूपान्तरण में महान् वैविध्य सम्भव होता है, अग्रमैम्नोन की हत्या अथवा औथेलो की वेदना ऐसा कलात्मक प्रभाव उत्पन्न करती है जो दाँते के दृश्यों की अपेक्षा सम्भाव्य मूल प्रभाव के निकटतर प्रतीत होती है। अग्रमैम्नोन में, कलागत भाव किसी वास्तविक दर्शक के भाव के निकट पहुँच जाता है और औथेलो में स्वयं प्रमुख पात्र के भाव के निकट। परन्तु कला एवं घटना के बीच का अन्तर सदैव निरपेक्ष होता है, अग्रमैम्नोन की हत्या का संयोग भी उतना ही जटिल है जितना यूलिसिस की समुद्र-यात्रा का। दोनों ही अवस्थाओं में तत्त्व परस्पर घुल-मिल जाते हैं। कीट्स के 'ओड' में कई ऐसी भावनाएँ हैं जिनका बुलबुल से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं परन्तु कुछ तो उसके

आकर्षक नाम के कारण और कुछ प्रसिद्धि के, बुलबुल के माध्यम से इन भाव-नाओं को एक सूत्र में बाँधने का कार्य सम्पन्न हुआ ।

मैं जो दृष्टिकोण प्रस्तुत करने का प्रयत्न कर रहा हूँ वह शायद आस्य की तात्त्विक एकता के अधिमानसिक सिद्धान्त से सम्बद्ध है क्योंकि मेरा तात्पर्य यह है कि कवि के पास अभिव्यक्त करने के लिए कोई 'व्यक्तित्व' नहीं होता, एक विशिष्ट माध्यम होता है, जो केवल एक माध्यम होता है—व्यक्तित्व नहीं, जिसमें मन पर पड़े हुए प्रभाव अजीब और अप्रत्याशित ढंग से संयुक्त होते हैं । हो सकता है व्यक्ति के लिए जो प्रभाव और अनुभव महत्वपूर्ण हों वे काव्य में कोई स्थान ग्रहण न करें और जो काव्य में महत्वपूर्ण हो जायें उनका योग व्यक्ति में—व्यक्तित्व में—नगण्य हो ।

×

×

×

कवि की विशिष्टता अथवा रोचकता उसके व्यक्तिगत भावों—उसके जीवन में विशेष घटनाओं द्वारा उद्दीप्त भावों—पर आश्रित नहीं होती । उसके अपने भाव सरल या भोंडे या असार हो सकते हैं । उसका काव्यगत भाव बड़ी जटिल वस्तु होगी परन्तु उसमें वैसे लोगों के भावों की जटिलता न होगी जिनके जीवन में बड़े जटिल और असाधारण भाव रहते हैं । वस्तुतः कविता में विलक्षणता का एक दोष है अभिव्यक्ति के लिए नये मानवीय भावों की खोज करना ; गलत जगह पर नूतनता की इस खोज में उसे मिलती है विकृति । कवि का काम नये भाव खोजना नहीं है, अपितु साधारण भावों का उपयोग करके उन्हें काव्य-रूप देने की प्रक्रिया में ऐसी भावनाएँ व्यक्त करना है जो वास्तविक भावों में बिल्कुल भी विद्यमान न हों । इस प्रक्रिया में जिन भावों की उसे अनुभूति नहीं हुई वे भी उसी तरह उसके सम्मुख आयेंगे जैसे वे जिनसे वह परिचित है । अतः उसे मानना चाहिए कि 'शान्त अवस्था में अनुस्मृत भाव' का सूत्र मिथ्या है । क्योंकि यहाँ न तो भाव है, न अनुस्मृति और—यदि अर्थ को तोड़ें-मरोड़ें नहीं तो—न शान्ति । यह तो समाहरण है और अनेकानेक अनुभवों के समाहार से जनित एक नयी वस्तु है—और ये अनुभव ऐसे हैं जो एक व्यावहारिक एवं क्रियाशील व्यक्ति को अनुभव ही नहीं मालूम होंगे । यह एक ऐसा समाहार है जो सचेतन रूप से अथवा सप्रयास नहीं होता । ये अनुभव 'अनुस्मृत' नहीं होते, और अन्त में वे शान्त वातावरण में एकात्म हो जाते हैं—यह कहने का मतलब केवल इतना ही है कि इस घटना के समय वातावरण निष्क्रिय होता है । बात यहीं खत्म नहीं हो जाती । कविता लिखने में बहुत-कुछ ऐसा है जो सचेतन और सायास होना चाहिए । वास्तव में, कुकवि जहाँ उसे चैतन्य रहना चाहिए वहाँ

अचेत रहता है और जहाँ अचेत रहना चाहिए वहाँ चैतन्य । दोनों ही प्रकार की गलतियाँ उसे 'वैयक्तिकता' की ओर उन्मुख करती हैं । कविता भाव को उन्मुक्त रूप से प्रवाहित कर देना नहीं, भाव से पलायन है; कविता व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति नहीं, उससे मुक्ति का नाम है । परन्तु हाँ, जिनके पास व्यक्तित्व और भाव दोनों हैं वे ही यह समझ सकते हैं कि इनसे पलायन चाहना क्या होता है ।

(ट्रेडीशन एण्ड इंडिविजुअल टेलेंट)

×

×

×

स्वच्छन्द और अभिजात

स्वच्छन्दतावाद और अभिजात्यवाद ऐसे विषय नहीं जिनको लेकर सृजनात्मक लेखकों को बहुत सिरखपाई करने की गुंजाइश हो अथवा जिनके सम्बन्ध में व्यवहार-रूप में वे नियमतः अधिक चिन्ता करते हों । यह सत्य है कि समय-समय पर लेखकों ने अपने आपको 'स्वच्छन्दतावादी' या 'अभिजात्यवादी' शब्दों से अभिहित किया है—ठीक वैसे ही जैसे उन्होंने अन्य नामों से अपने आपको समय-समय पर वर्णबद्ध किया है । लेखकों और कलाकारों के दल अपने आपको जो इस प्रकार के नाम देते हैं उनसे साहित्य के आचार्य एवं इतिहासकार बड़े आह्लादित होते हैं परन्तु इन्हें बहुत महत्व नहीं देना चाहिए । उनका प्रमुख मूल्य अस्थायी एवं राजनीतिक है—समकालीन जनता से उन लेखकों का परिचय करा देना, वस । मैं तो समझता हूँ जब कभी किसी कवि ने स्वच्छन्दतावादी अथवा अभिजात्यवादी के रूप में लिखने का प्रयत्न किया होगा तब अपने आपको हानि ही पहुँचाई होगी—और कुछ उसने न पाया होगा । कोई भी समझदार लेखक जो कुछ वह लिखने का प्रयत्न कर रहा हो उसके बीच में यह सोचने के लिए नहीं रुक सकता कि उसकी रचना स्वच्छन्द होगी अथवा उसके विपरीत । जिस क्षण कोई लिखने बैठता है, उस क्षण जो कुछ वह होता है सो होता है, रचना के क्षण में जीवन भर की क्षति की पूर्ति और अस्थिर समाज में जन्म लेने से होने वाली क्षति का प्रतिकार सम्भव नहीं ।

स्वच्छन्द तथा अभिजात जैसे शब्दों के प्रयोग में जितना खतरा सन्दर्भ के अधीन अर्थ में अनिवार्य अन्तर पड़ जाने के कारण है उतना उस गड़बड़ के कारण नहीं जो अपनी कृतियों के लिए इन शब्दों का प्रयोग करने वाले पैदा कर देते हैं—परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि हम इन शब्दों से एकदम कतराते हैं । जब हम किसी लेखक को स्वच्छन्दतावादी कहते हैं तब हमारा जो मतलब होता है ठीक वही उस समय नहीं होता जब हम साहित्यिक युग को

स्वच्छन्दतावादी कह कर अभिहित करते हैं । इसके अतिरिक्त, किसी भी विशेष अवसर पर, हमारे मन में कुछ अच्छाइयों और बुराइयों की धारणा हो सकती है जिन्हें हम न्यूनाधिक न्यायपूर्वक इनमें से एक या दूसरे शब्द से सम्बद्ध मानते हों; और यह सन्देह की बात है कि अच्छाई या बुराई का कोई ऐसा समग्र संकलन हो सकता है जिसे इनमें से किसी एक वर्ग के साथ सम्बद्ध किया जा सके । फलतः एक के बाद एक गलतफ़हमी के लिए, एक वृथा विवाद के लिए, बड़े अनुकूल अवसर होते हैं और विषय का विवेचन प्रायः राग-द्वेष एवं पूर्वाग्रह की उत्तेजना के वशीभूत होकर किया जाता है, विवेक के द्वारा नहीं । अन्त में एक बात और कहूँ—और यह सबसे महत्वपूर्ण बात है—कि इन दोनों शब्दों का जो अन्तर है वह ऐसा नहीं जिसे एकदम साहित्यिक सन्दर्भ तक सीमित किया जा सके । इनका प्रयोग करने में—मूल्यांकन की अपनी योजनाओं के अनुसार ही—अन्ततः आप समस्त मानवीय मूल्यों का अन्तर्भाव कर लेते हैं ।

(दि रोमांटिक एण्ड दि क्लासिक)

अनुवादक : श्री महेन्द्र चतुर्वेदी

आई० ए० रिचर्ड्स

(जन्म २६ फरवरी, १८९३ ई०)

[यूरोप के वर्तमान काव्य-शास्त्र के इतिहास में डाक्टर आई० ए० रिचर्ड्स का स्थान अत्यंत गौरवपूर्ण है। उनकी शिक्षा पहले मैग्डलिन कॉलेज और फिर कैम्ब्रिज में हुई। प्रौढ़ावस्था में हार्वर्ड विश्वविद्यालय ने उन्हें सम्मान-पूर्वक डी० लिट्० की उपाधि प्रदान की। श्रीमती रिचर्ड्स—डोरोथी इलीनर—भी लेखिका हैं। रिचर्ड्स मनोविज्ञान और अर्थ-विज्ञान के क्षेत्र से साहित्य के क्षेत्र में आए हैं।

आलोचक के रूप में उन्होंने अर्थ-विज्ञान को प्रकाश में लाने का महत्वपूर्ण प्रयास किया है। वे रूपक को चिन्तन का आधार मानते हैं। 'रिचर्ड्स ने मानसिक प्रक्रियाओं और साहित्य के सम्बन्धों का जो स्पष्टीकरण किया है वह शाश्वत है। उन्होंने यह सिद्ध कर दिया है कि मनोविज्ञान का अध्ययन आलोचक के लिए अनिवार्य है। वास्तव में रिचर्ड्स साहित्य की अपेक्षा मनोविज्ञान में अधिक पारंगत हैं।' एफ० आर० लीविस के अनुसार रिचर्ड्स की सबसे बड़ी देन मोमांसा की ऐसी प्रक्रिया उपस्थित करना है जो पूर्ववर्ती मान्य प्रक्रियाओं से कहीं अधिक मूल्यवान और समर्थ है।

'काव्यालोचन के सिद्धान्त' (प्रिंसिपल्स ऑफ लिटरेरी क्रिटिसिज्म) तथा 'व्यावहारिक आलोचना' (प्रैक्टिकल क्रिटिसिज्म) उनके मुख्य ग्रन्थ हैं।

१९३२ से रिचर्ड्स ने 'बेसिक इंगलिश' का समर्थन आरम्भ किया है। बेसिक इंगलिश में ८५० ऐसे शब्द हैं जिन्हें अन्तर्राष्ट्रीय स्वीकृति प्राप्त है। अनेक रेडियो-वार्ताओं तथा व्याख्यानों में उन्होंने इसके प्रचार और प्रसार पर जोर दिया है। उनका विचार है कि अन्तर्राष्ट्रीय भाषा के रूप में अंग्रेजी की स्वीकृति और सुरक्षा के लिए इस प्रकार का कार्य बहुत उपयोगी सिद्ध होगा।]

मूल्य का विवेचन

कला और नीति

जब हम किसी वस्तु को 'शुभ' या 'शिव' बताते हैं, तो हमारा तात्पर्य यह होता है कि वह परितोष देती है और शुभ अनुभूति से हमारा अभिप्राय उस अनुभूति से होता है जिसमें उसके मूलवर्ती आवेग सफल और तुष्ट हो जायें और साथ ही उसका एक आवश्यक गुण यह होता है कि उसके व्यायाम एवं परितोष से कोई अन्य अधिक महत्वपूर्ण आवेग बाधित न हो। महत्व की बात अत्यन्त जटिल है। कौन-से आवेग अन्य आवेगों से अधिक महत्वपूर्ण हैं। यह तो उनकी वास्तविक प्रक्रिया का विशद अन्वेषण करके ही पता लगाया जा सकता है। तब नैतिकता की समस्या—यह समस्या कि हम जीवन से यथा-सम्भव अधिकतम मूल्य कैसे ग्रहण करें—संगठन की समस्या बन जाती है : वैयक्तिक जीवन में भी और वैयक्तिक जीवनों के पारस्परिक समंजन में भी। इसके साथ ही वह समस्त मनोवैज्ञानिकेतर भावों से, निरपेक्ष श्रेयों से तथा तात्कालिक प्रत्ययों से मुक्त हो जाती है जो लुप्यमान नियमों को आवश्यक कठोरता तथा अचलता प्रदान करने में अनुषंगतः बहुत सहायक होते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि किसी पद्धति के अभाव में मूल्य का तिरोभाव हो जाता है क्योंकि अव्यवस्था की दशा में महत्वपूर्ण एवं तुच्छ दोनों ही प्रकार के आवेग कुण्ठित रह जाते हैं।

यहाँ पाठक के मन में एक छोटी-सी समस्या उठ सकती है। इसका सम्बन्ध 'व्यस्त क्षणों' तथा 'अनाम युग' में से एक का चयन करने और मूल्यांकन में काल-तत्त्व के स्थान से है। ऐसी अनेक अत्यन्त मूल्यवान् अवस्थाएँ हैं जो प्रस्तुत परिस्थिति के संदर्भ में बहुत समय तक स्थायी नहीं रह सकतीं और इनमें से कुछ के परिणाम अशक्त कर देने वाले होते हैं। परन्तु हम तो सबसे रोचक उदाहरण लेते हैं : यदि हमें प्रतिभावान् की स्नायविक संघटना के विषय में अधिक ज्ञान होता तो शायद हमें पता चलता कि बहुत-से लोग—जो कभी-कभी जीवन की सम्भावनाओं को यथार्थ रूप देने में सबसे अधिक समर्थ होते हैं—जिस अस्थिरता से पीड़ित रहते हैं वह केवल उनकी नम्यता की परिणति होती है; उन्हें 'दीप्त क्षणों' का मोल इस रूप में कतई नहीं चुकाना पड़ता वरन् यह तो अत्यन्त सूक्ष्म प्रणालियों में समन्वय के निम्न घरातल पर होने वाली क्षति का परिणाम है। मूल्य के सम्बन्ध में जिनके विचार अत्यन्त परिष्कार-विहीन होते हैं, प्रायः वे ही तुरन्त यह बात मान जाते हैं कि अत्यन्त मूल्यवान्

क्षणों का बाद में परिशोध करना पड़ता है। मानवीय सम्भावनाओं के उत्कर्ष के रूप में 'अतिव्यस्त काल' की कल्पना में ही उनके मत की व्याख्या निहित है। जो लोग यह मानते हैं कि सबसे मूल्यवान् अनुभव वे हैं जो भविष्य के मूल्यवान् अनुभवों की उपादेय पीठिका भी बनें, उनके लिए कोई समस्या उत्पन्न नहीं होती। अगर उनसे प्रश्न किया जाय कि क्या वे दीर्घ जीवन को आनन्दपूर्ण जीवन से अधिक पसन्द करते हैं तो वे उत्तर देंगे कि उनके जाने वह जीवन अत्यन्त सन्तोषप्रद होता है जिसमें आनन्द भी है, दीर्घता भी।

अस्तु, सबसे मूल्यवान् मनःस्थितियाँ वे होती हैं जिनमें क्रिया-कलाप का अत्यन्त विशद और व्यापक समन्वय तथा न्यूनतम रोध, द्वन्द्व, बुभुक्षा और नियंत्रण का समावेश होता है। सामान्यतः मनःस्थितियाँ उसी हद तक मूल्यवान् होती हैं जिस हद तक वे क्षय एवं कुण्ठा का परिहार करने की ओर उन्मुख हों। इस सूत्र पर विचार करते समय हमें यह स्मरण रखना होगा कि मानवीय कार्य-कलाप अत्यंत वैविध्यपूर्ण होता है, और उदाहरणार्थ हमें ऐसे व्यावहारिक एवं कुशल लोगों का अनुचित गुणगान करने से बचना होगा जिनके जीवन का भाव-पक्ष दमित हो। परन्तु मनोविश्लेषण के प्रसाद से आज दमन के परिणाम हमारी दृष्टि से छिपे नहीं रह सकते।

स्पष्ट है कोई भी एक प्रणाली सर्वोच्च स्थिति में होने का दावा नहीं कर सकती। मनुष्य मनुष्य में निसर्गतः अन्तर होता है और किसी भी समाज में विशेषीकरण अनिवार्य है। बहुत-सी अच्छी प्रणालियाँ हैं—यह बात तो स्पष्ट ही है और जो एक के लिए श्रेयस्कर हो, वह दूसरे के लिए भी श्रेयस्कर नहीं होगी। दर्जी, चिकित्सक, गणितज्ञ और कवि—सबकी आद्यन्त एक-सी ही व्यवस्था होना कठिन है। भिन्न परिस्थितियाँ होने पर अनिवार्यतः भिन्न मूल्यों का अभ्युदय होता है। निस्सन्देह ऐसी परिस्थितियाँ हो सकती हैं—और बहुधा होती हैं—कि उच्च मूल्यों का जीवन सम्भव ही न रहे। प्रकृतवादी नैतिकता से उन्हें बदलने के कारण तथा उपाय दोनों ही स्पष्टतर हो जाते हैं। परन्तु यह सभी मानते हैं कि अपने वर्तमान साधनों और प्रकृति पर अपने आधिपत्य के बल पर विवेक तथा सद्भाव के द्वारा यह उपलब्धि कर लेना सम्भव है कि कोई भी मनुष्य ऐसी स्थिति में न रहे जहाँ उसे समस्त सुलभ-प्राय मूल्यों से वंचित रहना पड़े। नैतिक प्रश्नों को आचार के बोझ तथा अन्धविश्वासपूर्ण तत्त्वों से मुक्त करना परम आवश्यक है—सच तो यह है कि इस दिशा में यह कदम बहुत पहले ही उठा लिया जाना चाहिए था। जो इस प्रकार (अव्यावहारिक कार्यकलाप में) अपने आपको संलग्न रखते हैं,

उनके विषय में निस्सन्देह यह सत्य है (कि उनकी स्थिति उस यात्री की सी है, जो अपर्याप्त चालकों से युक्त पोत में यात्रा कर रहा हो) । परन्तु यह सत्य नहीं कि आलोचना विलास-व्यापार है । समाज के 'चन्दावल' का तब तक उद्धार कैसे हो सकता है जब तक 'हरावल' आगे न बढ़ जाये । सद्भाव और विवेक तो अब भी कम ही मिलता है । हम कह चुके हैं कि आलोचक का मन के स्वास्थ्य से उतना ही सम्बन्ध होता है जितना चिकित्सक का तन के स्वास्थ्य से । जिसे आलोचक का आसन मिलता है वह मूल्यों का निर्णेत होता है । कलाएँ अनिवार्यतः, और कलाकार के मन्तव्य से निरपेक्ष, अस्तित्व की निरूपिणी होती हैं । मैथ्यू आर्नल्ड ने जब यह कहा कि कविता जीवन की आलोचना होती है तो वह एक ऐसी बात कह रहे थे जो एकदम प्रत्यक्ष है पर जिसकी बराबर उपेक्षा की गई है । कलाकार का काम तो उन अनुभूतियों को अंकित कर देना एवं चिरस्थायी बना देना होता है जिन्हें वह सबसे अधिक मूल्यवान् समझता है और वही ऐसा आदमी होता है जिसके पास अंकनीय मूल्यवान् अनुभूतियाँ होने की सबसे अधिक सम्भावना होती है । कलाकार वह बिन्दु है जहाँ मन का विकास सुव्यक्त हो उठता है । उसकी अनुभूतियों में—कम-से-कम उन अनुभूतियों में जो उसकी कृति को मूल्यवान् बनाती हैं—ऐसे आवेगों का सामंजस्य लक्षित होता है, जो अधिकांश लोगों के मन में अस्तव्यस्त, परस्पर अन्तर्भूत तथा द्वन्द्वरत हुआ करते हैं । जो कुछ अधिकांश लोगों के मन में अव्यवस्थित रूप में विद्यमान होता है, उसकी कृति उसी को व्यवस्था देती है । यदि अव्यवस्था में से व्यवस्था का विकास करने में उसकी विफलताएँ अन्य लोगों की अपेक्षा अधिक परिस्फुट हो जाती हैं तो उसका कारण—कम-से-कम कुछ हद तक—कलाकार का प्रबलतर साहस होता है : यह उसकी स्पृहा का दण्ड एवं उसकी अपेक्षाकृत अधिक नम्यता का परिणाम होता है । परन्तु जब वह सफल होता है तो उसकी सिद्धि का मूल्य सदैव पूर्णतर संगठन में प्रकट होता है जिसके फलस्वरूप प्रतिचेष्टा तथा क्रियाशीलता की अधिक सम्भावनाओं की उद्भावना होती है ।

कौन-सा मूल्य और कौन-सी अनुभूतियाँ सबसे अधिक महत्वपूर्ण होती हैं ?—जब तक हम सत् और असत् की व्यापक अमूर्तवाची शब्दावली में सोचते रहेंगे तब तक यह बात कभी भी समझ में न आयेगी । मूल्य प्रतिचेष्टा एवं प्रवृत्ति की 'सूक्ष्म विवृतियों' में निहित है—यह बात समझने के बजाय हमने उसे अमूर्त उपचारों एवं सामान्य आचरण-नियमों की अनुरूपता में देखने का प्रयत्न किया है । कलाकार 'सूक्ष्म विवृतियों' में निष्णात होता है और वह

ऐसी सामान्योक्तियों पर ध्यान नहीं देता जिनके विषय में वास्तविक व्यवहार में वह पाता है कि वे इतनी स्थूल हैं कि मूल्यवान् और मूल्यहीन के बीच भेद नहीं कर पातीं। इसी कारण नीतिवादी की प्रवृत्ति सदैव उसका अविश्वास या उपेक्षा करने की होती है। परन्तु चूँकि जीवन का सत्प्रवर्तन ऐसी सूक्ष्म प्रतिचेष्टाओं के सुनिर्देशन से ही सम्भव है जिन्हें कोई सामान्य आचारपरक सूक्तियाँ बाँध नहीं सकतीं, अतः नीतिवादी के द्वारा कला की यह उपेक्षा एक प्रकार की नियोग्यता ही रही है। शैले ने दृढ़तापूर्वक कहा है कि नैतिकता का शिलान्यास धर्मोपदेशक नहीं, कवि करते हैं। कुरुचि और असंस्कृत प्रतिचेष्टाएँ अन्यथा प्रशंसनीय व्यक्ति में दोष-मात्र नहीं रह जातीं। वह तो एक ऐसा मूलवर्ती दोष है जिससे और दोषों का जन्म होता है। जिस जीवन में प्राथमिक प्रतिचेष्टाएँ छिन्न-भिन्न एवं व्यतिव्यस्त हों वह उत्कृष्ट नहीं हो सकता।

कविता कविता के लिए

एक और सम्भावित भ्रान्ति—जिसका उल्लेख किये बिना नहीं रहा जा सकता—‘कला कला के लिए’ वाले सिद्धान्त के सम्बन्ध में पैदा होती है। यह सिद्धान्त अतीत का अंग बन गया है और इसलिए निश्चय ही अधिक हानिकर। इसका सम्बन्ध इस प्रश्न से है कि जिन्हें हम परोक्ष प्रभाव कह सकते हैं, कलाकृति के मूल्यांकन में उनका क्या स्थान है? कला के क्षेत्र में तथाकथित ‘बहिरंग नियमों’ को लागू करने के किसी भी प्रयत्न पर नाक-भौं सिकोड़ने का एक डर्रा-सा चल पड़ा है। लेकिन यहाँ यह उल्लेख कर देना अप्रासंगिक न होगा कि आलोचना के जितने भी प्रमुख सिद्धान्त हैं उनमें कला के ‘नैतिक’ सिद्धान्त (वर्ल्ड उसे ‘साधारण मूल्यों का सिद्धान्त’ कहना अधिक समीचीन होगा) के पीछे महान् प्रतिभाओं का सबसे अधिक बल है। विसलर^{१८३} ने जब गत अर्धशताब्दी के आलोचनात्मक आन्दोलनों का सूत्रपात किया उससे पहले किसी कवि, कलाकार अथवा समालोचक के मन में शायद ही कभी इस विषय में संदेह उठा हो कि कलानुभूतियों का मूल्य भी अन्य मूल्यों की भाँति ही आँका जाना चाहिए। प्लतोन (प्लेटो), अरिस्तोतेलस (अरिस्तू), होरेस, दांते, स्पेंसर, मिल्टन और अठारहवीं शताब्दी के कालरिज, शैले, मैथ्यू आर्नल्ड और पेटर (कुछ प्रमुख नामों का ही उल्लेख मैंने यहाँ किया है) सभी ने न्यूनाधिक परिष्कार के साथ इसी मत का प्रतिपादन किया है। इनमें से अन्तिम अर्थात् पेटर इस मत के कुछ अप्रत्याशित अनुयायी हैं।

सत्कला की मूलभूत शर्तें—जिनका विवेचन करने का मैंने प्रयत्न किया

है—पूरी होने पर यदि वह (कला) मानव-सुख की अभिवृद्धि में (भी) निरत हो, पीड़ितों के उद्धार या हमारी पारस्परिक सहानुभूति के विस्तार में संलग्न हो अथवा हमारे अपने विषय में या हमारे और वस्तु-जगत् के परस्पर सम्बन्ध के विषय में ऐसे नूतन या पुरातन सत्य का आख्यान करे जिससे उक्त भूमि पर हमारी स्थिति और सुदृढ़ हो—तो वह भी महान् कला होगी। जिन गुणों का मैंने उल्लेख किया है उनके अतिरिक्त यदि उसमें मानव-आत्मा का स्पन्दन भी है तो उसे मानव-जीवन में अपना युक्तियुक्त स्थान मिलेगा—वैसे ही जैसे किसी प्रासाद में वास्तु-कला की महत्ता होती है। जिन परिस्थितियों में अनुभूति मूल्य अर्जित करती है उनका इससे अच्छा, संक्षिप्त और भावात्मक आख्यान क्या हो सकता है !

इन सब गुरु-गम्भीर विचारों के विरुद्ध अनेक लब्धप्रतिष्ठ क्षेत्रों में प्रायः गत तीस वर्षों से यह दृष्टिकोण हावी रहा है कि कला के मूल्य अनन्यसामान्य हैं अथवा उन पर अन्य सब मूल्यों से निरपेक्ष विचार किया जा सकता है। इसका समर्थन मुख्यतः वस्तु-तत्त्व और रूप-विधान के—विषय और उसके उप-स्थापन के—भेद के द्वारा किया जाता है और इसका आधार है अन्तर्हित, इन्द्रियातीत, परम श्रेयों का सिद्धान्त। यह जो भेद करने का प्रयत्न किया गया है इसके कारणों का संकेत मैंने पहले किया है—वे तरह-तरह के हैं। इसका कारण कुछ हद तक विसलर और पेटर का—और उनके सिद्धान्तों का प्रचार करने वाले उनसे भी अधिक प्रभावशाली उनके शिष्यों का—प्रभाव हो सकता है। अंशतः यह रस्किन^{१८४} के विरुद्ध संचित प्रतिक्रिया का भी परिणाम हो सकता है। कुछ ऐसा भी लगता है कि शायद इस रूप में अंग्रेजी मन पर महा-द्वितीय एवं जर्मन सौन्दर्य-शास्त्र का प्रभाव प्रतिफलित हुआ हो। जब से वैज्ञानिक सौन्दर्य-शास्त्र का सूत्रपात हुआ है, लगभग उसी समय से यह आग्रह तीव्रतर हो गया है कि सौन्दर्यानुभूति ऐसी अनुभूति है जो विशिष्ट और स्वतःपूर्ण है तथा उस पर निरपेक्ष रूप से विचार किया जा सकता है। प्रायः यह वैज्ञानिक पद्धति के एक भाग का इस क्षेत्र-विशेष में विस्तार कर देने जैसा ही है और वह पद्धति यह है कि जहाँ भी सम्भव हो एक समय एक ही वस्तु पर विचार किया जाये। जब इंग्लैण्ड में आलोचकों ने—और यह कोई पुरानी बात नहीं है—सुना कि कला और कविता से सम्बद्ध कोई ऐसी चीज़ है, अर्थात् सौन्दर्यानुभूति, जिसका अन्तरीक्षण की पद्धतियों द्वारा निरपेक्ष विवेचन-पर्यालोचन सम्भव है तो उन्होंने तुरन्त यह निष्कर्ष निकाल लिया कि उसके मूल्य को भी विविकृत किया जा सकता है और दूसरी चीज़ों की ओर निर्देश किये बिना ही उसका आख्यान

हो सकता है—और यह कोई अस्वाभाविक बात न थी। कुछ उत्साहियों ने इसके आगे और भी निष्कर्ष निकाले पर वे इतने विचित्र थे कि उस समय जो एक ढर्रा चल पड़ा था उसके समाप्त होते ही वे भी काल-कवलित हो गये। उनका सार यह था कि कलाकृतियों को शेष सब अनुभूतियों से भिन्न और पृथक् एक ऐसा 'विशेष पुलक' देना चाहिए जो और कहीं से नहीं मिल सकता। कहा यह गया कि 'वह भी इस अविश्वसनीय रूप से विचित्र सृष्टि में ऐसा न होगा कि उससे अधिक विचित्र और कुछ भी न हो।' * परन्तु सृष्टि की विचित्रता और तरह की है, और कहीं अधिक रोचक भी है। उसमें अनेक प्रकार की विचित्रताएँ भले ही हों पर अव्यवस्था कहीं भी नहीं दिखाई पड़ती।

इस समय हमारा जो उद्देश्य है, उसके लिए हमें इस सूत्र के अन्यतम पोषक के मत पर ही विचार करने की आवश्यकता है। वे एक ऐसे आलोचक हैं जो इस सूत्र पर अपनी व्याख्याओं के द्वारा आक्षेप का परिहार करने की दिशा में काफ़ी आगे बढ़े हैं।

“तब ‘कविता कविता के लिए’ सूत्र से इस अनुभूति के विषय में हम क्या समझते हैं ? मेरी समझ में तो उससे ये बातें हमारे सामने आती हैं : एक, यह अनुभूति अपने आपमें साध्य है, अपनी महत्ता के आधार पर स्पृहणीय है और उसका अपने आपमें मूल्य है। दूसरे, यह निहित महत्ता ही उसका काव्य-मूल्य है। संस्कृति या धर्म के साधन के रूप में काव्य का परोक्ष मूल्य भी हो सकता है—क्योंकि वह शिक्षा देता है, भावों को मार्दव प्रदान करता है और सदुद्देश्य को बल, क्योंकि वह कवि को यश, द्रव्य तथा आत्मशान्ति का लाभ कराता है। और अच्छी बात है, इन कारणों से भी उसे मूल्यवान् समझिए। परन्तु एक सुखद कल्पनापरक अनुभूति के रूप में उसका काव्य-मूल्य उसकी परोक्ष महत्ता तक ही सीमित हो या प्रत्यक्ष रूप से उसी के द्वारा आँका जाये—यह नहीं हो सकता। उसकी परख तो उसके भीतर से—अन्तरंग में पैठकर—ही हो सकती है। सृजन-प्रक्रिया में कवि के तथा आस्वादन की प्रक्रिया में पाठक के मन में परोक्ष साध्य की बात उठ आने से तो काव्य का मूल्य घट जायेगा क्योंकि उसमें काव्य को उसके वातावरण में से निकाल कर उसकी प्रकृति बदलने की चेष्टा निहित रहती है। काव्य की प्रकृति यह नहीं कि वह वस्तु-जगत का (इस शब्द के साधारण प्रचलित अर्थ में) अंग अथवा उसका प्रतिरूप हो;

* कलाइव बेल—आर्ट, पृ० ४६।

उसकी निजता तो इस बात में है कि वह एक स्वतन्त्र, स्वतःपूर्ण, निरपेक्ष एवं स्वायत्त जगत हो।”*

यहाँ चार बातें ऐसी लगती हैं जिन पर गम्भीर विचार करना श्रेयस्कर होगा। पहली बात तो यह है कि सम्भाव्य परोक्ष मूल्यों के रूप में डॉ० ब्रैडले ने जिन चीजों का उल्लेख किया है—संस्कृति, धर्म, शिक्षा, भावों का मार्दव, सदुद्देश्य का उन्नयन, कवि के निमित्त यश, द्रव्य तथा आत्म-शान्ति—उनका स्पष्टतः बिलकुल दूसरा धरातल है। इन सब चीजों के सम्बन्ध में उनका कथन है कि कदाचित् वे सौन्दर्यानुभूति के काव्यगत महत्त्व को नहीं आँक सकती; कोई काव्यानुभूति काव्य की दृष्टि से मूल्यवान् है या नहीं—यह इन परोक्ष मूल्यों में से किसी पर भी निर्भर नहीं। परन्तु यह निश्चय है कि काव्यानुभूति से इनमें से कुछ का सम्बन्ध अन्यो की अपेक्षा बिलकुल भिन्न होता है। अनुभूतियों का काव्य-मूल्य आँकने में संस्कृति, धर्म, कुछ विशेष अर्थों में शिक्षा, भावों के मार्दव एवं सदुद्देश्यों के उन्नयन का सीधा सम्बन्ध हो सकता है। अन्यथा ‘काव्य—’ (काव्यात्मक) शब्द एक अर्थहीन ध्वनि मात्र होकर रह जायेगा। दूसरी ओर, कवि-यश, द्रव्य अथवा आत्मा की बात स्पष्टतः प्रसंग-संगत नहीं। यह हुई पहली बात।

दूसरी बात यह है कि कल्पनापरक अनुभूति के सम्बन्ध में डॉ० ब्रैडले का यह कथन, कि उसकी परख उसके भीतर से ही हो सकती है, भ्रान्तिजनक है। अधिकांशतः उसकी परख भीतर से नहीं होती। उसके मूल्य के सम्बन्ध में हमारा निर्णय उसका अंश नहीं होता। बहुत ही कम उदाहरण ऐसे होंगे जहाँ वह उसका अंश हो—परन्तु वे तो अपवाद-स्वरूप हैं। वैसे तो हमें उसे परखने के लिए उससे बाहर होना पड़ता है और उसे या तो स्मृति के अथवा अन्य अवशिष्ट प्रभावों के आधार पर परखते हैं जिनके सम्बन्ध में हम यह जान पाते हैं कि वे उसके मूल्य के अच्छे द्योतक हैं। यदि अनुभूति की प्रक्रिया में ही उसकी परख करने से हमारा तात्पर्य केवल जब तक ये अवशिष्ट प्रभाव ताजे हों तब तक से हो तो हम बात मान सकते हैं। परन्तु इस प्रकार उसे परखने में ‘मानव-जीवन की महान् संघटना में उसके स्थान’ की कदाचित् उपेक्षा नहीं की जा सकती। उसका जो भी मूल्य होगा, इसी बात पर निर्भर होगा, और हम इस स्थान और इसके साथ अनेक परोक्ष महत्त्वों को हिसाब में लिये बिना उस मूल्य को आँक नहीं सकते। यह बात नहीं कि यदि हम उसकी उपेक्षा कर दें तो इसका गलत मूल्यांकन होगा, बल्कि इन सब चीजों को हिसाब में लेना, और उनकी परस्पर

* ए० सी० ब्रैडले, आक्सफ़ोर्ड लेक्चर्स ऑन पोयट्री, पृ० ५।

सम्बद्धता पर विचार करना ही वास्तव में मूल्यांकन करना है।

तीसरा प्रश्न डॉ० ब्रैडले की तीसरी स्थापना से पैदा होता है कि सृजन-प्रक्रिया में कवि द्वारा अथवा अनुभव की प्रक्रिया में पाठक द्वारा परोक्ष साध्यों को महत्त्व दिये जाने से काव्य-मूल्य का क्षय हो उठता है। यहाँ सब-कुछ इस बात पर निर्भर है कि वे परोक्ष साध्य क्या हैं? और कविता किस प्रकार की है? इस बात से कोई इनकार नहीं करेगा कि कुछ विशेष प्रकार के काव्य में परोक्ष साध्यों के आ घुसने से इसका मूल्य कम हो सकता है और अक्सर हो जाता है परन्तु स्पष्ट ही काव्य के कुछ अन्य प्रकार भी होते हैं जिनमें काव्य के रूप में उसका मूल्य निश्चय ही और सीधा परोक्ष साध्यों पर निर्भर होता है।

यह तीसरी स्थापना डॉ० ब्रैडले ने अनन्तिम रूप में की है। उनका कथन है कि इस परोक्ष तत्त्व से काव्य-मूल्य का अपकर्ष होता है परन्तु उसका एक महत्त्वपूर्ण अपवाद है। दोनों काव्य-प्रकारों में भेद करना श्रेयस्कर होगा—एक वह जिस पर उनका सिद्धान्त लागू होता है और दूसरा वह जिस पर नहीं होता। जहाँ यह सिद्धान्त लागू होता है उनके उदाहरण के रूप में 'दि एनशिण्ट मेरीनर' ^{१५६} तथा 'हार्ट लीप वेल' ^{१५७} का उल्लेख किया जा सकता है। इन दोनों में अनुभूतियाँ इस तरह की हैं जिनमें परोक्ष साध्यों का कोई विशेष समावेश नहीं होता। अतः जब कालरिज और वर्ड्सवर्थ नैतिक विचारणाओं का समावेश करते हैं तो निस्सन्देह ऐसा लगता है जैसे बलात् किसी तत्त्व का निवेश किया जा रहा है। श्रीमती मेनेल ने उपहास करते हुए लिखा है : 'दि एनशिण्ट मेरीनर' मानो जान-बूझकर हमें चोट पहुँचाता है। वन्य पक्षी की प्राण-रक्षा तथा उसके वध के दण्ड के लिए नियमों का आविष्कार करके उसने पर्यवेक्षण के निसर्ग कार्य का निषेध किया है। कालरिज यह बताकर हमें बलात् एक सबक देना चाहते हैं कि दो सौ नाविक इसलिए प्यास से मर गये कि उन्होंने—अन्ध-विश्वासवश, जो उनके शैक्षिक स्तर को देखते हुए क्षम्य है—धुन्ध के मौसम का लाने वाला समझकर एक एलबैट्रॉस (पक्षी विशेष) के मारे जाने का समर्थन किया था। निदोष पशु-पक्षियों की हत्या का समर्थन लोग प्रायः रोज ही करते हैं।' परन्तु कालरिज के विरुद्ध यह आरोप संगत तभी समझा जा सकता है जब हम इस परोक्ष साध्य को—जानवरों के प्रति निर्ममता न बरतने के इस सबक को—कविता का महत्त्वपूर्ण अंश मान लें। लगता है श्रीमती मेनेल ने कालरिज के इस सबक को अतिशय गम्भीरता से ग्रहण किया है। हो सकता है इसके बहुत बाद जब कालरिज ने यह कहा था कि 'दि एनशिण्ट मेरीनर'

में शिक्षा का अंश पर्याप्त नहीं, तब उनके मन में यही सम्भावना रही हो। जिस प्रकार की वह कविता अब है, उसके देखे उसमें परोक्ष साध्यों का अंतर्भाव है ही नहीं। यदि हम अपना निर्णय करते समय इस इतर तत्त्व को अर्थात् इस शिक्षा की बात को हिसाब में लेंगे तो हमें जान-बूझकर श्रीमती मेनेल की भाँति कविता को गलत-सलत करके पढ़ना होगा। ये ही बातें 'हार्ट लीप वेल' पर लागू होती हैं और जहाँ तक डॉ० ब्रैडले इसी तथ्य पर बल देते हैं, हम उनसे सहमत हैं परन्तु उन्होंने इस बात पर ध्यान नहीं दिया—और सच तो यह है कि कम ही आलोचक ऐसे हैं जो इस बात पर ध्यान देते दिखाई पड़ते हैं—कि कविता एक से अधिक प्रकार की होती है और अलग-अलग प्रकारों की कविताओं का मोल अलग-अलग सिद्धान्तों के आधार पर ही आँका जा सकता है। कविता का एक प्रकार ऐसा होता है जिसके मूल्यांकन में परोक्ष साध्यों का अंतर्भाव प्रत्यक्षतः और अनिवार्यतः हो जाता है—यह ऐसी कविता होती है जिसके मूल्य का एक अंश सीधे उन साध्यों के मूल्य से ग्रहण किया जाता है जिनसे वह सम्बद्ध होती है। कुछ ऐसे काव्य-प्रकार हैं जिनमें परोक्ष साध्यों का कतई दखल नहीं होता और कुछ ऐसे भी हैं कि अगर उनमें हीनतर मूल्य वाले साध्यों को घसीट लिया जाये तो उनका मूल्य घट जायेगा। डॉ० ब्रैडले ने इसी व्यापक भ्रान्ति के वश कि इस दृष्टि से कविता एक ही प्रकार की होती है, बहुत-सी ऐसी बातें कह डाली हैं जो काव्यानुभूति-विषयक तथ्यों की कसौटी पर खरी नहीं उतरतीं।

चौथी बात शायद उपर्युक्त तीनों बातों से अधिक व्यापक महत्त्व की है। वास्तव में हम जिस दृष्टिकोण का समर्थन कर रहे हैं और डॉ० ब्रैडले—तथा उनके साथ आधुनिक आलोचकों का अपार बहुमत—जिस सिद्धान्त का प्रतिपादन करना चाहते हैं उन दोनों में असली भेद इसी बात को लेकर है। मैंने ऊपर जो कड़िका उद्धृत की है उसके अन्तिम वाक्य में इस बात का उल्लेख हुआ है। काव्य के सम्बन्ध में उनका कथन है : "काव्य की प्रकृति यह नहीं कि वह वस्तु-जगत् का—इस शब्द के साधारण प्रचलित अर्थ में—अंग अथवा उसका प्रतिरूप हो, उसकी निजता तो इस बात में है कि वह एक स्वतन्त्र, स्वतःपूर्ण, निरपेक्ष एवं स्वायत्त जगत् हो। उसकी प्रकृति को आत्मसात् करने के लिए हमें उसी जगत् में प्रवेश करना होगा, उसके नियम मानने होंगे और हमारे इस वस्तु-जगत् के जो विश्वास, उद्देश्य और विशिष्ट परिस्थितियाँ हैं उन्हें कुछ समय के लिए भूल जाना होगा।" इस सिद्धान्त का आग्रह कविता और उसके विरोध में जिसे जीवन कहा जा सकता है उसका विच्छेद कर देने पर है; यह

विच्छेद तो एकदम पूर्ण होगा परन्तु—डॉ० ब्रैडले के ही आग्रह के अनुसार—उनमें परस्पर एक 'प्रच्छन्न' सम्बन्ध बना रहेगा। किन्तु इस 'प्रच्छन्न' सम्बन्ध का ही तो सारा महत्त्व है। काव्यानुभूति में जो कुछ सम्पदा है वह इसी के माध्यम से उपलब्ध हुई है। काव्य-जगत् की शेष जगत् से किसी भी अर्थ में कोई पृथक् सत्ता नहीं, न उसके कोई विशेष नियम हैं और न कोई अलौकिक विशेषताएँ। उसका निर्माण भी विलकुल उसी प्रकार के अनुभवों से हुआ है जैसे अनुभव हमें अन्य क्षेत्रों में हुआ करते हैं। परन्तु प्रत्येक कविता सर्वथा सीमित अनुभव-खण्ड हुआ करती है और यदि इतर तत्त्व किसी तरह उसमें प्रवेश पा जायें तो वह प्रायः सहज ही छिन्न-भिन्न हो जाता है। उसकी संघटना पहाड़ी या गली-कूचों के साधारण अनुभवों से कहीं अधिक सुकुमार और भव्यतर हुआ करती है—वह (अनुभव) मंगुर होता है, साथ ही प्रेषणीय भी। थोड़े-बहुत भेद के साथ वह अनेक मानसों का अनुभव हो सकता है—वैसा हो, यह उसकी संघटना की एक शर्त है। उसके समान मूल्य के अन्य अनेक अनुभवों से उसके भेद का आधार यह प्रेषणीयता ही है। अतः जब हम उसका अनुभव करें या उसके अनुभव का प्रयास करें तो हमें सतर्क रहना चाहिए कि वह दूषित न होने पाये, कि व्यक्ति-वैचित्र्य उसे आक्रान्त न कर ले। हमें कविता को इन तत्त्वों से मुक्त रखना चाहिए—अन्यथा हम उसका आस्वाद नहीं कर पायेंगे या हमारी अनुभूति कुछ और ही होगी। इसीलिए हम एक विच्छेद की स्थापना करते हैं; कविता और हमारी अनुभूति में जो कविता नहीं है, उसके बीच विभेद की रेखा खींचते हैं। परन्तु यह असमान वस्तुओं के बीच विच्छेद करना नहीं बल्कि एक ही क्रियाकलाप की विभिन्न प्रणालियों के बीच विच्छेद करना है। एक आदमी जो एक साथ लिख भी रहा हो और धूमपान भी कर रहा हो उसके पाइप को संचालित करने वाले तथा लेखनी को निर्देशित करने वाले आवेगों के बीच जितना अन्तर होता है, उससे अधिक अन्तर इनके बीच नहीं और काव्यानुभूति की 'विसम्पृक्ति' अथवा विच्छेद उसे बाहरी तत्त्वों और प्रभावों से मुक्त करना भर है। अनुभूति का 'रूपान्तर करने' अथवा उसे 'काव्योचित रूप देने' का ढकोसला तथा 'चिन्तनपरक' अथवा 'सौन्दर्यशास्त्रीय' दृष्टिकोण का ढकोसला—ये दोनों अंशतः इसलिए हैं कि हम उन मूर्त अनुभवों की बात तो सोचते नहीं जो कविता हैं बल्कि उसके वजाय काव्य और 'कवित्व-मय' की बातें करते हैं।

काव्यानुभूति तथा जीवन में उसके स्थान एवं परोक्ष महत्त्व को पृथक् करके देखने और उसका सच्चे हृदय से प्रचार करने वालों में एक प्रकार का

असन्तुलन, संकीर्णता और एकांगिता रहती है। 'शेक्सपीरियन ट्रैजडी' १५५ के लेखक के विरुद्ध तो ऐसा आरोप कोई भी नहीं लगायेगा—उनका हाल तो ऐसे आलोचक का-सा है जो अपने ही सिद्धान्तों का खण्डन करता रहता हो। प्रशंसा की बात है, ऐसे उदाहरण देखने में भी आते ही हैं। जब इस मत में किसी की सच्ची आस्था होती है तो वह प्रायः सहृदय पाठक को अनेक विशिष्ट वृत्तियों या विभागों में बाँटकर देखने का प्रयास करता है जिनकी कोई वास्तविक सत्ता नहीं होती। एक पाठक को रसज्ञ मानव, नैतिक मानव, व्यावहारिक मानव, राजनीतिक मानव, बौद्धिक मानव आदि अनेकानेक मानव-रूपों में विभक्त करना सम्भव नहीं। ऐसा तो किया ही नहीं जा सकता। किसी भी सच्ची अनुभूति में ये सब तत्त्व अनिवार्यतः सम्मिलित हो जाते हैं। परन्तु यदि ऐसा हो सके—जैसा कि बहुत-से आलोचक दावा करते हैं—तो इसका परिणाम आलोचना-बुद्धि की सर्वांगीणता और मान्यता के लिए घातक होगा। उदाहरण के लिए यदि हम यह मानकर चलें कि शैले के भाव ज्योत्स्ना के समान मिथ्या हैं तो उसकी कविता का आनन्द नहीं ले सकते या इसी तरह 'प्रोमिथियस अनबाउण्ड' १५६ पढ़ें और मन में धारणा यह हो कि 'मानव की पूर्णता एक अवांछनीय आदर्श है' या यह कि 'फांसी देने वाले जल्लाद भी बड़े अच्छे लोग होते हैं।' यह कहना कि, उदाहरणार्थ—'सर्मन ऑन दि माउण्ट' १६० के प्रति, एक विशुद्ध सौन्दर्यमूलक अथवा काव्यात्मक दृष्टिकोण भी हो सकता है जिसमें कविता के मन्तव्य अथवा परोक्ष साध्य की बात उठ ही नहीं सकती—कोरी मानसिक कायरता प्रतीत होगी। यह तो उस व्यक्ति की संकीर्ण उक्ति होगी जो शुद्ध साहित्य को अपने बस के बाहर की बात पाये। उत्कृष्टतर काव्य-प्रकारों के समुचित पाठ में यह सब चीज आयेगी जिसमें किसी एक पाठक की वैयक्तिकता और विशिष्टता लक्षित न हो। पाठक से अपेक्षित यह होता है कि वह आँखों पर अँधौटी धारण न कर ले, किसी ऐसी चीज की उपेक्षा न कर जाये जिसका प्रसंग-विशेष में महत्त्व हो और अपने मानस का कोई भाग ऐसा न बचने दे जो कविता से अलिप्त रह जाये।

सुख

संवेदन, बिम्ब, भावना, भाव तथा इनके साथ सुख, असुख और दुःख आवेगों की चेतन विशिष्टताओं के अभिधान हैं। इनमें परस्पर भेद करने की समस्या एक ऐसी समस्या है जो इस बिन्दु पर पहुँचने के बाद भाषा की असमर्थताओं के कारण और भी कठिन हो जाती है। उदाहरणार्थ, हम सुख-दुःख

की बात कुछ इस ढंग से करते हैं मानो उनका एक ही वर्ग हो परन्तु ध्यान से देखें तो दुःख तो चेतना को अकेली आत्म-निर्भर परिणतियों के रूप में सहज उपलब्ध होते हैं परन्तु सुखों का अपने आप अलग अस्तित्व नहीं मालूम देता । लगता है सुख तो वह विधि है जिससे कोई घटना घटित होती है, ऐसी कोई स्वतन्त्र घटना नहीं जो मन में स्वतः घटित हो सके । हमें सुख नहीं बल्कि किसी-न-किसी तरह की—चक्षु-श्रुति-त्वचागोचर अथवा गतिपरक आदि—अनुभूतियाँ होती हैं जो सुखकर हों । इसी प्रकार हमारी ऐसी अनुभूतियाँ भी होती हैं जो असुखकर हों । परन्तु यदि हम उन्हें दुःखद कहें तो सन्दिग्धार्थता उत्पन्न हो जायेगी । हो सकता है हम कहना चाहते हों कि वे असुखकर हैं, या यह कहना चाहते हों कि वे दुःख-समन्वित हैं—ये दो अलग-अलग बातें हैं । सुख शब्द का इस तरह का प्रयोग, मानो वह अन्य अनुभूतियों से संसक्त अथवा उनके साथ या उपरांत पैदा होने वाली कोई चीज़ न होकर दुःख की भाँति अपने आपमें एक पूर्ण अनुभूति है, कई भ्रान्तियों को जन्म दे चुका है—विशेषतः उन आलोचनात्मक निबन्धों में जिन्होंने मूल्य को सुख से अभिन्न मान लिया है ।

आधुनिक मनोविज्ञान की उन बीस-बाईस पृथक्-पृथक् संवेदनाओं में, जो पुरानी पंच-तन्मात्राओं का विस्तार हैं, सुखदता और असुखदता की मात्रा और सम्भाव्यता की दृष्टि से एक-दूसरे से बहुत भिन्नता मिल सकती है । उच्चतर चेतनाएँ—दर्शन और श्रवण—अधिकांश लोगों में जिन संवेदनाओं को जन्म देती हैं वे अन्यों की अपेक्षा तटस्थता या उदासीनता से बहुत कम भिन्न होती हैं । परन्तु यह भेद हमें बड़ी सतर्कता से समझ लेना चाहिए । रंग और रूपाकृतियों का विन्यास, स्वरों का अथवा संगीत-रचना का तारतम्य—उपयुक्त व्यक्तियों में—सुख या असुख की दशा में वैसी ही तीव्र प्रतिक्रिया जगा सकता है जैसी कोई त्वचा अथवा रसनागत संवेदना । परन्तु यह बात भी साधारणतः नहीं होती । सही प्रयोग तो यह होगा कि एक ही रंग या एक ही स्वर की ऐसी संवेदना से तुलना की जाये जो एकविध स्पर्श अथवा तापमान से उद्बुद्ध होती है—जैसे स्नान, या सहज एकविध स्वाद या गंध से अथवा भूख से या वमनेच्छा से । सही-सही तुलना तो कठिन है क्योंकि सहजता और एकविधता के समतुल्य स्तर खोज पाना सम्भव नहीं, परन्तु इस बात में शायद ही किसी को सन्देह हो कि, उदाहरणार्थ, स्वाद द्वारा उत्पन्न सुख-असुख की मात्रा श्रुति-चक्षुपरक संवेदनाओं द्वारा उत्पन्न सुख-असुख की मात्रा से कहीं अधिक होती है । यहाँ हमें संवेदनाओं के निहित सुख-असुख और अन्य प्रीतिकर या अप्रीतिकर

संवेदनाओं के ऐसे प्रभावों के कारण—जो पहले कभी उनके सहवर्ती रहे हों—स्मृति द्वारा उत्पन्न तथा अनुकूल या प्रतिकूल प्रत्याशाओं द्वारा जनित सुख-असुख के बीच सावधानी से स्पष्ट भेद कर लेना चाहिए ।

किसी संवेदना के निहित सुख-असुख की चर्चा करना शायद भ्रान्तिजनक है । हम जानते हैं किसी संवेदना की सुखदता अत्यन्त अस्थिर वस्तु होती है । हो सकता है संवेदना की एकान्त मनोविधानिक विशेषताएँ पूर्ववत् बनी रहें और वह बिलकुल बदल जाये । मद्यपान से पूर्व और अतिमद्यपान के बाद मद्य की उसी गन्ध में जो अन्तर आ जाता है, वह इसका एक महत्वपूर्ण उदाहरण है । कोई ध्वनि कुछ देर के लिए प्रीतिकर लग सकती है, परन्तु यदि वही बराबर आती रहे और हमारी चेतना से लुप्त न हो जाये तो शायद अत्यन्त अप्रीतिकर लगने लगे । जहाँ तक संवेदना का प्रश्न है, वह अतर्क्य रूप से वही बनी रह सकती है । हो सकता है कोई ध्वनि-संवेदना स्वर, घनता और तीव्रता में अपरिवर्तित बनी रहे, पर फिर भी सुख-असुख की दृष्टि से बहुत बदल जाये । यह अन्तर बड़ा महत्वपूर्ण है । भावना (सुख-असुख) को संवेदना से प्रकृत्या बिलकुल भिन्न मानने के कारणों में यह भी प्रमुख है । ध्वनि में स्वर, घनता एवं तीव्रता ऐसे तत्त्व हैं, जो बहुत सीमा तक उत्तेजना पर निर्भर हैं, परन्तु सुखदता किसी बाह्य उत्तेजना पर नहीं, वरन् ऐसे तत्त्वों पर निर्भर होती है, जो सम्प्रति हमारे अन्तर में अत्यन्त अस्फुट होते हैं । यह सब अनुमान ही है । उत्तेजना और संवेदना का घनिष्ठ सम्बन्ध तो हम इसलिए जानते हैं कि उसे प्रयोग से सिद्ध करना अपेक्षाकृत अधिक सम्भव है । इसीलिए आन्तरिक अथवा कायिक संवेदनाओं की अपेक्षा उन संवेदनाओं का अन्तरीक्षण अपेक्षाकृत आसान होता है, जो किसी बाह्य उत्तेजना से उद्भूत हुई हों । हम फिर-फिर वैसा करते रह सकते हैं और इस प्रकार अपने परिणामों को नियंत्रित कर सकते हैं । अन्तर से उद्गृत वे संवेदनाएँ भी जिनका हम अंशतः सचेतन नियंत्रण कर सकते हैं, वे जो स्वैच्छिक गति से उत्पन्न होती हैं—अपेक्षाकृत कम सीमा तक इन दोनों प्रक्रियाओं के लिए उपगम्य होती हैं । परन्तु हमारे स्नायु-विधान में जो अन्य बहुविध चेतन प्रक्रियाएँ सम्पन्न होती रहती हैं, वे अव्यक्त ही बनी रहती हैं ।

परन्तु एक मोटी-सी बात महत्वपूर्ण है । शरीर में प्रायः सभी उत्तेजनाओं के—चाहे उनका स्वरूप कुछ भी हो—प्रभाव असाधारण रूप से विविध और अनेक होते हैं । “दीवार पर लगे कागज का नमूना भी यदि आप किसी व्यक्ति को दिखाना चाहें तो इतने से ही उसके श्वास की गति और रक्त-संचार में

अन्तर पड़ जायेगा।”* और कोई नहीं जानता कि उसके साथ और क्या-क्या उद्वेलन शामिल नहीं हो जाते। लगता है मानो सारा शरीर एक व्यवस्थित रीति से भनभनता उठता है। उद्वेलन के इस ज्वार का निःसरण चेतना का स्वर उद्बुद्ध करता है, उसका अंश होता है अथवा परिणामों के अन्तरागत संवेदन ही केवल सचेतन होते हैं—यह ऐसा प्रश्न है जिसका कोई अन्तिम प्रमाण अभी तक उपलब्ध नहीं हो सका है। इनमें से कुछ उद्वेलनों के अन्तरागत संवेदन निश्चय ही सचेतन हो सकते हैं। गले में कुछ अटक जाना, पेट में दर्द होना, रोमांच होना, सांस खड़ना—ये उसके स्थूलतर एवं प्रत्यक्षतर रूप हैं। प्रायः वे इतने स्फुट नहीं होते, वे आन्तरिक संवेदनाओं के समग्र पुंज में अपना अस्तित्व डुबोकर उसे कायिक चेतना का रूप प्रदान करते हैं, उसमें एक नया पुट दे देते हैं और हजारों विभिन्न रीतियों में से किसी एक के द्वारा उसका सामान्य स्वरूप भी बदल डालते हैं।

इस बात पर बड़ा मतभेद है कि सुख-असुख सामान्य दैहिक अथवा आंगिक चेतना का—शायद उसके किसी अंश का—गुण है या वह किसी संवेदना अथवा संवेदना-क्रम के किसी भी गुण से सर्वथा भिन्न कोई वस्तु है। हम देख चुके हैं वह किसी श्रुतिपरक संवेदना का गुण नहीं है जैसे, उदाहरण के लिए, उसकी उत्तालता एक गुण है। उसे किसी भी प्रकार की किसी संवेदना का गुण मानने में इसी तरह की बाधाएँ हैं। आवेग अपने विकास की किसी विशेष अवस्था में जो अनुभव करता है वही संवेदना है और उसके मनो-विधानिक गुण उस अवस्थान-विशेष में आवेग के लक्षण।† आवेग से सम्बद्ध सुख-असुख, सम्भव है, स्वयं आवेग का लक्षण ही न हो बल्कि उसकी नियति का, अपनी प्रणाली में सन्तुलन स्थापित करने में उसकी सफलता-विफलता का द्योतक हो।

सुख और असुख क्या हैं?—इस सम्बन्ध में अब तक शायद जो अच्छे-से-अच्छा अनुमान लगाया जा सकता है, वह यही है : सुख किसी-न-किसी प्रकार की सफल क्रिया है—और यह आवश्यक नहीं कि वह जैविक दृष्टि से उपादेय ही हो, और असुख कुण्ठित, अव्यवस्थित एवं दुष्फलित क्रिया।

यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि सुख-असुख अन्य साध्यों की ओर

* टिचनर—टेक्स्ट बुक ऑफ साइकालोजी, पृ० २४८।

† ये क्या हैं?—इस विषय में कोरे अनुमान करने से अभी कोई लाभ नहीं हो सकता।

उन्मुख क्रियाकलाप के दौरान में उत्पन्न होने वाले जटिल तथ्य हैं। इस प्रकार इस पुराने विवाद का परिहार हो जाता है कि हमारे सब प्रयत्नों का लक्ष्य सुख है या उनका सूत्रपात असुख के निवारण से होता है। रिबो^{१६१} ने स्पष्ट किया है कि सुख की साध्य-रूप में एकान्त साधना—सुख-वासना—प्रयत्न का विकृत रूप है और आत्म-विनाशक है। इस दृष्टि से सुख मूलतः एक कार्य है जो इस बात का द्योतक है कि कुछ विशेष ऋणात्मक या धनात्मक प्रवृत्तियों ने सहज ही अपनी उद्देश्य-सिद्धि कर ली है और उनका परितोष हो गया है। बाद में अनुभव से वह कारण बन जाता है। अनुभव से शिक्षा ग्रहण कर मनुष्य और पशु दोनों अपने आपको ऐसी परिस्थितियों में डालते हैं जहाँ इच्छा जाग्रत हो और उसके परितोष से सुख-लाभ हो। रसना-साधक, व्यसनी, सौन्दर्य-चेता, रहस्यवादी सब यही करते हैं। परन्तु जब सुख—जो प्रवृत्ति के परितोष का फल होता है—साध्य बन जाता है और प्रवृत्ति का परितोष मात्र नहीं रह जाता तब 'मनोवैज्ञानिक व्यवस्था का विपर्यय' हो जाता है। एक अवस्था में क्रिया का संचार नीचे से ऊपर को होता है, दूसरी में ऊपर से नीचे की ओर अर्थात् मस्तिष्क से आंगिक क्रियाओं की ओर। परिणाम प्रायः यह होता है कि प्रवृत्ति क्षीण हो जाती है; भ्रान्तिमोचन, निर्वेद एवं विराग-वृत्ति का उदय होता है।

रिबो ने यह भी कहा है कि इसके दुष्परिणाम प्रायः उन्हीं लोगों तक सीमित रहते हैं जिन पर सुखान्वेषण की प्रवृत्ति भूत की तरह सवार हो जाती है। परन्तु हमने ऊपर सुख के सम्बन्ध में जिस दृष्टि का संकेत किया है उससे स्पष्ट है कि वे सभी सिद्धान्त भ्रान्त हैं जो सुख को क्रियाकलाप का लक्ष्य मानते हैं यद्यपि आलोचनात्मक साहित्य में इनका बहुत प्रचार है। प्रत्येक क्रियाकलाप का अपना एक विशिष्ट लक्ष्य होता है। अधिकांशतः सुख की निष्पत्ति शायद तब होती है जब यह लक्ष्य प्राप्त हो जाता है परन्तु यह दूसरी बात है। सुख के लिए—जो कविता के सफल पाठ से निष्पन्न होगा—कविता पढ़ना ही कविता के प्रति अनुचित दृष्टि है। स्पष्ट ही, हमारी दिलचस्पी कविता में होनी चाहिए, उसका सफल पाठ कर पाने की भावना में नहीं। यदि हम सुख को सबसे आगे रख लें तो वह मनोयोग का उचित विधान न होगा। शिक्षित लोगों में इस प्रकार की भ्रान्ति शायद व्यापक नहीं परन्तु समीक्षाओं और नाट्य-सूचनाओं में मिलने वाली अनेक टिप्पणियों के आधार पर अनुमान लगायें तो समीक्षकों और नाट्य-दर्शकों में शिक्षित लोगों की संख्या बहुत नहीं मालूम पड़ती। यह भूल हमें अंशतः एक ऐसे युग की आलोचना से विरासत में मिली है जिसमें

मनोवैज्ञानिक शब्दावली* का दारिद्र्य हमसे भी अधिक था। एक यह भी कारण है कि, उदाहरणार्थ, त्रासदी पर प्रायः गलत ढंग से सोचा जाता है। यह सोचना कि कोई समझदार पाठक सुखोपलब्धि के लिए पढ़ता है उतना ही गलत होगा जितना यह सोचना कि कोई गणितज्ञ इसलिए प्रश्न हल करने बैठता है कि उससे उसे सुख प्राप्त होगा। यह विलकुल सम्भव है कि दोनों अवस्थाओं में बहुत अधिक आनन्द की प्राप्ति हो। परन्तु सुख, चाहे कितना ही अधिक क्यों न हो, उस क्रिया का उद्देश्य नहीं जिसके दौरान में वह पैदा होता है, वैसे ही जैसे मोटर-साइकिल से पैदा होने वाली आवाज का—मशीन कैसी चल रही है इस बात का संकेत देने में उपयोग अवश्य होता है—परन्तु वह सामान्यतः उसके चालू किये जाने का कारण होती है।

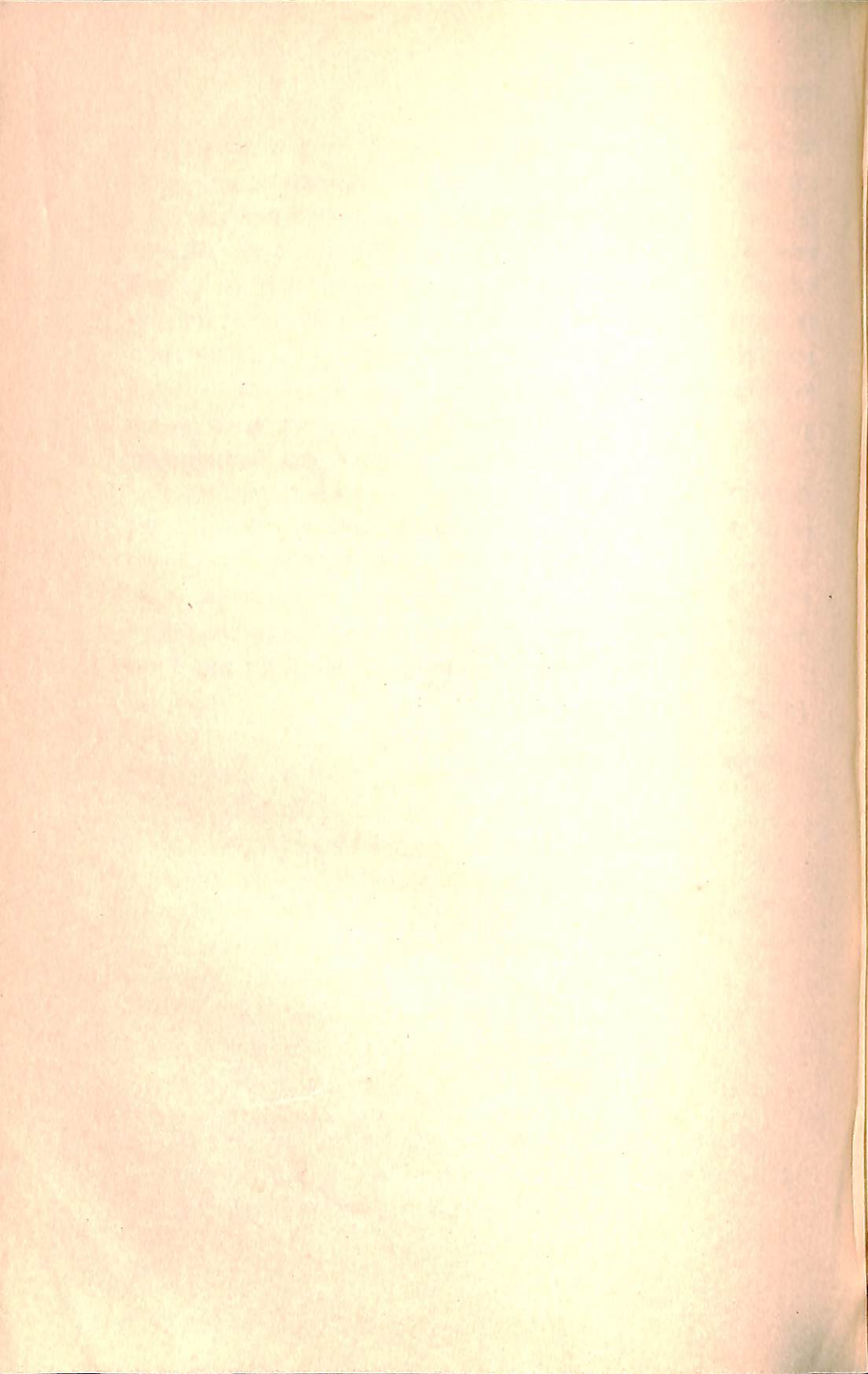
इस सामान्य भूल को एक बार ध्यान में रख लें तो फिर बिना किसी प्रकार की भ्रान्ति पैदा किए सुख-असुख की महत्ता दृढ़तापूर्वक घोषित की जा सकती है। वे इस बात के अत्यन्त सूक्ष्म चिह्न हैं कि हमारे क्रियाकलाप किस प्रकार निष्पन्न हो रहे हैं। परन्तु चूँकि तीव्रतम आह्लाद, सम्भव है, केवल स्थानीय सफलता का ही द्योतन करे और क्रियाकलाप सामान्यतः क्षतिकर हो अतः वे चिह्न ऐसे हैं जिनकी अत्यन्त सतर्क व्याख्या आवश्यक है।

(प्रिंसिपल्स ऑफ़ लिटरेरी क्रिटिसिज्म)

अनुवादक : श्री महेन्द्र चतुर्वेदी

* वर्ड्सवर्थ और कालरिज यदि आज लिखते होते तो काव्य-मूल्यों की व्याख्या के लिए वर्ड्सवर्थ सम्भवतः और कालरिज निश्चय ही 'सुख' के लिए एकदम भिन्न शब्दों का प्रयोग करते।

परिशिष्ट



कार्ल मार्क्स

(सन १८१८—१८८३ ई०)

[युगान्तरकारी विचारक कार्ल मार्क्स का साहित्यालोचन से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं किन्तु उनके द्वारा प्रतिपादित दर्शन इतना व्यापक था कि जीवन के सभी क्षेत्रों पर उसका अनिवार्य प्रभाव पड़ा। जीवन की अभिव्यक्ति का अत्यंत समर्थ माध्यम होने के नाते साहित्य भी स्वतः ही उनकी चिंतन की परिधि में आ गया।

मार्क्स अपने युग के दिग्गज विद्वान् और मनीषी थे। क्रान्तिकारी विचारों के कारण उनकी नियुक्ति किसी विश्वविद्यालय में नहीं हो सकी, अतः एव उन्होंने पत्रकारिता को अपने जीवन-निर्वाह का साधन बनाया। समाजवादी सिद्धान्तों के गम्भीर और व्यापक अध्ययन के लिए वे पेरिस गए जो उन दिनों इस विचारधारा का मुख्य केन्द्र था। वहाँ मार्क्स ने अपने दो निबन्धों की रचना की और यह प्रतिपादित किया कि समाजवाद के द्वारा ही जर्मनी की समस्याओं का समाधान हो सकता है। पेरिस में ही उनकी भेंट फ्रेडरिक एंगेल्स से हुई। फ्रांस की प्रसिद्ध क्रान्ति के दिनों में उन पर शासन की ओर से मुकदमा चला तथा उन्हें प्रशिया से निर्वासित कर दिया गया। प्रवास के दिनों में उन्हें बड़ी कठिनाइयाँ उठानी पड़ीं—अन्त में कई स्थानों पर भटकने के बाद वे स्थायी रूप से लन्दन में जाकर बस गये और जीवन के अन्त तक वहीं रहे। मार्क्स का विश्वविख्यात ग्रन्थ 'दास कैपिटल' है जो द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद और उससे प्रेरित समाजवाद की मूल संहिता है।

मार्क्स द्वारा प्रतिपादित समाजवाद का मूल आधार है वर्ग-संघर्ष। 'इतिहास की भौतिक व्याख्या तथा अतिरिक्त मूल्य' जैसे सिद्धान्तों का मूलाधार यही वर्ग-संघर्ष है। उनकी स्थापनाओं का प्रभाव दर्शन, विज्ञान, इतिहास, समाजशास्त्र, कला आदि सभी विषयों पर पड़ा। आधुनिक साहित्य की सर्जना और विवेचना दोनों ही मार्क्स-दर्शन से प्रभावित हैं। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद पर आधृत प्रगतिवादी आन्दोलन ने वर्तमान शती के दूसरे चरण में प्रायः

विश्वव्यापी रूप धारण कर लिया था और आनन्दवादी मूल्यों के विरुद्ध भौतिक उपयोगितावादी मूल्यों की प्रतिष्ठा उग्र रूप में होने लगी थी। आज वह प्रभाव उतना आक्रामक तो नहीं रहा किन्तु प्रकारान्तर से लोकमंगल की भावना के पुनरुत्थान का श्रेय उसे आज भी प्राप्त है।]

×

×

×

कला का उद्गम और विकास

भौतिक जीवन की उत्पादन-पद्धति से जीवन की सामाजिक, राजनीतिक और बौद्धिक प्रक्रियाएँ निरूपित होती हैं :—

लोग जो सामाजिक उत्पादन करते रहते हैं उसमें उनके बीच निश्चित सम्बन्धों की स्थापना हो जाती है; ये सम्बन्ध अनिवार्य होते हैं और उनकी इच्छा से निरपेक्ष। उत्पादन के ये सम्बन्ध उनकी उत्पादन की भौतिक शक्तियों के विकास की निश्चित अवस्था के अनुरूप होते हैं। इन उत्पादन-सम्बन्धों की समष्टि ही समाज का आर्थिक ढाँचा होती है—यही वास्तविक नींव होती है जिस पर विधि और राजनीति का भवन निर्मित होता है और सामाजिक चेतना के निश्चित रूप जिसके अनुकूल होते हैं। भौतिक जीवन में उत्पादन की पद्धति से सामान्य सामाजिक, राजनीतिक एवं बौद्धिक जीवन-प्रक्रियाएँ निरूपित होती हैं। मनुष्यों का अस्तित्व उनकी चेतना से निर्धारित नहीं होता प्रत्युत, इसके विपरीत, उनका सामाजिक अस्तित्व उनकी चेतना को निरूपित करता है। विकास की एक विशेष अवस्था में, समाज में उत्पादन की भौतिक शक्तियों का वर्तमान उत्पादन-सम्बन्धों से—अथवा इसी बात को यदि विधि की शब्दावली में कहें—उन साम्प्रतिक सम्बन्धों से संघर्ष होता है जिनकी सीमा में रहकर वे क्रियाशील रही हैं। उत्पादन-शक्तियों के विकास के रूपों से बदलकर ये सम्बन्ध उनके लिए बन्धन बन जाते हैं। तब सामाजिक क्रान्ति का युग आरम्भ होता है। आर्थिक नींव बदल जाने से पूरा-का-पूरा भवन प्रायः तेज़ी से रूपान्तरित हो जाता है। इस प्रकार के रूपान्तरणों पर विचार करते समय उत्पादन की आर्थिक परिस्थितियों में—जिनका प्राकृतिक विज्ञान की भाँति सही-सही निर्धारण हो सकता है—और विधिक, राजनीतिक, धार्मिक, सौन्दर्यपरक अथवा दार्शनिक : संक्षेप में, विचारपरक : रूपों में, जिनमें लोग इस संघर्ष के प्रति सचेत हो जाते हैं और उसका सामना करते हैं, सदैव भेद करना चाहिए। जैसे किसी व्यक्ति के विषय में हमारा मत इस बात पर निर्भर नहीं होता कि वह अपने बारे में क्या सोचता है, उसी तरह हम इस युग को उसी की चेतना की

कसीटी पर नहीं परख सकते । इसके विपरीत इस चेतना का विवेचन भौतिक जीवन के अन्तर्विरोधों, उत्पादन की सामाजिक शक्तियों तथा उत्पादन-सम्बन्धों के वर्तमान संघर्ष के आधार पर किया जाना चाहिए । कोई भी समाज-व्यवस्था तब तक समाप्त नहीं होती जब तक वे सब उत्पादन-शक्तियाँ—जिनके लिए उसमें स्थान हो—विकसित नहीं हो जातीं, और नये उच्चतर उत्पादन-सम्बन्धों का तब तक आविर्भाव नहीं होता जब तक पुराने समाज के गर्भ में ही उनके अस्तित्व की भौतिक परिस्थितियाँ परिपक्व नहीं हो जातीं । अतः मानव-जाति अपने सामने वे ही समस्याएँ रखती है जिन्हें वह हल कर सके क्योंकि—यदि इस प्रश्न पर और सूक्ष्म दृष्टि से देखें और विचार करें तो—हम सदा यह पायेंगे कि स्वयं समस्या पैदा ही तब होती है जब उसके हल के लिए आवश्यक भौतिक परिस्थितियाँ मौजूद होती हैं या कम-से-कम रूप ग्रहण कर रही होती हैं । स्थूलतः हम एशियाई, प्राचीन, सामन्तीय तथा आधुनिक मध्यवित्तीय उत्पादन-पद्धतियों को समाज के आर्थिक निर्माण की प्रगति के विभिन्न युग कह सकते हैं । मध्यवित्तीय उत्पादन-सम्बन्ध सामाजिक उत्पादन-प्रक्रिया का अन्तिम विरोधी रूप है—वैयक्तिक विरोध के अर्थ में नहीं वरन् व्यक्तियों के जीवन की सामाजिक परिस्थितियों से उद्भूत विरोध के अर्थ में । इसके साथ ही मध्यवित्त-समाज के गर्भ में विकसित होने वाली उत्पादक शक्तियाँ उस विरोध के हल के निमित्त भौतिक परिस्थितियाँ उत्पन्न करती हैं । अतः समाज-निर्माण मानव-समाज की प्रागैतिहासिक अवस्था का अन्तिम अध्याय है ।

चेतना सामाजिक अस्तित्व से निरूपित होती है

श्रम-विभाजन के दृष्टिकोण से यह बात सबसे आसानी से समझी जा सकती है । समाज में कुछ ऐसे सामान्य कृत्य पैदा हो जाते हैं जिनसे वह मुक्ति नहीं पा सकता । इन कृत्यों को सम्पन्न करने के लिए जो लोग जुने जाते हैं वे समाज में श्रम-विभाजन के अन्तर्गत एक नई शाखा की भाँति हो जाते हैं । इससे उनके कुछ विशेष हित हो जाते हैं—जो उन्हें पद देने वाले हैं उनके हितों से वे भिन्न भी होते हैं । वे अपने आपको इन लोगों से स्वतन्त्र कर लेते हैं—और 'राज्य' अस्तित्व में आने लगता है । और इसके पश्चात् विकास उसी तरह होता है जैसे पण्य-व्यापार और बाद में द्रव्य-व्यापार में । नई स्वतन्त्र शक्ति—यद्यपि उसे मुख्यतः उत्पादन की गति का अनुसरण करना पड़ता है तथापि—अपनी आन्तरिक स्वतन्त्रता के कारण, मूलतः उसे दी गई सापेक्षिक स्वतन्त्रता के कारण, जिसका धीरे-धीरे वह और विकास कर लेती है, उत्पादन की परि-

स्थितियों और दिशा पर अपना प्रभाव भी डालती है। यह दो असमान शक्तियों की परस्पर क्रिया-प्रतिक्रिया होती है : एक ओर आर्थिक आन्दोलन, दूसरी ओर नई राजनीतिक शक्ति—जो अधिकाधिक स्वतन्त्रता के लिए प्रयत्नशील रहती है और जो एक बार प्रतिष्ठित हो जाने पर अपनी एक अलग गति प्राप्त कर लेती है। कुल मिलाकर आर्थिक आन्दोलन की ही विजय होती है परन्तु उसे राजनीतिक आन्दोलन की प्रतिक्रिया भी झेलनी पड़ती है जिसे वह स्वयं बनाता है और सापेक्षिक स्वतन्त्रता से विभूषित करता है—उसे एक ओर राज्य-शक्ति के आन्दोलन की प्रतिक्रिया सहनी पड़ती है और दूसरी ओर उसके साथ ही जनित विपक्ष की। जिस प्रकार औद्योगिक मण्डी का आन्दोलन मुख्यतः, और जिन उपबन्धों का पहले उल्लेख हुआ है उनके सहित, द्रव्य-मण्डी में परिलक्षित होता है और प्रतीप रूप में होता है, उसी प्रकार अस्तित्व में आये हुए और परस्पर द्वन्द्वरत वर्गों का संघर्ष सरकार और विरोध-पक्ष के संघर्ष में परिलक्षित होता है। परन्तु वह भी प्रतीप रूप में चलता है और अब वह प्रत्यक्ष न रहकर परोक्ष रूप ले लेता है—वह वर्ग-संघर्ष न होकर राजनीतिक सिद्धान्तों के निमित्त लड़ाई होती है और उसका रूप इतना बदला हुआ होता है कि उसे पहचानने में हजारों वर्ष लग गये हैं। आर्थिक विकास पर राज्य-शक्ति की प्रतिक्रिया इन तीन में से किसी एक तरह की हो सकती है : एक—यह प्रतिक्रिया उसी दिशा में हो—तब विकास की गति और बढ़ जाती है; दो—विकास-दिशा के विरोध में हो—इस अवस्था में आजकल प्रत्येक बड़े राष्ट्र की राज्य-शक्ति देर-सबेर छिन्न-भिन्न हो जायेगी। तीसरी प्रतिक्रिया यह हो सकती है कि वह आर्थिक विकास को कुछ मार्गों से छिन्न करके उसे कुछ और मार्गों पर प्रेरित करे। इस अवस्था को देखते हुए अन्ततः प्रथम दो विकल्प ही रह जाते हैं। परन्तु यह स्पष्ट है कि दूसरी और तीसरी अवस्था में राजनीतिक शक्ति आर्थिक विकास को भारी क्षति पहुँचा सकती है और अपार शक्ति एवं साधनों का अप-व्यय करा सकती है।

फिर आर्थिक साधनों के पराभव तथा निर्मम विनाश की भी एक अवस्था है जिससे, कुछ परिस्थितियों में, पहले सम्पूर्ण स्थानीय अथवा राष्ट्रीय आर्थिक विकास का विनाश हो सकता था। अब प्रायः इसका असर बिलकुल उलटा होता है—कम-से-कम बड़े राष्ट्रों में। अन्त में आर्थिक, राजनीतिक और नैतिक सभी दृष्टियों से विजेता की अपेक्षा पराभूत शक्ति का अधिक लाभ होता है।

क्रान्ति के विषय में भी ऐसा ही होता है। जैसे ही नया श्रम-विभा

जो पेशेवर वकील पैदा करता है, आवश्यक हो जाता है वैसे ही एक और नया तथा स्वतन्त्र क्षेत्र खुल जाता है। यह उत्पादन तथा व्यवसाय पर सामान्य रूप से निर्भर होता है पर फिर भी इन क्षेत्रों पर प्रभाव डालने की भी उसकी अपनी क्षमता होती है। आधुनिक राज्य में, कानून को न केवल सामान्य आर्थिक स्थिति के अनुकूल और उसकी अभिव्यक्ति होना चाहिए प्रत्युत ऐसी अभिव्यक्ति होना चाहिए जो अपने आपमें संगत हो और जिसमें अन्तर्विरोधों के कारण एकान्त असंगति प्रतीत न हो। और इसकी उपलब्धि के लिए आर्थिक स्थितियों के यथावत् प्रतिबिम्ब को अधिक-से-अधिक आच्छन्न किया जाता है। और यह जितना अधिक होता है, उतनी ही इस बात की कम सम्भावना होती है कि विधि-संहिता किसी एक वर्ग की प्रभुता की अनावृत, अमन्द अभिव्यक्ति हो। इससे तो 'न्याय की अवधारणा' को ही चोट पहुँचेगी।

कानूनी सिद्धान्तों के रूप में आर्थिक सम्बन्धों का प्रतिबिम्ब भी आवश्यक रूप से अस्तव्यस्त होता है। जो कार्य करने वाला व्यक्ति है वह इसके प्रति चैतन्य नहीं होता। न्यायज्ञ सोचता है वह मूलभूत निगम्य सिद्धान्तों के आधार पर काम कर रहा है, जबकि वास्तव में वे अनजाने होने वाली आर्थिक प्रतिक्रियाएँ होती हैं—अतः सब-कुछ उलट-पलट हो जाता है। और मुझे यह स्पष्ट लगता है कि जब तक विपर्यस्तता अनभिज्ञात रहती है तब तक उसका रूप विचारात्मक अवधारणा का होता है, वह आर्थिक आधार पर अपना प्रभाव डालती है और कुछ हद तक उसे संशोधित भी कर सकती है। वंशागति-विधि का आधार आर्थिक होता है—अगर हम यह मान लें कि परिवार के विकास की अवस्थाएँ एक-सी हैं। परन्तु, उदाहरणार्थ, यह प्रमाणित करना कठिन है कि इंग्लैंड में रिक्थकर्ता को मिली हुई परम स्वतन्त्रता और फ्रांस में उस पर लगाये गए कठोर प्रतिबन्ध दोनों पूरी तरह और एकान्ततः आर्थिक कारणों पर आधृत हैं। परन्तु दोनों की ही आर्थिक क्षेत्र पर बहुत काफ़ी हद तक प्रतिक्रिया होती है क्योंकि वे सम्पत्ति के विभाजन पर प्रभाव डालते हैं।

जहाँ तक विचारधारागत विषयों का प्रश्न है—धर्म, दर्शन आदि—जिन्हें अब भी आमुष्मिकता से समन्वित किया जाता है, उनकी परम्परा प्रागैतिहासिक है। ऐतिहासिक काल के आरम्भ में इनका अस्तित्व था और इनकी परम्परा को अंगीकार कर लिया गया था—आज हमें इनको जगड़वाल ही कहना चाहिए। प्रकृति, मानव के अपने अस्तित्व, भूत-प्रेत, जादू-टोने आदि के सम्बन्ध में जो अनेक गलत धारणाएँ हैं उनका अधिकांश में निषेधात्मक आर्थिक आधार ही होता है, परन्तु प्रागैतिहासिक काल का मन्द आर्थिक विकास प्रकृति-

विषयक भ्रान्त धारणाओं से पुष्ट होता है, और कुछ अंश में सीमित—यहाँ तक कि उद्भूत भी—होता है। और यद्यपि प्रकृति के बढ़ते हुए ज्ञान की मुख्य प्रेरक शक्ति आर्थिक आवश्यकता थी तथा उसकी महत्ता आज और भी अधिक हो गई है फिर भी इस आदिमकालीन बेहदगी के मूल में आर्थिक कारण ढूँढने का प्रयास करना और वैसे कारण ढूँढ निकालना पांडित्य का अहंकार मात्र होगा। विज्ञान का इतिहास इस असत्य पर से धीरे-धीरे पर्दा हटते जाने का या उसके स्थान पर किसी नयी परन्तु कम भ्रान्तिपूर्ण बात की उत्तरोत्तर प्रतिष्ठा होते रहने का इतिहास है। इससे जिन लोगों का वास्ता पड़ता है, श्रम-विभाजन के अन्तर्गत उनका अपना विशेष क्षेत्र होता है और उन्हें लगता है वे एक स्वतन्त्र क्षेत्र में कार्य कर रहे हैं। और श्रम के सामाजिक विभाजन में जिस हद तक उनका स्वतन्त्र वर्ग होता है, उसी हद तक उनके उत्पादन की—उनकी गलतियों की भी—समाज के सम्पूर्ण विकास पर, आर्थिक विकास पर भी, प्रतिक्रिया होती है। परन्तु फिर भी स्वयं उन पर आर्थिक विकास का प्रबल प्रभाव रहता है। उदाहरण के लिए, दर्शन में, मध्यवित्त-काल में यह अविलम्ब सिद्ध किया जा सकता है। हाव्स^{१६२} पहला आधुनिक भौतिकवादी था (१८वीं शती वाले अर्थ में) परन्तु सम्पूर्ण यूरोप में जिस समय निरपेक्ष राजतन्त्र अपनी पराकाष्ठा पर था और इंग्लैंड में निरपेक्ष राजतन्त्र एवं जनता का संघर्ष शुरू हो रहा था उस समय वह निरपेक्षतावाद का पक्षधर था। लॉक—धर्म और राजनीति दोनों में ही—१६८८ के वर्ग-समझौते की सृष्टि था। अंग्रेज आस्तिक और उनके अपेक्षाकृत अडिग उत्तराधिकारी, फ्रांसीसी भौतिकवादी, मध्यवित्त-वर्ग के सच्चे दार्शनिक थे; फ्रांसीसी भौतिकवादी तो मध्यवित्त क्रांति के भी सच्चे दार्शनिक थे। जर्मन हीनतर मध्यवित्त कांट से हीगल तक समूचे जर्मन-दर्शन का अनुशीलन कर जाता है—कभी विध्यात्मक रीति से, कभी निषेधात्मक। परन्तु प्रत्येक युग के दर्शन के पास पूर्वमान्यता के रूप में कुछ निश्चित बौद्धिक सामग्री होती है क्योंकि श्रम-विभाजन में यह भी एक निश्चित क्षेत्र होता है। यह सामग्री उसे अपने पूर्वाधिकारियों से मिलती है—यहीं से वह चलना आरम्भ करता है। यही कारण है कि आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए देश दर्शन के क्षेत्र में अब भी अग्रणी हैं—इंग्लैंड की तुलना में १८वीं शती में फ्रांस, जो इंग्लैंड के दर्शन को ही अपना आधार मानते हैं, और बाद में इन दोनों की तुलना में जर्मनी। परन्तु फ्रांस और जर्मनी दोनों का दर्शन और उस समय साहित्य की सामान्य समृद्धि—बढ़ते हुए आर्थिक विकास का ही परिणाम थे। मैं मानता हूँ कि इन क्षेत्रों में भी आर्थिक विकास की परम प्रभुता स्थापित

है परन्तु वह क्षेत्र-विशेष द्वारा लगाये गए उपबन्धों के अधीन रहती है। उदाहरणार्थ, दर्शन के क्षेत्र में पूर्वाधिकारियों से प्राप्त विद्यमान दार्शनिक सामग्री पर आर्थिक प्रभाव [और यह सामान्यतः केवल राजनीतिक (आदि) बानों में क्रियाशील होता है] के प्रवर्तन के माध्यम से। यहाँ अर्थ-व्यवस्था किसी नितान्त नवीन वस्तु को जन्म नहीं देती परन्तु वह मार्ग निर्दिष्ट कर देती है जिसके द्वारा उपलब्ध विचार-सामग्री का परिवर्तन-परिवर्द्धन होता है और सो भी अधिकांश में अप्रत्यक्ष रूप से क्योंकि दर्शन पर तो राजनीतिक, विधिक एवं नैतिक प्रतिक्रियाओं का सबसे अधिक प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है।

हम मानते हैं कि अन्ततः ऐतिहासिक विकास का निर्देश करने वाली आर्थिक स्थितियाँ होती हैं। स्वयं जाति भी एक आर्थिक तत्त्व है। किन्तु दो बातें नहीं भूलनी चाहिए :

(अ) राजनीतिक, न्यायिक, दार्शनिक, धार्मिक, साहित्यिक, कलात्मक (आदि) विकास आर्थिक विकास पर आधृत हैं। परन्तु इन सबकी एक-दूसरे पर और आर्थिक आधार पर भी प्रतिक्रिया होती है। यह बात नहीं कि आर्थिक स्थिति ही कारण है और वही अकेली गतिशील होती है, अन्य सबका प्रभाव अगत्यात्मक ही होता है। वस्तुतः आर्थिक आवश्यकता के आधार पर क्रिया-प्रतिक्रिया होती रहती है और अन्त में उसी की प्रतिष्ठापना हो जाती है।

उदाहरण के लिए, राज्य सीमा-शुल्क, निबन्ध व्यापार, अच्छी या बुरी राजवित्त-प्रणाली के माध्यम से अपना प्रभाव डालता है। १६४८ से १८३० तक जर्मनी की दयनीय आर्थिक स्थिति से उत्पन्न जर्मन हीनतर मध्यवित्त-तन्त्र का प्राणान्तक क्षय एवं अशक्तता भी—जिसने पहले अपने आपको (लुथरान से सम्बद्ध) पवित्रतावादी आन्दोलन के रूप में अभिव्यक्त किया और फिर भावुकता तथा राजकुमार एवं अमीरों के प्रति घोर दासता के रूप में—बिना आर्थिक प्रभाव के न थी। स्थिति-सुधार के मार्ग में यह सबसे बड़ी रुकावटों में से थी और जब क्रान्ति-युद्ध और नैपोलियन की लड़ाई ने इस चिर-वेदना को और भी तीव्र कर दिया तब इसकी नींव हिल उठी थी। अतः जैसा कि कुछ लोग इत्मीनान से सोच लेते हैं कि आर्थिक स्थिति स्वतः प्रभाव उत्पन्न करती है—ऐसी बात नहीं है। मानव स्वयं अपना इतिहास बनाता है : परन्तु अपने परिवेश-विशेष में ही—जो इस इतिहास को मर्यादित करता है—और पहले से ही विद्यमान वास्तविक सम्बन्धों के आधार पर। इनमें अन्ततः आर्थिक सम्बन्ध ही निर्णायक तत्त्व होते हैं—उन पर अन्य राजनीतिक और विचारधारा-परक सम्बन्धों का चाहे कितना ही प्रभाव पड़ा हो। वह इस समूचे ताने-बाने में

फँसे हुए लाल डोरे की तरह होता है और उसी के सहारे सब-कुछ समझा जा सकता है।

मानव स्वयं अपना इतिहास बनाते हैं परन्तु अभी ऐसा नहीं कि सामूहिक संकल्प द्वारा या सामूहिक योजना के अनुसार अथवा किसी नियत-निर्दिष्ट समाज में ही वे ऐसा कर पाते हों। उनके प्रयत्न आपस में एक-दूसरे से टकराते हैं और इसी कारण ऐसे सब समाज आवश्यकता से परिचालित होते हैं जो संयोग के रूपों में प्रकट और उन्हीं से पुष्ट होती है। इस दैवयोग के विधान में भी जो आवश्यकता उभर कर सबसे ऊपर आती है वह अन्ततः आर्थिक आवश्यकता ही होती है। इस प्रसंग में तथाकथित महान् व्यक्तियों के विषय में विवेचन करना पड़ता है। अमुक-अमुक व्यक्ति—और वस वही व्यक्ति—अमुक देश और अमुक काल में आविर्भूत होता है : यह तो सर्वथा संयोग की बात है। उसे हटा दीजिए और फिर उसके स्थानापन्न की माँग होगी और यह स्थानापन्न मिल जायेगा—अच्छा हो या बुरा परन्तु देर-सवेर वह मिल अवश्य जायेगा। अपनी ही लड़ाई में निःशक्त हुए फ्रांसीसी गणराज्य ने जब किसी सैनिक शासक का आविर्भाव अनिवार्य कर दिया था, तब वह सैनिक शासक नैपोलियन—वह विशेष कासिकन—ही हुआ, और कोई नहीं, यह संयोग की बात है परन्तु यदि वह न होता तो उसकी जगह कोई और नैपोलियन उठता : यह इससे प्रमाणित है कि जब भी जैसे आदमी की आवश्यकता हुई है वह पाया गया है—सीजर, आगस्टस, क्लॉमवेल आदि।

यही बात इतिहास के अन्य संयोगों के विषय से सत्य है—जो प्रतीत ही संयोग होते हैं। क्षेत्र-विशेष—जिसका हम विश्लेषण कर रहे हों—जितना ही आर्थिक क्षेत्र से दूर और अमूर्त आदर्शों के क्षेत्र के निकट होगा, हम पायेंगे कि उसके विकास में संयोगों का उतना ही अधिक योग दिखाई पड़ता है, उसकी वक्र-रेखा खींची जाये तो वह उतनी ही अधिक टेढ़ी-मेढ़ी होगी। परन्तु यदि हम इस वक्र-रेखा का औसत अक्ष खींचें तो हम पायेंगे कि विवेच्य काल जितना लम्बा होगा और क्षेत्र जितना व्यापक होगा उसी अनुपात से इस वक्र का अक्ष आर्थिक विकास के वक्र के अक्ष के अधिकाधिक समानान्तर होता जायेगा।

अतः तथ्य यह है कि विशेष व्यक्ति जो किसी निर्दिष्ट रीति से उत्पादन में सक्रिय होते हैं, इन निश्चित सामाजिक एवं राजनीतिक सम्बन्धों में बँध जाते हैं। उत्पादन से सामाजिक और राजनीतिक गठन का सम्बन्ध, किसी रहस्य या कल्पना का आवरण डाले बिना, अनुभवमूलक पर्यालोचन से प्रत्येक

दृष्टान्त में स्फुट हो जायेगा । विशेष व्यक्तियों की जीवन-प्रक्रिया से सामाजिक गठन और राज्य के स्वरूप निरन्तर उभरते आ रहे हैं : व्यक्तियों के उस स्वरूप की बात मैं नहीं कह रहा जैसे वे अपनी या दूसरों की कल्पना में मालूम पड़ते हैं बल्कि जैसे वे वास्तव में हैं—अर्थात् उस स्वरूप की जिसमें वे प्रभाव डालते हैं, भौतिक उत्पादन करते हैं और अपने संकल्प से निरपेक्ष निश्चित भौतिक सीमाओं, पूर्व-मान्यताओं एवं स्थितियों के अधीन क्रियाशील रहते हैं ।

विचारों, अवधारणाओं, चेतना की उद्भावना सबसे पहले तो मनुष्य के भौतिक क्रियाकलाप तथा भौतिक सम्पर्क से—जो वास्तविक जीवन की भाषा है—संगुम्फित है । भावन, चिन्तन, मनुष्य का मानसिक सम्पर्क, इस अवस्थान में, उनके भौतिक आचरण से प्रत्यक्षतः निःसृत प्रतीत होते हैं । यही बात मानसिक उत्पत्ति पर लागू होती है जो किसी जाति की राजनीति, विधिविधान, नैतिकता, धर्म, अधिमानस-शास्त्र की भाषा में व्यक्त होती है । मनुष्य—सच्चा, क्रियाशील मनुष्य—अपनी अवधारणाओं, विचारों आदि का उद्भावक होता है : वे अपनी उत्पादक शक्तियों के निश्चित विकास और, अपने दूरतम रूपों में, इसके अनुरूप सम्पर्क से प्रतिबन्धित होते हैं । चेतन अस्तित्व के अतिरिक्त चेतना और कुछ नहीं हो सकती और मनुष्य का अस्तित्व है उसकी वास्तविक जीवन-प्रक्रिया । यदि सम्पूर्ण आदर्श-विधान में कैमरे के अंधपटल की भाँति मनुष्य और उनकी परिस्थितियाँ उलटी दिखाई पड़ती हैं तो यह बात उनकी ऐतिहासिक जीवन-प्रक्रिया से वैसे ही उद्भूत है जैसे भौतिक जीवन-प्रक्रिया से अक्षपटल पर हर वस्तु का उलटा अक्स आता है ।

जर्मन दर्शन स्वर्ग से पृथ्वी की ओर उतरता है, यहाँ उसके विलकुल विपरीत हम पृथ्वी से स्वर्ग की ओर चढ़ते हैं । तात्पर्य यह है कि हम वास्तविक मांसमज्जायुक्त मनुष्य तक पहुँचने के लिए लोग जो-कुछ कहते, कल्पना करते या भावन करते हैं उससे आरम्भ नहीं करते; न मनुष्य का जैसा वर्णन किया जाता है, समझा जाता है, जैसी उसकी कल्पना की जाती है या भावन किया जाता है—उसी से आरम्भ करते हैं । हम आरम्भ करते हैं यथार्थ सक्रिय मनुष्य से और उसकी यथार्थ जीवन-प्रक्रिया के आधार पर हम इस जीवन-प्रक्रिया की विचारधारागत प्रतिच्छायाओं और प्रतिक्रियाओं के विकास का निदर्शन करते हैं । मानव-मस्तिष्क में जो छायाएँ बनती हैं वे भी आवश्यक रूप से उनकी भौतिक जीवन-प्रक्रिया का ही सूक्ष्म रूप होती हैं जिनका परीक्षण अनुभव के आधार पर हो सकता है और जो भौतिक भूमिका से बँधी रहती हैं । अतः नैतिकता, धर्म, अधिमानसिकता और शेष समस्त विचारधारा और चेतना के उनके अपने-अपने

रूपों का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं रह जाता। उनका कोई इतिहास नहीं, कोई विकास नहीं परन्तु मनुष्य अपने भौतिक उत्पादन और भौतिक सम्पर्क का विकास करते हुए इसके साथ ही अपने यथार्थ अस्तित्व में भी परिवर्तन ले आते हैं, अपने चिन्तन और चिन्तन के परिणामों को भी बदल देते हैं। चेतना से जीवन निर्दिष्ट नहीं होता, जीवन से चेतना निरूपित होती है। प्रथम पद्धति में चेतना को जीवन्त व्यक्ति के रूप में ग्रहण करके चलते हैं, दूसरी में स्वयं यथार्थ जीवन्त प्राणियों को—जैसे वे वास्तविक जीवन में होते हैं; और चेतना एकान्ततः उनकी चेतना के रूप में ग्रहण की जाती है।

यह पद्धति भी भूमिका के बिना नहीं होती। वह यथार्थ भूमिका से आरम्भ करती है और एक क्षण के लिए भी उसे तिलांजलि नहीं देती। उसकी भूमिका है मनुष्य—काल्पनिक, सबसे विलग या अमूर्त परिभाषा का मनुष्य नहीं बल्कि निश्चित परिस्थितियों के अधीन विकास की वास्तविक, अनुभवगम्य, दृश्यमान प्रक्रिया से गुजरता हुआ मनुष्य। ज्योंही हम इस वास्तविक जीवन-प्रक्रिया का वर्णन करते हैं, इतिहास मृत तथ्यों का संकलन-मात्र नहीं रह जाता जैसा कि अनुभववादी समझते हैं (जो स्वयं अभी तक एक स्थल पर नहीं जम पाये), और न, जैसा कि आदर्शवादियों का विचार है वह काल्पनिक कर्ताओं का काल्पनिक क्रियाकलाप रह जाता है।

यथार्थ जीवन में जहाँ अनुमान की इतिहास होती है वहीं से सच्चे, निश्चयात्मक विज्ञान का आरम्भ होता है और उसी में मनुष्य की व्यावहारिक विकास-प्रक्रिया एवं व्यावहारिक कार्यकलाप का प्रतिनिधित्व होता है। चेतना के विषय में कोरी बातें खत्म हो जाती हैं और उनका स्थान सच्चे ज्ञान को लेना पड़ता है। जब यथार्थ का निरूपण होता है तब दर्शन क्रियाकलाप की स्वतन्त्र शाखा के रूप में अस्तित्व का माध्यम खो बैठता है। मानव के ऐतिहासिक विकास के अनुशीलन से जो सार-तत्त्व ग्रहण किये जा सकते हैं, जो अत्यन्त व्यापक परिणाम निकलते हैं—अधिक-से-अधिक उनका संकलन ही इसका स्थान ले सकता है। यथार्थ इतिहास से अलग करके देखें तो इन सार-तत्त्वों का अपने आप में कोई मूल्य नहीं होता। वे ऐतिहासिक सामग्री को क्रमबद्ध करने की सुविधा मात्र दे सकते हैं, उसके विविध स्तरों का अनुक्रम निर्दिष्ट कर सकते हैं। परन्तु इतिहास के युगों की ठीक-ठीक काट-छाँट की कोई योजना या सूत्र नहीं दे सकते। प्रत्युत जब हम अपनी ऐतिहासिक सामग्री का अनुशीलन एवं विन्यास अर्थात् उसका सही निरूपण करने बैठते हैं तभी हमारी वास्तविक कठिनाइयाँ शुरू होती हैं—वह सामग्री चाहे अतीत युग की हो अथवा वर्तमान

की। इन कठिनाइयों को दूर करना जिन भूमिकाओं पर आधारित है उनका यहाँ उल्लेख करना नितान्त असम्भव है—वह तो प्रत्येक युग के व्यक्तियों के क्रियाकलाप तथा वास्तविक जीवन-प्रक्रिया के अध्ययन से ही स्पष्ट हो सकती हैं।

सौन्दर्य-नियमों के अनुकूल सचेतन रचना एवं सर्जना

वस्तु-जगत् की व्यावहारिक रचना, प्राणीतर प्रकृति को ढालने की क्षमता—मानव के अपनी जाति (मानव-समाज) का सचेतन सदस्य होने का प्रमाण है। तात्पर्य यह है कि वह ऐसा प्राणी है जो जाति के प्रति वही व्यवहार करता है जो अपने प्रति और अपने प्रति वही व्यवहार करता है जो जाति के प्रति। निश्चय बात है कि पशु भी रचना करते हैं। वे भी अपने छत्ते घोंसले, माँदें आदि बनाते हैं—जैसे मधुमक्खियाँ, चींटियाँ, ऊदबिलाव इत्यादि। परन्तु वे अपनी या अपने बच्चों की तात्कालिक आवश्यकता की पूर्ति के निमित्त रचना करते हैं। उनकी रचना एकपक्षीय होती है, मनुष्य की सार्वजनीन। वे तात्कालिक दैहिक आवश्यकताओं की प्रेरणा से रचना करते हैं, मनुष्य शारीरिक आवश्यकताओं से निरपेक्ष रहकर रचना करता है बल्कि वास्तव में इन आवश्यकताओं से मुक्त होने पर ही रचना करता है। वे तो केवल अपनी ही सर्जना करते हैं, मनुष्य समस्त प्रकृति की पुनः रचना करता है; उनकी रचना का सम्बन्ध सीधे उनकी काया से होता है, मनुष्य अपनी रचना से निरपेक्ष रहता है। पशु अपनी जाति के प्रमाप एवं आवश्यकता के अनुरूप ही सर्जना करते हैं, मनुष्य प्रत्येक जाति के प्रमाप के अनुकूल रचना कर सकता है और हर जगह वस्तु का निहित प्रमाप दे सकता है। अतः मनुष्य भी सौन्दर्य-नियमों के अनुसार सर्जना करता है।

कला के उद्भव में श्रम का योग

सर्वप्रथम हमारे पूर्वजों ने लंगूर से मनुष्य में संक्रान्ति के हजारों वर्षों में धीरे-धीरे अपने हाथों को जिन कामों का अभ्यस्त किया होगा, वे बहुत आसान रहे होंगे। वे निम्नतम वन्यजन भी—जिनके सम्बन्ध में माना जा सकता है कि वे उलटे पशु-तुल्य दशा की ओर लौटे और साथ ही शारीरिक विकृतियाँ भी पैदा हुई—इन संक्रान्तिकालीन प्राणियों से कहीं अच्छे रहे होंगे। मानव के हाथों ने अरणि को जब चाकू का रूप दिया होगा उसके पहले एक ऐसा काल-खण्ड गुजरा होगा जिसकी तुलना में ज्ञात ऐतिहासिक युग नगण्य-सा प्रतीत होता

है। फिर निर्गुणात्मक, क्रदम उठाया गया : हाथ स्वतन्त्र हो गया, वह भविष्य में अधिकाधिक कौशल और चातुर्य अर्जित करने योग्य हुआ, और इस प्रकार जो लचीलापन अर्जित किया गया वह एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को मिलता गया और उसमें वृद्धि होती गई।

इस प्रकार हाथ केवल श्रम का साधन ही नहीं, श्रम की सृष्टि भी है। केवल श्रम के द्वारा, हाथ को नई-नई क्रियाओं में साधने से, और उससे प्राप्त मांसपेशियों के, स्नायु के और—लम्बे काल में—अस्थियों के भी विशेष विकास को परवर्ती पीढ़ियों को दाय-रूप में देते जाने से और इस प्रकार वंशागति में प्राप्त इन विकासों को नित नई और अधिकाधिक जटिल क्रियाओं में प्रेरित करते रहने से मानव के हाथ ने पूर्णता की ऐसी पराकाष्ठा प्राप्त कर ली कि उसके स्पर्श के जादू से राफेल के चित्र, थोरवाल्डसन की मूर्तियाँ और पागानिनी^{१६३} का संगीत अस्तित्व में आया।

सौन्दर्य-भावना का विकास

जैसे संगीत केवल मनुष्य की संगीत-भावना को उद्बुद्ध करता है और जो कान संगीत-मर्मज्ञ नहीं उसके लिए सुन्दर-से-सुन्दर संगीत का भी कोई अर्थ नहीं, उसी तरह कोई भी उद्देश्य—और मेरा उद्देश्य मेरी किसी सहज शक्ति का पोषण ही हो सकता है—मेरे अपने लिए ही हो सकता है क्योंकि मेरी सहज शक्ति की अपने आपमें एक आत्मगत सीमा है, और क्योंकि किसी वस्तु के प्रति मेरी भावना वहीं तक पहुँचती है जहाँ तक मेरी संवेदना की पहुँच है—अतः सामाजिक मनुष्य की संवेदना असामाजिक मनुष्य से नितान्त भिन्न होती है। वस्तु-रूप से प्रस्फुटित होती हुई मानव की समृद्धि के द्वारा ही आत्मगत मानवीय संवेदनशीलता का—जैसे संगीत-रसज्ञ कान, रूप-सौन्दर्य की पारखी आँख; संक्षेप में, मानवीय आनन्द की भोक्ता इन्द्रियाँ और जो अनिवार्य मानव-शक्तियाँ सिद्ध होती हैं उनका अंशतः विकास और अंशतः आविर्भाव होता है। क्योंकि न केवल पाँचों इन्द्रियाँ बल्कि व्यावहारिक भावना (संकल्प, प्रेम आदि) एवं बुद्धि की तथाकथित इन्द्रिय भी—संक्षेपतः मानवेन्द्रियाँ और भावना की कोमलता—मानवीकृत स्वभाव से जनित मानव-उद्देश्य के अस्तित्व के फलस्वरूप सत्तावान् होती हैं।

पाँच इन्द्रियों का विकास आज तक के संसार के सम्पूर्ण इतिहास का कार्य है। स्थूल व्यावहारिक आवश्यकताओं से सीमित इन्द्रियों का केवल संकीर्ण अर्थ है। भूखों मरते हुए मनुष्य के लिए मानवोचित खाद्य का कोई अस्तित्व

नहीं होता, खाने के नाम पर केवल उसका अमूर्त रूप (वासना) ही होता है। वह बहुत ही भोंडे-भट्टे रूप में मिल सकता है; यह कोई नहीं कह सकता कि भूखे आदमी के खाने का जानवर के खाने से क्या भेद होगा। ग्रीबी के मारे चिन्ताग्रस्त व्यक्ति का मन अच्छे-से-अच्छे खेल की ओर भी नहीं होता। धातुओं का व्यापारी केवल बाज़ार-भाव देखता है—वह धातु की सुन्दरता और अस-लियत नहीं देखता। उसमें खनिज-शास्त्रीय भावना नहीं होती। अतः सिद्धान्त और व्यवहार दोनों में मानव-अस्तित्व को वस्तुपरक बनाने का अर्थ है उसकी भावनाओं को मानवीय बनाना और मानव एवं प्रकृति-जीवन की अपार समृद्धि के अनुकूल मानवीय भावनाओं का सृजन करना।

कला और साहित्य

समस्त मानवीय एवं प्राकृतिक गुणों का रूपान्तरण और परिवर्तन, असम्भावनाओं का संयोग—यह सब द्रव्य की दैवी शक्ति से सम्भव हो सकता है। द्रव्य की दैवी शक्ति इस बात में निहित है कि उसमें मानव-स्वभाव का व्यक्त, दहिर्गत और संक्रमित रूप परिलक्षित होता है। द्रव्य मानव-जाति का प्रत्यक्ष धन है।

मानव के रूप में जो कुछ मैं नहीं कर सकता अर्थात् मेरी व्यक्तिगत शक्तियाँ जो कुछ नहीं कर सकतीं, वह मैं द्रव्य के द्वारा कर सकता हूँ। तात्पर्य यह कि द्रव्य इन सब शक्तियों को जो कुछ वह नहीं होतीं सो बना देता है अर्थात् विपरीत बना देता है।

यदि मेरी खाने की प्रबल इच्छा हो या मैं पैदल चलने में असमर्थ होने के कारण वाहन का उपयोग करना चाहता होऊँ तो ये दोनों—अर्थात् खाना और वाहन—द्रव्य से ही उपलब्ध हो सकते हैं। कहने का तात्पर्य यह कि द्रव्य मेरी इच्छाओं को कल्पना-जगत् से नीचे उतार कर लाता है; वह उन्हें भावित, कल्पित तथा संकल्पगत अस्तित्व से वास्तविक, मूर्त अस्तित्व प्रदान करता है—कल्पना-जगत् से वस्तु-जगत् में लाता है, कल्पित के स्थान पर यथार्थ अस्तित्व देता है। कल्पना और यथार्थ के सामंजस्य की इस प्रक्रिया में सच्ची सृजनात्मक शक्ति है द्रव्य।

जिनके पास पैसा नहीं उनकी भी माँग होती है परन्तु उनकी माँग कोरी कल्पना-जात है जिसका मेरे ऊपर, किसी तीसरे व्यक्ति पर, 'क,' 'ख' पर कोई प्रभाव नहीं। उसका अस्तित्व नहीं होता, अतः मेरे लिए वह अवास्तविक, निरुद्देश्य रहती है। द्रव्य पर आधृत कारगर माँग तथा मेरी आवश्यकताओं,

वासनाओं, इच्छाओं आदि पर अवलम्बित निष्फल माँग में वही अन्तर है जो किसी चीज़ के होने और सोचे जाने में, जो मेरे आन्तरिक विचारों में तथा मुझसे बाहर मेरे लिए यथार्थ वस्तु के रूप में सत्तावान् विचारों में ।

यदि मेरे पास यात्रा के लिए पैसा नहीं तो मेरी वैसी कोई आवश्यकता भी नहीं अर्थात् यात्रा करने की कोई यथार्थ क्रियासिद्ध आवश्यकता नहीं । यदि मेरी वृत्ति अध्ययन की है परन्तु मेरे पास पढ़ने के लिए पैसा नहीं तो वस्तुतः अध्ययन की मेरी वृत्ति ही नहीं अर्थात् वह मेरी सच्ची और वास्तविक वृत्ति नहीं । इसके विपरीत, यदि यथार्थ में मेरी अध्ययन की वृत्ति नहीं परन्तु मेरे पास उसके लिए पैसा और संकल्प हैं तो वह मेरी सफल वृत्ति है । पैसा एक बाह्य साधन तथा शक्ति के रूप में—और यह शक्ति मानव से मानव के रूप में या मानव-समाज से समाज के रूप में उद्भूत नहीं होती—कल्पना को यथार्थ में तथा यथार्थ को एक विशुद्ध कल्पना में परिणत करने में समर्थ होता है । इसी तरह वह यथार्थ मानवीय एवं प्राकृतिक शक्तियों को नितान्त अमूर्त विचारों में—अर्थात् अपूर्णताओं में, मन को कचोटने वाली कल्पनाओं में—बदल सकता है और दूसरी ओर वह घोर अपूर्णताओं एवं कपोल कल्पनाओं को, केवल व्यक्ति की कल्पना में विद्यमान असमर्थ शक्तियों को, सच्ची शक्तियों तथा क्षमताओं में परिणत कर सकता है । अतः इस परिभाषा के अनुसार पैसा सामान्यतः व्यक्तित्वों में परिवर्तन लाने वाला होता है—वह उन्हें विलकुल विपरीत रूप देता है और उनके लक्षणों की जगह नितान्त विरोधी लक्षणों की प्रतिष्ठा कर देता है ।

इस परिवर्तक शक्ति के रूप में, वह व्यक्तिगत तथा सामाजिक एवं अन्य प्रकार के लगावों के—जो सारभूत कहे जाते हैं—विरुद्ध भी प्रकट होता है । वह निष्ठा को प्रवचना में, प्रेम को घृणा और घृणा को प्रेम में, अच्छाई को बुराई तथा बुराई को अच्छाई में, दासों को स्वामी और स्वामियों को दासों में, मूढ़ता को बुद्धिमत्ता एवं बुद्धिमत्ता को मूढ़ता में परिणत कर देता है ।

मूल्य की सक्रिय एवं विद्यमान अवधारणा के रूप में द्रव्य चूँकि हर चीज़ का परिवर्तन और विनिमय कर देता है अतः वह सब चीज़ों का सार्वभौम परिवर्तक एवं विनिमायक हुआ—यानी वह एक परिवर्तित जगत् और समस्त मानवीय एवं प्राकृतिक गुणों का परिवर्तक एवं विनिमायक है ।

जो कोई साहस को खरीद सके वह साहसी है—चाहे वैसे भले ही वह कायर हो । द्रव्य का विनिमय किसी खास चीज़, किसी खास किस्म अथवा मानवीय शक्ति से ही नहीं हो सकता वरन् पैसे वाले की दृष्टि से सम्पूर्ण मान-

वीय एवं प्रकृत वस्तु-जगत् से हो सकता है—अतः वह एक लक्षण की जगह दूसरे को प्रतिष्ठापित कर देता है, यहाँ तक कि विरोधी लक्षणों और वस्तुओं को भी; वह असम्भावनाओं का संयोग करा देता है, वह विरोधी तत्त्वों को एक-दूसरे से गले मिलने पर विवश करता है ।

यदि आप मनुष्य को मनुष्य और जगत् के प्रति उसके सम्बन्धों को मानव-सम्बन्ध मानें तो आप प्रेम से प्रेम और विश्वास से विश्वास का ही विनिमय कर सकते हैं । यदि आप कला का आस्वाद करना चाहें तो आपको कलात्मक दृष्टि से संस्कृत होना चाहिए, यदि आप दूसरों पर प्रभाव डालना चाहें तो आपको ऐसा व्यक्ति होना चाहिए जो दूसरों को सफलतापूर्वक प्रोत्साहित और प्रेरित करे । मनुष्य के—और प्रकृति के—प्रति आपका प्रत्येक सम्बन्ध आपकी इच्छा के विषयानुरूप आपके यथार्थ व्यक्तिगत जीवन की निश्चित अभिव्यंजना होना चाहिए । यदि आप प्रेम करते हैं और दूसरे में अपने प्रति प्रेम-भाव नहीं जगा पाते अर्थात् यदि आपका प्रेम आपके प्रति प्रेम को उद्बुद्ध नहीं करता, यदि प्रेमी के रूप में अपनी बाह्य अभिव्यक्ति के द्वारा आप अपने आपको प्रेम-पात्र नहीं बना लेते तो आपका प्रेम निःशक्त है, भाग्यहीन है ।

मध्यवित्त-शासन का अभ्युदय और विश्व-साहित्य का सूत्रपात

इतिहास में मध्यवित्त-वर्ग का अत्यन्त क्रान्तिकारी योगदान रहा है । जहाँ भी वश चला है मध्यवित्त-वर्ग ने सामन्ती, पितृसत्तात्मक, तथा ग्राम्य-जीवन पर आश्रित सम्बन्धों की इति की है । मानव को अपने 'निसर्ग प्रवर्तों' से बाँधने वाले विविध सामन्ती बन्धनों को उसने बड़ी निर्ममता से तोड़ा है; उसने मानव-मानव के बीच नग्न स्वार्थ के अतिरिक्त, भावविहीन 'नक़द अदा-यगी' के अतिरिक्त, कोई सम्बन्ध नहीं रहने दिया । उसने धार्मिक भावोष्णता के अत्यन्त स्वर्गिक आह्लाद को, शौर्यपूर्ण उत्साह को, संस्कारशून्य भावुकतावाद को स्वार्थप्रेरित सतर्कता के शीतल प्रवाह में डुबा दिया है । उसने व्यक्तिगत महत्ता को विनिमय-मूल्य में बदल डाला है, और अग्रणीत अजेय विशिष्ट स्वतंत्रताओं के बदले, सत्-असत् की भावना से निरपेक्ष एकमात्र स्वतंत्रता—मुक्त व्यापार—की स्थापना की है । संक्षेप में कहें तो उसने धार्मिक एवं राजनीतिक भ्रान्तियों से प्रच्छन्न शोषण की जगह नग्न, निर्लज्ज, प्रत्यक्ष एवं निर्मम शोषण की प्रतिष्ठा की है ।

मध्यवित्त-वर्ग ने परिवार पर पड़ा हुआ भावुकता का पर्दा फाश कर दिया है और पारिवारिक सम्बन्ध को अर्थमूलक सम्बन्ध बनाकर छोड़ दिया है ।

मध्यवित्त-वर्ग ने इसका रहस्योद्घाटन किया है कि मध्ययुग में शक्ति के पाशविक प्रदर्शन को—जिसकी प्रतिक्रियावादी इतनी प्रशंसा करते हैं—अत्यन्त निष्क्रिय अलसता के रूप में एक उपयुक्त पूरक कैसे मिला। उसने पहले-पहल यह दिखाया कि मानव की क्रियाशीलता क्या-क्या कर सकती है ! उसने ऐसे-ऐसे चमत्कार दिखाये हैं, जिनके सामने मिस्र के पिरामिड, रोम की जलसरणियाँ तथा गार्थिक देवल सभी हेय हैं, उसने ऐसे-ऐसे अभियानों का संचालन किया है कि उनके सामने विभिन्न जातियों के आज तक के प्रवास एवं जिहाद के सभी प्रयत्न अत्यन्त नगण्य-से प्रतीत हो उठते हैं।

उत्पादन के साधनों में निरन्तर क्रान्ति लाये बिना—और उसके द्वारा उत्पादन-सम्बन्धों तथा साथ ही समाज के सम्पूर्ण सम्बन्धों में क्रान्ति लाये बिना—मध्यवित्त-वर्ग अपना अस्तित्व ही नहीं बनाये रख सकता। इसके विपरीत, इससे पूर्व के सभी वर्गों के अस्तित्व की पहली शर्त थी उत्पादन की पुरानी पद्धतियों का अपरिवर्तित रूप में संरक्षण। मध्यवित्त-युग तथा इससे पहले के सभी युगों में अन्तर यह है कि इसमें उत्पादन में सतत क्रान्ति हो रही है, सामाजिक सम्बन्ध बराबर अस्तव्यस्त हो रहे हैं तथा एक अनन्त अनिश्चितता एवं क्षोभ विद्यमान है। सारे नियत एवं वद्धमूल सम्बन्ध, अपने अनेक प्राचीन एवं मान्य पूर्वाग्रहों तथा सम्मतियों के साथ, बह जाते हैं; नये बने हुए सम्बन्ध पक्के होने से पहले ही पुराने पड़ जाते हैं। जो ठोस है वह पिघलकर हवा में मिल जाता है, जो पवित्र है वह अपूत बन जाता है और अन्ततः मानव को जीवन की यथार्थ परिस्थितियों तथा अन्य मानवों के साथ अपने सम्बन्धों के प्रश्न का स्थिर बुद्धि से सामना करना पड़ता है।

अपने उत्पादों के लिए निरन्तर बढ़ती हुई मण्डी की आवश्यकता दुनिया के पर्दे पर सर्वत्र मध्यवित्त-वर्ग का पीछा करती है। उसे कहीं भी रहना पड़ सकता है, कहीं भी बसना पड़ सकता है और सब जगह सम्बन्ध स्थापित करने पड़ते हैं।

मध्यवित्त-वर्ग ने विश्व-मण्डी के शोषण द्वारा प्रत्येक देश में उत्पादन तथा खपत को एक सार्वभौम स्वरूप प्रदान किया है। प्रतिक्रियावादियों को इस बात से बड़ा सन्ताप हुआ है कि उद्योग जिस राष्ट्रीय भूमि पर अवस्थित थे उस भूमि को ही उसने हटा दिया है। सब पुराने जमे हुए राष्ट्रीय उद्योग नष्ट हो गये हैं या दिन-प्रतिदिन नष्ट होते जा रहे हैं। उनकी जगह नये उद्योग अस्तित्व में आते जा रहे हैं—इन नये उद्योगों का सूत्रपात सभी सभ्य राष्ट्रों के लिए जीवन-मरण का प्रश्न बन जाता है। ये उद्योग देश में होने वाले कच्चे माल

से ही सामान तैयार नहीं करते बल्कि दूर-दूर के देशों में पैदा होने वाले कच्चे माल का भी उपयोग करते हैं, इनके द्वारा तैयार किये हुए सामान की खपत देश तक ही सीमित नहीं होती वरन् संसार के प्रत्येक भाग में होती है। पुराने अभावों की जगह—जिनकी पूर्ति देश में तैयार हुए माल से हो जाती है—नये अभाव उभर आते हैं और उनके परितोष के लिए सुदूर देश और जलवायु की चीजें आवश्यक होती हैं। पहले राष्ट्र अपने आप में अलग-थलग और आत्म-निर्भर रहा करते थे—आज राष्ट्रों को प्रत्येक दिशा में परस्पर सम्पर्क में आना पड़ता है, वे एक-दूसरे पर निर्भर होते हैं। कच्चे माल के बारे में जो-कुछ मैंने ऊपर कहा वही बौद्धिक सृजन के विषय में भी सत्य है। एक राष्ट्र की बौद्धिक सृष्टि सभी की सामान्य सम्पत्ति बन जाती है। राष्ट्रीय एकांगिता और संकीर्णता उत्तरोत्तर असम्भव होती जाती है और अग्रणीत स्थानीय एवं राष्ट्रीय साहित्यों में से एक विश्व-साहित्य का अभ्युदय होता है।

समाजवादी मानववाद

मनुष्य अपने सर्वांगीण अस्तित्व को सर्वांगीण रीति से—अर्थात् समग्र मानव के रूप में—ढालता है। मानव के रूप में विश्व के साथ उसका प्रत्येक सम्बन्ध—देखना, सुनना, सूँघना, चखना, अनुभव करना, सोचना, चिन्तन करना, इच्छा करना, कोई क्रिया करना, प्यार करना; संक्षेप में, उसके स्वतन्त्र अस्तित्व के समस्त उपकरण और साथ ही वे उपकरण, जो अपने प्रत्यक्ष रूप में सभी को समान रूप से उपलब्ध हैं, वस्तुपरक दृष्टि से अर्थात् वस्तु के प्रति अपने दृष्टिकोण से उसी के अनुकूल रूप धारण कर लेते हैं।

व्यक्तिगत सम्पत्ति ने हमको इतना मूढ़ और एकांगी बना दिया है कि हम सोचते हैं कोई वस्तु हमारे अधिकार में हो तभी हमारी है—अर्थात् जब वह हमारे लिए पूँजी के रूप में विद्यमान हो, एकदम हमारे हाथ में हो—हम उसे खायें-पीयें, शरीर पर धारण करें या उसमें रहें। यद्यपि व्यक्तिगत सम्पत्ति अधिकार के इन सब प्रकट रूपों को अस्तित्व का साधन ही मानती है तथापि जिस जीवन के लिए इनका उपयोग होता है वह व्यक्तिगत सम्पत्ति, काम और पूँजी का ही जीवन है।

अतः ये सब संवेदनाएँ एक अन्य संवेदना के वशीभूत हो गई हैं, अधिकार की भावना ने अन्य सभी भौतिक एवं आध्यात्मिक संवेदनाओं का स्थान ले लिया है। मानव-अस्तित्व के आन्तरिक वैभव के आविर्भाव के लिए उसका इस परम दारिद्र्य की अवस्था तक पहुँचना आवश्यक था।

अतः व्यक्तिगत सम्पत्ति के उन्मूलन का अर्थ होगा समस्त मानवीय संवेदनाओं एवं प्रवणताओं की पूर्ण मुक्ति, परन्तु वह पूर्ण मुक्ति होगी केवल इसी नाते कि वे संवेदनाएँ एवं प्रवणताएँ मानवीय हो गई हैं—आत्मपरक दृष्टि से भी और वस्तुपरक दृष्टि से भी । (उन्मूलन की इस पद्धति को केवल निषेधात्मक समझना भूल होगी ।)

ईश्वर के निराकरण के रूप में नास्तिकवाद सैद्धान्तिक मानववाद बन जाता है तथा व्यक्तिगत सम्पत्ति के उन्मूलन के रूप में साम्यवाद सच्चे मानव-जीवन और उसके गुण की सार्थकता प्रतिपादित करता है । यह व्यावहारिक मानववाद के विकास की प्रक्रिया है । अर्थात् नास्तिकवाद वह मानववाद है जिसकी स्थापना धर्म का उच्छेद करके हो, साम्यवाद वह मानववाद है जिसकी प्रतिष्ठा व्यक्तिगत सम्पत्ति का उन्मूलन करके हो । पहले इस व्यवधान-स्वरूप तत्त्व को हटाकर ही—और यह आवश्यक शर्त है—प्रत्यक्ष, स्व-सर्जित मानववाद अस्तित्व में आता है ।

परन्तु नास्तिकवाद और साम्यवाद पलायन नहीं हैं, वे अमूर्त धारणाएँ नहीं हैं, वे मानव द्वारा उत्पन्न किये हुए वस्तु-जगत् को असत्य नहीं मानते और न वस्तुपरकता में परिणत उसकी शक्तियों को ही मिथ्या मानते हैं; वे अप्रकृत, अविकसित सरलता में लौट आने वाले दारिद्र्य के भी पर्याय नहीं । उनमें तो वस्तुतः पहला सच्चा विकास परिलक्षित होता है, मानव द्वारा अपने अस्तित्व का सच्चा साक्षात्कार ।

(लिटरेचर ऐंड आर्ट)

अनुवादक : श्री महेन्द्र चतुर्वेदी

सिगमण्ड फ्रायड

(सन् १८५६—१९३६ ई०)

[सिगमण्ड फ्रायड मनोविश्लेषण-शास्त्र के जन्मदाता थे । इनके माता-पिता यहूदी थे और इनका जन्म फ्रीबर्ग (मोरेविया) में ६ मई, सन् १८५६ में हुआ था । किन्तु चार वर्ष की अवस्था से ये वीयना में ही रहे । चिकित्सा-कार्य में इनकी कोई रुचि न थी । विशुद्ध वैज्ञानिक अध्ययन एवं अनुसंधान-कार्य ही इन्हें विशेष प्रिय थे । गोइटे के निबन्ध 'डी नेचर' से विशेष प्रभावित होकर इन्होंने चिकित्सा-शास्त्र का अध्ययन आरम्भ किया । इनकी विशेष रुचि रसायन-शास्त्र और वनस्पति-शास्त्र में थी । लेकिन यह अध्ययन बहुत मन्द गति से चला और १८८१ में ही पूर्ण हो पाया ।

इसी समय एक बहुत महत्वपूर्ण घटना हुई । वीयना के एक डाक्टर ब्रायर से फ्रायड को ज्ञात हुआ कि अपस्मार के रोगियों को यदि सम्मोहित कर उन्हें अपने रोग के कारण और उससे सम्बद्ध भावों का स्मरण दिलाया जाए तो उनका रोग दूर हो जाता है । इस विरेचन-प्रक्रिया से ही आगे चलकर मनोविश्लेषण-शास्त्र का जन्म हुआ ।

१८९४ में फ्रायड ने मनोविश्लेषण-शास्त्र के विकास में महत्वपूर्ण योगदान किया । इससे पूर्व तो अपस्मार आदि के रोगियों को सम्मोहित कर उन्हें पुरानी बातों का स्मरण दिलाया जाता था लेकिन अब उन्होंने सम्मोहन के स्थान पर विचारों के 'स्वच्छन्द संसर्ग' की प्रक्रिया का प्रयोग आरम्भ किया । इस प्रक्रिया के आधार पर फ्रायड ने कई नवीन तथ्यों का उद्घाटन किया :

- (१) अचेतन की सत्ता और चेतन पर उसका गहरा प्रभाव;
 - (२) विविध विरोधी शक्तियों के संघर्ष के फलस्वरूप मन का विविध स्तरों में विभक्त हो जाना (इन शक्तियों में से 'दमन' भी एक है);
 - (३) बच्चों में यौन-भावना का अस्तित्व और महत्व;
- इन तथ्यों के प्रकाश में फ्रायड ने दर्शन, धर्म, पुराण, समाज-विज्ञान,

कला तथा साहित्य आदि की नवीन व्याख्याएँ प्रस्तुत कर विचार-जगत् में क्रान्ति उत्पन्न कर दी।

फ्रायड के सिद्धान्तों का विरोध भी हुआ—जीवन के क्षेत्र में भी और साहित्य के क्षेत्र में भी। रोजेस फ्राई ने लिखा है कि फ्रायड के सिद्धान्त केवल अधम साहित्य की ही व्याख्या करने में समर्थ हैं। उत्तम साहित्य उनकी पहुँच से परे है।

अनेक अतिवादों के रहते हुए भी फ्रायड की प्रतिभा और उनके अनुसन्धान का अवमूल्यन नहीं किया जा सकता। आधुनिक विश्व के गिने-चुने विचारकों में उनका अपना विशेष स्थान है।]

×

×

×

कवि का दिवा-स्वप्न के साथ सम्बन्ध

हम जन-साधारण, उस पादरी की तरह सदैव आश्चर्य करते रहे हैं जिसने एरियास्टो^{१६४} से प्रश्न किया था कि वह विचित्र प्राणी—कवि—किस प्रकार अपनी सामग्री प्राप्त करता है? उसके पास ऐसी कौन-सी वस्तु है जिसके बल पर वह अपने आपसे हमारा तादात्म्य स्थापित कराता है, और हमारे अन्दर उन भावों का उद्रेक करता है जिनके लिए हमने अपने आपको शायद समर्थ भी नहीं समझा था? इस सम्बन्ध में जब हम कवियों से प्रश्न करते हैं और उनसे हमें जो उत्तर मिलता है, अथवा जो असन्तोषजनक उत्तर मिलता है, उससे हमारी जिज्ञासा—हमारी रुचि—और भी अधिक तीव्र ही होती है। यदि हमें यह भी मालूम हो कि कल्पनात्मक सामग्री के चयन को निर्दिष्ट करने वाले तत्त्वों के निभ्रान्त ज्ञान से, अथवा उस सामग्री को रूप-आकार देने वाली शक्ति के स्वरूप-बोध से हम कभी लेखक नहीं बन सकते, तब भी हमने जिस समस्या में रुचि दिखाई है वह कम नहीं हो सकती। काश! हम अपने अन्दर या अपने जैसे अन्य व्यक्तियों के अन्दर किसी ऐसी क्रिया का पता लगा सकते जो कल्पनात्मक साहित्य-सर्जन की क्रिया के सदृश हो। यदि हम इसमें कृतकार्य हों, तो इस क्रिया-प्रवृत्ति के परीक्षण से कल्पना-प्रवण लेखकों की रचनात्मक शक्तियों के मूल तक पहुँचने की आशा बँध सकती है। और वस्तुतः यह आशा कुछ फलीभूत भी हो सकती है—स्वयं लेखक यह प्रयत्न करते रहते हैं कि उनके तथा साधारण लोगों के बीच की दूरी कम हो, वे बार-बार हमें यह विश्वास दिलाते हैं कि प्रत्येक मनुष्य हृदय से कवि होता है, और अन्तिम

कवि तब तक समाप्त नहीं होगा जब तक कि अन्तिम मनुष्य समाप्त न हो जाये ।

लेखक वही करता है जो वच्चा खेल में करता है । वह अतिकल्पना का जगत् बनाता है और उसे गम्भीर भाव से ग्रहण करता है, अर्थात् यथार्थता से सर्वथा विश्लिष्ट करते समय वह इसे अतिशय आभरणों से भूषित करता है । भाषा ने वच्चों की क्रीड़ा और काव्य-सृष्टि के बीच के इस सम्बन्ध को अक्षुण्ण रखा है । वह कल्पनात्मक रचनाओं के उन विशिष्ट प्रकारों को, जो मूलतः वस्तुओं से सम्बद्ध होते हैं और जिनका प्रतिनिधान सम्भव है, 'अभिनयों' के नाम से निर्देशित करती है और जो व्यक्ति उनका अभिनय करते हैं उन्हें 'अभिनेता' कहा जाता है । अस्तु, इस कल्पनात्मक काव्य-जगत् की अवास्तविकता का साहित्यिक प्रविधि पर अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है, बहुत-सी ऐसी बातें हैं जो वास्तविक जीवन में घटित होने पर आनन्द नहीं देती, किन्तु 'अभिनय' में उनसे आनन्द-लाभ होता है—बहुत-से ऐसे भाव हैं जो मूलतः दुःखपूर्ण हैं, किन्तु कवि की रचना के दर्शक और श्रोता के लिए वे आनन्द के उद्गम हो सकते हैं ।

यथार्थता और क्रीड़ा की विषमता के सम्बन्ध में एक बात और विचारणीय है जिस पर कुछ क्षण हम विमर्श करेंगे । वच्चा वयस्क होता है और शैशव की क्रीड़ा छोड़ देता है । जीवन की वास्तविकताओं को वह गंभीर भाव से ग्रहण करता है । वयस्कता प्राप्त किए दशाब्दियाँ बीत सकती हैं, पर किसी दिन वह ऐसी मानसिक स्थिति को प्राप्त कर सकता है जब उसके लिए क्रीड़ा और वास्तविकता के बीच का अन्तर नष्ट हो जाता है । वयस्क स्मरण कर सकता है कि किस गंभीरता के साथ वह शैशव की क्रीड़ा में संलग्न रहा करता था, फिर आगे आने वाले गंभीर कार्य-व्यापारों के साथ शैशव की क्रीड़ा की तुलना कर वह जीवन के गुरु भार को फेंक देने में सफल हो सकता है, और इस प्रकार हास्य का अतुल आनन्द उसे मिल सकता है ।

जैसे-जैसे लोग बड़े होते हैं वे खेलना छोड़ते जाते हैं, और ऐसा प्रतीत होता है मानो क्रीड़ा से उपलब्ध आनन्द भी वे छोड़ते जा रहे हों । किन्तु कोई भी व्यक्ति जो मनुष्य के मानसिक जीवन के सम्बन्ध में तनिक भी ज्ञान रखता है, यह जानता है कि जिस आनन्द का उपभोग आदमी एक बार कर लेता है उसे आसानी से त्याग नहीं सकता । वस्तुतः हम किसी भी वस्तु का परित्याग नहीं कर सकते, हम तो केवल एक वस्तु का दूसरी से विनिमय कर लेते हैं । जब हम किसी वस्तु को त्यागते हुए दिखाई पड़ते हैं, तब वास्तव में उसके

स्थान पर हम दूसरी वस्तु अपनाते होते हैं। अतः जब आदमी बड़ा होता है और क्रीड़ा छोड़ देता है तब वह केवल यथार्थ वस्तुओं से अपना सम्बन्ध तोड़ता है, क्रीड़ा के स्थान पर वह कल्पना-चित्रों की सृष्टि आरंभ कर देता है। वह हवाई क्रिले बनाता है और दिवा-स्वप्न की सृष्टि करता है। मेरा विश्वास है कि अधिकांश मनुष्य जीवन-भर कल्पना-चित्र रचते रहते हैं। यह एक ऐसा तथ्य है जिसकी ओर बहुत दिनों से किसी का ध्यान नहीं गया है, और इसलिए इसके महत्व पर अच्छी तरह विचार नहीं हो पाया है।

बच्चों की क्रीड़ा की अपेक्षा वयस्क व्यक्तियों के कल्पना-चित्रों का निरीक्षण करना अधिक कठिन है। यह सत्य है कि बच्चे अकेले खेलते हैं, अथवा खेल-कूद के निमित्त अपने मस्तिष्क में अपने साथियों का एक छोटा-सा सीमित संसार बना लेते हैं, किन्तु बच्चा अपने खेल को गुरुजनों से छिपाता नहीं है, भले ही उसके खेल का उनसे सम्बन्ध न हो। इसके विपरीत वयस्क व्यक्ति अपने दिवा-स्वप्नों पर लज्जा का अनुभव करता है और उन्हें अन्य लोगों से छिपाता है। वह उन्हें अपनी सबसे अधिक अंतरंग निधि मानता है, और वह अपने सब कुकृत्य स्वीकार करने को भले ही तैयार हो जाए, किन्तु अपने दिवा-स्वप्न कभी नहीं बताएगा। इस कारण वह यह विश्वास कर सकता है कि वही एक ऐसा व्यक्ति है जो कल्पना-चित्रों की सृष्टि करता है, उसे इस बात का ज्ञान भी नहीं होता कि अन्य लोग भी उसी की तरह इस सृष्टि में लगे रहते हैं। दिवा-स्वप्न बाल्य-क्रीड़ा की ही क्रम-शृंखला है, किंतु इन दो क्रियाओं के पीछे जो प्रेरक-हेतु हैं, क्रीड़ा-संलग्न बालक तथा दिवा-स्वप्न-रत वयस्क के भिन्न आचरण का समुचित कारण उन्हीं में खोजा जा सकता है।

बच्चों की क्रीड़ा उनकी इच्छाओं से निर्धारित होती है—वास्तव में एक ही इच्छा से। बच्चे की यह इच्छा होती है कि वह बड़ा हो, यह इच्छा उसके बड़े होने में सहायक होती है। वह सदैव बड़े होने के खेल-खेलता है, वयस्क लोगों के जीवन का उसे जो ज्ञान है उसका वह अनुकरण करता है। इस इच्छा को छिपाने की वह जरूरत नहीं समझता। किन्तु वयस्क के साथ बात दूसरी है। एक ओर उसे मालूम है कि अब उससे कोई भी क्रीड़ा करने अथवा दिवा-स्वप्न देखने की अपेक्षा नहीं करता, बल्कि उससे तो यही आशा की जाती है कि वह वास्तविक जगत् में अपना मार्ग बनाए। दूसरी ओर उसकी कुछ इच्छाएँ ऐसी हैं जिनसे उसके कल्पना-चित्र उद्भूत होते हैं और जिन्हें संपूर्णतः छिपाना वह आवश्यक समझता है। अतः अपने कल्पना-चित्रों को बालोचित तथा वर्जित समझ वह लज्जित होता है।

आप पूछेंगे कि जब कल्पना-चित्रों को इतना गोपनीय माना जाता है, तब हम मनुष्य की उस शक्ति के सम्बन्ध में, जो इनका सृजन करती है, इतना ज्ञान किस प्रकार प्राप्त करते हैं ? इसका उत्तर यह है कि मनुष्यों का एक ऐसा समुदाय है जिन्हें कोई देवता तो नहीं, किन्तु एक कठोर देवी—आवश्यकता की देवी—अपने सुख-दुःख की गाथा सुनाने के लिए बाध्य करती है। यह समुदाय स्नायविक विकारग्रस्त व्यक्तियों का समूह है। जिस चिकित्सक के पास वे मानसिक उपचार की आशा से जाते हैं उसे अन्य बातों के साथ-साथ उन्हें अपने कल्पना-चित्रों का लेखा भी देना पड़ता है। हमारी जानकारी का यही सर्वोत्कृष्ट स्रोत है और इस अनुमान के लिए हमारे पास अच्छा आधार है कि ये रोगी हमें जो कुछ सुनाते हैं उनमें ऐसी कोई बात नहीं जो स्वस्थ लोगों के मुख से न सुनी जा सके।

दिवा-स्वप्न देखने की प्रवृत्ति की कुछ विशेषताएँ होती हैं—उन्हें समझने का हम प्रयत्न करें। हम अपना अध्ययन इस कथन से आरंभ कर सकते हैं कि सुखी आदमी कभी भी कल्पना-चित्रों की सृष्टि नहीं करता, केवल असंतुष्ट व्यक्ति ही यह सृष्टि करते हैं। अतुष्ट इच्छाएँ ही कल्पना-चित्रों की प्रेरक-शक्ति हैं, प्रत्येक पृथक् कल्पना-चित्र में एक इच्छा की पूर्ति समाहित है, और वह असंतोषप्रद वास्तविकता की स्थिति को थोड़ा-बहुत सुधारता है। ये प्रेरक इच्छाएँ व्यक्ति के यौन-भेद, चरित्र तथा परिस्थितियों के अनुसार भिन्न-भिन्न होती हैं, किन्तु फिर भी उन्हें आसानी से दो प्रमुख वर्गों में बाँटा जा सकता है। ये इच्छाएँ या तो महत्वाकांक्षाएँ होती हैं जो व्यक्ति के उत्कर्ष में सहायक होती हैं, या वे काममूलक होती हैं। ये कामवासनाएँ युवतियों के कल्पना-चित्रों को एकांत रूप से अभिभूत किए रहती हैं, कारण उनकी आकांक्षाएँ प्रायः काम-केन्द्रित होती हैं। नवयुवकों में काम-वासना के साथ-साथ अहंभाव तथा महत्वाकांक्षा का भी प्राधान्य होता है। किन्तु इन दोनों प्रवृत्तियों के पारस्परिक विभेद पर हम यहाँ बल नहीं देंगे, हम इसी तथ्य पर बल देना चाहेंगे कि ये प्रवृत्तियाँ प्रायः संश्लिष्ट रहती हैं।

हमें यह नहीं सोचना चाहिए कि कल्पना-चित्रों, हवाई किलों या दिवा-स्वप्नों की ओर उन्मुख इस प्रेरक-शक्ति के भिन्न उत्पाद्य, बँधे-बँधाए, स्थिर अथवा अपरिवर्तनीय हैं। इसके विपरीत वे जीवन के सतत परिवर्तित प्रभावों के अनुरूप ढलते रहते हैं, जीवन की विभिन्न परिस्थितियों के अनुसार बदलते रहते हैं, प्रत्येक नूतन तथा गंभीर प्रभाव उन पर मानो एक निश्चित छाप छोड़ जाता है। एक अवसर-विशेष पर जो कल्पना-चित्र प्रसूत होते हैं वे तीन काल-

अवधियों का स्पर्श करते हैं—ये काल-अवधियाँ हमारी भावन-क्रिया के तीन भाग हैं। मानस में कल्पना-चित्रों के सृजन की यह क्रिया कुछ प्रवहमान प्रभावों से संपृक्त होती है जो वर्तमान की किसी ऐसी घटना से उद्भूत हों, जिसमें तीव्र इच्छा जगाने की सामर्थ्य हो।

वहाँ से यह इच्छा किसी पूर्व अनुभव की स्मृति की ओर लौटती है—यह अनुभव साधारणतः शैशवकाल का होता है जबकि इच्छा की पूर्ति हुई हो। तब यह अपने लिए एक ऐसी स्थिति का निर्माण करती है जिसका भविष्य में आविर्भाव होगा—यह स्थिति इच्छा-पूर्ति का प्रतिनिधित्व करती है : यही दिवा-स्वप्न अथवा कल्पना-चित्र है जिसमें पिछली स्मृति के चिह्न भी हैं तथा उस अवसर के तत्त्व भी जिसने इसे जन्म दिया। इस प्रकार भूत, वर्तमान एवं भविष्य तीनों इस इच्छा के सूत्र में अनुस्यूत हैं और तीनों में ही इसका प्रवाह है। एक अत्यन्त साधारण दृष्टान्त से मेरा कथन स्पष्ट हो जाएगा। एक निर्धन अनाथ लड़के का उदाहरण लीजिए जिसे आप एक ऐसे आदमी के पास भेज रहे हैं जहाँ उसे नौकरी मिलने की संभावना हो। मार्ग में वह दिवा-स्वप्न देखता है जो उसकी स्थिति के अनुकूल है। उसका कल्पना-चित्र कुछ इस प्रकार का रूप ग्रहण करेगा : उसकी नियुक्ति होती है, वह अपने मालिक को प्रसन्न करता है, व्यापार में वह अपने आपको अनिवार्य बना लेता है, मालिक के घर में उसका प्रवेश होता है और वह उस घर की मोहिनी वाला से विवाह करता है। फिर वह व्यापार का संचालन करता है, पहले हिस्सेदार की हैसियत से, फिर अपने ससुर के वारिस के रूप में। इस प्रकार दिवा-स्वप्न में वह उन सब वस्तुओं को पा लेता है जो सुखी वचन में उसे प्राप्त थीं—घर की सुरक्षा, स्नेहमय माता-पिता, और उसके अनुराग के प्रथम आलम्बन। इस प्रकार आप देखेंगे कि व्यक्ति की इच्छा किस प्रकार वर्तमान की घटना को आधार बना अतीत के आदर्श पर भविष्य का महल खड़ा करती है।

ऐसे कल्पना-चित्रों के सम्बन्ध में और भी बहुत-कुछ कहा जा सकता है, किन्तु मैं यथासम्भव संक्षेप में केवल कुछ बातों का ही उल्लेख करूँगा। यदि कल्पना-चित्र अत्यन्त प्रचुर एवं अत्यधिक शक्तिशाली हो जायें तो स्नायविक विकृति अथवा मानसिक विकृति के पैदा होने की सम्भावना हो जाती है। अतः कल्पना-चित्र उस आरम्भिक अवस्था का सूत्रपात करते हैं जो रोग-विज्ञान के क्षेत्र का विषय है।

कल्पना-चित्रों और स्वप्नों के सम्बन्ध की मैं उपेक्षा नहीं कर सकता। यदि व्याख्या की जाय तो स्पष्ट होगा कि हमारे निशा-स्वप्न हमारे कल्पना-

चित्र ही हैं। भाषा ने सुदूर अतीत में ही अपने अप्रतिम विवेक के द्वारा स्वप्नों की आधारभूत प्रकृति निश्चित कर दी थी—इसीलिए उसने हमारी वायवी सृष्टि को दिवा-स्वप्नों की संज्ञा दी। जिन इच्छाओं को हम अपने आपसे छिपाना चाहते हैं, जो दमित हो अचेतन में निष्कासित हो जाती हैं, वे रात्रि में उभर आती हैं। इन दमित इच्छाओं और इनसे निष्पन्न भावनाओं को अभिव्यक्ति तभी मिलती है जब वे लगभग पूर्ण रूप से प्रच्छन्न हों। जब विज्ञान स्वप्न के विकारों को स्पष्ट करने में सफल हो गया तब यह समझने में कोई कठिनाई नहीं रही कि हमारे निशा-स्वप्न उसी प्रकार हमारी इच्छाओं की पूर्तियाँ हैं जिस प्रकार हमारे दिवा-स्वप्न हमारे उन कल्पना-चित्रों की पूर्तियाँ हैं जिनसे हम सब भली भाँति परिचित हैं।

यह तो हुई दिवा-स्वप्नों की बात। अब कवि को लें। क्या हम सचमुच यह साहस कर सकते हैं कि एक कल्पना-प्रधान लेखक की तुलना उस व्यक्ति के साथ करें जो दिवा-स्वप्नों में विचरण करता है, और उसकी रचनाओं को दिवा-स्वप्नों के साथ। यहाँ निःसन्देह एक विभेद आवश्यक हो जाता है : एक वर्ग तो उन कवियों का होगा जो प्राचीन युगों के लेखकों—महाकाव्यों एवं त्रासदियों के प्रणेताओं—की तरह पूर्व-प्रस्तुत, लोक-सम्मत सामग्री ग्रहण करते हैं, दूसरा वर्ग उन लेखकों का होगा जो अपनी सामग्री की उद्भावना स्वयं करते हैं। हम दूसरे वर्ग तक ही अपने आपको सीमित रखें, और उन लेखकों को भी छोड़ दें जो आलोचकों द्वारा विशेष समादृत हैं। हम प्रेमाख्यानों, उपन्यासों एवं कहानियों के लेखकों को ही लें जो बहुत महत्वाकांक्षी लेखक नहीं किन्तु जिन्हें एक विशाल जन-समुदाय चाव से पढ़ता है। इन लेखकों की रचनाओं में एक ऐसी प्रमुख विशेषता है जिसकी ओर ध्यान जाना अवश्यंभावी है। उनके कथा-साहित्य का नायक एक ऐसा व्यक्ति होता है जिसमें हमारी रुचि केन्द्रित होती है, उसके लिए लेखक सभी प्रकार से हमारी सहानुभूति अर्जित करना चाहता है, और उसे वह एक विशिष्ट नियति की संरक्षकता में रखता है। यदि प्रथम अध्याय के अन्त में मैं नायक को गहरे घावों के कारण लोहू से लथपथ और बेहोश पाता हूँ, तो मुझे विश्वास है कि दूसरे अध्याय में मैं उसे किसी के हाथों सेवा-सुश्रूषा पाते हुए तथा स्वस्थ होते हुए देखूंगा। यदि प्रथम भाग के अन्त में तूफ़ानों में नायक का जहाज नष्ट हो जाय, तो दूसरे भाग के आरम्भ में नायक के बाल-बाल बचने की कहानी मिलेगी—यदि ऐसा न हो तो कहानी आगे बढ़ ही नहीं सकती। सुरक्षा की जिस भावना के साथ मैं नायक को खतरनाक घटनाओं से गुजरता हुआ देखता

हैं, वह उसी प्रकार की भावना है जिसे एक सच्चा शूरवीर उस समय अनुभव करता है जब वह किसी डूबते हुए आदमी की रक्षा के लिए पानी में कूदता है अथवा शत्रु के तोपखाने पर आक्रमण करते समय आग की लपटों का सामना करता है। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि नायक की यह अभेद्यता अत्यन्त सारगर्भित है—वह जिस तथ्य की ओर संकेत करती है वह है सम्राट् अहं, सारे दिवा-स्वप्नों तथा सारे उपन्यासों का नायक।

इन अहं-केन्द्रित कहानियों की अन्य विशेषताएँ भी इस सम्बन्ध की ओर संकेत करती हैं। जब एक उपन्यास की सभी स्त्रियाँ प्रायः एक ही नायक से प्रेम करने लगती हैं, तब इसे यथार्थ का निरूपण तो माना नहीं जा सकता, किन्तु दिवा-स्वप्नों का मूल तत्त्व तो इसमें देखा ही जा सकता है। इस तथ्य की पुष्टि इस बात से भी होती है कि कहानी के अन्य पात्र कभी-कभी 'अच्छे' और 'बुरे' के वर्गों में विभक्त कर दिए जाते हैं। इस बात पर तनिक भी ध्यान नहीं दिया जाता कि वस्तुतः मनुष्यों में कितनी विविधता, कितनी विलक्षणता है। 'अच्छे' पात्र वे होते हैं जो नायक के अहं का पोषण करते हैं, और 'बुरे' वे जो उसके शत्रु एवं प्रतिद्वन्द्वी हैं।

हम यह निःसन्देह स्वीकार करते हैं कि बहुत-सी कल्पना-प्रधान रचनाएँ आदि मौलिक, सरल दिवा-स्वप्न से दूर हो गई हैं, किन्तु मेरा यह अनुमान है कि दिवा-स्वप्न का कितना भी ऐकांतिक रूपान्तर क्यों न हो जाय, उसके परिवर्तनों में एक ऐसा अखंड तारतम्य होता है जो मूल तथ्य को प्रकट करता है। बहुत-से तथाकथित मनोवैज्ञानिक उपन्यासों को पढ़ते समय मैंने यह अनुभव किया है कि उपन्यासकार एक पात्र के तो अंतस् में निवास करता है—और वह पात्र नायक होता है—उसके मनःस्तरों में प्रवेश करता है किन्तु अन्य पात्रों पर वह बाहर से दृष्टि डालता है। सामान्यतः मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में जो विशेषताएँ लक्षित होती हैं वे आधुनिक लेखकों की इस प्रवृत्ति पर सम्भवतः आश्रित हैं कि वे अपने अहं को आत्म-निरीक्षण के द्वारा कितने ही अहं-खंडों में विभक्त कर देते हैं, और इस प्रकार अपने मानसिक जीवन की विरोधी प्रवृत्तियों को बहुत से नायकों में साकार कर देते हैं। कुछ ऐसे उपन्यास हैं जिन्हें 'बहिर्केन्द्रिक' कहा जा सकता है—इनमें और सामान्य दिवा-स्वप्नों में अत्यधिक विषमता मिलती है। यहाँ जिस पात्र का नायक के नाम से परिचय कराया जाता है वह कथानक में बहुत कम सक्रिय भाग लेता है। ऐसा प्रतीत होता है कि मानो वह एक दर्शक है जिसके सामने से अन्य पात्रों के सुख-दुख, कार्य-व्यापार गुजर जाते हैं। ज़ोला के कई परवर्ती उपन्यास इसी

श्रेणी में आते हैं। किन्तु इतना मैं अवश्य कहूँगा कि ऐसे लोगों के, जो लेखक नहीं हैं, जो हमारे तथाकथित मापदंड से कई बातों में भिन्न हैं—मनोवैज्ञानिक विश्लेषण से यह सिद्ध हो गया है कि उनके दिवा-स्वप्नों में समान विविधताएँ दृष्टिगोचर होती हैं, जिनमें अहं दर्शक की भूमिका निर्वाह करके ही सन्तुष्ट रहता है।

हमने कल्पना-प्रवण लेखक की दिवा-स्वप्नद्रष्टा के साथ तथा उसके काव्य की दिवा-स्वप्न के साथ तुलना की है, किन्तु इस तुलना का तभी कोई अर्थ होगा जब वह किसी रूप में फलप्रद हो। एक उदाहरण लें। हमने यह प्रतिपादित किया है कि कल्पना-चित्र अपनी अंतर्हित इच्छा से तथा काल की तीन अवधियों से सम्बद्ध है। इस सूत्र के अनुसार हम लेखक की कृतियों का परीक्षण करें, और उसके जीवन तथा उसकी कृतियों के पारस्परिक सम्बन्ध का अध्ययन करें। अब तक यह ज्ञात नहीं था कि किन प्राथमिक विचारों के आधार पर इस समस्या के समाधान की क्रिया में अग्रसर हुआ जा सकता है। कई बार तो इस सम्बन्ध को इतना सहज-सरल माना गया है जितना वास्तव में यह है नहीं। किन्तु कल्पना-चित्रों से हमें जो अन्तर्दृष्टि मिलती है वह इस सम्बन्ध को समझने में सहायक होती है। एक यथार्थ अनुभव, जो लेखक के मानस पर प्रबल प्रभाव अंकित करता है वह किसी पूर्व अनुभव-स्मृति—साधारणतः बाल्यकाल की अनुभव-स्मृति—को उद्बलित करता है : उससे फिर एक इच्छा स्फुरित होती है जिसकी पूर्ति उक्त कला-कृति के रूप में होती है। इस कृति में वर्तमान की घटना एवं अतीत की स्मृति के तत्त्व पृथक्-पृथक् देखे जा सकते हैं।

इस सूक्ति की जटिलता से आतंकित होने की आवश्यकता नहीं है। मैं स्वयं यह मानता हूँ कि यह सूक्ति अत्यधिक योजनात्मक है, किन्तु सम्भव है कि इससे कोई ऐसा माध्यम निकल आए जिससे यथार्थ वस्तु-स्थिति समझने में सहायता मिले। मैंने जो प्रयत्न किए हैं उनसे मेरा अनुमान है कि सृजनात्मक साहित्य के अध्ययन का यह प्रकार निष्फल नहीं होगा। आप यह विस्मृत मत कीजिए कि जो बल हमने लेखक की बाल्यकालीन स्मृतियों पर दिया है वह शायद अजीब लगता है किन्तु वह अन्ततः इसी परिकल्पना से उद्भूत है कि कल्पना-प्रधान कृति, दिवा-स्वप्न की तरह, बाल्य-क्रीड़ा की शृंखला की ही एक कड़ी और उसकी स्थानापन्न है।

हमें कल्पना-प्रधान साहित्य के उस वर्ग का भी उल्लेख करना चाहिए जो स्वतःस्फूर्त साहित्य की अपेक्षा प्रस्तुत सामग्री का पुनःसंस्कार या आकलन

है। यहाँ भी लेखक को कुछ स्वतन्त्रता होती है : वह इच्छानुकूल इस सामग्री का चयन तथा उसमें परिवर्तन-संशोधन कर सकता है। अपने मूल रूप में यह सामग्री जाति के उस कोष से निकलती है जो पुराणों, लोक-आख्यानों तथा परियों की कथाओं का भण्डार है। जातीय मनोविज्ञान की इन रचनाओं का अध्ययन अभी अपूर्ण है, किन्तु यह अत्यंत सम्भव है कि ये पुराण सम्पूर्ण जाति की इच्छाओं एवं कल्पना-चित्रों के विभ्रष्ट अवशेष हैं—आदि मानव के युग-युग के स्वप्नों के चिह्न।

आप कहेंगे, कि इस लेख के शीर्षक में तो कवियों का उल्लेख पहले हुआ है और कल्पना-चित्रों का बाद में, किन्तु लेख के अन्दर कल्पना-चित्रों की तुलना में कवियों के बारे में बहुत कम कहा गया है। मुझे इस बात का बोध है। मैं इस सम्बन्ध में यह कहकर क्षमा माँग सकता हूँ कि हमारे ज्ञान की आज जो स्थिति है वह अत्यंत सीमित है। मैं कुछ संकेत ही दे सकता हूँ, कुछ दिलचस्प तथ्य ही रखे जा सकते हैं, जो कल्पना-चित्रों के अध्ययन से निकलते हैं और उन कल्पना-चित्रों की सीमा को पार कर साहित्यिक सामग्री के चयन की समस्या का स्पर्श करने लगते हैं। एक समस्या और है जिसकी हमने चर्चा भी नहीं की है। अर्थात् वे कौन-से साधन हैं जिनके द्वारा लेखक हमारे भीतर उन भावात्मक प्रतिक्रियाओं को उत्पन्न करने में सफल होता है जो उनकी कला-कृतियों से उद्बुद्ध होती हैं। किन्तु मैं इतना संकेत तो करूँगा ही कि किस प्रकार दिवा-स्वप्नों के अध्ययन से हम उन समस्याओं की ओर अग्रसर होते हैं जो कल्पना-प्रधान रचनाओं से उत्पन्न प्रभाव के साथ सम्बद्ध हैं।

आपको स्मरण होगा, हमने यह कहा था कि दिवा-स्वप्न देखने वाला अपने कल्पना-चित्रों को दूसरे लोगों से यत्नपूर्वक छिपाता है, क्योंकि वह उनके कारण लज्जा का अनुभव करता है। अब मैं यह और कहना चाहूँगा कि यदि वह उनकी चर्चा करे भी तो उससे हमें कोई आनन्द प्राप्त नहीं होगा। जब हम कल्पना-चित्रों का वर्णन सुनते हैं तो उससे हमारे मन में जुगुप्सा पैदा होती है। यदि जुगुप्सा नहीं तो हम कम-से-कम उदासीन अवश्य रहते हैं। किन्तु जब एक साहित्यकार अपनी कृति प्रस्तुत करता है, अथवा ऐसे वर्णन करता है जिन्हें हम उसके वैयक्तिक दिवा-स्वप्न कह सकते हैं, तब हमें अत्यन्त आनन्द की अनुभूति होती है। यह आनन्द कदाचित् अनेक स्रोतों से उद्भूत होता है। कलाकार इस आनन्द की सृष्टि किस प्रकार करता है यह उसका अपना अंतरंग रहस्य है, काव्य-कला का मूल तत्त्व इसी प्रविधि में निहित है जिसके द्वारा हमारे जुगुप्सा-भाव के विकर्षण को जीता जा सके, और निःसन्देह इसका

सम्बन्ध उन अवरोधों से है जो व्यक्ति और व्यक्ति के बीच खड़े किये गए हैं। इस प्रविधि में प्रयुक्त होने वाली दो प्रणालियों का हम अनुमान कर सकते हैं। लेखक अपने दिवा-स्वप्नों के अहंपूर्ण स्वरूप का रूपांतरों एवं परिवर्तनों द्वारा परिहार कर सकता है, और अपने दिवा-स्वप्नों की अभिव्यक्ति के द्वारा वह हमें शुद्ध रूपात्मक, अर्थात् सौन्दर्य-बोध-सम्बन्धी, आनन्द प्रदान करने का प्रलोभन दे सकता है। आनन्द के इस संवर्धन को उत्तेजना की किस्त अथवा पारिभाषिक शब्दों में 'अग्रिम आनन्द' कह सकते हैं, कारण यह किस्त उस महान् आनन्द का मुक्त संचार करती है जो हमारे मानस के अंतरतम गह्वरों में छिपा पड़ा है। मेरी यह धारणा है कि कल्पना-प्रवण लेखकों की कृतियों से हमें सौन्दर्य-बोध का जो आनन्द मिलता है वह यही 'अग्रिम आनन्द' है, और साहित्य के सच्चे आनन्द का उद्रेक हमारे मस्तिष्क के तनाव से मुक्त होने पर होता है। इस फल की प्राप्ति में कई उपकरणों का योग होता है। इन उपकरणों में सबसे महत्वपूर्ण शायद लेखक का वह कौशल है जो हमें एक ऐसी स्थिति में पहुँचा देता है जहाँ हम बिना किसी तिरस्कार अथवा लज्जा का बोध किए अपने दिवा-स्वप्नों का रसास्वाद कर सकते हैं। यहाँ हम एक ऐसे पथ पर पहुँचते हैं जिसके सम्बन्ध में नए रोचक तथा जटिल अनुसंधान हो सकते हैं, किन्तु इस समय तो हम कम-से-कम अपने प्रस्तुत विवेचन की इति पर पहुँचते हैं।

स्नायु-रोगी एवं कलाकार

कल्पना-चित्र से यथार्थ की ओर लौटने का एक माध्यम वस्तुतः है— वह है कला। कलाकार की भी एक अन्तर्मुखी प्रवृत्ति होती है और उसे स्नायविक विकार-ग्रस्त होने के लिए दूर जाने की आवश्यकता नहीं है। वह अपनी सहजवृत्ति की आवश्यकताओं से संचालित होता है और ये आवश्यकताएँ अत्यंत कोलाहलमय होती हैं : वह प्रतिष्ठा, प्रभुत्व, यश एवं नारियों के प्रेम को उपलब्ध करने की लालसा रखता है। किन्तु ये सब प्राप्त करने के साधनों का उसके पास अभाव होता है। अतः किसी भी अतृप्त इच्छाओं वाले व्यक्ति की तरह वह वास्तविकता से दूर भागता है, और अपनी सम्पूर्ण रुचि को— सम्पूर्ण काम-वासना को—कल्पना-चित्रों के जगत् की एषणा-सृष्टि में स्थानांतरित करता है। और स्नायविक विकृति का मार्ग यहाँ से दूर नहीं। किन्तु निःसन्देह ऐसे कितने ही तथ्य हैं जो कलाकार के विकास को एकान्ततः स्नायविक विकृति में प्रतिफलित होने से बचाते हैं। यह तो हमें मालूम ही है

कि स्नायविक विकृति के द्वारा कितनी ही बार कलाकारों की अपनी क्षमता अंशतः कुण्ठित हो जाती है। किन्तु उसके मानसिक संघटन में वृत्तियों के उन्नयन की प्रबल क्षमता होती है और एक ऐसी नमनीयता जो उनके अन्तर्द्वन्द्व को निर्दिष्ट करती है। यथार्थता की ओर कलाकार किस प्रकार लौटता है— इसे हम यों समझने की कोशिश करें। कलाकार ही केवल ऐसा व्यक्ति नहीं जिसके पास कल्पना-चित्रों का संसार है : कल्पना-चित्रों का मध्यवर्ती जगत् सामान्य मानव-समाज द्वारा स्वीकृत, गृहीत है। प्रत्येक बुभुक्षित आत्मा इस जगत् से शान्ति एवं सात्वना की अपेक्षा रखती है। किन्तु कल्पना-चित्रों के स्रोतों से जो परितोष मिल सकता है, वह उन व्यक्तियों के लिए अत्यंत सीमित होता है जो कलाकार नहीं हैं, वे कुछ दिवा-स्वप्नों से भले ही आनन्द ले सकें, अन्यथा उनके कठोर दमन उन्हें रस की अनुभूति से वंचित रखते हैं। उनके दिवा-स्वप्न चेतना के घरातल पर भी आ सकते हैं। इसके विपरीत एक कलाकार की उपलब्धि अधिक होती है। पहली बात तो यह कि वह यह जानता है कि किस प्रकार दिवा-स्वप्नों का परिवर्द्धन किया जा सकता है ताकि उनमें निहित कलाकार की वैयक्तिकता का परिहार हो सके जिससे कि श्रोता रस ग्रहण कर सकें। दूसरी बात यह कि उसे यह मालूम है कि किस प्रकार कल्पना-चित्रों का संस्कार करना चाहिए ताकि उन वर्जित स्रोतों का सहज पता न चल सके जिनसे इनका उद्गम होता है। और उसके पास एक ऐसी रहस्यमयी क्षमता है जो उसकी सामग्री को एक विशिष्ट रूप-आकार देती है, ताकि वह उसके कल्पना-चित्रों में निहित विचारों को ईमानदारी से व्यक्त कर सके। तदुपरान्त वह जानता है कि कल्पना-चित्रों के इस जगत् की अभिव्यक्ति में किस प्रकार आनन्द के एक ऐसे सशक्त प्रवाह को प्रवाहित करना चाहिए ताकि कम से कम कुछ काल के लिए दमन के अवरोध वह जाएँ। जब उसे इतनी सिद्धि मिल जाती है, तब वह दूसरों की सुख-शान्ति के लिए उनके स्वयं के आनन्द के अचेतन स्रोतों को तोलने में समर्थ होता है, और इस प्रकार उनकी कृतज्ञता एवं उनकी प्रशंसा अर्जित करता है। तब वह अपनी अति-कल्पना के द्वारा उस प्रतिष्ठा, एवं नारी के प्रेम को प्राप्त करता है जिन्हें पहले वह केवल अपने कल्पना-चित्रों में ही देखता था।

(कलैक्टेड पेपर्ज; अनुवाद : ग्रांट डफ़)

अनुवादक : डॉ० मोहनलाल

कार्ल युंग

(जन्म—सन् १८७५ ई०)

[प्रसिद्ध मनोविश्लेषक आचार्य युंग की जन्मभूमि स्विट्जरलैण्ड है । इनका जन्म २६ जुलाई, १८७५ ई० में हुआ था । १९११ तक ये फ्रायड के अधीन कार्य करते रहे । इसके बाद कई मूलभूत सिद्धान्तों को लेकर इनका फ्रायड से मतभेद हो गया—फलस्वरूप मीडर के साथ इन्होंने ज्यूरिख में मनोविश्लेषण के एक नए प्रतिष्ठान की स्थापना की ।

युंग अपने विषय के लिए मनोविश्लेषण शब्द के स्थान पर 'विश्लेषणात्मक मनोविज्ञान' (एनेलिटिकल साईकॉलोजी) शब्द का प्रयोग करते हैं । युंग में कई बातें ऐसी हैं, जो फ्रायड से भिन्न और अपने आप में बड़ी महत्वपूर्ण हैं । ये फ्रायड के यौन-सम्बन्धी विचारों से सहमत नहीं हैं और यौन भावना को उतना महत्व नहीं देते जितना फ्रायड ने दिया है । इन्होंने मनुष्य की रचनात्मक शक्ति पर बल दिया है और इस रचनात्मक शक्ति के स्वरूप एवं सफलता-असफलता के आधार पर ही मनुष्य के मानसिक जीवन का विश्लेषण किया है ।

युंग ने मनुष्यों का कई विरोधी वर्गों में विभाजन किया है । इनमें प्रमुख वर्ग दो हैं : अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी; और इन्होंने मन के चार मूल कार्य माने हैं— विचार, अनुभव, संवेदन, और सहजानुभूति (प्रातिभ ज्ञान) ।

युंग ने समन्वित मनोविज्ञान का निरूपण करते हुए इस सम्भावना का उल्लेख किया है कि चेतन एवं अचेतन एक-दूसरे के सहयोगी के रूप में भी रह सकते हैं । फ्रायड ने चेतन एवं अचेतन के बीच नित्य होने वाले संघर्ष की चर्चा की है । लेकिन युंग इन दोनों को स्वरूपतः विरोधी नहीं मानते । फ्रायड ने अचेतन को दमित अंश माना था लेकिन युंग ने इसे दमित नहीं वरन् अविकसित अंश माना है । इसके अतिरिक्त युंग ने अचेतन के दो रूप—व्यक्तिगत और समाजगत—माने हैं । समाजगत उपचेतन में केवल व्यक्तिगत तत्त्व ही नहीं होते वरन् पुरानी पीढ़ियों से प्राप्त परम्परा के तत्त्व भी होते हैं ।

प्रकारान्तर से फ़ायड की भाँति युंग ने भी साहित्य और कला की सर्जना और विवेचना को प्रभावित किया है। युंग ने एक स्थान पर फ़ायड के साहित्य-सृजन-सम्बन्धी सिद्धान्तों का व्याख्यान एवं विवेचन किया है। प्रस्तुत संकलन में उद्धृत इस वक्तव्य का इस दृष्टि से दुगुना महत्त्व है।]

×

×

×

विश्लेषणात्मक मनोविज्ञान और काव्य-कला

विश्लेषणात्मक मनोविज्ञान और काव्य-कला के सम्बन्ध का विवेचन कितनी ही कठिनाइयाँ प्रस्तुत करता है, किन्तु इन कठिनाइयों के बावजूद भी यह विवेचन-कार्य एक ऐसा अवसर देता है जिसका मैं स्वागत करता हूँ। इस प्रसंग से मैं एक विवादास्पद प्रश्न पर अपना मत प्रकट कर सकता हूँ—प्रश्न है : सामान्यतः मनोविज्ञान और कला का क्या सम्बन्ध है ? विपमताओं के होते हुए भी मनोविज्ञान और कला के क्षेत्रों में निकट सम्बन्ध है, और इस सम्बन्ध का अन्वेषण होता भी अनिवार्य है। इस सम्बन्ध का मूल इस तथ्य में है कि कला व्यवहार में एक मनोवैज्ञानिक क्रिया है, और इस दृष्टि से कला का मनो-वैज्ञानिक विवेचन वस्तुतः अपेक्षित है। अन्य मानवीय क्रियाओं की तरह कला भी मानसिक प्रेरणाओं से प्रसूत होती है, और इस दृष्टि से भी इसकी एक स्पष्ट सीमा है, जो मनोवैज्ञानिक विवेचन के अन्तर्गत आती है। कला का केवल वही पक्ष जो कलात्मक रूप-विधान की प्रक्रिया से संपृक्त है मनोविज्ञान का विषय हो सकता है, जो पक्ष कला की आधारभूत प्रकृति से सम्बद्ध है वह सदैव मनोविज्ञान के क्षेत्र से बाहर है। यह दूसरा पक्ष—अर्थात् कला अपने आप में क्या है—कभी भी मनोवैज्ञानिक पद्धति द्वारा अध्ययन का विषय नहीं हो सकता : वह तो सौन्दर्यात्मक-कलात्मक पद्धति से अध्ययन करने की वस्तु है।

कला अपनी प्रकृति के कारण विज्ञान नहीं है और विज्ञान मूलतः कला नहीं है। अतः मन के दोनों क्षेत्रों का अपना-अपना ऐसा गुण-वैचित्र्य है, जो कला और विज्ञान ही समझा सकते हैं। इसलिए जब हम मनोविज्ञान और कला के सम्बन्ध की चर्चा करते हैं, तब कला के केवल उसी पक्ष का विवेचन अभीष्ट मानते हैं जो बिना किसी दूसरे क्षेत्र में अतिक्रमण किए मनोवैज्ञानिक अध्ययन का विषय हो सकता है। मनोविज्ञान कला के सम्बन्ध में जो भी तथ्य निर्दिष्ट करे, वे कलात्मक प्रवृत्ति की मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया तक ही सीमित होंगे, और उनका कला की अन्तरतम प्रकृति से कोई भी सम्बन्ध नहीं होगा।

यहाँ मैंने जो विचार रखे हैं, मैं समझता हूँ वे असंगत नहीं हैं, कारण इधर कुछ समय से ऐसे प्रयत्न हो रहे हैं जिनमें विशेषतः कला-कृतियों की नवीन व्याख्या प्रस्तुत की जा रही है। व्याख्या की जो विधि रखी गई है वह कला को कलाकार की प्राथमिक अवस्थाओं के विवेचन का विषय बना देती है। यह माना कि कलाकृति के विधायक तत्त्व, जैसे वस्तु-सामग्री और शैली, कवि के उन वैयक्तिक सम्बन्धों में खोजे जा सकते हैं, जो उसके माता-पिता के साथ रहे हों। किन्तु कवि की कला को समझने में इस विधि से कौन-सा योग मिलता है?—कोई नहीं; कारण, कला के अतिरिक्त अन्य वस्तुओं को भी इस कार्य-विधि से जाँचा जा सकता है, और व्याधि-ग्रस्त प्राणी इसके अपवाद नहीं। अच्छे और बुरे स्वभाव, विश्वास, गुण, राग-आवेग, रुचि-विशेष आदि की तरह स्नायविक एवं मानसिक रोग भी माता-पिता के साथ शैशवकालीन सम्बन्धों की सीमा में रखे जा सकते हैं। किन्तु इससे हमें यह मानने का अधिकार तो नहीं मिलता कि इन सब वस्तुओं की एक-सी और एक ही व्याख्या की जा सकती है, क्योंकि यदि इन सबकी एक ही व्याख्या सम्भव होती तो हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए बाध्य होना पड़ता कि ये वस्तुएँ यथार्थ में विभिन्न नहीं, एक ही हैं। यदि एक कलाकृति की और एक स्नायविक विकृति की पूर्णरूपेण एक ही व्याख्या हो, तो या तो कलाकृति स्नायविक विकृति है अथवा स्नायविक विकृति कलाकृति है। इस प्रकार की उक्ति विरोधात्मक शब्द-क्रीड़ा के रूप में चल सकती है, किन्तु जिस व्यक्ति के पास स्वस्थ बुद्धि है वह कला-कृति और स्नायविक विकृति को एक कठघरे में रखने के विचार का ही विरोध करेगा। यदि हमें कोई ऐकांतिक उदाहरण ही देना हो तो हम कह सकते हैं कि व्यावसायिक पूर्वाग्रह का चश्मा लगाकर देखने वाला विश्लेषक डाक्टर ही स्नायविक विकार को कलाकृति मानेगा। एक साधारण व्यक्ति, जो अपनी बुद्धि से काम लेता है, कभी यह नहीं सोचेगा कि कला और रूग्णता एक ही वस्तु हैं, यद्यपि यह तथ्य निर्विवाद है कि कलाकृति का उद्भव स्नायविक विकार की तरह एक-सी मनोवैज्ञानिक पूर्वावस्थाओं में होता है। यह स्वाभाविक भी है क्योंकि कुछ विशिष्ट मानसिक पूर्वावस्थाएँ सर्वत्र विद्यमान होती हैं; और फिर मनुष्य के जीवन की अवस्थाओं में सापेक्ष सदृशता होने के कारण ये सतत समरूप भी होती हैं—विवेच्य (विषय) भले ही एक बौद्धिक प्राणी हो, या कवि हो या एक सामान्य व्यक्ति हो। माता-पिता निःसन्देह सबके रहे हैं, अतः सभी लोगों में तथाकथित मातृग्रंथि एवं पितृग्रंथि है, और सभी लोगों में यौन-वृत्ति का बोझ भी है और उसके साथ-साथ कुछ विशिष्ट एवं कुछ

सामान्य मानवीय कठिनाइयाँ भी हैं। एक कवि पिता के प्रति अपने सम्बन्ध-भाव से अधिक प्रभावित होता है, दूसरा माता के प्रति सम्बन्ध-भाव से, और तीसरा अपनी रचनाओं में असंदिग्ध रूप से दमित काम की अभिव्यक्ति करता है। यही सब बातें एक स्नायविक विकार-ग्रस्त व्यक्ति के सम्बन्ध में तथा एक स्वस्थ व्यक्ति के सम्बन्ध में भी कही जा सकती हैं। अतः ऐसा कोई विशेष तथ्य उपलब्ध नहीं होता जिससे कलाकृति का मूल्यांकन किया जा सके। अधिक-से-अधिक ऐतिहासिक पूर्ववस्थाओं के ज्ञान में कुछ गहराई एवं विशदता आ जाती है। फ्रायड ने चिकित्सा-मनोविज्ञान के जिस सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया है उसने निश्चय ही साहित्यिक इतिहासकार को यह प्रेरणा दी है कि वह कलाकृति की कतिपय विशेषताओं को कवि के वैयक्तिक एवं आंतरिक जीवन से संपृक्त करे। किन्तु इससे कला के सम्बन्ध में कोई विशेष जानकारी नहीं प्राप्त हुई, कलाकृतियों के वैज्ञानिक विवेचन ने वर्षों पूर्व जो निष्कर्ष रखे थे, उनसे अधिक इस पद्धति ने कुछ नहीं कहा, और वे निष्कर्ष थे—काव्य में उन सूत्रों का चेतन अथवा अचेतन भाव से समावेश, जो कवि के वैयक्तिक एवं अंतरंग जीवन से सम्बद्ध हैं। किन्तु फ्रायड की रचनाओं से इन सूत्रों का, जो कवि के शैशव तक पहुँचते हैं और जो प्रायः कलाकृतियों को प्रभावित करते रहते हैं, मार्मिक एवं सर्वांगीण अव्ययन किया जा सकता है।

यदि इस प्रणाली का सुचारु एवं सामान्य बुद्धि के साथ प्रयोग किया जाय तो प्रायः एक आकर्षक रूप में यह हमें बताती है कि किस प्रकार कलात्मक सृजन कलाकार के वैयक्तिक जीवन से अनुस्यूत होता है, और किस प्रकार एक अर्थ में उससे उद्भूत भी होता है।

इस सीमा तक कलाकृतियों के तथाकथित मनोविश्लेषण में एवं एक मार्मिक तथा कुशल मनोवैज्ञानिक-साहित्यिक विश्लेषण में कोई विशेष अन्तर नहीं होता। अन्तर यदि है तो मात्रा का, किन्तु इस मात्रा को हम अविवेकपूर्ण निष्कर्षों एवं प्रसंगों से कभी-कभी विस्मय की वस्तु बना सकते हैं। तनिक-सी सावधानी एवं बुद्धिमानी से इस विस्मय को बचाया जा सकता है। इस आमूल मानव-तत्त्व की विवेचना में असावधानी चिकित्सक मनोवैज्ञानिक की व्यावसायिक विशेषता प्रतीत होती है। मेफ़िस्टोफ़िलिज ने इस तथ्य को भली-भाँति समझ लिया था : 'आप हर चीज़ की ओर संकेत कर सकते हैं और उसका स्वागत कर सकते हैं। दूसरे आदमी उसी चीज़ के चारों ओर वर्षों तक चक्कर काट सकते हैं।' अभाग्यवश यह आवश्यक नहीं कि आपका संकेत सदैव आपके हित में ही हो, अविचारपूर्ण निष्कर्षों की सम्भावना सहज सुरुचि में

भयंकर प्रमाद उत्पन्न कर सकती है। मिथ्यावाद का थोड़ा-सा स्पर्श जीवन-चरित्र को चटपटा कर देता है, पर तनिक-सा और योग अशिष्ट जिज्ञासा बन जाता है : विज्ञान के आवरण के नीचे सुरुचि की विडम्बना ! हमारी दिलचस्पी अनजाने ही कलाकृति से हट जाती है और मानसिक पूर्ववस्थाओं की टेढ़ी-मेढ़ी भूलभुलैयाँ में उलझ जाती है, खो जाती है। कवि उपचार का पात्र बन जाता है, स्थिति-विशेष में वह काम-वासना के मानसिक रोगी का अजीब उदाहरण भी बन सकता है। किन्तु यहाँ पहुँचकर कलाकृति का मनोविश्लेषण अपने लक्ष्य से भ्रष्ट हो चुका होता है। विवेचन ऐसे क्षेत्र में प्रवेश कर जाता है जो उतना ही व्यापक है जितना मानव-समुदाय। कलाकार के लिए रंचमात्र भी उसमें विशिष्टता नहीं होती, और इस कारण कला के साथ उसका लगाव और भी कम होता है।

इस प्रकार का विश्लेषण कलाकृति को सामान्य मनोविज्ञान के क्षेत्र में ले आता है। वहाँ कला के अतिरिक्त अन्य विषयों का भी सूत्रपात होता है। इस पद्धति से कलाकृति की जो व्याख्या उपलब्ध होती है, वह उतनी ही सारहीन है जितना कि यह वक्तव्य कि 'प्रत्येक कलाकार आत्मरति-लीन व्यक्ति है।' जो भी व्यक्ति अपनी शक्ति की चरम सीमा तक अपने कार्य की दिशा में अग्रसर होता है, वह आत्मरति-लीन ही होता है।

फ्रायड की पद्धति विशुद्धतः चिकित्सा की पद्धति है, जिसका लक्ष्य एक विकृत एवं अनुपयुक्त ढाँचा है। इस विकृत ढाँचे ने सामान्य सिद्धि का स्थान ले लिया है। अतः इस पद्धति के उपयुक्त अनुकूलन के लिए ढाँचे में परिवर्तन अपेक्षित है। इस स्थिति में सामान्य मानव-आधार को अपनाना ही पूर्णतः उपयुक्त है। जब यह पद्धति कला के क्षेत्र में प्रयुक्त होती है तो कई परिणाम निकलते हैं, जिनका उल्लेख ऊपर हो चुका है। कला के झिलमिल परिधान को चीरकर वह मूल मानव की नग्न सामान्यता को प्रस्तुत करती है, और कवि भी इसी जाति का एक प्राणी है। उदात्त सर्जना के जिस स्वर्णिम सादृश्य का हम विवेचन करने चले थे, वह ढह जाता है; क्योंकि उन्माद (हिस्टीरिया) की प्रवचनापूर्ण छायाओं के लिए जिस क्षयी प्रणाली का प्रयोग किया जाता है उसे अपनाने से सर्जना का सार-तत्त्व समाप्त हो जाता है। इसमें सन्देह नहीं कि इस तीक्ष्ण प्रणाली के प्रयोग से जो परिणाम निकलता है, वह सचमुच दिलचस्प होता है, और सम्भवतः उसका वैज्ञानिक मूल्य उसी प्रकार का होता है जैसा, उदाहरण के लिए, नीत्शे^{१६५} के मस्तिष्क का मरणोत्तर परीक्षण। उस विश्लेषण से निःसन्देह हमें यह तो पता चलता है कि किस विशेष प्रकार

के लकवे से उसकी मृत्यु हुई, किन्तु जराथुस्त्र^{१६६} से इसका क्या सम्बन्ध हो सकता है ? इसकी आन्तरिक पृष्ठभूमि कुछ भी क्यों न हो, वह अपने आप में तो एक जगत् ही है, ऐसा जगत् जो मानवीय, आमूल मानवीय, अपूर्णताओं और मानसिक क्षय के जगत् के परे है ।

फ़ायड की पद्धति का मूल तत्त्व है अचेतन पृष्ठभूमि के सारे परिस्थितिगत साक्ष्य का संकलन और इस सामग्री के विश्लेषण एवं व्याख्या के द्वारा प्राथमिक, अचेतन एवं सहजवृत्तिमूलक प्रक्रियाओं का पुनर्निर्माण । फ़ायड ने उन चेतन तत्त्वों को, जो अचेतन पृष्ठभूमि को समझने के साधन होते हैं, प्रतीकों की अशुद्ध संज्ञा दी है । वे सच्चे प्रतीक नहीं हैं, कारण, फ़ायड की शिक्षा के अनुसार वे पृष्ठभूमि की प्रक्रियाओं के चिह्न अथवा लक्षण मात्र हैं । सच्चा प्रतीक मूलतः इनसे भिन्न होता है, और उसे सहज साक्षात्कार की अभिव्यक्ति मानना चाहिए, जिसका अभी तक न तो उससे श्रेष्ठतर बोध सम्भव है, न भिन्न अभिव्यक्ति । उदाहरण के लिए, प्लेटो जब अभिज्ञान की सम्पूर्ण समस्या को कंदरा के रूपक में प्रस्तुत करते हैं अथवा जब ईसा 'स्वर्ग के राज्य' का भाव रूपक-कथाओं के माध्यम से अभिव्यक्त करते हैं, तब हमारे सामने शुद्ध और सच्चे प्रतीक रखे जाते हैं—ये प्रतीक ऐसे प्रयत्न हैं जिनके द्वारा उस वस्तु की अभिव्यक्ति अभीष्ट है, जिसके लिए अभी तक उपयुक्त शाब्दिक अवधारणाएँ नहीं हैं । यदि हम फ़ायड के अनुसार प्लेटो के रूपक की व्याख्या करें तो हमें सहज ही गर्भाशय का उल्लेख करना होगा, और तब हम इस निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि प्लेटो का मस्तिष्क भी शिशु-रति के आदि स्तरों में लिप्त था । किन्तु यह व्याख्या हमें यह नहीं बता सकती कि प्लेटो ने अपनी दार्शनिक सहजानुभूति के द्वारा क्या सर्जन किया । यह सिद्ध करने की कोशिश में कि प्लेटो के अन्दर भी अन्य मर्त्य व्यक्तियों की तरह शैशव-सुलभ अतिकल्पनाएँ थीं, हम उसकी सबसे बड़ी मौलिक देन की उपेक्षा कर जायँगे । इस प्रकार के निष्कर्ष का मूल्य केवल उसी व्यक्ति के लिए होगा, जो प्लेटो को अतिमानव मानता रहा हो, और जिसे यह जानकर कुछ परितोष हो कि प्लेटो भी एक मनुष्य ही था । किन्तु प्लेटो को देवता कौन मानना चाहेगा ? निस्संदेह वही व्यक्ति, जो अपनी शैशव-सुलभ अतिकल्पनाओं से पीड़ित हो, अर्थात् जो स्नायविक विकारग्रस्त हो । ऐसे व्यक्ति के लिए सार्वभौम मानव सत्यों की स्थापना उपचार के नाते लाभप्रद होती है, किन्तु प्लेटो की रूपक-कथा का अर्थ इससे प्रकट नहीं होता ।

अपने व्यक्तिगत अनुभव से मैं यह तो स्वीकार करूँगा कि एक चिकित्सक

के लिए कलाकृति का विवेचन करते समय अपने व्यावसायिक पूर्वाग्रह को दूर रखना तथा अपने मूल्यांकन को प्रचलित जैविकीय मान्यताओं से बचाए रखना सरल कार्य नहीं है। किन्तु मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि यद्यपि उस मनो-विज्ञान को, जो विशुद्ध रूप से जैविकीय स्थापनाओं को स्वीकार करता है, कुछ सीमा तक मनुष्य के अध्ययन के लिए स्वीकार किया जा सकता है, किन्तु एक सच्ची कलाकृति को उससे नापा नहीं जा सकता, और स्रष्टा मानव का इससे अध्ययन करना और भी अधिक कठिन है। विशुद्ध हेतुवादी मनोविज्ञान व्यक्ति को केवल मनुष्य जाति के एक सदस्य के रूप में ही देख पाता है, क्योंकि इसका सम्पूर्ण क्षेत्र उससे सीमित है जो या तो प्रेषित है अथवा गृहीत। किन्तु कलाकृति केवल एक प्रेषित अथवा गृहीत वस्तु नहीं है—यह उन तत्त्वों का क्रियात्मक पुनर्संगठन है, जिन्हें हेतुवादी मनोविज्ञान अलग-अलग देखता है। पौधा मिट्टी की उपज भर नहीं होता, वह एक सजीव सर्जनात्मक प्रक्रिया है जो अपने आपमें केन्द्रित है। इसका सत्त्व मिट्टी की प्रकृति से भिन्न है। इसी प्रकार कलाकृति को, जो प्रत्येक तत्त्व का स्वच्छन्द प्रयोग करती है सर्जनात्मक रूप-संगठन मानना चाहिए। कलाकृति का अर्थ एवं इसकी विशिष्टता स्वयं कला-कृति में निहित है, इसकी पूर्वावस्थाओं अथवा पूर्व-तत्त्वों में नहीं। वस्तुतः यह प्रायः कहा जा सकता है कि कला एक ऐसे प्राणी की तरह है जो मनुष्य को एवं उसकी व्यक्तिगत अभिरुचियों को केवल एक सांस्कृतिक माध्यम या मिट्टी के रूप में प्रयुक्त करती है, उसकी शक्तियों को अपने नियमों के अनुरूप संचालित करती है, तथा अपना रूप-आकार इस प्रकार संयोजित करती है, जो उसके सर्जनात्मक उद्देश्य की साधना को पूर्ण करते हैं।

गद्य और पद्य दोनों में ऐसी रचनाएँ हैं जो पूर्णतः लेखक की इस इच्छा और संकल्प को प्रकट करती हैं कि उसे कौन-सा प्रभाव उत्पन्न करना अभिप्रेत रहा है। यहाँ लेखक अपनी सामग्री का एक निश्चित प्रयोग करता है जो एक दिशा-विशेष में उन्मुख होता है और साथ ही सोद्देश्य भी। वह सामग्री में कमी-वेशी करता है, एक प्रभाव पर बल देता है, दूसरे में परिवर्तन करता है, एक रंग यहाँ भरता है, दूसरा वहाँ—रंगों में संतुलन का, उनकी प्रभाव-शक्ति का उसे ध्यान रहता है, रूप-विधान एवं शैली के नियमों की ओर वह सदैव सचेष्ट रहता है। इस सारी क्रिया में वह अपनी सजग विवेक-बुद्धि का प्रयोग करता है, अपनी अभिव्यक्ति में वह पूर्ण स्वतन्त्र रहता है। उसकी दृष्टि में उसकी सामग्री केवल सामग्री-मात्र है, और वह उसकी कलात्मक लक्ष्य-साधना के सर्वथा अधीन है। वह जो व्यक्त करना चाहता है वही करता है।

और कुछ नहीं। इस क्रिया में कवि का उसकी सर्जनात्मक प्रक्रिया के साथ समीकरण हो जाता है। कवि अपने सर्जनात्मक कार्य-व्यापार का प्रधान है और उसका समर्पण-समीकरण उसकी इच्छा से होता है, अथवा एक माध्यम की तरह वह इस क्रिया के इतना वशीभूत हो जाता है कि इस तथ्य की चेतना भी उससे जाती रहती है। वह स्वयं सर्जनात्मक प्रक्रिया होता है, उसमें पूर्णतः स्थित, अपने सारे उद्देश्यों एवं शक्तियों के साथ उसमें विलीन, उससे अभिन्न। मैं समझता हूँ कि इस समीकरण, इस तादात्म्य के साहित्य के इतिहास अथवा कवियों की स्वीकारोक्तियों में से उदाहरण देना आवश्यक नहीं है।

जब मैं दूसरे प्रकार की उन कलाकृतियों की बात करता हूँ जिनका लेखक की लेखनी से प्रायः सहज और पूर्ण स्फुरण होता है, तो कोई नई बात नहीं करता। ऐसा लगता है मानो ये कृतियाँ पूर्ण परिधान के साथ विश्व में अवतरित हुई हों। ये रचनायें निश्चय ही लेखक को अभिभूत कर लेती हैं, उसका हाथ मानो सम्मोहित हो गया हो, उसकी लेखनी जो कुछ लिखती है उसे उसका मस्तिष्क विस्मय से देखता है। कृति अपने साथ अपना रूप-विधान लाती है, अपनी ओर से उसमें कुछ जोड़ने की उसे आज्ञा नहीं मिलती, जो वह कहना नहीं चाहता, उसे कहने के लिए उसे बाध्य होना पड़ता है। इस स्थिति में जबकि उसकी चेतना अपने आपको व्यग्र और रिक्त पाती है, वह अनुभव करता है कि वह ऐसे भावों और बिम्बों से उद्वेलित हो रहा है, जिनकी उद्भूति उसे कभी भी अभिप्रेत नहीं हैं और जिन्हें उसका संकल्प कभी भी रूप-आकार नहीं देता। किन्तु विवश होकर उसे यह मानना पड़ता है कि इस सारी क्रिया में उसकी आत्मा बोलती है, उसकी अन्तरतम प्रकृति अपने आपको व्यक्त करती है, उन बातों को प्रकट करती है जिन्हें वह कभी अपनी ज़बान पर नहीं लाता। यह वृत्ति विजातीय, अजनबी लगती है, किन्तु उसकी आज्ञा का पालन और अनुसरण उसे करना पड़ता है। वह अनुभव करता है कि उसकी कृति उससे महान् है और इसीलिए उसका उस पर इतना प्रभाव है कि वह उसे आदेश देने में सर्वथा असमर्थ है। सर्जनात्मक प्रक्रिया के साथ उसका तादात्म्य नहीं है, वह स्वयं यह जानता है—इस बात की चेतना उसे बनी रहती है—कि वह अपनी कृति के मातहत है, उसके नीचे खड़ा है, या पार्श्व में, मानो वह एक अन्य व्यक्ति हो, जो पर-इच्छा के सम्मोहन-वृत्त में घिर गया हो।

जब हम कलाकृति के मनोविज्ञान की बात करें, तब सबसे पहले हमें यह ध्यान में रखना चाहिए कि कलाकृति के उद्गम के ये दो विभिन्न स्रोत हो

सकते हैं। मनोवैज्ञानिक मूल्यांकन में जो तथ्य सबसे अधिक महत्वपूर्ण है, वह इसी विभेद-ज्ञान पर आश्रित है।...मनोविज्ञान की दृष्टि से प्रथम को हम अन्तर्मुखी कहेंगे और दूसरे को बहिर्मुखी। अन्तर्मुखी प्रवृत्ति में विषय के स्वत्व और महत्व-प्रदर्शन के विरुद्ध विषयी के चेतन लक्ष्य और उद्देश्य प्रबल होते हैं, बहिर्मुखी प्रवृत्ति में विषयी विषय के दावे के आधीन होता है।

कलाकारों का व्यावहारिक विश्लेषण करने पर यह निश्चय ही प्रकट होता है कि अचेतन से फूटने वाले क्रियात्मक संवेग में कितनी शक्ति होती है। उसकी आक्रोशपूर्ण एवं स्वच्छन्द प्रकृति भी इससे प्रकट होती है। उदाहरण के लिए, महान् कलाकारों में से किसी के भी जीवन-चरित्र को लीजिए। यह स्पष्ट हो जायगा कि उनमें इस वृत्ति का कितना आग्रह है। कभी-कभी तो इस वृत्ति में इतना दर्प होता है कि अन्य मानवीय संवेगों को वह अपने अन्दर समेट लेती है, कृति की सेवा में सबको जुटा लेती है, व्यक्ति का स्वास्थ्य एवं सामान्य मानव-सुख भी उसकी भेंट चढ़ जाते हैं। कलाकार की आत्मा में जो अव्यक्त कृति अवस्थित है—जो अभी तक जन्मी नहीं है—वह प्रकृति की ऐसी शक्ति है जो अपने लक्ष्य को स्वयं साधती है, अदम्य, क्रूर बल के द्वारा, अथवा उस सूक्ष्म कौशल के द्वारा जिसे प्रकृति अपनी लक्ष्य-पूर्ति के लिए उसे प्रदान करती है। इस लक्ष्य-पूर्ति के लिए प्रकृति कलाकार के वैयक्तिक सुख-दुःख का ध्यान नहीं रखती—वह कलाकार जो स्वयं क्रियात्मक शक्ति का माध्यम होता है। यह सर्जनात्मक शक्ति व्यक्ति में उसी प्रकार उगती है, जैसे धरती में वृक्ष, जिससे उसे पोषण मिलता है। अतः यही उचित होगा कि इस सर्जनात्मक प्रक्रिया को एक संप्राण वस्तु मान लिया जाय, ऐसी संप्राण वस्तु जो मानो मनुष्य की आत्मा में प्रतिष्ठित है। विश्लेषणात्मक मनोविज्ञान की भाषा में यह एक स्वायत्त ग्रन्थि है। वस्तुतः यह मनस् का एक पृथक् अंश है, जो चेतना के सोपान-क्रम से विलग हो एक स्वतन्त्र मानसिक जीवन व्यतीत करता है। इसमें जितनी शक्ति होती है उस अनुपात से वह या तो चेतना की स्वचालित प्रक्रिया में व्यतिरेक-सी प्रतीत होती है, अथवा एक सशक्त सत्ता का रूप धारण करती है, जो आत्म को बलपूर्वक अपनी सेवा में लगाती है। यह दूसरी अवस्था वही है जब कवि का क्रियात्मक प्रक्रिया के साथ तादात्म्य हो जाता है, और जब अचेतन वृत्ति उसे बाध्य करती है वह उसकी सेवा में तत्पर हो जाता है। दूसरी ओर एक ऐसा कवि होता है, जो क्रियात्मक वृत्ति को प्रायः विजातीय शक्ति के रूप में देखता है, जो किसी-न-किसी कारण उसकी सेवा में नहीं जुटना चाहता, पर जिसे अचेतन शक्ति अकस्मात् घेर लेती है।

हम कह सकते हैं कि कला सौन्दर्य है, और उसी में उसका वास्तविक उद्देश्य एवं सिद्धि निहित है। उसे अर्थ की अपेक्षा नहीं होती। अर्थ का कला की सर्जनात्मकता से सम्बन्ध नहीं होता। जब मैं कला के क्षेत्र में प्रवेश करता हूँ तो इस उक्ति के सत्य को स्वीकार करता हूँ। किन्तु जब हम मनो-विज्ञान और कलाकृति के सम्बन्ध की बात करते हैं, तब कला के क्षेत्र से बाहर होते हैं, और यहाँ यह सम्भव नहीं कि अर्थ पर विचार न किया जाय। हमें व्याख्या करनी पड़ती है, अर्थ ढूँढना पड़ता है, अन्यथा वस्तु के बारे में हम सोच भी नहीं सकते। हमें जीवन और घटनाओं को—इनकी सिद्धियों को—विम्बों, अर्थों, अवधारणाओं में बिखेरना पड़ता है, और इस प्रकार इस जीवन-रहस्य से हमें जान-बूझकर अपने आपको विलग करना पड़ता है। जब तक हम सर्जन के तत्त्व में बँधे रहते हैं, हम न देखते हैं, न समझते हैं; वस्तुतः हमें समझने का प्रयत्न भी नहीं करना चाहिए, कारण, तात्कालिक अनुभव के लिए अभिज्ञान से अधिक खतरनाक एवं घातक कोई वस्तु नहीं। किन्तु अभिज्ञान के लिए सर्जनात्मक प्रक्रिया से विलग होकर हमें उस प्रक्रिया को बाहर से देखना चाहिए, तभी उसका चित्र सामने आता है, जिससे उसके अर्थ की व्यंजना होती है। तब हम अर्थ के सम्बन्ध में चर्चा कर सकते हैं, अपितु तब अर्थ की खोज अवश्यम्भावी है। जब हम अर्थ खोजते हैं तो वह वस्तु, जिसका पहले एक शुद्ध रूप था, अन्य वस्तुओं के सम्पर्क में ऐसा रूप लेने लगती है, जहाँ अर्थ स्पष्ट होने लगता है। कृति का विशिष्ट लक्ष्य प्रकट होता है, वह कुछ विशिष्ट अभिप्रायों की पूर्ति करती है, कुछ प्रभाव उत्पन्न करती है जो अर्थ-गर्भित होते हैं। और जब हम यह सब देखते हैं, तब अनुभव करते हैं कि हमने कुछ समझा है, कुछ जाना है। इस प्रकार विज्ञान की आवश्यकता का बोध होता है।

अभी-अभी हमने कलाकृति की उपमा उस वृक्ष से दी थी, जो धरती से जीवन खींचता है। यदि हम चाहें तो इतने ही औचित्य के साथ मातृ-गर्भ में स्थित शिशु के प्रचलित रूपक का प्रयोग कर सकते हैं। किन्तु सभी तुलनाएँ किसी-न-किसी दृष्टि से अपूर्ण होती हैं। अतः रूपकों के स्थान पर, जन्म लेती हुई कृति को हम स्वायत्त ग्रन्थि के नाम से सम्बोधित करें। इस अवधारणा का प्रयोग उन सभी मानसिक रूप-संगठनों के लिए किया जाता है जो आरम्भ में अनजाने विकसित होते हैं, और चेतना में उसी समय प्रविष्ट होते हैं जब वे एक विशिष्ट स्थिति पर पहुँच जाते हैं। चेतना के साथ जब उनका सम्बन्ध होता है तब वह समीकरण का महत्व नहीं रखता, बल्कि वह प्रत्यक्षीकरण का

महत्व रखता है, अर्थात् यद्यपि स्वायत्त ग्रन्थि का प्रत्यक्ष बोध हो सकता है, उसे वर्जना अथवा ऐच्छिक पुनरावृत्ति के रूप में चेतन नियन्त्रण के अधीन नहीं रखा जा सकता। ग्रन्थि की स्वायत्तता इस तथ्य से प्रकट होती है कि वह अपनी आन्तरिक प्रवृत्ति के अनुकूल जब चाहे और जिस रूप में चाहे उसमें प्रकट अथवा तिरोहित होती है, वह चेतना के लगाव से स्वतन्त्र होती है। अन्य स्वायत्त ग्रन्थियों की तरह क्रियात्मक ग्रन्थि में भी यही विशेषता होती है। इसके अतिरिक्त इसी स्थान पर रुग्ण मानसिक प्रक्रियाओं के साथ इसकी तुलना की सम्भावना प्रकट होती है, कारण, इन प्रक्रियाओं (और विशेषतः मानसिक विकृतियों) में हम स्वायत्त ग्रन्थि को उपस्थित पाते हैं। कलाकार के दैवी उन्माद—उसकी दैवी प्रेरणा—का विकार-ग्रस्त स्थितियों के साथ एक खतरनाक परन्तु यथार्थ सम्बन्ध होता है, यद्यपि यह उन्माद उन स्थितियों के साथ एकरूप नहीं होता। यह एकरूपता स्वायत्त ग्रन्थि की उपस्थिति में लक्षित होती है, किन्तु इस उपस्थिति से मानसिक विकृतियों की रुग्ण प्रकल्पना के पक्ष अथवा विपक्ष में कोई बात सिद्ध नहीं होती, कारण, स्वस्थ व्यक्तियों को भी स्थायी अथवा अस्थायी रूप में स्वायत्त ग्रन्थि के अत्याचार का शिकार होना पड़ता है। एक तथ्य मनस् की एक सामान्य विशेषता है, और यदि कोई व्यक्ति स्वायत्त ग्रन्थि के अस्तित्व से अनभिज्ञ है तो वह अपेक्षाकृत अचेतन की अधिकता को ही प्रकट करता है। उदाहरण के लिए, कोई भी विशिष्ट प्रवृत्ति जो कुछ सीमा तक पृथक् अस्तित्व रखती है स्वायत्त ग्रन्थि की ओर उन्मुख होती है, और बहुत-सी अवस्थाओं में वह स्वयं स्वायत्त ग्रन्थि हो जाती है। प्रत्येक सहजवृत्ति में न्यूनाधिक मात्रा में स्वायत्त ग्रन्थि की प्रकृति होती है। अतः स्वायत्त ग्रन्थि के अन्दर स्वतः कोई विकृति नहीं होती, केवल इसकी संचित शक्ति और विक्षोभकारी उदय में ही प्रायः कष्ट या पीड़ा समाहित हो सकती है।

स्वायत्त ग्रन्थि किस प्रकार उत्पन्न होती है? किसी-न-किसी कारण मनस् का वह अंश जो अब तक अचेतन था, सक्रिय हो उठता है। इस कारण का विवेचन, उसकी सूक्ष्म परख, यहाँ हमें अपने विषय से बहुत दूर ले जायगी, अतः वह हमें अपेक्षित नहीं है। मनस् का अचेतन अंश जब सक्रिय होता है, तब परस्पर सम्बन्धों के कारण उसकी सक्रियता में विकास और विस्तार आने लगता है। यदि चेतना इस ग्रन्थि के साथ तादात्म्य न करना चाहे, तो इस क्रिया में जिस शक्ति का संचालन होता है वह सहज ही चेतना से विलग हो जाती है। जहाँ यह तादात्म्य नहीं होता वहाँ जेनेट के शब्दों में मान-

सिक घरातल का अपकर्ष होने लगता है। चेतन अभिरुचियों एवं क्रियाओं की प्रखरता क्रमशः क्षीण होने लगती है, इसके बाद एक प्रकार की उदासीन निष्क्रियता, जो बहुधा कलाकारों में दिखाई पड़ती है, पैदा होने लगती है, अथवा चेतन व्यापारों में प्रत्यावर्तन होने लगता है; दूसरे शब्दों में शैशवीय अथवा प्राचीन पूर्व-स्थितियों की ओर अधोगमन। इसका परिणाम होता है व्यापार-वृत्तियों के निम्न स्तर का उठाव, नैतिक वृत्तियों के स्थान पर सहज-वृत्तियों का, शिशु की सहज, अकृत्रिम भावना के स्थान पर विचारपूर्ण एवं परिपक्व भाव का, संयोजित के स्थान पर असंयोजित का उभार : बहुत-से कलाकारों के जीवन में इस तथ्य को देखा जा सकता है। व्यक्तित्व के चेतन नियन्त्रण से इस प्रकार जो शक्ति पृथक् हो जाती है उससे स्वायत्त ग्रन्थ का विकास होता है।

किन्तु यह स्वायत्त क्रियात्मक ग्रन्थ किस वस्तु में स्थित होती है ? इस सम्बन्ध में उस समय तक प्रायः कुछ भी नहीं जाना जा सकता, जब तक सम्पूर्ण सम्पादित कृति से हमें वह अन्तर्दृष्टि नहीं मिलती जिससे कि कृति की नींव तक देखा जा सके। कृति, व्यापक अर्थ में, एक ऐसा चित्र सामने रखती है जिसमें सारे रंग भरे जा चुके हैं। इस चित्र का उस सीमा तक विश्लेषण हो सकता है जहाँ तक हम उसे एक प्रतीक के रूप में समझ सकें। किन्तु यदि हमें उसमें कोई प्रतीकात्मक मूल्य न दिखाई दे, तो इसका यही अभिप्राय हुआ कि हमारे लिए उसका उतना ही अर्थ है जितना उससे स्पष्टतः व्यक्त है, दूसरे शब्दों में कृति जो दिखाई पड़ती है, उससे अधिक कुछ भी नहीं है। यहाँ मैंने 'दिखाई पड़ती है' का प्रयोग इसलिए किया है, कि यह सम्भव है कि हमारा पूर्वाग्रह चित्र का, कृति का व्यापक मूल्यांकन न करने दे। इस स्थिति में विश्लेषण के लिए हमें कोई भी प्रेरक हेतु नहीं मिलता। इसके विपरीत जब हम उसे ध्यान से देखते हैं, तो गेरहार्ड हाफ्टमैन^{१६७} के इन शब्दों में सूक्ति की प्रभाव-शक्ति व्यक्त होने लगती है—'कविता हमारे शब्दों के परदे के पार आदिम शब्द की दूरवर्ती प्रतिध्वनि है।' मनोविज्ञान की भाषा में इसे व्यक्त करें तो हमारा प्रथम प्रश्न होगा : कलाकृति में हम जिस बिम्ब का विकास देते हैं, उसे सामूहिक अचेतन के किस आदिम बिम्ब में खोजा जा सकता है ?

इस प्रश्न की कई तरह से व्याख्या अपेक्षित है। जैसा मैं पहले कह चुका हूँ, मैंने जो उदाहरण रखा है वह प्रतीकात्मक कला-कृति का है, एक ऐसी कृति जिसका स्रोत लेखक के व्यक्तिगत अचेतन में नहीं अपितु उन अचेतन पुराणों में है जिसके आदि रूप अखिल मानवता की विरासत हैं। इसी कारण

इस क्षेत्र को मैंने सामूहिक अचेतन का नाम दिया है, इस प्रकार मैं इसे वैयक्तिक अचेतन से पृथक् रूप में देखता हूँ। मेरी धारणा में वैयक्तिक अचेतन मनस् की उन प्रक्रियाओं और आधेयों का संकलन है जो केवल चेतना के लिए सुगम्य ही नहीं हैं, किन्तु जो स्वयं चेतन हो सकते हैं यदि वे दमित न हों, क्योंकि चेतन के द्वार के तले वे किसी कारण अस्वाभाविक रूप से दबे रहते हैं। इस क्षेत्र से भी कई धाराएँ फूटकर कला में मिलती हैं—वे मटमैली और पंकिल हो सकती हैं, किन्तु यदि उनमें अधिक वेग हुआ तो कला-कृति प्रतीकात्मक रचना होने की अपेक्षा रोग-लक्षणात्मक रचना होने लगेगी। इस प्रकार की कला को बिना किसी खेद अथवा हानि की सम्भावना के फ़ायड की विरेचन-पद्धति के लिए छोड़ा जा सकता है।

व्यक्तिगत अचेतन एक दृष्टि से चेतन के द्वार के ठीक तले का अपेक्षा-कृत छिछला-सा स्तर है, इसके विपरीत सामूहिक अचेतन सामान्य अवस्थाओं में चेतन से समायोजित नहीं होता। अतः किसी भी विश्लेषण-पद्धति के द्वारा उसे चेतन पुनः स्मृति की सीमा में नहीं लाया जा सकता, क्योंकि वह न तो दमित ही है और न विस्मृत। अपने आप में सामूहिक अचेतन का कोई अस्तित्व नहीं, दूसरे शब्दों में वह सम्भावना के अतिरिक्त कुछ भी नहीं, निःसन्देह वह सम्भावना जो आदिकाल से स्मृति को सहायता देने वाले बिंबों के निश्चित रूप में परम्परा से चली आई है, अथवा जो मस्तिष्क की रचना में उन रूप-संगठनों द्वारा व्यक्त होती है जो शरीर-रचना-शास्त्र का विषय है, वह जन्मजात विचार नहीं उपस्थित करती, किन्तु विचारों की अन्तरीण सम्भावनाओं को उपस्थित करती है। अत्यन्त साहसिक कल्पना-चित्रों को भी ये सम्भावनाएँ सीमा में रखती हैं। यह कल्पना-चित्र-निर्माण की क्रिया को कोटियों में बाँटती है, यह मानो कारण से कार्य समझने की प्रवृत्ति हुई। इन कोटियों का अस्तित्व अनुभव के बिना निर्देशित नहीं किया जा सकता। जब कोई सामग्री निश्चित रूप ले लेती है, तब वहाँ ये कोटियाँ रूप-विधान के नियामक सिद्धान्त बनाकर सामने आती हैं। दूसरे शब्दों में, सम्यक् सम्पादित कलाकृति से जो निष्कर्ष निकलता है, कार्य से कारण की जो उद्भावना होती है, केवल उसी के द्वारा आदि-बिम्ब के पुरातन आधार को फिर से खड़ा किया जा सकता है। यह आदि-बिम्ब अथवा मूल-बिम्ब एक रूपाकृति है, भले ही वह देव हो या मानव हो या कोई प्रक्रिया हो। यह रूपाकृति इतिहास की गति में वहाँ पुनरावर्तित होती है जहाँ सर्जनात्मक कल्पना-चित्र उन्मुक्त अभिव्यक्ति पाते हैं। अतएव मूलतः वह एक पौराणिक रूपाकृति है। यदि इन बिम्बों का

हम अधिक सूक्ष्म अध्ययन-अन्वेषण करें, तो हम देखेंगे कि वे हमारे पूर्वजों के असंख्य विशिष्ट अनुभवों के संचित-संकलित परिणाम हैं मानो वे एक ही प्रकार के अनगिनत अनुभवों के मथे हुए अवशेष हैं। वे कोटि-कोटि वैयक्तिक अनुभवों के पुंज हैं, जो मानस-जीवन का एक महान् चित्र उपस्थित करते हैं—ऐसा चित्र जो महाकाय पुराण-गाथाओं के विभिन्न रूपों में बँटा हुआ, बिखरा हुआ, प्रक्षेपित है। ये पौराणिक गाथाएँ अपने आप में भी सर्जनात्मक कल्पना-चित्रों की मूल संवेदनाएँ हैं, जो अभी तक पूरी तरह हमारी भाषाओं में शब्द-वद्ध नहीं हुई हैं। इस दिशा में कुछ क्लिष्ट प्रयत्न मात्र ही हुए हैं। इन धारणाओं से, जिनका अभी बहुत-कुछ सृजन करना है, उन अचेतन प्रक्रियाओं का एक सम्यक्, यद्यपि अमूर्त, वैज्ञानिक अध्ययन हो सकता है, जो आदि बिम्बों के मूल में अवस्थित हैं। इन बिम्बों में प्रत्येक के अन्दर एक मनोवैज्ञानिक एवं मानवीय नियति समाहित है, वह हमारे उस सुख-दुख की स्मृति है जिसे जन-जीवन की शाश्वत कहानी में हम बार-बार भोगते हैं, जिसकी प्रायः यही अबाध गति है। वह नदी के उस तल की तरह है जो आत्मा की गहराइयों में गड़ा हुआ है, जहाँ जीवन की धाराएँ, जो अब तक विशाल किन्तु उथली सतहों में भटकती हुई, अनिश्चित दिशा में बह रही थीं, सहसा एक प्रबल नदी का रूप ग्रहण करती हैं। यह उस समय घटित होता है जब परिस्थितियों की एक विशेष शृङ्खला, जो आदिकाल से मूल बिम्बों के निर्माण में योग दे रही थी, उभर कर सामने आती है। वह क्षण, जब पौराणिक परिस्थिति उपस्थित होती है, एक विशेष महत्त्व रखता है—उसमें एक अजीब भावात्मक तीव्रता होती है, ऐसा अनुभव होता है मानो हमारे अन्दर उन तन्त्रियों को छू दिया हो जिनके तार कभी नहीं बजे थे, अथवा मानो शक्तियों के ऐसे स्रोत मुक्त हो उठे हों, जिनके अस्तित्व की पहले कभी हमने कल्पना भी नहीं की थी। संयोजन का संघर्ष साध्य होता है, कारण, हमें सतत वैयक्तिक अर्थात् विशिष्ट अवस्थाओं का सामना करना पड़ता है। अतः कोई आश्चर्य नहीं यदि उस समय, जब कि एक ऐसी विशेष परिस्थिति उत्पन्न होती है, हम एक असामान्य उन्मुक्त शक्ति से भर उठते हों। उस समय ऐसा अनुभव होता है जैसे किसी दुर्दम शक्ति ने हमें अधीन कर लिया हो, या हम किसी दूसरे लोक में पहुँच गए हों। इन क्षणों में हम व्यक्ति मात्र नहीं रहते, हम जाति बन जाते हैं, सारी मानवता की आवाज हमारे अन्दर गूँज उठती है। एक व्यक्ति अपनी शक्तियों का भरपूर प्रयोग कभी नहीं कर सकता, जब तक कि उसे सामूहिक शक्ति-राशि से, जिसे आदर्शों की संज्ञा दी जाती है, कोई प्रेरणा न मिले—यह आदर्श सहज-

वृत्ति की अन्तर्हित शक्तियों को उसकी आत्मा में उन्मुक्त कर देता है। इन शक्तियों तक व्यक्ति का सामान्य चेतन संकल्प अपने आप नहीं पहुँच सकता। सबसे अधिक प्रभावशाली आदर्श मूल बिम्बों के प्रायः पारदर्शी रूप होते हैं। यह इस तथ्य से सिद्ध होता है कि इन आदर्शों को अन्योक्तियों के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है; उदाहरण के लिए, मातृभूमि को माता के रूप में रखना। इस प्रकार की अभिव्यक्ति में अन्योक्ति की स्वयं अपनी प्रेरक-शक्ति भी कम नहीं होती, यहाँ इसका स्रोत मातृभूमि-भाव के प्रतीकात्मक मूल्य में निहित है। यहाँ जो मूल बिम्ब है वह यह कि आदिम मनुष्य जिस धरती पर रहता है उसके साथ उसका रहस्यात्मक सम्बन्ध होता है, वह धरती के जीवन में भाग लेता है, उस धरती में उसके पूर्वजों की आत्मा समायी हुई है, उस धरती से निष्कासित होने पर वह यन्त्रणा भोगता है।

मूल बिम्ब के साथ प्रत्येक सम्बन्ध—भले ही वह अनुभव के द्वारा हो अथवा उच्चरित शब्द द्वारा—उत्तेजक होता है, अर्थात् उसमें प्रभाव-शक्ति होती है, वह हमारी आवाज़ से अधिक सशक्त आवाज़ पैदा करती है। जो व्यक्ति आदि बिम्बों में बोलता है वह सहस्र जिह्वाओं के द्वारा बोलता है, वह हमें सम्मोहित करता है, जीतता है। इसके साथ-साथ जिस विचार को वह व्यक्त करता है उसे सामान्य और क्षणभंगुर के परे शाश्वत के क्षेत्र में उठा देता है। वह वैयक्तिक नियति को मानव जाति की नियति में परिवर्तित कर देता है, इस प्रकार वह उन सभी मंगलमय शक्तियों को उद्बुद्ध करता है, जिन्होंने मानव जाति की प्रत्येक संकट में रक्षा की है और अँधेरी-से-अँधेरी रात में उसे जीवन का वल दिया है।

प्रभावशाली कला का यही रहस्य है। क्रियात्मक प्रक्रिया को जहाँ तक हम समझ सकते हैं, हम देखते हैं कि वह मूल बिम्ब के अचेतन रूप से प्राण-वान् होने में निहित है। और जब तक रचना पूर्ण नहीं हो जाती, बिम्ब के विकास और रूप-ग्रहण में यह प्रक्रिया समाहित रहती है। आदि बिम्ब का रूप-ग्रहण मानो वर्तमान की भाषा में पुरातन का अनुवाद है। इससे प्रत्येक व्यक्ति के लिए यह सम्भव होता है कि वह जीवन के उन गहनतम स्रोतों तक पहुँच सके, जो अन्यथा उसके लिए अगम हैं। इसी में कला का सामाजिक महत्त्व है, यह सर्वदा युग की आत्मा को शिक्षा देती रहती है, कारण, वह बार-बार उन रूपों को जन्म देती है जिनका युग में सर्वाधिक अभाव होता है। कलाकार वर्तमान से तृप्त नहीं होता, उसकी एषणा अचेतन के उस आदि बिम्ब का स्पर्श करती है, जो युग की आत्मा की एकांगिता एवं अपर्याप्तता को भर

सकती है, पूर्ण कर सकती है। कलाकार इस बिम्ब को ग्रहण करता है, गहनतम अचेतन से निकालकर उसे चेतन मूल्यों से सम्बद्ध करता है, इस प्रतिष्ठा की क्रिया में वह उसके रूप को बदल देता है, जिससे कि उसके समसामयिक अपनी शक्तियों के अनुरूप उसे ग्रहण कर सकें।

कलाकृति की प्रकृति से उसके युग के स्वरूप के सम्बन्ध में निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। यथार्थवाद और प्रकृतवाद का अपने युग के लिए क्या महत्त्व रहा है, उनकी क्या सार्थकता रही है? स्वच्छन्दतावाद अथवा ग्रीकवाद (हेलेनिज्म) का क्या अर्थ है? ये कला की प्रवृत्तियाँ हैं जो उस अचेतन तत्त्व को उत्तेजित करती हैं, जिसे युग का मनस् अपेक्षित मानता है, जिसकी ज़रूरत उसे महसूस होती है। 'युग-शिक्षक के रूप में कलाकार' इस विषय पर आज बहुत-कुछ कहा जा सकता है।

जिस प्रकार व्यष्टि-रूप में व्यक्ति की अपनी मनोवृत्ति होती है, उसी प्रकार समष्टि-रूप में लोक और युग की विशिष्ट प्रवृत्तियाँ अथवा दृष्टिकोण होते हैं। 'दृष्टिकोण' शब्द से ही उस अनिवार्य एकांगिता का भाव व्यक्त होता है जो प्रत्येक निश्चित प्रवृत्ति में निहित रहता है। जहाँ निर्दिष्टता है, वहाँ अपवर्जन भी है, बहिष्कार भी है। बहिष्कार का क्या अभिप्राय है? वे स्थिर मानसिक तत्त्व, जो साधारणतः जीवन से संपृक्त होते हैं, सामान्य दृष्टिकोण के साथ मेल न खाने पर पृथक् कर दिए जाते हैं। सामान्य व्यक्ति बिना किसी विशेष हानि के इस लोक-प्रवृत्ति को सह सकते हैं, भोग सकते हैं। किन्तु जो व्यक्ति, सामान्य लोगों से विपरीत, लोक-प्रवृत्ति के साथ समरस नहीं हो पाता, राज-पथ पर नहीं चल सकता, वह गलियों और कूचों की शरण लेता है। ऐसा व्यक्ति सबसे पहले उन तत्त्वों का आविष्कार करता है, शोध करता है, जो राज-पथ से दूर होते हैं और जीवन में नवीन भाग लेने की प्रतीक्षा करते हैं।

कलाकार में अनुकूलन-शक्ति का अपेक्षाकृत अभाव ही उसका यथार्थ गुण हो जाता है। यह उसे राज-पथों से दूर रखता है, उसे अपनी एषणा-सिद्धि का अवकाश देता है, और उसके अनजाने ही उन वस्तुओं को प्राप्त करता है जिनसे अन्य लोग वंचित रहते हैं। अतः जिस प्रकार व्यष्टि के जीवन में उसकी एकांगी चेतन प्रवृत्ति अचेतन प्रतिक्रियाओं द्वारा शोध-संस्कार या आत्म-नियमन की ओर उन्मुख होती है, उसी प्रकार कला में भी राष्ट्रों और युगों के जीवन में आत्म-नियमन की प्रक्रिया परिलक्षित होती है।

(‘कन्द्रीव्यूशन द्रु ऐनेलिटिकल साइकॉलोजी’)

अनुवादक—डॉ० मोहनलाल

सन्दर्भ-टिप्पणियाँ

१. प्लतोन (प्लेटो)

१. गोरगिअस (ई० पू० ४८६-३७६) :

दार्शनिक (सोफिस्ट) और भाषण-शास्त्री । अथेन्स में इसने अपनी वाग्मिता के कारण ख्याति अर्जित की । अपने प्रसिद्ध दार्शनिक प्रबन्ध में गोर-गिअस ने प्रमुखतः तीन स्थापनाएँ की थीं : (१) किसी भी वस्तु की सत्ता नहीं, (२) यदि किसी की सत्ता है भी तो वह अज्ञेय है, (३) यदि किसी वस्तु का ज्ञान हो भी जाए तो भाषा के द्वारा उसका संप्रेषण सम्भव नहीं । वह ऐसे गद्य का विकास करना चाहता था जिसका प्रभाव कविता से किसी भी तरह कम न हो ।

२. पोलस :

गोरगिअस का शिष्य । सोफिस्ट । जीवन के अन्तिम वर्षों में अपने गुरु की भाँति पोलस भी केवल भाषण-शास्त्र की शिक्षा देने लगा था । प्लतोन (प्लेटो) ने प्रायः उसका उल्लेख किया है । अरस्तू ने भी एक स्थान पर पोलस की चर्चा की है ।

३. किनेसिअस (४५०-३६० ई० पू०) :

अथेन्स का रौद्रस्तोत्रकार । ग्रीक-कामदी से वृन्द-गायन का उन्मूलन करने का दायित्व किनेसिअस पर था । उसकी कृतियों का कोई महत्त्वपूर्ण अंश उपलब्ध नहीं । अरिस्तोफनेस ने कई जगह उसका उल्लेख किया है और प्लुटार्ख ने (ग्रीक) संगीत के भ्रष्टकर्ता के रूप में उसका स्मरण किया है ।

४. थेमिस्तोकलेस (५२८-४६२ ई० पू०) :

अथेनी राजनीतिज्ञ । थेमिस्तोकलेस अहंकारी व्यक्ति था, परन्तु उसकी सामरिक प्रतिभा सर्वमान्य थी । फ़ारस के विरुद्ध यूनान की विजय का श्रेय प्रमुखतः उसी को था । उसकी नैसर्गिक नीति को प्राचीन लेखकों ने क्रान्ति-

मूलक अथेनी लोकतन्त्र की आधारशिला माना है ।

१. किमोन (४१२-४४६ ई० पू०) :

अथेनी राजनीतिज्ञ और सैनिक । मिल्लिअदेस का पुत्र । उसकी सबसे बड़ी सैनिक विजय ४६७-४६८ ई० पू० में एउर्युमेदोन युद्ध में हुई, जिसमें फ़ारसी पोतों का पूर्ण ध्वंस कर दिया गया और फ़सेलिस तक के यूनानी नगर उसके द्वारा स्थापित देलिअन-संघ में मिला लिये गए । फ़ारस के विरुद्ध उसका अन्तिम अभियान ४४६ ई० पू० में हुआ, जब उसने क्युप्रस (साइप्रस) को पुनः अपने आधिपत्य में कर लिया । इसी अभियान में उसकी मृत्यु हो गई ।

६. मिल्लिअदेस (४५०-४८६ ई० पू०) :

इसका सम्बन्ध फ़िलिडए के अभिजात अथेनी परिवार से था । थ्रेस-नरेश की कन्या हेगेसिपुल से उसका विवाह हुआ, जिससे उसे किमोन (दे० टिप्पणी सं० ५) नामक पुत्र की प्राप्ति हुई । आयोनियाई विद्रोह के बाद वह फ़ारस से भागकर अथेन्स लौट आया । यहाँ उस पर थ्रेस में 'अत्याचार' करने का आरोप लगाया गया, परन्तु उससे मुक्त होने के बाद वह वहाँ का सबसे प्रभावशाली राजनीतिज्ञ बन गया । उसने अपने राज्य में नौसैनिक विस्तार की नीति का सूत्रपात किया और परोस पर आक्रमण का नेतृत्व किया । वहीं एक घाव लग जाने से कुछ समय पश्चात् उसकी मृत्यु हो गई ।

७. पेरिक्लेस :

अथेन्स का महान् राजनीतिविद् जिसने ४६० ई० पू० से ४२६ ई० पू० तक राज्य का संचालन किया । उसके प्रशासन-काल में अथेन्स की शक्ति अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गई थी ।

८. सोफ़ोक्लेस (४६६-४०६ ई० पू०) :

अथेन्स का विख्यात कवि और त्रासदीकार । कहा जाता है कि उसने १२० नाटकों की रचना की थी, जिनमें से अब केवल ७ उपलब्ध हैं । इनमें अजक्स, अंतिगोने और ओइदिपूस न केवल ग्रीक-साहित्य के सर्वश्रेष्ठ नाटक हैं, बल्कि विश्व-साहित्य की सर्वोत्कृष्ट उपलब्धियाँ हैं ।

९. एउरिपिदेस (४८०-४०६ ई० पू०) :

महान् अथेनी त्रासदीकारों की त्रयी में सबसे अल्पायु और आधुनिक

विचार-सम्पन्न साहित्यकार । उसके नाटकों की सबसे बड़ी विशेषता है मान-वीय गुणों का अन्तर्भाव । उसने प्रायः ६० नाटक लिखे, जिनमें से कुछ ही उपलब्ध हैं । कामदी-कवि अरिस्तोफनेस ने उसका बहुत उपहास किया है ।

१०. फएद्रस (४५०-४०० ई० पू०) :

अथेन्स-निवासी । सुकरात सम्प्रदाय का दार्शनिक । वह सुकरात का शिष्य तो न था परन्तु सुकरात-मंडल का एक सदस्य अवश्य था । प्लेटो के संवादों में उसका व्यक्तित्व एक उत्साही और सहज-सरल व्यक्ति के रूप में उभरता है ।

११. ल्युसिअस (४५८-३६० ई० पू०) :

ल्युसिअस का भाषा पर असाधारण अधिकार था, अतः उसने बोलचाल की भाषा को ऐसे साहित्यिक माध्यम के रूप में ढाल लिया था जो अपनी अन्वर्थता और सरलता में अद्वितीय थी । वह अप्रचलित और काव्योचित शब्दों का प्रयोग नहीं करता था । उसकी शैली संयत थी और उसके स्वरों में उत्तेजना का पुट कहीं-कहीं ही आने पाता था । उसकी वाणी की इस समगति और साधारण स्तर को यहाँ (प्लेटो द्वारा) भाषण-कला के लिए उपयुक्त दिशा नहीं माना गया ।

१२. थ्रस्युमकस (४३०-४०० ई० पू०) :

भाषण-शास्त्री । थ्रस्युमकस ने इस स्थापना का समर्थन किया था कि बलवान का हित ही न्याय है । यूनानी वक्तृत्व-कला के विकास में थ्रस्युमकस ने महत्त्वपूर्ण योग दिया था परन्तु प्लेटो ने उसकी कला-प्रवृत्तियों को भी स्वस्थ नहीं माना है ।

१३. अनक्सगोरस (५००-४२८ ई० पू०) :

क्लजोमेनए का निवासी और अथेन्स में निवास करने वाला प्रथम दार्शनिक । वह ३० वर्ष तक अथेन्स में रहा । वह पेरिक्लेस का मित्र और शिक्षक था और जब पेरिक्लेस के शत्रुओं ने उस पर भ्रष्टा तथा 'फारस-बन्धुता' का दोषारोपण किया तो वह पेरिक्लेस की सहायता से पलायन करके लम्पस्क्स में आ गया जहाँ उसने एक विद्यापीठ की स्थापना की । मृत्यु के समय जनता में उसे बड़ा सम्मान और आदर प्राप्त था ।

१४. होमेरस (होमर) :

‘इलिअद’ (इलियड) तथा ‘ओडुस्सेइआ’ (ओडिसी) नामक महाकाव्यों का प्रणेता प्रख्यात यूनानी कवि । जीवन-काल संदिग्ध । अब तक के शोध के आधार पर अनुमानतः ई० पू० ९वीं, १०वीं शताब्दी के मध्य वह विद्यमान था । वह विलक्षण अन्तर्दृष्टि से सम्पन्न, मानव-मन की सूक्ष्मतम अनुभूतियों का अद्वितीय व्याख्याकार था । उसकी गणना विश्व के सर्वोत्कृष्ट कवियों में होती है ।

१५. अस्क्लेपिअस :

उपचार का देवता; इलिअद में अस्क्लेपिअस का उल्लेख मर्त्य किन्तु ‘अनवद्य चिकित्सक’ के रूप में हुआ है ।

१६. ल्युकरगस :

स्मार्ता के संविधान और सैनिक व्यवस्था का परम्परा-प्रसिद्ध संस्थापक । कुछ विद्वान् ल्युकरगस के ऐतिहासिक व्यक्ति होने में सन्देह करते हैं, परन्तु कुछ अन्य इतिहास-विद्वान् उसे ऐतिहासिक व्यक्ति स्वीकार करते हैं । कुछ विज्ञान इसी नाम के एक देवता से उसका तादात्म्य करते हैं । इस तथ्य से कि ल्युकरगस की उपासना देवता के रूप में होती थी, एक वीर पुरुष के रूप में नहीं—यह दृष्टिकोण पुष्ट होता है कि संविधाता के रूप में प्रतिष्ठित होने से पहले कदाचित् उसकी प्रतिष्ठा एक देवता के रूप में रही होगी ।

१७. खरोनदस :

खरोनदस का समय कदाचित् छठी शताब्दी ई० पू० था । अपने नगर का वह विधान-निर्माता था । अरस्तू ने खरोनदास के विधान की अनुगुणता की प्रशंसा की है पर सम्भव है कि उसने बाद के नियमों को भी खरोनदस के नाम से जोड़ लिया हो । उसके नियमों का सम्बन्ध पारिवारिक अधिकारों से ही अधिक था । परन्तु इनमें जीवन के सभी अंगों का समावेश हो गया है । यह तो निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि उसने किसी नए संविधान की प्रतिष्ठा की परन्तु यह निश्चित है कि वह अभिजात-तन्त्र का पोषक था ।

१८. सोलोन (६४०-६३५ ई० पू०) :

अथेनी राजनीतिज्ञ और कवि । जब सोलोन को आर्खन (दंडपाल)

नियुक्त किया गया तो उसने सब ऋणों और बन्धनों का अपाकरण करके सबसे पहले किसानों और उनकी भूमि को मुक्त कर दिया और इस बात की वर्जना कर दी कि भविष्य में दासत्व स्वीकार करके कोई भी ऋण न ले। उसके इस सुधार का बड़ा स्थायी प्रभाव पड़ा।

१६. थलेस :

मिलेतुस-निवासी। उसकी गणना परम्परा-सिद्ध सप्तर्षियों में की जाती है। राजनीतिज्ञ के रूप में उसने तेओस में एक संघ-परिषद् की स्थापना करके आयोनिया-निवासियों को फारस-निवासियों के आक्रमण का प्रतिरोध करने का परामर्श दिया। उसका विचार था कि सृष्टि का न केवल उद्गम जल से है वरन् वह जलमय ही है और जल में ही विलीन हो जाती है और उसी पर तिरती रहती है। इसी सूत्र से भौतिक विज्ञान का आरम्भ माना जाता है।

२०. अनखारसिस (६०० ई० पू०) :

एक शीथियाई सन्त। चौथी शती ई० पू० और तदुपरान्त उसका नाम परम्परा-सिद्ध सप्तर्षियों में गिना जाता रहा है। वह अथेन्स भी गया था और वहाँ सोलोन से उसका परिचय हो गया था। अपने देशवासियों के अज्ञान और मूर्खता की तुलना में उसकी अपार बुद्धिमत्ता और ज्ञान उसके यश का आधार था।

२१. प्रोतगोरस (समय कदाचित् ४८५-४१५ ई० पू०) :

अब्देरा-निवासी। सोफिस्ट स्कूल के प्रथम और सफल आचार्यों में से एक। उसका दावा था कि वह सद्वृत्ति की शिक्षा देता है परन्तु उसकी इस सद्वृत्ति को जीवन के आचरण में 'सक्षमता' कहें तो अधिक उपयुक्त होगा। वह सच्चरित्र व्यक्ति था और सर्वत्र उसका सम्मान था।

२२. प्रोटिकस :

केओस का सोफिस्ट। सुकरात का समसामयिक। उसके जीवन के सम्बन्ध में प्रामाणिक ज्ञान अत्यन्त अपर्याप्त है। इतना ही निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि उसने बड़ी ख्याति अर्जित कर ली थी और जहाँ कहीं उसे शिक्षक के रूप में आमन्त्रित किया जाता था वहाँ से वह अपार राशि शुल्क के रूप में लेता था। शब्दों के अन्वर्थ प्रयोग एवं सम्बद्ध शब्दों के सूक्ष्म भेद-प्रभेदों

की व्याख्या में वह बड़ा दक्ष था। प्लेटो के अनुसार वह सुकरात का मित्र था और सुकरात ने उसके प्रवचनों की सराहना की है—यद्यपि उसमें कहीं-कहीं व्यंग्य का पुट भी रहता है।

२३. देसिओद (कदाचित् ८वीं शती ई० पू०) :

ग्रीक के आदि कवियों में से एक।

२. अरिस्तोतेलेस (अरस्तु)

२४. जेउक्सिस :

सिसिली का विख्यात चित्रकार। समय लगभग ४६८ ई० पू०। अपने समसामयिक चित्रकारों में सर्वाधिक प्रतिष्ठित एवं मान्यता-प्राप्त।

२५. पोल्युग्नोतस :

अत्यन्त कलासिद्ध यूनानी चित्रकार। समय लगभग ४२२ ई० पू०। मूलतः थीसियाई होने पर भी इसे अथेन्स के नागर-अधिकार प्राप्त थे। अथेन्स के एक जनद्वार पर इसने त्रौइआ (ट्राय)-युद्ध के अत्यधिक मर्मस्पर्शी चित्र अंकित किए थे। इसकी कलाकृतियाँ सुकुमार भावाभिव्यंजना और जीवन्तता से समृद्ध हैं। अथेन्स-निवासी इसकी कला के प्रति इतने आसक्त थे कि उसे पुरस्कार-स्वरूप कुछ भी देने को प्रस्तुत थे, पर कला का निष्काम साधक होने के नाते पोल्युग्नोतस ने कुछ भी ग्रहण करने से इन्कार कर दिया। अन्त में उसके निर्वाह का दायित्व तत्कालीन शासन-व्यवस्था ने अपने कन्धों पर ले लिया।

२६. ओइदिपूस (ईडिपस) :

थेबेस के शासक लइउस तथा महारानी जोकास्ता की अभिशप्त सन्तान, जिसके विषय में किसी ज्योतिषी ने भविष्यवाणी की थी कि वह पितृहन्ता होगा, और अपनी माँ से विवाह करेगा। यह अभिशाप कालान्तर में परिस्थितिवश अनजाने ही प्रतिफलित हुआ और इसका ज्ञान होने पर ओइदिपूस ने आत्मग्लानि के वशीभूत हो आत्महत्या कर ली। प्रख्यात त्रासदीकार सोफोक्लेस ने इस कथानक पर एक अत्यन्त मर्मस्पर्शी त्रासदी की रचना की है। ओइदिपूस के जीवन की इसी परिस्थिति के आधार पर आधुनिक मनोविश्लेषण-शास्त्री फ्रायड ने ओइदिपूस-ग्रन्थि (मातृ-रति) के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है।

२७. मेदेआ :

यूनानी पुरागाथाओं में उल्लिखित कोलखिस के शासक की पुत्री जो जादूगरनी थी। कोलखिस-आगमन पर जेसन मेदेआ के प्रणय-पाश में आवद्ध हो गया। मेदेआ के सहयोग से जेसन उसके पिता द्वारा उपस्थित सभी व्यवधानों को पराजित कर मेदेआ को अपने पिता के देश ले गया। तत्पश्चात् दोनों को किसी कारणवश कोरिन्थ पलायन करना पड़ा जहाँ जेसन ने किसी राजकुमारी के प्रति आसक्त होकर मेदेआ का परित्याग कर दिया। परिशोध की ज्वाला से संतप्त होकर मेदेआ ने अपने दोनों पुत्रों और ग्लाउसी-राजकुमारी—का वध कर दिया। फिर उसने थेसिअस के पिता से विवाह कर लिया। थेसिअस का अपने पिता पर प्रभाव न पड़े, इसलिए उसे ज़हर दिलाने का षड्यन्त्र रचा। अन्त में वह भागकर एशिया चली गई। वह एउरिपिदेस की एक त्रासदी की प्रमुख पात्री है।

२८. ईलिअद :

होमेरस (होमर) द्वारा प्रणीत सुप्रसिद्ध महाकाव्य जिसमें त्रौइआ (ट्राय)-युद्ध को कथानक के रूप में ग्रहण किया गया है।

२९. त्रौइआ (ट्राय) :

होमर के सुप्रसिद्ध काव्य-ग्रन्थ 'ईलिअद' में राजा प्रिअम की राजधानी। स्पार्टा के राजा मेनेलस की पत्नी हेलेन को प्रिअम का पुत्र पेरिस भगाकर ले आया था और यूनानी उसे प्राप्त करने के लिए दस वर्ष तक त्रौइआ पर घेरा डाले रहे थे। त्रौइआ का यह युद्ध अनेक पाश्चात्य काव्य-ग्रन्थों का विषय रहा है।

३०. ओद्युस्सेइआ (ओडिसी) :

होमेरस (होमर) का सुप्रसिद्ध महाकाव्य; इसमें ओद्युस्सेस के जीवन की चौबीस साहसपूर्ण घटनाओं का उल्लेख है।

- | | |
|--------------------|--|
| ३१. म्युन्निस्कस : | } यहाँ अरस्तू ने कुछ ऐसे प्राचीन कलाकारों और अभिनेताओं का नामोल्लेख किया है जिनके विषय में किसी सन्दर्भ-ग्रन्थ में कोई तथ्य उपलब्ध नहीं। |
| ३२. कल्लिपिदेस : | |
| ३३. पिन्दरस : | |

३. लोंगिनुस (लांजाइनस)

३४. तेरेन्तिअनुस :

एक सुशिक्षित रोमी विद्वान् और लोंगिनुस का मित्र (विशेष विवरण अप्राप्य) ।

३५. देमोस्थेनेस :

समय ३८३-३१२ ई० पू० । यूनान का सुप्रसिद्ध वक्ता ।

३६. कएकिलिडस :

ग्रागस्टस सीज़र के समय में सिसिली का एक भाषण-शास्त्रकार, विद्वान् और शिक्षक । उसकी रचनाएँ इतिहास और साहित्यालोचन दोनों ही विषयों पर उपलब्ध हैं ।

३७. अलोअदए (ओतुस और एफिआल्तेस) :

यूनानी पुरागाथाओं में अलोएडस के दैत्य-पुत्र जिन्होंने देवताओं पर आक्रमण किया था ।

३८. ओल्युम्पस :

यूनान और मकेदोनिया को विभाजित करने वाली पर्वत-श्रेणी के पूर्वी सिरे पर स्थित ऊँचा पहाड़ जिसे यूनानी पुराकथाओं में देवताओं का आवास माना गया है ।

३९. ओस्सा :

थेस्साली का एक ऊँचा पहाड़ । दैत्यों ने स्वर्ग तक पहुँचने के प्रयत्न में पेलिओन को इसके ऊपर रख लिया था ।

४०. पेलिओन :

यह भी थेस्साली के एक पर्वत का नाम है जिसे ओस्सा पर स्थापित कर दानवों ने (देवताओं से लड़ते हुए) स्वर्ग तक पहुँचने का प्रयत्न किया था ।

४१. अजक्स :

त्रौइआ-युद्ध में यूनान का सुप्रसिद्ध योद्धा । अखिल्लेस (एचिलीज) के

पश्चात् वीरता में उसी का नाम आता है। उसको लेकर सोफ्रोक्लेस ने एक त्रासदी की रचना भी की है। अजक्स के जीवन के विषय में अनेक कथाएँ प्रचलित हैं।

४२. सैफो :

ईसा से लगभग ६०० वर्ष पूर्व की यूनानी कवयित्री, जो अपने सौंदर्य, काव्य-प्रतिभा और प्रणय-निष्ठा के लिए विख्यात है। अन्य स्फुट कविताओं के अतिरिक्त उसने गीति-काव्य के नौ ग्रन्थों की रचना की है। मृत्यु के बाद उसके नाम पर मन्दिरों का निर्माण हुआ और उसकी आकृति सिक्कों पर अंकित की गई।

४३. थेयोदोरस :

गदरवासी एक भाषण-शास्त्रकार।

४४. पाइरिकस :

लघु-लघु क्रम से युक्त द्विमात्रिक पद।

४५. ट्रोकी :

गुरु-लघु क्रम से युक्त द्विमात्रिक पद।

४६. डाइकोरीस :

दुहरे गुरु-लघु क्रम से युक्त चतुर्मात्रिक पद-रचना।

४. होरेस

४७. पिसो :

पूरा नाम ल्युसिअस कैलपेनियस पिसो; कवि अन्तिपेतर का संरक्षक। एक भीषण विद्रोह का दमन करने के लिए इसे श्रोस बुलाया गया था, जहाँ इसे तीन वर्ष इस कार्य में लगे। होरेस ने इसे और इसके पुत्रों को ही यहाँ सम्बोधित किया है।

४८. वर्जिल (७०-१९ ई० पू०) :

लेटिन का मूर्धन्य कवि। होरेस का मित्र। साहित्य-सृजन के क्षेत्र में वर्जिल थेओक्रियुस, हेसिओद और होमर का ऋणी है, पर उसने अन्धानुकरण

इनमें से किसी का भी नहीं किया। लेटिन के षट्पदी छन्द को वर्जिल ने साँचे में ढालकर उदात्त भावाभिव्यक्ति का माध्यम बनाया, जिसका सौष्ठव अप्रतिम है। लेटिन कविता में वर्जिल की स्थिति वही है जो गद्य में सिसरो की। वर्जिल की लोकप्रियता उसके अपने युग से आज तक सर्वोपरि रही है।

४६. वैरियस (७४-१४ ई० पू०) :

आगस्टस-युग के लेटिन कवियों में अग्रणी। होरेस और वर्जिल का मित्र। वर्जिल की मृत्यु के पश्चात् वैरियस ने उसकी अपूर्ण कृति 'अयेनेइमद' का सम्पादन किया था।

५०. कैसीलियस (२१६-१६६ ई० पू०) :

रोम में अपने समय का प्रमुख कामदीय नाट्यकार। वह ईनिअस का मित्र था। सेदिगितुस ने रोमी कामदीकारों में उसे सर्वप्रथम स्थान दिया है।

५१. प्लौटस (२५४-१४८ ई० पू०) :

रोमन रंगमंच की सर्वाधिक मौलिक प्रतिभा। कामदीय नाट्यकारों में प्लौटस मोलियर और अरिस्तोफनेस के स्तर का लेखक है। उसकी नाट्य-शक्ति टेरेंस और मेनान्दर से उत्कृष्ट है परन्तु उसमें वैसे परिष्कार का अभाव है। उसका हास्य जानदार होता है।

५२. कैटो (२३४-१४६ ई० पू०) :

रोमी गद्य का प्रवर्तक। वह ग्रीक सभ्यता के प्रभाव का घोर विरोधी था। इतिहास, वक्तृता और प्राविधिक विषयों की दृष्टि से कैटो की बड़ी महत्ता है। भाषणकर्ता के लिए उसका महत्वपूर्ण सूत्र था : 'भाव पर अपना ध्यान केन्द्रित रखो, शब्द स्वयं आएँगे।'।

५३. ईनिअस :

आदि रोमी कवियों में सबसे महान्। ईनिअस की प्रतिभा बहुमुखी थी। उसने साहित्य का कोई भी क्षेत्र अछूता नहीं छोड़ा, परन्तु त्रासदी के क्षेत्र में उसने विशेष सफलता पाई। क्विण्टिलियन ने उसके काव्य के विषय में कहा है कि वह पुरातन वृक्ष की भाँति है जिसमें सौन्दर्य की अपेक्षा गरिमा अधिक होती है।

५४. थ्युएस्तेस :

वैरियस-कृत त्रासदी । पुराण-गाथाओं के अनुसार यह अत्रेउस का भाई था । अत्रेउस से इसका वैमनस्य था क्योंकि उसकी पत्नी एरोपे के साथ थ्युएस्तेस का अवैध सम्बन्ध था । अत्रेउस ने उससे समझौते का बहाना किया और उसके उपलक्ष्य में जो भोज दिया उसमें थ्युएस्तेस के पुत्रों का माँस परोसा गया ।

५५. खे मेस :

टेरेस की नाट्य-कृति 'यूनखस' का एक पात्र । टेरेस की कामदियों में वृद्ध पात्रों को कई जगह यह नाम दिया गया है ।

५६. तेलेफुस :

हेराक्लेस और अउगे का पुत्र । धर्मस्थान में प्रसव करने के कारण उसके नाना राजा अलेउस ने उसे फिकवा दिया और अउगे को अन्यत्र विक्रय के लिए दे दिया । वह राजा तेउत्रास की पत्नी बनी । कालान्तर में तेलेफुस भी बड़ा होकर वहीं पहुँचा और संयोग की बात कि उसका विवाह अपनी माता से होने वाला ही था कि उनका सम्बन्ध प्रकट हो गया । बाद में तेलेफुस म्युसिआ का राजा हो गया । यूनानी सेना ने जब त्रौइआ पर अभियान किया तो मार्ग में उसकी राजधानी को त्रौइआ समझकर उस पर आक्रमण किया । तेलेफुस ने युद्ध किया, वह अखिल्लेस के द्वारा घायल हुआ और बाद में उसी के उपचार से स्वस्थ हो गया ।

५७. पेलेउस :

यूनानी पुराण-कथाओं के अनुसार ऐआकुस का पुत्र । इसने अपने सौतेले भाई का वध कर दिया था जिसके कारण इसके पिता ने इसका निष्कासन कर दिया । पिथिआ पहुँचने पर एउयुर्तिओन ने इसे पापमुक्त करके अपनी पुत्री से इसका विवाह कर दिया । परन्तु एक बार दुर्भाग्यवश शिकार खेलते समय इससे गलती से एउयुर्तिओन की हत्या हो गई; तब इसका पुनःनिष्कासन किया गया ।

५८. अखिल्लेस :

पेलेउस और थेतिस का पुत्र तथा त्रौइआ-युद्ध का सर्वप्रमुख योद्धा । अखिल्लेस को उसकी माँ ने शैशव में पवित्र नदी में स्नान कराया था जिसके

फलस्वरूप उसका समस्त शरीर अभेद्य हो गया था। केवल उसकी एड़ी का वह भाग जहाँ से उसकी माँ ने उसे पकड़ रखा था, नदी के जल में न डूबने के कारण दुर्बल रह गया। इसी एड़ी पर आघात होने से उसकी मृत्यु हुई। त्रौद्धा-युद्ध में प्रारम्भ में अपमान होने के कारण उसने लड़ना अस्वीकार कर दिया था पर अन्त में क्रुद्ध हो उसने समस्त शत्रुदल का विनाश कर डाला। होमेरस (होमर) के प्रसिद्ध काव्य 'ईलिअद' का नायक अखिल्लेस ही है।

५६. ईनो .

कदमस की पुत्री और अथमस की विवाहिता पत्नी।

६०. इक्सिओन :

यह थ्रेस का निवासी था। इसने दिआ से विवाह किया किन्तु वधू का मूल्य माँगने पर इसने उसके पिता को छल द्वारा प्रज्वलित अग्निकुण्ड में डलवा दिया। पातक से मुक्ति प्राप्त करने के लिए यह जेउस की शरण में गया किन्तु वहाँ किसी का शीलभ्रष्ट करने के दण्डस्वरूप इसे पाताल में जलते हुए पहिये के साथ बाँध दिया गया।

६१. ईओ :

यूनानी पुराण-गाथाओं के अनुसार हेरा की पुरोहितानी। जेउस इससे प्रेम करता था। परन्तु हेरा से गुप्त रखने के लिए उसने इसे गाय बना लिया था, फिर भी हेरा के द्वारा उसमें भाँति-भाँति की बाधाएँ उत्पन्न की गईं। अन्त में जब वह भटकती हुई मिस्र पहुँची तब जेउस ने उसे अपने हाथ के स्पर्श से वास्तविक रूप प्रदान किया और उससे ईओ को पुत्र की प्राप्ति हुई।

६२. ओरेस्तेस :

अगमेमनोन और क्ल्युतेम्नेस्त्रा का पुत्र, ईफिगेनिया का भाई। क्ल्युते-म्नेस्त्रा और ऐगिस्थस ने मिलकर अगमेमनोन की हत्या कर दी। ओरेस्तेस किसी तरह अपनी माँ के हाथ से वच निकला। इसका पालन-पोषण इसके चाचा ने अपने पुत्र के साथ किया। दोनों में बड़ी घनिष्ठता थी। बड़े होकर ओरेस्तेस ने अपनी माँ एवं पिता के हत्यारे—दोनों को मार डाला। मातृहत्या के दोष की निवृत्ति के लिए एक देवदूत ने निर्देश किया कि 'अर्तमिस' की मूर्ति यूनान लाने से उसकी पाप-मुक्ति हो सकेगी।

६३. अन्तिफनेस (३८८-३११ ई० पू०) :

प्रसिद्ध कामदीकार जिसे देमोस्थनेस ने अथेनी नागरिकता प्रदान की थी। इसकी अनेक कृतियाँ हैं जिनकी विषय-वस्तु में बड़ी विविधता है।

६४. क्युकलोप्स (= चक्राक्षि) [ग्रीक-क्युकलोस=चक्र, ओप्स=अक्षि] :

एक विशेष दैत्य-जाति जिनके माथे के बीच में केवल एक आँख हुआ करती थी।

६५. स्क्युला :

एक जलपरी जिससे पोसेइदोन प्रेम करता था। अम्फित्रिते ने ईर्ष्याविश जहाँ स्क्युला स्नान करती थी वहाँ कुछ ऐसी जादू की ओषधियाँ रख दीं जिनके कारण उसका शरीर एक भीषण दैत्य का-सा हो गया। उसके पश्चात् वह नाविकों के लिए भय का कारण बन गई क्योंकि वह उधर से गुजरने वाले नाविकों को पकड़कर खाने लगी।

६६. खार्युबदिस :

सिसिली के तट पर, मेसिना की खाड़ी में स्क्युला के बिल्कुल सामने पड़ने वाला एक भीषण जलभँवर। कहते हैं खार्युबदिस एक अत्यन्त धनलिप्सु नारी थी जिसने हेरकुलेस के बैल चुरा लिए थे। इस चौर-कर्म से क्रुद्ध होकर जेउस ने उस पर वज्र-प्रहार किया और वह एक जल-आवर्त के रूप में परिणत हो गई।

६७. मेलेअजर :

यह कैलिदोन के राजा ओनिउस और अथेलिया का पुत्र था। उसके जन्म के अवसर पर भविष्यवाणी की गई थी कि वह असाधारण रूप से शक्तिमान और पराक्रमी होगा। अत्रोपोस ने घोषित किया कि जब तक एक विशेष लकड़ी, जो उस समय अग्नि में थी, जलती रहेगी, वह आपदाओं से मुक्त रहेगा। यह सुनकर उसकी माँ ने वह लकड़ी उठा ली और सँभाल कर रख ली। जब इसने एक रीछ के शीश के लिए अपने मामाओं से भगड़ा हो जाने पर उनका वध कर दिया, तो अपने भाइयों के शोक में विह्वल होकर उसकी माँ अथेलिया ने वह लकड़ी जलती हुई अग्नि में डाल दी। जब वह जलकर निःशेष हो गई तो इसके जीवन का भी अन्त हो गया।

६८. दियोमेद :

त्रौड्आ-युद्ध का एक प्रमुख योद्धा । ओदयुस्सेइआ के साथ मिलकर इसने अनेक साहसिक कार्य सम्पन्न किए । त्रौड्आ से लौटने के पश्चात् उसे ज्ञात हुआ कि उसकी पत्नी आएगिआलिआ विश्वासघातिनी है । तब वह इटली चला आया । मृत्यु पर उसे वीरोचित सम्मान की प्राप्ति हुई ।

६९. अत्रेउस :

देखिए—टिप्पणी सं० ५४ : थ्युएस्तेस ।

७०. प्रोकने :

अथेनी राजा पनदिओन की दो पुत्रियों में से एक—प्रोकने—अ्रेस-नरेश तेरेउस को व्याही थी । तेरेउस ने प्रोकने के मर जाने की अफवाह उड़ाकर दूसरी पुत्री फिलोमेला को भेजने की प्रार्थना अथेन्स-नरेश से की । उसके आ जाने पर तेरेउस ने उसके साथ बलात्कार किया फिर उसकी जीभ काट दी ताकि वह किसी को अपनी कण्ठ कथा न सुना सके । इसका प्रतिशोध लेने के लिए प्रोकने ने तेरेउस को भोजन में विष देने का प्रयत्न किया परन्तु उसे किसी तरह यह भेद ज्ञात हो गया । इस पर उसने दोनों बहनों को दण्ड देना चाहा परन्तु देवताओं ने उन तीनों को ही पक्षियों में परिणत कर दिया ।

७१. कादमस :

त्युरे-नरेश अगेनोर का पुत्र । वृद्धावस्था में यह और इसकी पत्नी हरमोनिया इत्युरिया चले गए थे और बाद में सर्पों में परिणत हो गए थे ।

७२. दिमोक्रतुस (४६० ई० पू०) :

अवदेरा का एक अत्यन्त सम्पन्न नागरिक । इसके देश-विदेशाटन की कथाएँ विविध सूत्रों से उपलब्ध होती हैं । कहते हैं वह अथेन्स भी गया था जहाँ सुकरात से उसकी भेंट हुई थी । अपने जीवन-काल में ही अपने अगाध ज्ञान के कारण उसका नाम 'प्रज्ञा' पड़ गया था और बाद में 'विहसित दार्शनिक' कहकर उसका उल्लेख किया गया है । अरस्तू ने उसके विचारों का काफ़ी सम्मान किया है । सिसैरो ने अलंकृति, गतिमत्ता और प्रसादत्व के कारण उसकी शैली की प्रशंसा की है ।

७३. हेलीकोन :

बोयोतिया का सबसे बड़ा पर्वत । एक आयोनी मन्दिर, रंगशाला, कला की देवियों की मूर्तियाँ आदि यहाँ उपलब्ध हैं । यहाँ तात्पर्य परम कलात्मक सिद्धि की ओर जाने वाले मार्ग से है ।

७४. खोएरिलस :

एस्ख्युलस, सोफोक्लेस और एउरिपिदेस से पूर्व के उल्लेखनीय यूनानी त्रासदीकारों में खोएरिलस का भी नाम आता है । खोएरिलस हेरोदोतस का मित्र था । खोयरिलस की महत्ता यह है कि उसने पौराणिक विषय के बजाय ऐतिहासिक विषय—ईरानी युद्धों—को लेकर महाकाव्य की रचना की । खोय-रिलस के सम्बन्ध में विशेष जानकारी प्राप्त नहीं । होरेस ने उसका स्मरण प्रशंसा के निमित्त नहीं किया ।

७५. मेसाला :

प्राचीन रोमी अभिजात-तन्त्र का एक सदस्य जिसने फिलिपी में रिप-ब्लिकन-पक्ष की ओर से युद्ध में भाग लिया था । वह प्रतिष्ठित वक्ता और लेखक था और साहित्यकारों के एक मण्डल का संरक्षक था ।

७६. मायसिडस :

नाट्य-उपस्थापन की अनुमति देने वाला अधिकारी ।

५. जॉन ड्राइडन

७७. लार्ड बकहर्स्ट : (१६३८-१७०६) :

कवियों के मित्र और संरक्षक । प्रौढ़ावस्था में सार्वजनिक कार्यों में सफलता पाई । ड्राइडन ने कवि के रूप में भी इनकी प्रशंसा की है ।

७८. गोरबोडक :

अंग्रेजी की आरम्भिक त्रासदियों में से एक । इसके प्रथम तीन अंक टामस नार्टन द्वारा लिखित हैं और अन्तिम दो टामस सैकविल (लार्ड बकहर्स्ट के पूर्वज) द्वारा ।

७९. बर्कले : (१५८२-१६२१ ई०)

इनके पिता स्काटलैंड-वासी और माँ फ्रांसीसी थी । इन्होंने अपने रम-

न्यासों—यूफोरमिओनिस, सैटाइरिकोन तथा आरजैनिस—की रचना लेटिन भाषा में की है। बर्कले लेटिन में साहित्य-सृजन करने वाले उस युग के प्रतिनिधि सार्वजनीन लेखक हैं।

८०. वाकर : (१७८४-१८३६ ई०) :

यह 'द ओरिजिनल' नामक साप्ताहिक पत्र—जिसके २६ अंक प्रकाशित हुए—के लेखक के रूप में विख्यात हैं। इस पत्र के प्रत्येक अंक में विविध विषयों पर लघु निबन्धों का समावेश रहता था। इस का उद्देश्य था, 'धर्म, राजनीति, नीति और आचार के सर्वाधिक रोचक अंगों और उपांगों पर पूर्ण शक्ति-मत्ता के साथ और संक्षेप में विचार।'।

८१. सर जॉन डनहम : (१६१५-१६६६ ई०) :

इनका जन्म डवलिन में हुआ और शिक्षण ट्रिनिटी कॉलिज, आक्सफोर्ड में। इनकी मुख्य कृति 'टोपोग्राफिकल' कविताओं (ऐसी कविताएँ जिनमें किसी वस्तु का इस प्रकार सर्वांग चित्रण किया जाए, जैसे वे वहीं उपस्थित हों) का संकलन है। इनका 'कूपर्ज हिल' महाकाव्य १६४२ ई० में प्रकाशित हुआ, जिसमें दृश्य-वर्णन का चिन्तन तथा नैतिक, ऐतिहासिक और राजनीतिक तत्त्वों के साथ अद्भुत संयोग है।

८२. विलियम डेवनेंट : (१६०६-६८ ई०) :

सत्रहवीं शती के कवि-नाटककार। १६३८ ई० में राजकवि के पद पर प्रतिष्ठित किए गए। अपनी कृति 'सीज आफ़ रोड्स' से उन्होंने अंग्रेज़ी ऑपेरा का प्रवर्तन किया।

८३. सीज आफ़ रोड्स :

अंग्रेज़ी ऑपेरा की दिशा में १६५६ में सर विलियम डेवनेंट द्वारा किया गया प्रथम प्रयास।

८४. फ़िलिप सिडनी : (१५५४-८६ ई०) :

सुप्रसिद्ध अंग्रेज़ी साहित्यकार जिन्होंने समकालीन और परवर्ती पीढ़ियों पर असाधारण प्रभाव डाला। सिडनी की कोई भी कृति अपने जीवन-काल में प्रकाशित नहीं हुई। उनकी मृत्यु पर स्पेंसर, ब्रेटन आदि कवियों ने शोक-गीत लिखे हैं।

८५. स्कैलिजर (१५४०-१६०६ ई०) :

पुनरुत्थान-काल का सबसे बड़ा विद्वान जिसे 'ऐतिहासिक आलोचना' का प्रवर्त्तक कहा जाता है ।

८६. क्लाडियन :

प्राचीन रोम का अन्तिम महात् कवि ।

८७. बारथोलोम फ्रेयर :

जानसन की एक प्रहसनात्मक कामदी जिसका उपस्थापन १६१४ ई० में किया गया ।

८८. 'कैटिलाइन', 'सेजानस' :

वेन जानसन की दो नाट्य-कृतियाँ ।

८९. बसी दी एम्बोइ :

चैपमैन-कृत त्रासदी जिसका प्रकाशन १६०७ ई० में हुआ । चैपमैन की रचनाओं में यह सबसे प्रसिद्ध है । ड्राइडन ने इसकी बड़ी कटु आलोचना की है ।

९०. स्टेडियस (६१-६६ई०) :

रोम के एक प्रसिद्ध कवि, जिनका जन्म नीपोलिस में हुआ था । यह १२ ग्रन्थों में समाप्य एक 'थेबेड' और एक काव्य-संग्रह 'सिलवइ' के रचयिता हैं । थेबेड के प्रथम भाग का अनुवाद पोप ने किया है । दांते ने इनकी ईसाई मत में बलात् दीक्षा का उल्लेख किया है ।

९१. चैपमैन (१५५६-१६३४ ई०) :

होमर के जीवन्त, ओजस्वी अनुवादकर्त्ता के रूप में प्रख्यात, किन्तु स्विनबर्न तथा अन्य व्यक्तियों ने इनकी नाटक कृतियों की उत्कृष्टता की ओर भी साहित्यिकों का ध्यान आकृष्ट किया है । इनकी ख्याति उद्भट विद्वान के रूप में है ।

९२. दु बार्ता (१५४४-६० ई०) :

फ्रेंच कवि । फ्रांस में इन्हें इतना महत्व नहीं मिला जितना ब्रिटेन में । १५७८ में इन्होंने सृष्टि के उद्भव के सम्बन्ध में एक महाकाव्य प्रकाशित कराया

था जिसका अनुवाद अंग्रेजी में जोगुआ सिलवेस्टर ने किया।

६३. टेरेन्स (१६०-१५६ ई० पू०)

रोमी कामदी-कवि। इन्होंने छह नाटक रचे जिनमें से अधिकतर मेनान्द्र द्वारा रचित कामदियों पर आधृत हैं। इन्हीं में से एक 'यूनख' का यहाँ उल्लेख किया गया है।

६४. कार्नेइ (१६०६-१६८४ ई०) :

फ्रेंच नाटककार। इनकी त्रासदियों की विशेषता यह है कि उनके नायक-नायिकाएँ साधु एवं दिव्य गुणों से सम्पन्न होते हैं और शैली गरिमामयी होती है। कार्नेइ की आरम्भिक कृतियाँ अपेक्षाकृत अधिक महत्वपूर्ण हैं; बाद में रासीन के बढ़ते हुए यश ने कार्नेइ की प्रसिद्धि को आच्छन्न कर लिया था।

६. बुअलो

६५. फोयवस :

अपोलो (सूर्य) का एक अन्य नाम। काव्य और संगीत का देवता।

६६. पैगेसम :

एक पक्षधर अश्व जो पेरसेउस द्वारा मेदुसा का शिरोच्छेदन करने पर उत्पन्न हुआ था। यह कला की देवियों का प्रिय अश्व है।

६७. पैन :

यह गोपालकों का देवता और आखेटक है। परम्परागत निरूपण के अनुसार इसके सिर पर दो छोटे-छोटे सींग हैं, नाक चपटी, रंग ललछौंहा, और पाँव बकरी के हैं। पैन ने सात छिद्रों वाली वंशी का आविष्कार किया, और उसका नाम एक लावण्यमयी जलपरी के नाम पर 'साइरिक्स' रख दिया।

६८. थियोक्राइट (स) :

महान् यूनानी गोपगीतकार। उसकी छोटी-छोटी अत्यन्त सुन्दर नाट्य-कविताएँ यूनान के साहित्य में चारण-काव्य का अत्यन्त सुष्ठु उदाहरण हैं। रोमी साहित्य में बर्जिल ने इसका अनुकरण किया था।

६६. पैलास :

अथेने का दूसरा नाम ।

१००. पैफोज की अधिष्ठात्री :

—अर्थात् सौन्दर्य और प्रणय की यूनानी देवी अफ्रोदिते; पैफोज साइप्रस का एक नगर है, जिस की अधिष्ठात्री देवी अफ्रोदिते मानी जाती है ।

१०१. जुपीटर :

अपने मौलिक रूप में रोमियों का आदि देवता; बाद में यूनानी देवता जेउस से इसका तादात्म्य कर दिया गया ।

१०२. नेपचून :

रोमियों का जलदेवता (वरुण) जो यूनानियों के पोसेइदोन नामी देवता का समरूप है ।

१०३. ऐशतोरैथ :

यूनान की प्रणय और समृद्धि की देवी अफ्रोदिते का एक नाम ।

१०४. बेल :

फिनीशियावासियों का प्रमुख देवता । इस शब्द का प्रयोग 'छद्म देवता' के अर्थ में होता है ।

१०५. सीपियो (२३५-१८३ ई० पू०) :

महान् रोमी विजेता । एक इतिहास-प्रसिद्ध घटना है कि अपने विजय-अभियान में एक अत्यंत सुन्दरी स्पेनी राजकुमारी उसके अधिकार में आ गई थी परन्तु सीपियो ने उससे साक्षात्कार तक नहीं किया वरन् उसे उसके माता-पिता के पास भिजवा दिया और उसके वाग्दत्त व्यक्ति के निमित्त उपहार भी भेजे ।

१०६. आरलैण्डो :

बोयर्डो, एरियोस्टो आदि द्वारा रचित कविताओं का नायक । सम्राट् शार्लमैन के समय में आरलैण्डो राजा के बारह सामन्तों में प्रमुख था । कथे-

नरेश की कन्या एंजेलिका के साथ उसके प्रेम का वर्णन, बाद में मूर नवयुवक मेदोरो के प्रति एंजेलिका का आकर्षण तथा विवाह, आरलैंडो की विक्षिप्तता एवं उपचार आदि के उपाख्यानो का इनमें समावेश है ।

१०७. वीनस :

सौन्दर्य और प्रणय की रोमी देवी ।

७. पोप

१०८. परनासस

देलफी के उत्तर में एक यूनानी पर्वत जिसे कला की देवियाँ पवित्र मानती हैं ।

१०९. मारो :

रोमी कवि वर्जिल का घर का नाम ।

११०. डेनिस (१६५७-१७३४ ई०) :

जान डेनिस — त्रासदीकार और आलोचक । पोप ने प्रस्तुत रचना में डेनिस की कृति 'एपियस एण्ड वर्जीनिया' के वागाडम्बर के कारण उस पर कटाक्ष किया है । उत्तर में डेनिस ने उक्त कविता पर अत्यंत तीव्र कटाक्ष किये थे ।

१११. फंगोसो :

वेन जानसन की कृति 'एवरी मैन आउट आफ हिज़ ह्यूमर' का एक पात्र ।

११२. डनह्य :

देखिए टिप्पणी संख्या—८१ ।

११३. वालर (१६०६-८७) :

इंगलैंड का प्रमुख राजनीतिज्ञ एवं कवि । ईटन तथा कैम्ब्रिज में शिक्षा प्राप्त की । उन्नीस वर्ष की अवस्था में ही उसने 'हिज़ मैजेस्टीज़ एस्केप एट सेंट एंड्रे' नाम की कविता लिखकर प्रशस्ति-गीत की परम्परा को जन्म दिया जो दो सौ वर्ष तक प्रचलित रही । ड्राइडन तथा पोप इत्यादि ने उसकी काव्य-माधुरी की विशेष प्रशंसा की है ।

११४. अजक्स :

देखिए टिप्पणी संख्या—४१ ।

११५. कैमिला :

बोलशियाई राजकुमारी । युवावस्था में वह डायना की उपासिका थी । वह ऐसी द्रुतगामिनी थी कि सागर की लहरों पर बिना पैर भिगोए दौड़ सकती थी ।

११६. तिमोथेउस (४४७-३५७ ई० पू०) :

मिलेतुस-निवासी । प्राचीन काल का एक प्रसिद्ध संगीतकार कवि ।

११७. लिबियन जोव का पुत्र :

अलैक्जेंडर महान् । इसे देवपुत्र माना जाता था यद्यपि सांसारिक दृष्टि से वह फ़िलिप का पुत्र था ।

११८. स्कोट्सवादी : } स्कोट्सवादी—डंस स्कोट्स का अनुयायी अथवा

११९. टामसवादी : } शिष्य । स्कोट्स की अत्यन्त यथार्थवादी दार्शनिक

पद्धति कई दृष्टियों से टामस एक्विनस के सर्वथा प्रतिकूल थी । टामस एक्विनस के अनुयायी टामसवादी कहलाते थे ।

१२०. डक लेन :

स्मिथ फ़ील्ड (लन्दन) के पास पुरानी किताबों का बाज़ार ।

१२१. डर्क (१६५३-१७२३ ई०) :

अनेक गीतों, कथाओं, व्यंग्य-लेखों तथा प्रहसनों का रचयिता ।

१२२. गार्थ (सर सैमुअल गार्थ) :

चिकित्सक, 'डिस्पेंसरी' शीर्षक प्रहसनात्मक कविता का रचयिता ।

८. डॉ० जॉनसन

१२३. वॉले :

एक अंग्रेजी शब्दकोश का संकलनकर्ता जो जॉनसन के शब्दकोश से पहले रचा गया था और बहुत लोकप्रिय हुआ ।

१२४. एउक्लेइदेस (यूक्लिड) :

विख्यात रेखागणितज्ञ जो प्रथम प्तोलेमी (३२३-२८३ ई० पू०) के शासनकाल में अलेक्जेंड्रिया में रहता था परन्तु जिसके जन्म-स्थान के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं । प्राथमिक रेखागणित और अंकगणित विषयक इसकी रचना उपलब्ध है ।

१२५. अखिमिदेस :

साइराक्यूज़ का सुप्रसिद्ध गणितज्ञ । रोमी पोतों ने जब साइराक्यूज़ पर घेरा डाला था तब अखिमिदेस ने अपनी वैज्ञानिक प्रतिभा का सहारा लेकर लेंसों के द्वारा उनमें आग लगा दी थी । बाद में जब साइराक्यूज़ का पराभव हुआ तो रोमी सेनापति ने आदेश दिया कि अखिमिदेस को मारा न जाए और जो कोई भी उसे जीवित पकड़ लाएगा उसे पुरस्कार मिलेगा । परन्तु एक सैनिक ने अनजाने में उसका वध कर दिया क्योंकि अखिमिदेस एक गणित-समस्या हल करने में व्यस्त था और उसने सैनिक का उसके साथ चलने का आदेश अस्वीकार कर दिया था ।

१२६. लैंगवेन (१६५६-६२ ई०) :

अंग्रेजी नाट्य-कवियों के विवरण का लेखक । लैंगवेन कठोर आलोचक था; छिद्रान्वेषी मनोवृत्ति का पक्का प्रतिनिधि । ड्राइडन पर उसने अनेक आक्षेप और कटाक्ष किये थे ।

१२७. बोरिकियस :

इसके सम्बन्ध में कोई उल्लेख प्राप्त नहीं ।

१२८. राफ़े (१५३५-१६०८ ई०) :

फ्रांसीसी कवि तथा प्रभावशाली समालोचक; १७वीं-१८वीं शती में अंग्रेजी पर इसका गहरा प्रभाव पड़ा ।

१२६. एडोसन (१६७२-१७१६ ई०) :

कवि और अभिजात-साहित्य का पंडित ।

१३०. कैटो :

एडोसन-कृत त्रासदी (१७१३) जो मार्कस पोरसियस कैटो के जीवन के अन्तिम चरण के आधार पर रची गई है ।

१३१. बैकस :

एक यूनानी देवता—विशेष रूप से मद्य का देवता—जो चिन्तामुक्त करके कविता और संगीत का स्फुरण करता है ।

६. गोइटे (गेटे)

१३२. अस्त्रेइआ :

जेउस तथा थेमिस की पुत्री । कवियों की मान्यता है कि वह स्वर्ण-युग में पृथ्वी पर निवास करती थी तथा मानव-जाति के लिए वरदान सट्टा थी परन्तु लौह-युग में उसे मानव की अमानवता के कारण पृथ्वी से प्रयाण कर स्वर्ग चला जाना पड़ा ।

१३३. फन्स्टीन :

जर्मनी का एक प्रकृति-कवि । विशेष विवरण अप्राप्य ।

१३४. श्लेजल-बन्धु :

इनमें से अग्रज स्वच्छन्दतावादी कवि था जिसने शेक्सपियर के नाटकों का अनुवाद किया । अनुज ने साहित्य के इतिहास का व्यापक अध्ययन किया था—हिन्दू कविता के महत्त्व को उसने विशेष रूप से स्वीकार किया है ।

१३५. अब्राहम :

शाह नीमरोद ने अब्राहम को आग की भट्टी में फेंकना चाहा था, देव-कृपा से वह बच गये । जिब्रील ने संगे-स्याह अब्राहम को दिया था और अब्राहम ने ही काबा बसाया था ।

१३६. अगमेमनोन :

अरगोस का राजा । वह त्रौइआ-अभियान करने वाली यूनानी सेना

का सेनापति था। ओलिस में यूनानी पोतों की गति अवरुद्ध हो गई, पर अगमेमनोन ने अर्तेमिस को प्रसन्न करने के लिए अपनी पुत्री इफिगेनिया का बलिदान कर दिया। अरगोस लौटने पर उसकी पत्नी क्ल्युतेम्नेस्त्रा और उसके जार ऐगिस्तस ने मिलकर अगमेमनोन का वध कर दिया।

१३७. अल्केसतिस :

यूनानी पुराण-कथाओं के अनुसार फेराए-नरेश अदमेनुस की पत्नी। पति को मृत्यु से बचाने के लिए उसने अपने प्राणों का उत्सर्ग किया परन्तु हरकुलेस ने उसे बचा लिया।

१३८. हैंडेल (१६८५-१७६६ ई०) :

सैक्सोनी संगीतकार जो १७१२ ई० में स्थायी रूप से इंग्लैंड में आ बसा था और १७२७ में राज-संगीतकार नियुक्त कर दिया गया था। हैंडेल ने वृन्दसंगीत को उत्कर्ष की पराकाष्ठा पर पहुँचा दिया था, परन्तु वाद्यसंगीत में वह अपने समसामयिकों से आगे नहीं बढ़ सका।

१०. शिलर

१३९. ऐस्ख्युलस (५२५-४५६ ई० पू०) :

अथेंस का महान् त्रासदी-कवि। (ऐस्ख्युलस को) ग्रीक त्रासदी का जन्म-दाता माना जा सकता है क्योंकि त्रासदी में दूसरे अभिनेता का समावेश उसी ने किया और वृन्दगायन को संवाद की अपेक्षा गौण स्थान दिया।

१४०. प्रापर्टियस (५०-१६ ई०) :

रोमी शोकगीतकार।

१४१. ओविड (४३ ई० पू०-१८ ई०) :

रोमी कवि जिसे आगस्टस ने ८ ई० में रोम से निष्कासित कर दिया था। अपनी 'ट्रिस्टिया' आदि कृतियों में ओविड ने निष्कासन-काल की अपनी विपदाओं का बड़ा करुणोत्पादक चित्रण किया है। विपदाओं की इस शृंखला का अन्त कवि की मृत्यु से ही हुआ।

१४२. डायना :

एक रोमी देवी जिसका यूनानी अर्तेमिस से एकत्व है। डायना चिर-

कुमारी थी। होमरोत्तर साहित्य में उसका चन्द्रमा से एकत्व स्थापित हो गया है—अंग्रेजी साहित्य में उसका यह स्वरूप बहुधा दृष्टिगोचर होता है।

१३. शैले

१४३. लार्ड बेकन :

१५वीं-१६वीं शताब्दी का प्रख्यात दार्शनिक साहित्यकार जिसके सम्बन्ध में पोप के ये शब्द बहुत ही प्रसिद्ध हो गए हैं : '(बेकन) मानव जाति का सबसे मेधावी, सबसे बुद्धिमान और सबसे अधम व्यक्ति है।' बेकन प्रकृति की सही व्याख्या पर आधुत एक नई दार्शनिक पद्धति का विकास करना चाहता था जो अरस्तू द्वारा प्रवर्तित पद्धति का स्थान ग्रहण कर ले। बेकन ने अपना बहुत-सा वाङ्मय लेटिन भाषा में शब्दबद्ध किया है—कदाचित् इस विचार से कि वह अधिक स्थायी होगा। पर अंग्रेजी में भी उसने विविध और सुन्दर भाषा-शैलियों का परिचय दिया है। उसकी शैली में एक विशिष्ट सौष्ठव और चिन्तनात्मकता रहती है।

१४४. जानस :

इटली का एक देवता। मूर्तियों में इस देवता को दो सिरों वाला चित्रित किया जाता है जिसका उद्देश्य कदाचित् उसकी सतर्कता द्योतित करना है। उसकी दृष्टि आगे और पीछे दोनों ओर रहती है। इसी देवता के नाम पर वर्ष के प्रथम मास का नाम जनवरी रखा गया है।

१४५. सिसरो (१०६-४३ ई० पू०) :

रोमी राजनीतिज्ञ-लेखक जिसने सीज़र और पोम्पई के युद्ध में सीज़र के विरुद्ध भाग लिया था। उसकी रचनाएँ भाषण-कला, राजनीति-दर्शन, नीति-दर्शन, धर्मशास्त्र आदि विषयों पर हैं। इसके अतिरिक्त उसके अनेक भाषण और साहित्यिक पत्र भी प्रसिद्ध हैं।

१४६. हैक्टर :

यूनानियों से युद्ध करने वाले त्रैड्या-वीरों में अग्रणी। अखिल्लेस ने इसका वध किया था और इसके मृत शरीर को पहिये से बाँधकर यूनानी पोतों तक खींचकर ले गया था।

१४७. मेक्रियावली (१४६६-१५२७ ई०) :

फ्लोरेंस का राजनयज्ञ और राजनीतिक दार्शनिक । मेक्रियावली की सर्वाधिक प्रसिद्ध कृति 'प्रिंस' है जिसमें राजनीति-सम्बन्धी विभिन्न समस्याओं पर एक महान् मनीषी के विचार शब्दबद्ध हैं । मेक्रियावली की तुलना कभी-कभी भारत के महान् कूटनीतिज्ञ चाणक्य से भी की जाती है ।

१४. सैन्त व्यव

१४८. औलस जेलियस :

दूसरी शती ईसा का लेटिन वैयाकरण । उसकी कृतियों में कई अनुपलब्ध लेखकों के साहित्य, इतिहास, दर्शन, भाषण-शास्त्र आदि विषयों पर उद्धरण मिलते हैं ।

१४९. वोएतियस :

रोमी विचारक । इसका जन्म ४७० से ४७५ ई० पू० के बीच हुआ था । इसे षड्यन्त्र रचने के सन्देह में मृत्यु-दण्ड दिया गया था । इसकी सबसे प्रसिद्ध कृति जिसकी रचना जेल में की गई थी—'De Consolatione Philosophiae' है ।

१५०. रोये कोलार (१७६३-१८४५ ई०) :

इतिहास और आधुनिक दर्शन के आचार्य; कला में ऐन्द्रियता के विरोधी ।

१५१. द रेमूसा (१७८०-१८२१ ई०) :

फ्रांसीसी क्रान्ति के संस्मरणों की सुप्रसिद्ध लेखिका ।

१५२. मारी जोज़ेफ़ शेनिए (१७६४-१८१२) :

नाट्य-कवि । इनके भाई आन्द्रे शेनिए फ्रेंच स्वच्छन्दतावादी आन्दोलन के प्रवर्तकों में से थे ।

१५३. व्युफों (१७०७-८२ ई०) :

फ्रेंच प्रकृतिवादी । प्रकृति-इतिहास पर ३६ खण्डों में एक अत्यन्त विस्तृत कृति के रचयिता । इसमें उन्होंने खनिज-विज्ञान और पृथ्वी के उद्भव आदि विषयों पर भी विचार किया है ।

१५४. मान्तेस्क्यू (१६२७-१७५५ ई०) :

फ्रांसीसी राजनीतिक विचारक । अपनी 'दि स्प्रिट ऑफ़ दि ला' शीर्षक रचना में मान्तेस्क्यू ने विविध राजनीतिक संविधानों का विश्लेषण किया है और फ्रांसीसी राजतन्त्र के दुरुपयोग की निन्दा की है । यही उनकी सबसे प्रसिद्ध कृति है ।

१५५. वोल्स्यू (१६२७-१७०४ ई०) :

फ्रांस का प्रसिद्ध धर्म-प्रचारक और धर्मगुरु । लुई चौदह की राज्य-सभा की विभूतियों में से एक । इसकी प्रसिद्धि का मुख्य आधार कई सम-कालीन महान् विभूतियों के अन्तिम संस्कार के समय दी गई वक्तृताएँ हैं । वोल्स्यू बड़ा कट्टर एवं मताग्रही धर्मशास्त्री था ।

१५६. अथाली :

रासीन का सर्वोत्कृष्ट नाटक ।

१५७. रासीन (१६३६-६६ ई०) :

फ्रेंच नाट्य-कवि । बुअलो का मित्र । उसने अपने आस पास के समाज के प्रेम-व्यापार, दुर्बलताओं और कुचक्रों का मार्मिक विवरण प्रस्तुत किया है । उसके चरित्र मानवीय और प्रकृत अधिक होते हैं ।

१५८. वाल्तेयर (१६६४-१७१८ ई०) :

कवि-दाशनिक । त्रासदी-रचना की दृष्टि से अत्यन्त हीन युग में उसकी त्रासदियों का विशिष्ट स्थान है । वाल्तेयर ने शेक्सपियर की सुरुचि के अभाव और शास्त्रीय नियमों के अज्ञान के कारण कई जगह निन्दा की है । उसकी राजनीतिक और धर्मविषयक रचनाओं में सर्वत्र विद्यमान संस्थाओं के प्रति सम्मान का अभाव तथा सत्ता के प्रति तिरस्कार-भाव ध्वनित होता है ।

१५. मैथ्यू आर्नल्ड

१५६. हेसिओड (६वीं शती ई० पू०) :

ग्रीक के आदिम कवियों में से एक ।

१६०. मेरोपे :

म्युप्सेलस की पुत्री तथा क्रेसफोन्तेस का पत्नी, जिसके आधार पर मैथ्यू आर्नल्ड की त्रासदी 'मेरोपे' की रचना हुई है ।

१६१. आल्कमाएयोन :

आम्काराउस तथा ऐरिफ्युले का पुत्र । आल्कमाएयोन की माँ ने हरमोनिया के कंठहार के लोभ में अपने पति को थेबेस के विरुद्ध अभियान में सम्मिलित होने के लिए प्रेरित किया । आम्काराउस जानता था कि वह मारा जाएगा अतः उसने अपने पुत्र को आदेश दिया कि वह अपनी माँ का वध कर दे । पिता का आदेश पालन करने पर देवताओं ने उसे दण्डित किया और वह विक्षिप्त हो गया । कालान्तर में उसकी अपनी पत्नी ने भी उक्त कंठहार की इच्छा की और आल्कमाएयोन की मृत्यु भी इसी प्रयत्न में हो गई ।

१६२. पेरसाए :

ऐस्ख्युलस-कृत त्रासदी जिसका विषय ईरानी आक्रान्ताओं पर यूनानियों की विजय है ।

१६३. पोल्युत्रियस (२०४-१२२ ई० पू०) :

एक प्राचीन इतिहासकार जिसका जन्म आरकेदिया में मिंगलोपोलिस नामक स्थान पर हुआ और जिसे १६७ ई० पू० में बन्दी बनाकर रोम लाया गया था । उसकी ४० पुस्तकों में २६४ ई० पू० से १४६ ई० पू० तक का इतिहास शब्दबद्ध है ।

१६४. मेनान्दर (३४२-२६४ ई० पू०) :

अथेनी कवि । कामदीकारों के नए सम्प्रदाय में सबसे अग्रगण्य । उसके नाटकों में अपने युग के अथेन्स का चित्रण हुआ है ।

१६५. फाउस्ट :

विख्यात कवि गेटे की अमर कृति ।

१६६. मार्गरे :

गेटे-कृत 'फाउस्ट' की प्रमुख स्त्री पात्र ।

१६७. नीबुर (१७६६-१८३१ ई०) :

नीबुर पहला इतिहासकार था जिसने अपनी महान् कृति 'रोमी इतिहास' में विषय का वैज्ञानिक ढंग से विवेचन किया। उसने आदिकालीन रोमी दन्त-कथाओं का आलोचनात्मक अनुशीलन किया तथा व्यक्तियों एवं घटनाओं की अपेक्षा संस्थाओं एवं सामाजिक विशेषताओं के विकास की ओर अधिक ध्यान दिया।

१७. वाल्टर पेटर

१६८. मानटेन (१५३३-१६२ ई०) :

प्रसिद्ध निबन्धकार। मानटेन के निबन्धों से उसके व्यक्तित्व का जो रूप उभरता है, वह एक असीम बौद्धिक जिज्ञासु, दयावान एवं बुद्धिमान का है, जो पांडित्य-प्रदर्शन एवं मिथ्यात्व की भर्त्सना करता है, परन्तु जो एक सहज नैतिकता के प्रति सहिष्णु है। उसके निबन्धों का सामान्य निष्कर्ष मानव-विवेक की विपथनीयता तथा मानव-चिन्तन की सापेक्षता की स्वीकृति में निहित है।

१६९. स्काट :

सर वाल्टर स्काट (१७७१-१८३२ ई०)—सुप्रसिद्ध अंग्रेजी कवि और उपन्यासकार।

१७०. फ्लावेयर (१८२१-८० ई०) :

फ्रेंच उपन्यासकार जो अपनी अत्यन्त परिमार्जित शैली तथा निर्वैयक्तिक वस्तुपरक एवं चिन्तात्मक वर्णन-पद्धति के लिए प्रसिद्ध हैं। 'मैदाम बोवरी' उनका सबसे प्रसिद्ध उपन्यास है, जिसमें उन्होंने बुजुर्ग जीवन की यथार्थपरक दुखभरी कथा कही है।

१७१. दांते (१२६५-१३२१ ई०) :

महान् इतालवी कवि।

१८. ब्रैडले

१७२. रोज़ेटी (१८३०-६४ ई०) :

कवयित्री; डी० जी० रोज़ेटी की बहन। इन की कविताओं में विषय का प्रसार अतिकल्पना से धार्मिकता तक है। अधिकतर काव्य में धार्मिकता

की ही व्याप्ति है। उसमें आध्यात्मिकता के साथ-साथ विषाद का भी पुट रहता है—शिल्प की दृष्टि से उनकी कविताएँ अत्यन्त समृद्ध हैं।

१७३. बीथोवन (१७७०-१८२७ ई०) :

विख्यात संगीतकार। बीथोवन की संगीत-अवधारणाओं में नैतिक एवं बौद्धिक तत्त्व का समावेश रहता है जो उससे पूर्व अनुपलब्ध था। उन्होंने स्वर-साम्य को पूर्णता प्रदान की।

१७४. टर्नर (१७७५-१८५१ ई०) :

महान् चित्रकार।

१६. क्रोचे

१७५. ड्रेसडेन मेडोना :

ड्रेसडेन में स्थित मेडोना (वर्जिन मेरी) की मूर्ति।

१७६. राफेल (१४६३-१५२० ई०) :

महान् इतालवी चित्रकार।

१७७. माइकेल एन्जेलो (१४७५-१५६४ ई०) :

इटली का यशस्वी मूर्तिकार, चित्रकार और कवि।

१७८. लियोपार्डो (१७६८-१८३१ ई०) :

इटली का कवि और विद्वान्। आधुनिक इतालवी साहित्य का कुछ उत्कृष्ट काव्य लियोपार्डो की सर्जना है जिसका रूप-विधान अभिजात कृतियों पर आधृत है तथा जिनमें विषाद एवं नैराश्य का स्वर अत्यन्त मुखर है।

२०. इलियट

१७९. कांग्रीव (१६७०-१७२६ ई०) :

प्रतिष्ठित नाट्यकार, सर्वप्रथम अपनी कामदी 'दि ओल्ड बैचलर' से प्रसिद्धि पाई। 'दि वे आफ़ दि वर्ल्ड' भी इनकी एक कामदी है।

१८०. ट्यूडर :

एक राजवंश, जिसके शासन-काल का प्रसार १४८५-१६०३ ई० तक है ।

१८१. हापकिंस (१८४४-८६ ई०) :

अत्यन्त मौलिक कवि, लय के क्षेत्र में कुशल आविष्कर्ता ।

१८२. प्लुटार्ख :

प्रसिद्ध जीवन-चरितकार और नैतिक दार्शनिक; उसकी सबसे प्रसिद्ध कृति है 'समानान्तर जीवन' जिसमें तेईस यूनानियों और तेईस रोमियों की जीवन-गाथाएँ दो-दो को समकक्ष रखकर शब्दबद्ध की गई हैं । अनेक परवर्ती नाटकों के कथानक इनसे उपलब्ध हुए हैं ।

२१. रिचर्ड्स

१८३. विसलर (१८३४-१९०३ ई०) :

प्रतिष्ठित अमरीकी चित्रकार जो १८६३ में आकर इंग्लैंड में बस गया था ।

१८४. रस्किन (१८१६-१९०० ई०) :

कलाविद् और साहित्यकार । रस्किन का निरन्तर यह आग्रह रहा कि साधारण अर्थ में धन एकमात्र वांछनीय वस्तु नहीं है । वह चाहते थे कि विद्या और ज्ञान ऐकान्तिक तथा मँहगे न हों । रस्किन ने निःहस्तक्षेप की राजनीति की निन्दा की है और राजनीतिक अर्थ-व्यवस्था की उस विचारधारा की भी गर्हणा की है जिसमें अर्थ-मानव की अवधारणा ही एकमात्र सत्य मानी जाती है, जिसके कार्य-कलाप का लाभ के अतिरिक्त और कोई अभिप्राय नहीं माना जाता ।

१८५. क्लाइव बैल (१८८१ ई० —) :

अंग्रेजी के कला-समालोचक । वे जीवन से कला के पूर्ण पृथक्करण के तथा कलाकार से समाज-मानव के पूर्ण पृथक्करण के समर्थक हैं ।

१८६. दी एंशिएन्ट मेरिनर :

कॉलरिज की एक कविता ।

१८७. हार्ट लीप वेल :

वर्ड्सवर्थ की एक कविता ।

१८८. शेक्सपीरियन ट्रेजडी :

ब्रेडले का प्रसिद्ध आलोचना-ग्रन्थ ।

१८९. प्रोमिथियस अनबाउंड :

शेले का एक प्रगीति-नाट्य ।

१९०. सर्मन आन द माउन्ट :

ईसा मसीह का एक धर्मोपदेश-विशेष ।

१९१. रिबो :

फ्रांसीसी मनोवैज्ञानिक ।

परिशिष्ट

१. मार्क्स

१९२. हाउस (१५८८-१६७६) :

दार्शनिक । हाउस ने वेकन की भाँति व्यावहारिक अथवा उपयोगिता-वादी आधार पर ज्ञान की महिमा स्वीकार की तथा प्रकृति एवं मानव को अपने अन्वेषण का विषय बनाया था । अतिप्राकृत जगत् के प्रति वे बिल्कुल आकृष्ट नहीं हुए । मानव को उन्होंने एक स्वार्थपरायण इकाई माना है ।

१९३. पागानेनी (१७८२-१८४० ई०) :

प्रसिद्ध इतालवी वायलिन-वादक, जिसके वायलिन-वादन का श्रोताओं पर असाधारण प्रभाव पड़ता था ।

२. फ्रायड

१६४. एरियास्टो (१४७४-१५३३ ई०) :

‘आरलेडो प्यूरिओसो’ शीर्षक काव्य का रचयिता जो इतालवी भाषा के रोमानी महाकाव्यों में सर्वोत्कृष्ट माना जाता है ।

३. युग

१६५. नीत्शे :

मेधावी जर्मन विचारक एवं दार्शनिक जिसने अपनी रचनाओं में मसीही-धर्म के प्रति घोर अवज्ञा व्यक्त की है ।

१६६. जराथुस्त्र :

एक विशिष्ट धर्म-पद्धति का प्रवर्तक जिसका समय छठी शती ई० पू० माना जाता है । जराथुस्त्र का धर्म प्राचीन आर्य लोक-धर्म पर आश्रित है । जराथुस्त्र धर्म मरणोत्तर जीवन में विश्वास करता है—मानव को संसार में उसके दुष्कृत्यों अथवा सत्कार्यों के अनुसार दंडित या पुरस्कृत किया जाता है । इसके अनुसार संसार में देव-दानव संघर्ष चलता रहता है और वही मनुष्य के अन्तर में केन्द्रित होता है ।

१६७. गेरहार्ड हाफ्टमैन (१८६२-१९४६ ई०) :

जर्मन नाटककार और उपन्यासकार । इस शती के पूर्वार्द्ध की ‘सापेक्षिक शंकालुता’ की सर्वाधिक पूर्ण कलात्मक अभिव्यंजना हाफ्टमैन के कृतित्व में हुई है । वह अनिश्चय और संक्रान्ति के युग की उपज है—इसी तथ्य में उसकी शक्ति और सीमाएँ निहित हैं । हाफ्टमैन ने साठ से अधिक ग्रन्थों की रचना की है ।

पारिभाषिक शब्दावली

अतीत-सापेक्ष Retrospective
 अनुकान्त पद्य Blank Verse
 अधिमानस-शास्त्र Metaphysics
 अन्तरीक्षण Introspection
 अनुकरण Imitation
 अनुभववादी Empiricist
 अन्योक्तिपरक Allegorical
 अन्विति Unity
 अभिजात (कृति/कृतिकार) Classic
 अभिज्ञान Recognition
 अभिव्यंजना Expression
 अभिहस्य Ludicrous
 अमूर्त Abstract
 अवधारणा Concept
 अवयव-विधान Ordonnance
 अश्लीलता Vulgarity
 अहंकेन्द्रित Egocentric
 आचारपरक Ethical
 आश्रय वस्तु Content
 अभिजात्यवाद Classicism
 आवेग Impulse
 उत्तरगान Stasimon
 उत्तेजना Excitement
 उत्पादन Production
 उदात्त Sublime
 उदात्तता, औदात्य Sublimity
 उदात्तीकरण, उन्नयन Sublimation
 उद्दीपन Stimulus

उपदेशात्मक काव्य Didactic Poetry
 उपसंहार Exode
 उपस्थापन Representation
 एकरसता Monotony
 औचित्य Propriety
 कल्पना-चित्र Phantasy
 कामदी Comedy
 काम-वासनाएं Erotic Wishes
 कारुणिक क्र (त्रासद) व्यापार Tragic Action
 काव्य-न्याय Poetic Justice
 काव्य-भाषा, काव्य-पदावली Poetic Dic-
 tion
 ग्रीकवाद Hellenism
 चतुष्पदी Tetrometer
 चरितकार Biographer
 चारण Rhapsodist
 जैविकीय Biological
 तर्कमूलक ज्ञान Logical knowledge
 त्रासदी Tragedy
 त्रासिक कामदी Tragi-Comedy
 त्रिनाटकी Trilogy
 धर्मशास्त्राय Theological
 ध्येयवादी (कला) Tendencious (Art)
 नाट्य-काव्य Dramatic Poesy
 नास्तिकवाद Atheism
 निगम्य सिद्धान्त A Priori Principle
 निपाठ Recitation
 निरपेक्षीकरण Objectification

नीरसता Frigidity	भाव-प्रवण Sentimental
नैतिक Moral	भावाडम्बर Parenthesus
न्यायिक Judicial	भाषण-कला (शास्त्र) Rhetoric
पण्य Commodity	भोगवादी Sensualist
परमाधिकार Prerogative	भौतिकशास्त्रवेत्ता Physicist
परारमृत साहचर्य Mnemonic Association	मध्यवित्त-वर्ग Bourgeoisie
पवित्रतावाद Pietism	मनोविधानिक Sensory
पितृ-ग्रन्थि Father Complex	महाकाव्य Epic poetry
पितृमत्तःत्मक Patriarchal	मातृ-ग्रन्थि Mother Complex
पुरोगतिशील Progressive	मानववाद Humanism
पूर्वगान Parode	मानवीकरण Personification
प्रकल्पना Hypothesis	यान्त्रिक अवतारणा Deus Ex machina
प्रकृतवादी Naturalist	रंग-प्रभाव Spectacular Effects
प्रगीति Lyric	रंग-स्थापक Mordant
प्रज्ञा Talent	रम्याख्यान Romance
प्रतिगतिशील Retrogressive	राग — Passion
प्रतिचेष्टा Response	राजवित्त प्रणाली Fiscal System
प्रतिनिधान Representation	रिक्तकर्ता Testator
प्रतिज्ञा Promise	रूप, रूप-विधान Form
प्रत्यक्षीकरण Perception	रूपाकृति Physiognomy
प्रत्यय Persuasion	रोग-विज्ञान Pathology
प्ररूप Type	रौद्रस्तोत्र Dithyrambic Poetry
प्रविधि Technique	लघु-गुरु द्विमात्रिक Iambics
प्रस्तावना Prologue	ललित कल्पना Fancy
प्रहसन-कवि Comic Poet	वागाडम्बर Rant
प्रेरक हेतु Motive	विचारधारा Ideology
प्रौढ़ता Maturity	विकेन्द्रता Eccentricity
बहिर्केन्द्रित Excentric	विपर्यास Peripeteia
बालिशता Puerility	विरेचन Catharsis
चित्र Image	विरोधाभास Paradox
चित्र-विधान/चित्र-सृष्टि Imagery	विश्लेषणात्मक मनोविज्ञान Analytical Psychology
बोधगम्यता Intelligibility	विषय Subject
भविष्य-सापेक्ष Prospective	विस्तारणा Amplification
भाव Emotion	वीरछंद Heroic meter
भावन (क्रिया) Ideation	वृन्दगायक/वृन्दगायन Chorus

वैदग्ध्य, प्रतिभा Wit
 व्यंग्य काव्य Parody
 व्याहार Delivery
 शब्दाडम्बर Fustian
 शरीररचना-वेत्ता Physiologist
 शरीरविद् Anatomist
 शुद्धिवाद Purism
 षट्पदी Hexameter
 संभाव्यता Probability
 संग्राहिका वृत्ति Receptive faculty
 संवेदनवादी Sensationalist
 संवेदनहीनता Insensibility
 संवेदना Sensation
 संहिति Compactness
 समविलाप Commoi
 समाख्यान Narration
 सरल Naive
 सहज आस्था Superstition
 सहजवृत्ति Instinct

सहजानुभूत ज्ञान Intuitive knowledge
 सहजानुभूति Intuition
 साहचर्य Association
 साहचर्यवादी Associationist
 सुख, आनन्द Pleasure
 सुबोध Intelligible
 सौन्दर्यचेता, रसज्ञ Aesthetic
 सौन्दर्य-शास्त्र Aesthetics
 सौन्दर्यानुभूति Aesthetic experience
 सौष्ठव Atticism
 स्थिति-विपर्यय Reversal of situation
 र्नायविक विकृति Neurosis
 स्वच्छन्द Romantic
 स्वच्छन्दतावाद Romanticism
 स्वर-संक्रम Cadence
 स्वायत्त प्रार्थि Autonomous Complex
 हीनतर मध्यवित्त Petty Bourgeois
 हेत्वाभास Fallacy
 हेतुवादी Causalistic

